हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या १९६

हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास

[वैदिक युग से वर्तमान युग तक की हिन्दू विवाह विषयक प्रमुख संस्थाओं का ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय अध्ययन]

लेखक :

प्रो. हरिदत्त वेदालंकार एम. ए.

भू. पू. अध्यक्ष इतिहास विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार;
निदेशक, प्रकाशन विभाग, उ. प्र. कृषि-विश्वविद्यालय, पन्तनगर, नैनीताल।

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९७०

मूल्य : १६ रु०
(सोलह रुपये)

मेहरा आफसेट प्रेस, आगरा

प्रकाशकीय

मानवनिर्मित संस्थाओं में कदाचित सबसे व्यापक और विश्वजनीन संस्था परिवार या कुटुम्ब है जो आरम्भ में नर-नारी के युग्म से और तदुपरान्त उनकी सन्तानों से निर्मित होता है। अतः यदि यह कहा जाय कि वैवाहिक सम्बन्ध हमारे समष्टिगत जीवन की मूलभूत और आरम्भिक इकाई रहे हैं तो अत्युक्ति न होगी। यद्यपि समाज-शास्त्रियों ने ऐसी सम्भावनाओं का विवरण अपने अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत किया है जो इस संस्था को अति आरम्भिक अवस्था की ओर संकेत करता है और आश्चर्य नहीं कि स्वाभाविक विकास की अपनी प्रक्रिया में मानव ने अलग-अलग अंचलों में समान रूप से इस दिशा में प्रगति भी की है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलभूत एकता के रहते हुए भी मानव-सभ्यता के अन्य अवयवों की भांति विवाह-संस्था के स्वरूप में समानता नहीं रह पायी। प्रत्येक सभ्यता के साथ उसकी विवाह-संस्था भी अपनी विशेषता प्राप्त करती गयी, जिसका प्रतिफल हम अलग-अलग जातियों में देखते हैं।

आधुनिक युग जगत् के संकोच का युग है। भौगोलिक व्यवधान समाप्तप्राय हो चले हैं। फलतः विभिन्न देशों और जातियों के वैशिष्ट्य से निर्मित संस्थाएँ एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं और इस प्रकार एक नयी विश्व-समाज-व्यवस्था का सूत्रपात हो चुका है। परन्तु किसी भी वर्तमान का निर्माण तभी सम्भव है जब उसकी नींव सुदृढ़ अतीत पर रखी गयी हो। इस दृष्टि से वैचारिक एकता के इस युग में इस बात की भी आवश्यकता है कि विभिन्न जातीय और देशीय विशेषताओं को उद्भासित किया जाय ताकि भावी स्वरूप का निर्धारण करने के लिए समाज के सामने एक सुपरीक्षित आधारभूत सामग्री उपलब्ध रहे। इस दृष्टि से हिन्दू विवाह विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना विशेष महत्त्व है। इस भू-भाग में जो सामाजिक पद्धति विकसित हुई उसने मानव-सभ्यता को हर क्षेत्र में यथेष्ट विचार-सामग्री प्रदान की है। ऐसी स्थिति में इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पश्चिम की भौतिकवादजन्य विषमताओं से प्रताड़ित मानव आध्यात्मिक क्षेत्र की भाँति वैवाहिक क्षेत्र में भी भारत की उपलब्धियों की ओर आकृष्ट हो।

विद्वान लेखक ने अपने विषय का प्रतिपादन साधिकार किया है और यत्र-तत्र ऐसे तथ्यों की ओर भी संकेत किया है जो विचारोत्तेजक है और जिनसे सहमत अथवा असहमत होने के लिए पाठकों को यथेष्ट मानस-मंथन करना पड़ेगा। आशा है, समाज-शास्त्र के अध्येताओं के साथ-साथ अन्य पाठक भी इस कृति को उपयोगी पायेंगे।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

प्रस्तावना

विवाह हमारे समाज की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण संस्था है। समाज की सत्ता, संरक्षण, सातत्य और वृद्धि इसी पर अवलम्बित है। इसे हमारी सामाजिक संस्थाओं का मेरुदण्ड कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस पुस्तक में हिन्दू समाज की इस महत्त्वपूर्ण संस्था की वैदिक युग से वर्तमान काल तक की ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय मीमांसा का एक विनम्र प्रयत्न किया गया है। इसमें हिन्दू विवाह के अतीत का प्रतिपादन, वर्तमान का चिन्तन तथा भविष्य में प्रबल होने वाली प्रवृत्तियों का विश्लेषण और विवेचन है।

पहले अध्याय में हिन्दू विवाह के उद्‌गम और उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे से पाँचवें अध्याय तक हिन्दू विवाह के उन प्रतिबन्धों और मर्यादाओं का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है जिनका पालन करना प्रत्येक हिन्दू विवाह में आवश्यक समझा जाता है। गोत्र, प्रवर, सपिण्डता तथा अन्तर्विवाह के प्रतिबन्ध इनमें प्रमुख स्थान रखते हैं। पाँचवें अध्याय में वर-वधू की अन्य योग्यताओं तथा चुनाव सम्बन्धी विभिन्न नियमों का वर्णन है। छठे अध्याय में विवाह के प्राचीन आठ रूपों के साथ आधुनिक काल में प्रचलित सम्बन्धम्, करार, कादरअन्दाजी आदि का वर्णन है। सातवें अध्याय में विवाह संस्कार की विधियों का तथा इनके महत्त्व का विवेचन है। आठवें अध्याय में दाम्पत्य अधिकारों पर तथा नवें अध्याय में तलाक के प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है। दसवें अध्याय से चौदहवें अध्याय तक हिन्दू विवाह से संबद्ध विशिष्ट समस्याओं की समीक्षा है और क्रमशः बाल विवाह, विधवा विवाह, सतीप्रथा, नियोग, बहुभार्यता (Polygamy) और बहुभर्तृता (Polyandry) का विवेचन है। पन्द्रहवें अध्याय में नवीन परिस्थितियों के कारण हिन्दू विवाह पर पड़ने वाले प्रभावों का तथा भविष्य में प्रबल होने वाली नवीन प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है।

हिन्दू विवाह के प्राचीन काल और मध्ययुग की ऐतिहासिक मीमांसा का प्रधान आधार वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, इनकी टीकाएँ, निबन्ध ग्रन्थ, संस्कृत-प्राकृत के नाटक, काव्य, पालि त्रिपिटक, जातक साहित्य तथा प्राचीन अभिलेख हैं। अनेक धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा निबन्ध ग्रन्थों का रचनाकाल विवादास्पद है। इस पुस्तक में प्रधान रूप से श्री पाण्डुरंग वामन काणे के "हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र" के प्रथम खण्ड में प्रतिपादित कालक्रम को स्वीकार किया गया है। हिन्दू विवाह के आधुनिक काल के विवेचन का मुख्य आधार प्रिवी कौंसिल, सुप्रीम कोर्ट तथा विभिन्न

हाईकोर्टों के फैसलों की रिपोर्टें, भारत सरकार की ओर से बैठायी गयी अनेक समितियों के विवरण, विवाह विषयक नवीन कानून तथा हिन्दू कानून पर लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थ तथा जनगणना की रिपोर्टें हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दू विवाह और परिवार पर वर्तमान समय में स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों द्वारा किये गये समाजशास्त्रीय अनुसंधान और गवेषणाएं भी इसमें सहायक हैं। इन सब का उल्लेख सहायक ग्रन्थसूची में किया गया है।

हिन्दू विवाह से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रश्नों का विवेचन निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक वैवाहिक प्रथा के सम्बन्ध में पहले उसके वैदिक काल से लेकर अब तक चले आने वाले स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि उस प्रथा में कब, कैसे और क्यों परिवर्तन होता रहा। असपिण्डता, असगोत्रता, अन्तर्विवाह के नियम, बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह, नियोग आदि की प्रथाएँ किस समय, किन कारणों से आरम्भ हुई, इनका क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ, इसका विवेचन कालक्रम से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विवाह सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों की मीमांसा करते हुए तुलनात्मक पद्धति का भरपूर उपयोग किया गया है और हिन्दू समाज की प्रथाओं एवं संस्थाओं की तुलना अन्य समाजों की इस प्रकार की पद्धतियों से की गयी है। प्रसिद्ध साम्राज्यवादी ब्रिटिश लेखक और कवि किपलिंग कहा करता था कि वे इंग्लैण्ड के बारे में क्या जानते हैं जो केवल इंग्लैण्ड को जानते हैं। उसकी इस उक्ति का यह आशय था कि दूसरे देशों का ज्ञान होने पर तथा उनके साथ इंग्लैण्ड की तुलना करने पर ही इस देश का यथार्थ ज्ञान संभव है। यही बात हिन्दू विवाह के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जो केवल हिन्दू विवाह को जानते हैं, वे इसका पूरा ज्ञान नहीं रखते हैं। यह तभी संभव है जब हम हिन्दू विवाह सम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाओं की तुलना यूनान, रोम, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमरीका आदि दूसरे देशों की तथा अन्य जातियों की तत्सदृश व्यवस्थाओं और प्रथाओं से करें। अतः इस पुस्तक में प्रायः सर्वत्र पादटिप्पणियों में दूसरे देशों तथा जातियों के विवाह की हिन्दू विवाह के साथ सादृश्य रखने वाली प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों का रोचक एवं ज्ञानवर्धक प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में लेखक को वैस्टरमार्क, फ्रेजर, हाबहाउस, लैकी, काली, स्पेन्सर आदि के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है। सहायक ग्रन्थ सूची में ऐसी पुस्तकों का उल्लेख पृथक् रूप से किया गया है।

इस पुस्तक में अनेक नये पारिभाषिक शब्द गढ़े गये हैं। नये शब्द बनाने से पहले यह यत्न किया गया है कि प्राचीन साहित्य में उन शब्दों को खोजा जाय। यदि पुराने संस्कृत ग्रन्थों में ऐसे शब्द मिले हैं, तो उनकी जगह व्यर्थ में नये शब्द नहीं बनाये गये। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के Promiscuity, Polygamy तथा Polyandry के लिए महाभारत में क्रमशः कामचार, बहुभार्यता और बहुभर्तृता के शब्दों का प्रयोग है, अतः इस

पुस्तक में इन्हीं शब्दों का व्यवहार किया गया है।

बर्नार्ड शा ने लिखा है कि विवाह के विषय में जितनी ऊटपटांग बातें लिखी गयी हैं, उतनी शायद किसी और विषय पर नहीं लिखी गयी। पता नहीं लेखक का यह प्रयास किस कोटि में आता है।

विवाह का विषय इतना गंभीर, जटिल और विस्तृत है कि सैकी के कथनानुसार हम इस अवसर पर न्यूटन की अन्तिम उक्ति को दोहराते हुए यही कह सकते हैं कि इस विषय में हम अभी तक विशाल सागर के किनारे कुछ कंकड़ ही बटोर पाये हैं। हिन्दू विवाह का इतिहास अभी तक अन्धकार के आवरण में पड़ा हुआ है, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का यह एक अत्यन्त विनम्र प्रयास है। कालिदास ने भले ही नम्रतावश यह कहा था—"क्व सूर्यप्रभवो वंशः, क्व चाल्पविषया मतिः"। किन्तु लेखक इस विषय में वस्तुतः अपनी अल्पविषया मति का अनुभव करता है, फिर भी उसने यह प्रयत्न इसलिए किया है कि अधिकारी विद्वानों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित विषय की ओर आकृष्ट हो सके।

लेखक को इस विषय का खेद है कि हिन्दी समिति द्वारा निर्धारित पृष्ठ-संख्या के कारण उसे अनेक विषयों को छोड़ना पड़ा है, संस्कृत शब्दों के मूल अवतरणों को देने से पुस्तक का कलेवर बढ़ जाता, अतः इनके प्रतीकों का उल्लेखमात्र किया गया है।

हिन्दू विवाह के सर्वांगीण वैज्ञानिक विवेचन का हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। अंग्रेजी, जर्मन आदि यूरोपियन भाषाओं में हिन्दू विवाह की विशिष्ट समस्याओं के अनेक प्रामाणिक अध्ययन हुए हैं, किन्तु लेखक की जानकारी में इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू विवाह के सब पहलुओं का विवेचन करनेवाला कोई ग्रन्थ नहीं है। इस विषय की गुरुता, गंभीरता और जटिलता के साथ लेखक अपने अल्प अध्ययन और सीमित सामर्थ्य से भी अपरिचित नहीं है, फिर भी उसने यह प्रयास इसलिए किया है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई अध्ययन प्रकाशित नहीं हुआ है। लेखक को उस समय तक सन्तोष नहीं होगा जब तक उसका यह विनम्र प्रयास विद्वानों द्वारा कसौटी पर कसा जाने पर खरा न उतरे। कालिदास के शब्दों में लेखक की भी यह धारणा है—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्॥

इससे पहले हिन्दू परिवार पर लेखक की एक कृति 'हिन्दू परिवार मीमांसा' के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और यह पुस्तक बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता तथा हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा उच्चतम पुरस्कारों से सम्मानित हो चुकी है। आशा है, इस पुस्तक का भी हिन्दी जगत् द्वारा स्वागत किया जायगा।

लेखक इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए हिन्दी समिति का तथा इसके सचिव श्री

'पर्वतीय' जी का अत्यन्त आभारी है। हिन्दी समिति के सहयोग के बिना ऐसे गम्भीर विषय के ग्रन्थ का प्रकाशन होना बहुत कठिन था। इसके प्रणयन एवं लेखन में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के अधिकारियों—बन्धुवर [illegible] जी, श्री जगदीश्वर जी विद्यालंकार और श्री पं. धर्मदेव जी वेदवाचस्पति से बहुमूल्य सहायता मिली है। प्रेस के लिए इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने तथा टाइप करने में श्री रामेश्वर जी, श्री प्रतापसिंह जी, श्री राजेन्द्रकुमार जी आदि ने बहुमूल्य सहयोग दिया है। लेखक इन सब का आभारी है।

इस पुस्तक में प्राचीन ग्रन्थों के सैकड़ों प्रतीक हैं। इन्हें यथाशक्ति यथासम्भव शुद्ध रखने का प्रयास किया गया है, तथापि कुछ अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है। इन्हें तथा अन्य भूलों को प्रदर्शित करनेवाले तथा इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव देने वाले महानुभावों का लेखक बहुत कृतज्ञ होगा।

हरिदत्त

विषय-सूची

संक्षिप्त संकेत-सूची

(क) संस्कृत और पालि ग्रंथ

अं० नि०—अंगुत्तर निकाय
अ० क०—अट्ठकथा
अथर्व०—अथर्ववेद
अप०—अपरार्क की टीका कृत याज्ञवल्क्य स्मृति
अ० पु०—अग्निपुराण
अर्थ०—कौटिलीय अर्थशास्त्र
आप० ध० सू०—आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० गृ० सू०—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्व० गृ० सू०—आश्वलायन गृह्यसूत्र
उ०—उपनिषद्
ऋ०—ऋग्वेद संहिता
ऐ० आ०—ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण
कात्या०—कात्यायन श्रौतसूत्र
का० सं०—काठक संहिता
का० सू०—कामसूत्र वात्स्यायनकृत
कौ०—कौटिलीय अर्थशास्त्र
गृ० सू०—गृह्यसूत्र
गो० गृ०—गोभिल गृह्यसूत्र
गो० ब्रा०—गोपथ ब्राह्मण
गो० ध० सू०—गौतम धर्मसूत्र
चतु०—चतुर्वर्गचिन्तामणि, हेमाद्रि कृत
छा० उ०—छान्दोग्य उपनिषद्
जा०—जातक
जीमूत०—जीमूतवाहन
जै० उ०—ब्रा० जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
जै० ब्रा०—जैमिनीय ब्राह्मण

जै० सू०—जैमिनीय सूत्र
ता० ब्रा०—ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० आ०—तैत्तिरीयारण्यक
तै० ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता
द० च०, दच०—दत्तक-चंद्रिका
द० मी०, दमी०—दत्तक-मीमांसा
दा०—दायभाग, जीमूतवाहनकृत
दा० त०—दात० दायतत्व, रघुनन्दनकृत
दी० क०—दीपकलिका
दी० नि०—दीघनिकाय
ध० प०—धम्मपद
ना० सं०—नारदीय संहिता
नारद. ना० स्मृ०—नारद-स्मृति
नि०—निरुक्त यास्ककृत
नि० सि०—निर्णयसिन्धु
प० पु०—पद्म पुराण
परा०—पराशर-स्मृति
परा० मा०—पराशरस्मृति की माधवाचार्यकृत टीका
पार० गृ० सू०—पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० सू०—पाणिनिसूत्र
पु०—पुराण
बाल०—बालम्भट्टी
बृह०—बृहस्पति
बौ० ध० सू०—बौधायन धर्मसूत्र
ब्रा०—ब्राह्मण
भाग० पु०—भागवत पुराण
म० पु०—मत्स्य पुराण
महाभा०—महाभारत
म० नि०—मज्झिम निकाय
म०, मनु०—मनुस्मृति
मा० गृ० सू०—मानव गृह्यसूत्र
मार्कं० पु०—मार्कण्डेय पुराण

माल०, मा०—मालती माधव
मिता०—मिताक्षरा
मेधा०—मेधातिथि
मै० सं०—मैत्रायणी संहिता
या०, याज्ञ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
र० वं०—रघुवंश
लौ० गृ० सू०—लौगाक्षि गृह्यसूत्र
व० ध० सू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र
वा० पु०—वायुपुराण
वा० रा०—वाल्मीकि-रामायण
वि० चि०—विवाद-चिन्तामणि
वि० पि०—विनयपिटक
वि० पु०—विष्णु पुराण
विश्व०—विश्वरूप
विष्णु०—विष्णु स्मृति
वी० मि०—वीरमित्रोदय
विज्ञा०—विज्ञानेश्वर
व्यप्र०—व्यवहारप्रकाश
व्यम०—व्यवहारमयूख
श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण
शा० आ०—शांखायन आरण्यक
शा० ब्रा०—शांखायन ब्राह्मण
शा० भा०—शाबर भाष्य
शुनी०—शुक्रनीतिसार
स्क० पु०—स्कन्द पुराण
सं० कौ०—संस्कार कौस्तुभ
सं० नि०—संयुत्तनिकाय
सं० र० मा०—संस्कार रत्नमाला
स० वि०—सरस्वती विलास
स्मृ०—स्मृति
स्मृच०—स्मृति चन्द्रिका
ह० च०—हर्ष चरित
हि० के० गृ०—हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र

(ख) आधुनिक ग्रन्थ

आर्क० स० इं०—आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्ट

इं० ऐं०—इंडियन ऐंटिक्वेरी

इन्सा० ब्रि०—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

इन्सा० सो० सा०—इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज

एपि० इं०—एपिग्राफिया इंडिका

ओ० डे० मा०—ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ मारल आइडियाज, वेस्टरमार्क कृत

का० हि० ध०—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र

गौ० हि० लॉ०—गौड़, हरिसिंह हिन्दू ला एण्ड कस्टम

जा० हि० ला० क०—जाली हिन्दू ला एण्ड कस्टम

टा० रा०—टाड एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान

ध० को०—धर्मकोश

बै० हि० ला० मै०—बैनर्जी हिन्दू लॉ आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन

वै० इ०—वैदिक इंडेक्स

वे० शा० हि० मै० इ०—वेस्टरमार्क की शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज

से० रि०—सेन्सस रिपोर्ट

हि० ह्यू० मै०—हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, वेस्टरमार्क कृत

(ग) कानूनी संकेत

अला०—अलाहाबाद की इंडियन ला रिपोर्ट्स

अला० ला० ज०—अलाहाबाद लॉ जर्नल

आ० इं० रि०—आल इंडिया रिपोर्टर

इं० ला० रि०—इंडियन ला रिपोर्ट्स

क०, कल०—कलकत्ता इंडियन लॉ रिपोर्ट

क० ला० ज०—कलकत्ता लॉ जर्नल

क० वी० नो०—कलकत्ता वीकली नोट्स लॉ रिपोर्ट्स

ना० ला० रि०—नागपुर लॉ रिपोर्ट्स

प०—पटना की इंडियन लॉ रिपोर्ट्स

ब०—बम्बई लॉ रिपोर्टर

ब० हा० रि०—बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट्स

म०—मद्रास की इंडियन ला रिपोर्ट्स

मू० इं० ए०—मूर इंडियन अपील्स

प्रथम अध्याय

हिन्दू विवाह का स्वरूप, प्रयोजन और उद्‌गम

विवाह और परिवार मानव जाति में आत्मसंरक्षण, वंशवृद्धि और जातीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने के प्रधान साधन हैं। मरणधर्मा मनुष्य ने इससे अमरता प्राप्त की है। मनुष्य सदैव जीवित रहने की आकांक्षा रखता है, उसने मृत्यु पर विजय पाने के लिए अतीत काल में अनेक रसायन बनाये, अमृत की खोज की, वैज्ञानिक आज भी ऐसे प्रयत्नों में संलग्न हैं, किन्तु अब तक इसका विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम उपाय नहीं खोजा जा सका। ब्रह्मपुराण में यह ठीक ही कहा गया है—देवता अमृत द्वारा अमर हुए और ब्राह्मणादि मनुष्य पुत्र द्वारा।[1]

विवाह द्वारा मनुष्य सन्तान के माध्यम से अपने को फैलाता और अमर बनाता है। इसलिए संस्कृत में बच्चों के लिए संतति, सन्तान, तनय आदि शब्दों का प्रयोग होता है। ये सब शब्द विस्तारवाची तनु धातु से बनते हैं। पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है क्योंकि पिता के अंग-अंग और हृदय से प्राप्त अंशों से पुत्र की उत्पत्ति होती है।[2] मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुःख है तो इस बात का अवश्य सन्तोष है कि विवाह और परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूंढ लिया है, जिससे वह अपने वंशजों के रूप में अनन्त काल तक जीवित रहेगा। मानव समाज की सत्ता और संरक्षण विवाह और परिवार पर अवलम्बित है; अतः विवाह को हमारे समाज की केन्द्रीय संस्था माना जाता है।[3]

विवाह का अर्थ और लक्षण

विवाह शब्द का तात्पर्य है—विशिष्ट रूप से वहन[4] अर्थात् वधू को विशेषता के साथ (पितृगृह से पतिगृह) ले जाना। मित्रमिश्र के मतानुसार यह विशिष्टता दो

[1] ब्रह्मपुराण १०४।६ अमृतेनामरा देवाः पुत्रेण ब्राह्मणादयः। ऋग्वेद में (५।४।१०) पुत्रों द्वारा अमृतत्व प्राप्ति का उल्लेख है—प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। मि० तै० सं० १।४।४६।१

[2] निरुक्त ३।४

[3] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स ४।४२३।

[4] शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ काण्ड, पृ० ४२७—'विवाहः विशिष्टं वहनम्।' मि० संस्कार-

प्रकार से होती है : (क) संस्कार से, (ख) स्वत्वोत्पादन द्वारा ।[५] अतः विवाह शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(१) विवाह संस्कार, (२) इस संस्कार से उत्पन्न होने वाला दाम्पत्य सम्बन्ध । मेधातिथि तथा रघुनन्दन ने विवाह शब्द का अर्थ संस्कार-परक किया है, पहले के मत में विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है ।[६] रघुनन्दन का लक्षण बड़ा सरल तथा वर्तमान समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये लक्षण से बहुत कुछ मिलता है । इसके अनुसार जिस (विधि) से नारी पत्नी बनती है, वह विवाह है ।[७] मानव समाज में विवाह संस्कार की हजारों विधियाँ प्रचलित हैं । हिन्दू समाज में वैदिक युग से चली आने वाली जटिल संस्कार पद्धति से लेकर मलाबार के सम्बन्धम् तक सैकड़ों विधियों का प्रचलन है (देखिये सातवाँ अध्याय) । इनमें से समाज द्वारा मानी गयी किसी भी विधि या पद्धति द्वारा परिवार की स्थापना को विवाह कहा जाता है । अतः जिलिन के मतानुसार विवाह सन्तान पैदा करने वाले परिवार को स्थापित करने की समाज द्वारा स्वीकृत पद्धति है ।[८]

विवाह का दूसरा अर्थ समाज द्वारा स्वीकृत पद्धति द्वारा स्थापित दाम्पत्य सम्बन्ध भी है । इससे पति-पत्नी के कुछ अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न हो जाते हैं, अतः मित्रमिश्र (संस्कारप्रकाश पृ० ५८३) ने विवाह के इस रूप को स्वत्वोत्पादन कहा है । वेस्टरमार्क ने विवाह के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए इसका यह लक्षण किया है—"यह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ ऐसा सम्बन्ध है, जो रिवाज या कानून द्वारा मान्य होता है और जो इस सम्बन्ध को करने वाले दोनों पक्षों

प्रकाश पृ० ५८३—'तत्र विवाहशब्दो वह प्रापणे इत्यस्माद्धातोर्भावे घञि कृते वहनं वाहः, विशिष्टो वाहो विवाह इति व्युत्पत्त्या निष्पद्यते ।

५ सं. प्र. वहीं-वैशिष्ट्यं च प्रतिग्रहाद्यष्टविधोपायान्यतमोपायेन स्वीकृतायां होमादि-सप्तपदनयनान्तकर्मभिः संस्कृतत्वम् । तथा च विवाहपदार्थो द्विधा सिध्यति स्वत्वोत्पादनं संस्काराधानं चेति ।

६ मनु ३।२० पर मेधा०—कः पुनरयं विवाहो नाम? उपायतः प्राप्तायाः कन्याया दारकरणार्थः संस्कारः नैतिकर्तव्ययोगः सप्तर्षिदर्शनपर्यन्तः पाणिग्रहणलक्षणः । यह स्मरण रखना चाहिये कि मेधा० ने विवाह संस्कार की समाप्ति सप्तर्षिदर्शन पर बतायी है, किन्तु मनु (८।२२०), यम (सं. प्र. पृ० ५८३ तथा ५८५) सप्तपदी पूरी होने पर ही विवाह की आवश्यक विधि का अन्त मानते हैं ।

७ उद्वाहतत्त्व—तेन भार्यात्वसम्पादकं ग्रहणं विवाहः ।

८ जिलिन—कल्चरल सोश्योलोजी (न्यूयार्क १९४८), पृ० ३३४

को तथा उनकी सन्तान को कुछ अधिकार और कर्तव्य प्रदान करता है।[९] ये अधिकार मुख्यतः यौन और आर्थिक होते हैं तथा सन्तान से सम्बन्ध रखते हैं। समाज विवाह द्वारा पति-पत्नी को न केवल रति का अधिकार देता है, किन्तु उसके साथ ही पति को पत्नी तथा सन्तान के भरण पोषण के लिए बाध्य करता है।[१०] पति के पत्नी तथा सन्तान पर कुछ अधिकार माने जाते हैं।[११] प्रायः विवाह समाज में नवजात प्राणियों के स्थान का निर्धारण करता है। पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार अधिकांश समाजों में वैध विवाहों से उत्पन्न सन्तान को ही दिया जाता है। विवाह द्वारा रति का अधिकार प्रायः दम्पती तक सीमित कर दिये जाने से इससे समाज में यौन सम्बन्धों का बहुत कुछ नियन्त्रण हो जाता है। इस प्रकार विवाह परिवार की स्थापना के लिए स्त्री-पुरुष का भौतिक, कानूनी और नैतिक सम्बन्ध है। यह संस्था मानव समाज में प्रधान रूप से दो प्रयोजन पूर्ण करती है—नर-नारी सम्बन्ध का नियमन और समाज में सन्तान की स्थिति का निर्धारण।

विवाह के विभिन्न पक्ष

विवाह का जीवशास्त्रीय (Biological) प्रयोजन वंश-विस्तार और जाति-संरक्षण है और उसका उद्‌भव उच्च प्राणियों में सन्तान के दीर्घ काल तक माता-पिता द्वारा संरक्षण की आवश्यकता से हुआ है।[१२] किन्तु इसके साथ ही विवाह में अनेक तत्त्वों और विविध पक्षों का सम्मिश्रण हुआ है, इससे वह एक सुन्दर बहुरंगी इन्द्र-धनुष बन गया है। विवाह के इन विविध पक्षों में वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, कानूनी और सांस्कृतिक पहलू उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं और विवाह का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक हैं।

वैयक्तिक (Individual) दृष्टि से विवाह पति-पत्नी की पूर्णता, विकास और सुख के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, एकाकी जीवन उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है, उसे जीवन यात्रा चलाने के लिए एक साथी की आवश्यकता अनुभव होती है, इसके बिना वह अपना जीवन नीरस समझता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१-३) में कहा गया है कि आरम्भ में केवल पुरुषाकार आत्मा

९ वेस्टरमार्क—ए शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज (लंडन १९२६), पृ० १

१० हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १२१–२

११ हिन्दू समाज में पति के पत्नी और सन्तान पर अधिकारों के लिए दे० हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १००-१२०, पृ० १८३ अनु०

१२ वेस्टरमार्क—एशार्ट हिस्टरी आफ मैरिज पृ० २–७, हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १०-१२

था, उसने भली-भाँति अवलोकन कर आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थ नहीं देखे। उसने रमण नहीं किया, अतः कोई व्यक्ति एकाकी रमण नहीं करता। उसने दूसरे (साथी) की चाह की, उसने उसी आत्मा को दो भागों में विभक्त किया, वे पति-पत्नी बने[१३]"। वस्तुतः स्त्री-पुरुष पृथक् रूप से संसार का आँधी-पानी झेलने में अपने को असहाय पाते हैं, किन्तु मिलकर सांसारिक कष्टों को अधिक प्रसन्नता के साथ सह सकते हैं और जीवनयात्रा सुखपूर्वक पूरी कर सकते हैं। रामायण में पति-पत्नी को एक ही रथ के दो पहिये कहा गया है, जिस प्रकार बिना तार के वीणा नहीं होती, चक्र से रहित रथ नहीं होता, उसी प्रकार पतिहीन स्त्री का जीवन सुखमय नहीं हो सकता।[१४] नर-नारी की अनेक आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ विवाह द्वारा सन्तान से पूरी होती हैं। उन्हें यह सन्तोष होता है कि उनके न रहने पर भी सन्तान उनके नाम और कुल की परम्परा को अक्षुण्ण रखेगी, वे जिन कामों को नहीं कर सके, उन्हें सम्पन्न करेगी, उनकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनेगी, वृद्धावस्था में अवलम्ब देगी। हिन्दू समाज में वैदिक युग से यह विश्वास प्रचलित है कि पत्नी मनुष्य का आधा अंश है, मनुष्य तब तक अधूरा रहता है जब तक वह पत्नी प्राप्त करके सन्तान नहीं उत्पन्न कर लेता है।[१५] पुरुष प्रकृति के बिना और शिव शक्ति के बिना अपूर्ण है।

विवाह एक धार्मिक सम्बन्ध भी है। हिन्दू समाज में वैदिक युग से ऐसा समझा जाता है। आठ प्रकार के ब्राह्मादि हिन्दू विवाहों में से पहले चार प्रकार के धर्म्य विवाहों को ही धर्मानुकूल होने से उत्तम माना गया है। आगे यह बताया जायगा कि हिन्दू समाज में किन कारणों से विवाह एक धार्मिक सम्बन्ध है। विवाह का धार्मिक रूप हिन्दू समाज में ही नहीं किन्तु अन्य अनेक समाजों और धर्मों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन यूनान और रोम में यही स्थिति थी। म्यूरहैड के शब्दों में हिन्दुओं और यूनानियों के समान आरम्भिक रोमन लोगों में विवाह एक धार्मिक कर्तव्य था, अपने पूर्वजों के तथा अपने प्रति यह एक ऋण था। इनका यह विश्वास था कि परलोक में मृतपूर्वजों का सुखी रहना इस बात पर अवलम्बित है कि उनका मृतक-संस्कार यथाविधि हो तथा उनकी आत्मा की शान्ति के लिए उन्हें अपने वंशजों की प्रार्थनाएँ, भोज तथा भेंटें बार-बार यथासमय

[१३] बाइबल में (जिनेसिस २।१८, २०, २२-३) में यह वर्णन है कि भगवान् ने कहा कि यह अच्छा नहीं है कि मनुष्य अकेला रहे, मैं उसके लिए एक साथी बनाऊँगा। उसने आदम को गहरी नींद में सुलाकर उसकी पसली की हड्डी से हव्वा को बनाया।

[१४] वा. रा. २।३९।२९

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥

[१५] शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०

मिलती रहें। अतः उनका सर्वोपरि कर्तव्य यह था कि वे अपनी पारिवारिक पूजा के सातत्य को बनाये रखें।[१६]

यहूदियों की एक धर्मसंहिता शूलह् आन आरूख के अनुसार विवाह से बचने वाला हत्यारे जैसा अपराधी समझा जाता था, क्योंकि वह "बढ़ो और फलो-फूलो" के ईश्वरीय आदेश का भंग करता था। २० वर्ष से अधिक आयु के अविवाहित व्यक्ति को शादी के लिए बाध्य किया जा सकता था।[१७] इस्लाम में विवाह एक दीवानी संविद् (Civil contracts) होते हुए भी अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य है। एक हदीस के अनुसार व्यक्ति शादी कर लेने पर अपना आधा धर्म पूरा कर लेता है। हजरत मुहम्मद ने एक बार एक पुरुष से उसकी शादी के बारे में पूछा। नकारात्मक उत्तर मिलने पर उन्होंने दूसरा प्रश्न यह किया कि क्या तुम स्वस्थ हो। उसका स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर पैगम्बर ने कहा कि तब तुम अवश्यमेव शैतान के भाई हो, क्योंकि तुम में जो अविवाहित हैं वे सबसे अधिक दुष्ट हैं। शैतानों के पास सच्चरित्र स्त्री-पुरुषों को दूषित करने के लिए अविवाहित रहने से अधिक प्रभावशाली कोई दूसरा अस्त्र नहीं।[१८] विवाह का धार्मिक रूप इसके कानूनी रूप से अधिक अच्छा और उदात्त समझा जाता है, क्योंकि पिछले प्रकार में विवाह लौकिक सम्बन्ध होता है, किन्तु पहले प्रकार का सम्बन्ध देवताओं की साक्षी में अधिक गम्भीर और पवित्र विधि से होने वाला स्थायी आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है। हिन्दू समाज में विवाह प्रधान रूप से इसी प्रकार का एक धार्मिक सम्बन्ध माना जाता है।

विवाह का एक सामाजिक पक्ष भी है। किसी भी समाज में विवाह में अपना साथी वरण करने की खुली छूट नहीं होती। वंशपरम्परा से सम्बद्ध तथा विशिष्ट श्रेणियों के व्यक्तियों को परस्पर विवाह नहीं करने दिया जाता। अगम्य-गमन (Incest), बहिर्विवाह (Exogamy), अन्तर्विवाह (Endogamy) के नियमों का पालन लगभग प्रत्येक समाज में आवश्यक है। इन बन्धनों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज विवाह द्वारा मनुष्य की उद्दाम यौन भावना पर भी अंकुश लगाता है। विवाह एक आर्थिक बन्धन भी है। प्रसूति में तथा उसके कुछ समय बाद तक अत्यन्त निर्बल तथा कार्य करने में असमर्थ होने के कारण पत्नी को पति के अवलम्ब की आवश्यकता होती है, इस कारण दोनों में श्रम-विभाग होता है। पति को पत्नी के तथा सन्तान के भरण-पोषण का दायित्व लेना पड़ता है। महाभारत के शब्दों में पत्नी का पालन करने के कारण वह

१६ म्यूरहेड—हिस्टारिकल इंट्रोडक्शन टू दी प्राइवेट लॉ आफ रोम, पृ० २३-४

१७ वेस्टरमार्क-शा० हि० मै०, पृ० ४०

१८ लेन—अरेबियन सोसायटी इन दी मिडल एजेस (लंडन १८८३), पृ० २२१

पति और भरण करने के कारण भर्ता कहलाता है।[१९] पति द्वारा उपार्जित धन पर उसके वैध पुत्रों का ही अधिकार माना जाता है।

विवाह का एक कानूनी पक्ष भी है। परिणय सहवास मात्र नहीं है। किसी भी समाज में किसी नर-नारी को उस समय तक संयुक्त रूप में रहने तथा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं दिया जाता, जब तक कि इसके लिए समाज की स्वीकृति न हो और वह स्वीकृति कानूनी तथा कर्मकाण्डात्मक विधियों के पूरा करने से तथा विवाह से उत्पन्न सन्तान तथा इसके दायित्वों को स्वीकार करने से प्राप्त होती है।[२०] कानून का अभिप्राय यहाँ व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा पास किये कानून नहीं, किन्तु कानून जैसी बाध्यता रखने वाली सामाजिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ है, जिनके अनुसार पति-पत्नी के दाम्पत्य, आर्थिक, यौन तथा अन्य सभी प्रकार के सम्बन्धों का नियन्त्रण होता है। अनेक आधुनिक समाजों में विवाह वर-वधू की सहमति से होने वाला विशुद्ध कानूनी समझौता (Legal contract) माना जाता है। किन्तु यह इस दृष्टि से अन्य सब प्रकार के समझौतों या संविदों (Contracts) से भिन्न है कि अन्य संविदों की शर्तें उसे करने वाले अपनी इच्छा से तय करते हैं, किन्तु विवाह के कर्तव्य और दायित्व वर-वधू की इच्छा पर अवलम्बित नहीं होते, वे सामाजिक परम्परा अथवा कानून द्वारा निर्धारित होते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से विवाह किसी समाज की परम्पराओं के संरक्षण और व्यक्तित्व के निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। विवाह द्वारा बनने वाले परिवार में बच्चा अपने समाज के आचार-व्यवहार, रीति-नीति, धार्मिक एवं नैतिक विश्वासों और आदर्शों से परिचित होता है, उन्हें सीखता है और अपने को उन आदर्शों के अनुरूप सांचे में ढालता है। इस प्रकार नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से अपने सांस्कृतिक दाय को ग्रहण करती है और उसके सातत्य को बनाये रखती है।

उपर्युक्त प्रधान पक्षों के अतिरिक्त विवाह के नैतिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिक, यौन आदि अनेक पहलू हैं। इस पुस्तक में विवाह के सामाजिक पक्ष का ही संक्षिप्त निरूपण किया जायगा। अन्य समाजों की भाँति, हिन्दू समाज ने विवाह के सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये हैं। यहाँ मुख्य रूप से इन्हीं का वर्णन किया जायगा।

विवाह विषयक नियम—हिन्दू समाज में प्रचलित विवाह सम्बन्धी नियमों की संख्या बहुत अधिक है। समाजशास्त्र की वर्तमान पद्धति के अनुसार इन्हें निम्नलिखित मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) **वर-वधू के चुनाव के नियम**—विवाह करने से पहले वर के लिए

१९ महाभा० १।१०४।३१ भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।

२० इंसा. ब्रिटा., खं. १४, पृ० ३६०

वधू के निर्वाचन में बहिर्विवाह (Exogamy) और अन्तर्विवाह (Endogamy) के नियमों का ध्यान रखना पड़ता है। हिन्दू विवाह में शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार वधू का गोत्र वर के गोत्र से भिन्न होना चाहिए और वर-वधू वर्जित पीढ़ियों के भीतर नहीं होने चाहिए। वर के गोत्र से बाहर तथा वर्जित पीढ़ियों से बाहर विवाह करने के ये नियम बहिर्विवाह अथवा बहिर्विवाही नियम (Exogamous rules) कहलाते हैं। इसी प्रकार वर-वधू के चुनाव में इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि वह वर के वर्ण या जाति की ही होनी चाहिए, विवाह अपने वर्ण या जाति के विशिष्ट सामाजिक वर्ग के भीतर ही होना चाहिए, यह अन्तर्विवाह अथवा अन्तर्विवाही नियम (Endogamous rules) कहलाते हैं। ऊपर से देखने में इन दोनों नियमों में विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु अगले अध्याय में यह बताया जायगा कि ऐसा नहीं है। एक बड़ा विशिष्ट सामाजिक वर्ग अनेक छोटे बहिर्विवाही वर्गों में बंटा होता है, इन वर्गों का प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ग से बाहर विवाह करता हुआ भी अपने सामाजिक वर्ग के भीतर ही विवाह करता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, भरद्वाज आदि अनेक गोत्रों में विभक्त हैं (दे० दूसरा अध्याय)। वसिष्ठ गोत्र वालों का विवाह यद्यपि इस गोत्र से बाहर के व्यक्तियों के साथ होगा, किन्तु वे व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण के ही होंगे।

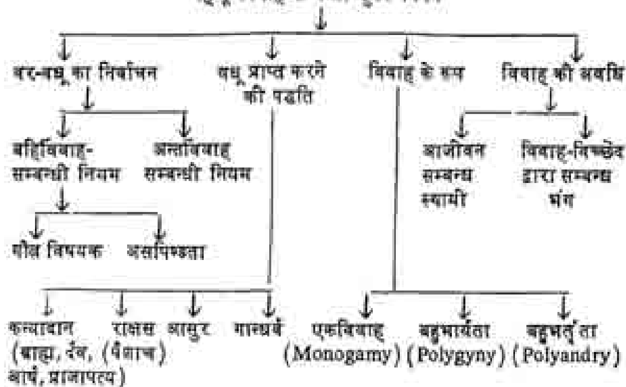
(२) **पत्नी प्राप्ति के नियम**—दूसरे प्रकार के वैवाहिक नियम विवाह सम्पन्न करने अथवा दूसरे शब्दों में वधू प्राप्त करने (**दार-परिग्रह**) की पद्धतियों से सम्बन्ध रखते हैं। वर्तमान समाजशास्त्री इनके तीन भेद मानते हैं—(१) बलपूर्वक हरण (Capture), जब वधू को जबर्दस्ती हर कर लाया जाय। (२) क्रय (Purchase), कन्या के पिता को मूल्य देकर वधू को खरीदा जाय। यह खरीदना मूल्य देकर भी हो सकता है और वर वधू के घर पर सेवा करके भी वधू को उपार्जित कर सकता है। (३) तीसरा प्रकार वधू की सहमति (Consent) से विवाह का सम्पन्न होना है। प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में उपर्युक्त तीनों भेदों को क्रमशः राक्षस, आसुर और गान्धर्व के नाम से उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त पत्नी प्राप्त करने की पाँच अन्य विधियाँ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, तथा पैशाच इस प्रकार कुल आठ विधियाँ बतायी गयी हैं।

(३) **विवाह के विभिन्न रूप**—तीसरे प्रकार के नियम विवाह के विभिन्न रूपों से सम्बन्ध रखते हैं। ये रूप मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—(**क**) **एक-विवाह** (Monogamy)—इसमें एक पुरुष का सम्बन्ध एक स्त्री के साथ होता है। (**ख**) **बहुभार्यता** (Polygamy)—यह एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का सम्बन्ध या विवाह होता है। (**ग**) **बहुभर्तृता**—इसमें एक ही स्त्री के अनेक पति होते हैं। ये सब रूप पति या पत्नी की संख्या पर आधारित हैं। एक-विवाह (Monogamy) के अतिरिक्त शेष दोनों रूपों में पत्नी या पति संख्या में अनेक होते हैं, इनका सामान्य नाम बहु-विवाह

(Polygamy) है। हिन्दू समाज में प्राचीन और अर्वाचीन काल में बहुभर्तृता की प्रथा के बहु कम उदाहरण मिलते हैं, अतः हिन्दी में बहुविवाह (Polygamy) शब्द का प्रयोग प्रायः बहुभार्यता (Polygamy) के लिये होता है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से बहुभर्तृता या बहुभार्यता का ही प्रयोग वांछनीय है।

(४) चौथे प्रकार के नियम वैवाहिक सम्बन्ध की अवधि से सम्बन्ध रखते हैं। यह अवधि कुछ समाजों में दोनों पक्षों के लिये मृत्युपर्यन्त बनी रहती है, अतः विवाह सम्बन्ध अविच्छेद्य समझा जाता है। मई १९५५ तक शास्त्रीय हिन्दू विवाह इसी प्रकार का था। सभ्यता की निम्नतम अवस्था में रहने वाली अनेक जातियों में यह सार्वभौम प्रथा है, रोमन कैथोलिक चर्च विवाह को अविच्छेद्य मानता है। इसके विपरीत कुछ समाजों में विवाह अल्पकालिक सम्बन्ध होता है, उनमें प्रायः तलाक द्वारा पति-पत्नी का सम्बन्ध कुछ दशा में टूट जाता है, जैसे उत्तरी अमरीका के रैड इंडियनों में। जिन समाजों में विवाह-विच्छेद की व्यवस्था है, वहाँ इसे मर्यादित करने के लिए अनेक नियम बनाये जाते हैं। कुछ विशेष कारण उपस्थित होने पर पति पत्नी को, पत्नी पति को तलाक दे सकती है, दोनों की पारस्परिक सहमति से भी विवाह-विच्छेद हो सकता है, यूरोप के अनेक देशों में तथा भारत के १९५४ के विशेष विवाह कानून में ऐसी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त समाज पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों तथा माता-पिता और सन्तान के सम्बन्धों के विषय में भी अनेक नियम निर्धारित करता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के वैवाहिक नियम निम्न तालिका में प्रदर्शित किये गये हैं, इसमें विवाह सम्पादन की विधि में स्पष्टता की दृष्टि से केवल चार भेदों का ही उल्लेख



किया गया है, क्योंकि ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य के प्रकारों का प्रधान तत्त्व कन्यादान है, पैशाच और राक्षस का ही विशिष्ट रूप है। इन सब की आगे विवेचना की जायगी। अतः यद्यपि पश्चिम के समाज-शास्त्रियों ने विवाह सम्पादन अथवा वधू प्राप्ति की तीन मुख्य विधियाँ ही बतायी हैं, किन्तु हिन्दू समाज की दृष्टि से उसकी चार विधियां मानी जानी चाहिए।

दूसरे अध्याय में इनका यथाक्रम वर्णन किया जायगा, यहाँ पहले हिन्दू विवाह का यथार्थ रूप समझने के लिए उसके उद्देश्य और उद्गम पर विचार किया जायगा।

विवाह के प्रयोजन

हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार विवाह के तीन मुख्य प्रयोजन—धर्म का पालन, सन्तान की प्राप्ति और रति हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।११।१२) ने केवल पहले दो प्रयोजनों का उल्लेख किया है और कहा है कि इनके पूरे हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। केवल कामसुख की प्राप्ति के लिए विवाह जघन्य समझा जाता था। आपस्तम्ब (१०।१०।१२८।१९) उपर्युक्त दो प्रयोजनों की पूर्ति हो जाने के बाद विवाह करने वाले व्यक्ति के लिए छह मास तक गधे की खाल ओढ़ कर भिक्षा माँगने के कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है। मनु (९।२८) के कथनानुसार ये सब बातें पत्नी पर निर्भर होती हैं—पुत्र की प्राप्ति, धर्मकार्य, सेवा, शुश्रूषा, उत्तम रति तथा पुत्रों द्वारा अपनी तथा पितरों की स्वर्ग प्राप्ति है। याज्ञवल्क्य (१।७८) के मतानुसार विवाह के निम्न-लिखित प्रयोजन हैं: (१) पुत्रपौत्रादि द्वारा वंश का विस्तार, (२) अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति। विज्ञानेश्वर ने धर्म की तथा पुत्रों की प्राप्ति के दो प्रयोजनों पर बल देते हुए रतिफल का लौकिक लाभ के रूप में वर्णन किया है।

(१) धर्म का पालन

(क) पत्नी का सहयोग—हिन्दू विवाह का पहला उद्देश्य आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार धर्म का पालन है। यह तीन प्रकार से होता है, सब धर्म कार्यों में पत्नी के सह-योग द्वारा, गृहस्थ धर्म के पालन से तथा पितृ-ऋण को उतारने से। भारतीय विचारधारा के अनुसार वैदिक युग में धर्म कार्य के लिए पत्नी को हिन्दू समाज में आवश्यक समझा जाता था, उस समय यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था और ये यज्ञ पत्नी के बिना नहीं हो सकते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।२।२।६,३।३।३।१) के मत में अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। जैमिनि ने मीमांसादर्शन में यह मत स्थापित किया है कि सब यज्ञकार्य पति-पत्नी को संयुक्त रूप से करने चाहिए (६।१।१७)। पाणिनि के (४।१।१३) अनुसार पत्नी का अर्थ ही यज्ञ कर्म में सहयोग देने वाली स्त्री है। (पत्युर्नो-यज्ञसंयोगे)। श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ सीता के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता था,

अतः उन्हें सीता की सुनहली प्रतिमा बनाकर इसे पूरा करना पड़ा (वाल्मीकि ७।९१।२५) अनेक शास्त्रकार यज्ञकार्य अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से ही पहली पत्नी की मृत्यु होने पर तुरन्त दूसरी स्त्री को ग्रहण करने का आदेश देते हैं।[21]

संस्कृत काव्यों में पत्नी के साथ धर्माचरण के कार्य करने पर बहुत बल दिया गया है। वाल्मीकि रामायण (२।७३।२६) में जनक ने सीता को राम की "सहधर्मचरी" बतलाया है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में शार्ङ्गरव द्वारा शकुन्तला के लिए राजा को कहलाया है कि आप इसे सहधर्मचरण के लिए स्वीकार कीजिये। अन्यत्र शकुन्तला को धर्मपत्नी (अभि० शा० ६।२४) और पार्वती को सहधर्मचारिणी (कुमार संभव ८।२९ मि० ८।५१) कहा गया है। शिव के विवाह का प्रयोजन पत्नी के साथ धर्म का पालन बताया गया है (कु० सं० ६।१६), पार्वती को पति के साथ धर्मचर्या करने का आदेश दिया गया है (७।८३)। मध्यकाल में यद्यपि श्रौतयज्ञों की परिपाटी लुप्त हो गयी थी, किन्तु फिर भी पत्नी धर्म कार्य के लिए आवश्यक मानी जाती रही।

वर्तमान काल में हिन्दू समाज के दैनिक जीवन पर संभवतः सबसे अधिक प्रभाव डालने वाले पुराणों में बारम्बार इस बात का उल्लेख है कि पत्नी के बिना धर्म कार्य नहीं किये जा सकते, उसके अभाव में सब प्रकार के धर्म कार्य और तीर्थयात्राएँ निरर्थक होती हैं। पद्मपुराण ने सुकला के उपाख्यान द्वारा इस तथ्य का बड़े मनोरंजक ढंग से निरूपण किया है। कृकल बड़ा धर्मात्मा था, पुण्योपार्जन के लिए वह अपनी पत्नी सुकला को घर छोड़कर तीर्थयात्रा पर चला गया। तीन वर्ष तक विविध तीर्थों का दर्शन करके घर लौटते हुए सोचने लगा कि मेरा संसार में जन्म लेना सफल हो गया, मेरे सब पितर स्वर्ग में चले गये होंगे। किन्तु इसी समय उसके पितरों को पाश में बाँधे हुए धर्मराज उसके सामने प्रकट हुए और उन्होंने कहा—

"जो धार्मिक आचार और उत्तम व्रत का पालन करने वाली, श्रेष्ठ गुणों से विभूषित, पुण्य में अनुराग रखने वाली, पतिव्रता पत्नी को अकेली छोड़कर धर्म करने के लिए बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ हो जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। गुणवती, पुण्यवती और महासती नारी जिसकी पत्नी हो, उसके घर में देवता निवास करते हैं। गंगा आदि पवित्र नदियाँ, सागर, यज्ञ, गौ, ऋषि तथा सम्पूर्ण तीर्थ उस घर में विद्यमान रहते हैं। पुण्यमयी पत्नी के सहयोग से गृहस्थ धर्म का पालन अच्छे ढंग से होता है। इस भूमण्डल में गृहस्थ धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। जिसके घर में साध्वी स्त्री होती है उसके घर में मन्त्र, अग्निहोत्र, सम्पूर्ण देवता, सनातन धर्म, दान एवं सब आचार विद्यमान रहते हैं। साध्वी पत्नी के समान कोई तीर्थ नहीं, पत्नी के समान

[21] याज्ञ० १।८९ दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥

कोई सुख नहीं है तथा संसार सागर पार करने के लिए और कल्याण साधन के लिए पत्नी के समान कोई पुण्य नहीं है।······अपनी पत्नी को साथ लिये बिना तुमने तीर्थों में जो श्राद्ध और दान किया है उसी दोष से तुम्हारे पूर्वज बाँधे गये हैं। पत्नी ही गार्हस्थ्य धर्म की स्वामिनी है, उसके बिना तुमने शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया, यह स्पष्ट ही तुम्हारी चोरी है। जब पत्नी अपने हाथ से अन्न तैयार करके देती है, तो वह अमृत के समान मधुर होता है, उसी अन्न को पितर प्रसन्न होकर भोग करते हैं तथा उन्हीं से उन्हें विशेष सन्तोष और तृप्ति होती है। अतः पत्नी के बिना किया गया धर्म निष्फल होता है।[२२] इसके बाद धर्मराज कृकल को अपने घर लौटकर सुकला के साथ धर्म-कर्म करने का उपदेश देते हैं और वैसा करने पर उसकी तीर्थयात्रा सफल होती है।

मार्कण्डेय पुराण (२१।६८-७२) में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति के लिए पत्नी पति की सहायक बतायी गयी है—"भार्या में त्रिवर्ग प्रतिष्ठित है, उसके बिना पुरुषों द्वारा देवताओं, पितरों तथा अतिथियों की पूजा नहीं की जा सकती। स्त्री भी पति के बिना धर्म, काम, अर्थ और सन्तान नहीं प्राप्त कर सकती। अतः त्रिवर्ग की प्राप्ति पति-पत्नी दोनों पर अवलम्बित है।" उत्तम मन्वन्तर की कथा (अ० ६९) में भी इसी बात पर बल दिया गया है। इसमें एक ब्राह्मण ने राजा से अपनी अपहृत पत्नी का जल्दी पता लगाने की प्रार्थना करते हुए कहा है कि उसके न होने से नित्यकर्मों के न होने के कारण धर्म की हानि हो रही है और इससे मेरा पतन हो रहा है। ऋषि ने अपनी पत्नी का त्याग करने वाले राजा उत्तम की भर्त्सना करते हुए कहा है—मनुष्य १५ दिन तक धर्म कर्म न करने से अस्पृश्य हो जाता है, फिर आपने उसे एक वर्ष से छोड़ रखा है, आपके विषय में क्या कहा जाय ? ब्रह्मपुराण (अध्याय १६१) में कहा गया है कि ब्रह्मा ने अपने शरीर को यज्ञ की सिद्धि के लिए दो भागों में बाँटा, पूर्वार्द्ध को पत्नी बनाया, क्योंकि श्रुति के वचन के अनुसार यज्ञ पत्नी के बिना नहीं हो सकता।

(ख) **गृहस्थाश्रम का पालन**—हिन्दू समाज में धार्मिक दृष्टि से गृहस्थ धर्म के पालन के लिए विवाह आवश्यक माना जाता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में गृहस्थाश्रम का विधान है। मनु (३-२) और याज्ञवल्क्य (१।५२) स्पष्ट रूप से इसका विधान करते हैं। यद्यपि आश्रमों की संख्या के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में पर्याप्त मतभेद है।[२३] किन्तु

[२२] पद्मपुराण २ भूमिखण्ड, अध्याय ५९, श्लोक ८–३२

[२३] इस सम्बन्ध में समुच्चय, विकल्प और बाध नामक तीन पक्ष हैं। समुच्चयवादी पक्ष के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। मनु इस मत का प्रबल पोषक है (४–१,६–१,१२–३७,८०–८८ मि० जाबालोपनिषद्—'ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्")। दूसरा पक्ष

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में सब एकमत हैं। गौतम ने इस आश्रम को अन्य सब आश्रमों का मूल या आधार कहा है। वसिष्ठ (८।१६) के मत में गृहस्थाश्रम माता के समान है। मनु (३।७७-८०) ने इसकी महत्ता को विस्तार से स्पष्ट करते हुए वायु से इसकी उपमा दी है, जिस प्रकार वायु के सहारे सब प्राणी जीते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं। जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर स्थित होते हैं, वैसे ही तीनों आश्रमों वाले गृहस्थ की सहायता से निवास करते हैं (वसिष्ठ ८।१५, महाभा० १२।२६६। २९)। तीनों आश्रमों का भरण करने के कारण गृहस्थ ही श्रेष्ठ आश्रम है (मनु ६।८८)। अतएव मनु ने अक्षय स्वर्ग और सुख की इच्छा रखने वाले के लिए इसका पालन आवश्यक बताया है।

महाभारत में गृहस्थाश्रम की महिमा का बहुत वर्णन किया गया है। नकुल ने युधिष्ठिर से कहा है कि यदि गृहस्थाश्रम को एक पलड़े में तथा अन्य तीन आश्रमों को दूसरे पलड़े में रखकर तोला जाय तो यह उन तीनों के बराबर होता है (१२।१२।१२) गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों के लिए माता के तुल्य है (१२।२६९।६), अन्य सब आश्रम उसमें अवस्थित हैं (१२।२९५।३६)। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक से कभी च्युत नहीं होता (उद्योग पर्व ४०।२५, मि० वसिष्ठ ७।१३,१०।३१, बौधायन धर्मसूत्र २।२।१)।

महाभारत में केवल गृहस्थाश्रम की ही प्रशंसा नहीं है, किन्तु उसकी उपेक्षा कर

विकल्प का है। इसके अनुसार सब आश्रमों का पालन आवश्यक नहीं है। यह ऐच्छिक है; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों से संन्यास लिया जा सकता है। वैराग्य होने पर प्रव्रज्या लेनी चाहिए। (जाबालोपनिषद् ४—"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्")। यह मत वसिष्ठ (७-३), लघुविष्णु (३।१), याज्ञ० (३।५६), आप. ध. सू. (२।९।२१।७-८, २।९।२२।७-८) को भी मान्य है। तीसरा पक्ष बाध का है, इसमें केवल गृहस्थ आश्रम ही स्वीकार किया जाता है, वानप्रस्थ और संन्यास को नहीं माना जाता। बौधायन ने (२।६।२९।४२-४३) लिखा है कि कुछ आचार्य केवल एक ही (गृहस्थ) आश्रम मानते हैं क्योंकि अन्य आश्रमों में सन्तानोत्पादन का कार्य नहीं हो सकता। श्रुति ने प्रजा द्वारा अमृतत्व प्राप्त करने का (ऋ० ५।४।१०, तै० सं० १।४।४६।१) तथा तीन ऋणों (तै. सं. ६।३।१०।५) का वर्णन किया है (ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजनत्वादितरेषाम्। प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्, जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति)। गौतम ने भी (३।१,३५) इसी प्रकार का विचार रखा है—(ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य)। यहाँ प्रत्यक्ष विधान का तात्पर्य श्रुति के ऐसे वचनों से है जिनमें आमरण यज्ञ

संन्यास ग्रहण करने वालों की निन्दा है। मोक्ष के लिए कर्मों का त्याग कर क्षत्रिय का संन्यासी बनना भीम के कथनानुसार धर्म का उल्लंघन करना है (१२।१०।१८)। जैसे जंगल में रहने वाले मृग, सूअर और पक्षी स्वर्ग के अधिकारी नहीं होते, वैसे ही क्षत्रिय गृहस्थ के कर्मों का परित्याग कर स्वर्गगामी नहीं हो सकते। यदि संन्यास के धर्म से ही सिद्धि होती हो तो पहाड़ और पेड़ जल्दी सिद्धि पा जाते, क्योंकि ये सदैव संन्यासी की भाँति परिग्रहहीन और सदा ब्रह्मचारी देखे जाते हैं (१२।१०।२३-२४)। शान्तिपर्व के ११ वें अध्याय में गृहस्थाश्रम का परित्याग करने वाले तपस्वियों की गर्हा करते हुए कहा गया है कि यह आश्रम पुण्यमय और महान् है (१२।११।१५), जो मनुष्य कर्म की निन्दा करते हुए कुमार्ग गमन अर्थात् संन्यास धर्म ग्रहण करते हैं वे मूढ़, अर्थहीन और पापी हैं।.... गृहस्थधर्म का पालन बड़ा दुष्कर और श्रेष्ठ तप है (१२।११।२०)। नकुल के कथनानुसार घर छोड़ने वाला नहीं, किन्तु गृहस्थ बड़ा त्यागी है (१२।१२।१४)। राजा जनक के संन्यासी होने पर उनकी मनस्विनी भार्या ने पति की कापाली वृत्ति की निन्दा करते हुए कहा था—जब आप धर्मपत्नी का त्याग कर जीवनधारण की इच्छा रखते हैं, तब आप पापी हैं, आपका इस लोक तथा परलोक में मंगल नहीं होगा। दान लेने के लिए लोग सिर मुड़ा कर और गेरुआ वस्त्र पहन कर संन्यासी होते हैं (महा० १२।१८।१५, ३२)। मोक्ष के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञों का अनुष्ठान करने वालों से अधिक धर्मात्मा कौन है? भीष्म ने गृहस्थाश्रम को मोक्षप्रद न मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि श्रद्धा, प्रज्ञा, सूक्ष्मदर्शन तथा प्रतिष्ठा से शून्य, आलसी, थके हुए और सन्तापयुक्त मूर्खों ने ही संन्यास में शान्ति देखी है। अन्यत्र (१२।८।७) संन्यास को पापिष्ठा वृत्ति कहा गया है।[२४]

करने का आदेश है, जैसे शत० ब्रा० १२।४।१।१ का यह कथन कि बुढ़ापे और मृत्यु होने तक अग्निहोत्र करते रहना चाहिए (एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्)। ब्रह्मसूत्र ३।४।१८ के अनुसार जैमिनि का भी यही मत था, किन्तु बादरायण चारों आश्रम मानते थे (३।४।१९।२०)। कुछ लोगों का यहाँ तक विचार था कि वस्तुतः आश्रम गृहस्थाश्रम ही है, शेष आश्रम अंधों तथा विकलांग पुरुषों के लिए हैं (मिता० ३।५६–५७, स्मार्तत्वार्थैष्ठिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधः गार्हस्थ्यानधिकृतान्धक्लीबादिविषयता वा)। विज्ञानेश्वर ने इसका खण्डन करते हुए इस सारे प्रश्न की याज्ञ० ३।५६–५७ पर विस्तृत मीमांसा की है।

२४ महाभारत के उपर्युक्त प्रकरण भगवान् बुद्ध तथा महावीर का अनुसरण कर पत्नी तथा घर छोड़ कर संन्यासी होने वालों पर एक प्रबल आक्षेप है। यद्यपि बुद्ध ने प्रव्रज्या पर बल दिया, कच्छनख जातक (२३५) में गृहस्थाश्रम की निन्दा है, तथापि ललितविस्तर (पृ० १३७–८) में बुद्ध ने कमलपत्र की तरह निर्लिप्त भाव

प्रायः यह समझा जाता है कि गृहस्थाश्रम भोगप्रधान होने से मुक्ति में बाधक है, किन्तु ब्रह्मपुराण (८८।१२–१५) में इस प्रश्न पर विस्तृत विचार करते हुए वरुण ने याज्ञवल्क्य को यह बताया था कि मुक्ति कर्म द्वारा ही हो सकती है,, चार आश्रम कर्मों के द्वार हैं, इनमें गृहस्थाश्रम बहुत पुण्य देने वाला है, उससे भुक्ति और मुक्ति दोनों होती हैं।

पौराणिक विचारधारा के अनुसार विवाह स्वर्ग और अपवर्ग का कारण है, अग्निहोत्रादि में तथा विविध यज्ञ यागादि में सपत्नीक गृहस्थ का ही अधिकार है। ये कर्म निष्काम भाव से हों तो मोक्ष (अपवर्ग) देने वाले होते हैं और सकाम भाव से किये जायें तो स्वर्गादि फलों के साधक होते हैं।

(ग) पितृ-ऋण का विचार—धार्मिक दृष्टि से विवाह का तीसरा कारण पितृ-ऋण से मुक्ति है। सर्वप्रथम यजुर्वेद (१९।११) में इसका संकेत है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका विस्तार से प्रतिपादन है। शतपथ ब्राह्मण (१।७।२।१०) का मत है कि मनुष्य पर चार प्रकार का ऋण होता है। उत्पन्न होते ही वह देवताओं, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों का ऋणी होता है। तैत्तिरीय संहिता (६।३।१०।५) में ब्राह्मण के लिए केवल तीन ही ऋणों का उल्लेख है, यथा—ब्रह्मचर्य, यज्ञ और प्रजा द्वारा पुरुष क्रमशः ऋषि, देव और पितृ ऋणों से मुक्त होता है, जो पुत्रवान् तथा यज्ञ करने वाला और ब्रह्मचर्य का पालक है, वह ऋणनिर्मुक्त होता है। ऐतरेय ब्रा० (३३।१) यह बताता है कि पुत्र द्वारा व्यक्ति अपने ऋण को उतारता है। शंख (१६१) ने पुत्र द्वारा ऋण मुक्ति का निर्देश किया है। महाभारत (१।१२०।१५ अनु०) में शतपथ ब्रा० की भाँति चार ऋणों का वर्णन करते हुए इन ऋणों से मुक्त होने का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मनु (९।१०६) के मत में ज्येष्ठ पुत्र के पैदा होने से ही पिता अनृणी हो जाता है।

जैमिनि ने इन ऋणों पर विचार करते हुए यह व्यवस्था की है कि इनका उतारना ऐच्छिक नहीं, अपितु अनिवार्य कर्तव्य है (६।२।३१)। मनु के मतानुसार तीन ऋणों को उतार कर ही मनुष्य अपना मन मोक्ष (संन्यास आश्रम) में लगाये, यदि वह ऋणों को उतारे बिना मोक्ष की आराधना करता है तो नरक गामी होता है (६।३५)। इसकी व्याख्या करते हुए वह अगले श्लोक में कहता है कि विधिपूर्वक वेद का अध्ययन कर, धर्मपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न कर और यथा सामर्थ्य (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ करके वह संन्यास आश्रम में अपना मन लगाये (६।३६)। पितृ-ऋण तथा अन्य ऋणों को इतना अधिक महत्त्व देने के मूल में संभवतः यह भावना थी कि अपने माता-पिता, गुरु तथा समाज से लाभ उठाने वाले व्यक्ति का सामाजिक हित की दृष्टि से यह कर्तव्य है कि वह

से गृहस्थ धर्म के पालन की प्रशंसा की है, पुराने बोधिसत्वों को पत्नी और बच्चों वाला बताया है और गृहस्थ जीवन में दोष होते हुए भी लोकशिक्षण के लिए अपना विवाह करना उत्तम समझा है।

उसका प्रतिफल समाज को अवश्य दे। ऐसा न करने वाला समाज को हानि पहुँचाने वाला था, अतः उसे शास्त्रों ने नरक में जाने वाला कहा है।

(२) संतान प्राप्ति

विवाह का दूसरा प्रयोजन पुत्र प्राप्त करना है। विवाह संस्कार के मंत्रों में वर-वधू से कहता है कि मैं उत्तम सन्तान के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ (ऋ० १०।८५।३६)। पुरोहित इस समय वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए बहुत पुत्र पैदा करने का आदेश देता है (ऋ० १०।८५।४५)। हिन्दू समाज में वैदिक युग से पुत्र प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा रही है। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि हम पुत्रों द्वारा अमरता प्राप्त करें (५।४।१०, तै. सं. १।४।४६।१)। वैदिक साहित्य में वीर पुत्र पाने की आकांक्षा का बहुत उल्लेख है।[२५] ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पिता पुत्र से ऋण मुक्त होता है, अमर बनता है, अन्धकार दूर करता है, पुत्र पिता को संसार सागर से पार कराने की नौका (अतितारिणी) तथा परम ज्योति है, अपुत्र व्यक्ति के लिए दूसरा उत्तम लोक नहीं है। तैत्ति० ब्रा० (३।७।७।१०) पुत्र को दूसरा लोक बनाने वाला कहता है। गोपथ ब्रा० (१।१।२) के अनुसार पुत्र का पुत्रत्व इसी बात में है कि वह पिता की पुत् नामक नरक से रक्षा करता है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१) ऐत० ब्रा० (३३।१ अनु०) के कथन की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त यह कहता है कि ऐसा सुना गया है कि पुत्र वालों को अनन्त (उत्तम) लोक प्राप्त होते हैं और पुत्रहीन का कोई लोक नहीं होता। वेद में एक अभिशाप है कि हमारे शत्रु पुत्रहीन हों (मि० ऋ० १।२१।५)। पिता पुत्र द्वारा (उत्तम) लोकों को जीतता है, पौत्र द्वारा अमरता प्राप्त करता है, अपने पुत्र के पौत्र से वह सूर्यलोक प्राप्त करता है (मि० मनु ९।१३७, विष्णु १५।४६)। विष्णुस्मृति में (१५।४३-४५) वसिष्ठ की व्यवस्था दोहरायी गयी है। शंख (वेर. ४८५) ने यहाँ तक कहा है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, सैकड़ों दक्षिणाओं वाले यज्ञ बड़े लड़के द्वारा पैदा किये जाने वाले पुण्य का १६वाँ अंश भी नहीं है, जिसके पुत्र, पौत्र सुप्रतिष्ठित हैं, अनेक पुत्र हैं, जिसका वेद और यज्ञ अक्षुण्ण है, स्वर्ग उसकी हथेली पर है।

महाभारत में पुत्र की महिमा का प्रचुर वर्णन है। पाण्डु ने आदिपर्व में कहा है—निःसन्तान पुरुष के लिए स्वर्ग का द्वार बन्द है (१।१२०।१६), तीनों लोकों में धर्मयुक्त प्रतिष्ठा का कारण सन्तान ही है (१।१२०।२९), यज्ञ-दान, तपस्या, सभी प्रकार किये गये अनुष्ठान—ये सब उनको पवित्र नहीं करते जिनकी सन्तान नहीं है (१।१२०।३०)।

२५ शु यजु० ४।२३, तै. सं. १।२।५।२, का. सं. २।५, श. ब्रा. ३।३।१।१२ तै. आ. ४।७।६। अन्य प्रमाणों के लिए देखिए हरिदत्त, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० २०६ अनु०।

अनपत्य व्यक्ति शुभ लोक नहीं प्राप्त करते। गालव ने नि:सन्तान राजा उशीनर से कहा है—पुत्र रूपी नौका से तुम अपना तथा पितरों का उद्धार करो (५।११८।७)। २।७२।४ में इस लोक की तीन ज्योतियों में एक ज्योति पुत्र को कहा गया है। अन्यत्र अपुत्र व्यक्ति का जन्म वृथा कहा गया है (३।२००।४) और पुत्रलाभ को संसार में सबसे बड़ा लाभ माना गया है।

बृहस्पति के कथनानुसार पिण्डदान, तर्पण तथा नाम चलाने के लिए नि:सन्तान पुरुष को जिस किसी तरह प्रयत्न करके पुत्र प्राप्त करना चाहिए। नरकगामी होने वाला के डर से पितर पुत्रों की आकांक्षा रखते हैं, इनमें से कोई पिण्डदान के लिए गया तीर्थ जाने वाला होगा, वह हमारा उद्धार करेगा, वह वृषोत्सर्ग (सांड छुड़वाना) तथा यज्ञ और तालाब बावड़ी बनवाने का पुण्य कार्य करेगा, बुढ़ापे में पालन करेगा तथा प्रति दिन श्राद्धान्न देगा।

पौराणिक साहित्य से इस विषय में एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। ब्रह्म-पुराण (१०४।७–१४) में पुत्र का महत्त्व बताते हुए कहा है, "पुत्रहीन के लिए स्वर्ग नहीं है, पुत्रोत्पत्ति से पिता को दस अश्वमेधों के स्नान का फल मिलता है, पुत्र से अपनी प्रतिष्ठा होती है, अमृत से देवता और पुत्र से ब्राह्मणादि जातियाँ अमर होती हैं। वह पिता तथा दादा को तीनों ऋणों से मुक्त करता है। स्वर्ग और मुक्ति पुत्र से मिलती है। पुत्र ही परम-लोक, धर्म, काम, अर्थ, मुक्ति, परम ज्योति और सब प्राणियों को तारने वाला है, इसके बिना स्वर्ग और मोक्ष दुर्लभ है, इसके बिना दान, यज्ञ और जन्म निरर्थक है, उपर्युक्त कारणों से पुत्र प्राप्ति आवश्यक है। अतः इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए विवाह आवश्यक है।

(३) रति

प्राचीन आर्यों ने रतिसुख को ब्रह्म साक्षात्कार के समान माना था (बृ० उ० ४।३।२१) और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक अवश्य प्राप्त करने योग्य चार पुरुषार्थों में इसकी गणना की थी। वात्स्यायन ने कामसूत्र (१।२।१४) में बचपन में विद्याग्रहण, यौवन में काम सेवन तथा बुढ़ापे में धर्म और मोक्ष की प्राप्ति पर बल दिया है। मनु ने इसे विवाह का एक प्रयोजन बताया है।[२६] प्राचीन आर्य न तो विशुद्ध

२६ मनु ९।२८। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू समाज में कामसुख को ईसाइयत की भाँति न तो सर्वथा गर्हणीय माना गया और न उसके लिए खुली छूट दी गयी पहली अवस्था में समाज में जो प्रच्छन्न अनाचार बढ़ता, उसका एक सुन्दर उदाहरण मध्यकालीन यूरोप का चर्च था (दे. हरिदत्त–हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १९–२०), दूसरी दशा में मनुष्य और पशु में विशेष अन्तर नहीं रहता। अतः धर्मशास्त्रों में धर्मानुकूल कामसुख के सेवन की व्यवस्था की गयी है। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने को धर्माविरुद्ध काम कहा है (७।११)। कौटिल्य के मत में

भोगवादी थे और न कोई आदर्शवादी। 'सुन्दरी वा दरी वा' का एकांगी आदर्श उन्हें मान्य नहीं था। भारतीय आदर्शों का प्रतिपादन करने वाले कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को यौवन में विषयों का सेवन करने वाला बताया है।

विवाह की अनिवार्यता

(क) प्राचीन उदाहरण—धर्मपालन, पुत्रप्राप्ति, परलोक में सद्गति, पिण्ड-दान तथा पितृ-ऋण के विचार तथा ऊपर बताये अन्य कारणों से हिन्दू समाज में विवाह अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य बन गया है। महाभारत और पुराणों के अनेक उपाख्यानों में इस तथ्य को भली-भाँति बताया गया है। जरत्कारु (महाभा० १।१६ तथा १।४५) उग्र तपस्वी ब्रह्मचारी था। किन्तु जब उसने अपने पितरों को घोर दुरावस्था में देखा तो उसे अपना आजीवन ब्रह्मचारी रहने का विचार छोड़ना पड़ा (१।४६।६७)। उसने पितरों के उद्धार के लिए नागराज वासुकि की बहिन से विवाह कर लिया।

पौराणिक साहित्य में विवाह की अनिवार्यता रुचि के उदाहरण से प्रदर्शित की गयी है (मार्क० पु० अ० ९५)। वीतराग रुचि ने न तो अग्नि की स्थापना की और न अपने लिए घर बनाया। पितरों ने उसकी यह मुनिवृत्ति देखकर विवाह करने की प्रेरणा की, क्योंकि यह स्वर्ग और अपवर्ग का हेतु होने के कारण एक पुण्यमय कार्य है। किन्तु रुचि परिवार को दुःख तथा पाप का कारण समझता था, गृहस्थाश्रम को अविद्या रूपी कर्ममार्ग तथा मोक्ष में बाधक समझता था। इस पर उसे पितरों ने समझाया कि विहित कर्म (श्रुति द्वारा निर्दिष्ट यज्ञादि) का पालन न करके जो अधम मनुष्य संयम करते हैं, वह संयम अन्त मोक्ष की प्राप्ति नहीं कराता, अपितु अधोगति में ले जाने वाला होता है। "वत्स, तुम तो समझते हो कि मैं (संयम द्वारा) आत्मा का प्रक्षालन करता हूँ, किन्तु वास्तव में तुम शास्त्र-विहित कर्मों के न करने के कारण पापों से दग्ध हो रहे हो।" अन्त में रुचि ने बूढ़े होने पर भी पितरों के उद्धार के लिए मालिनी के साथ विवाह किया (मार्क० पु० अ० ९८, मि० गरुड़ पुराण ८८–९०१)। ब्रह्मपुराण के अनुसार कक्षीवान् के पुत्र पृथुश्रवा वैराग्यशील स्वभाव के कारण परिणय नहीं करना चाहते थे, पर पितरों ने तीन ऋण उतारने के लिए उन्हें विवाह करना आवश्यक बताया (९६।१–५)।

विवाह पुरुषों के लिए अनिवार्य हो, सो बात नहीं, स्त्रियों का भी विवाह के बिना

धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए (अर्थशास्त्र १।७—धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। मि० मनु २।२२४—परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। विष्णु ध०सू० ७१।८४, महाभा० १२।१११।१८—९, विष्णुपुराण ३।२।७)।

उद्धार नहीं है।[२७] मनु के मतानुसार स्त्रियों का प्रधान प्रयोजन सन्तानोत्पादन है (९।९६)। प्राचीन काल में कुणिगर्ग ऋषि ने घोर तपस्या कर एक मानसी कन्या को उत्पन्न किया। पिता के दिवंगत होने पर कन्या ने आश्रम में रहकर उपवास रख और उग्र तप करके पितरों की पूजा की, पर अपने जैसा योग्य पति न मिलने से विवाह नहीं किया। तपस्या करते करते वह बूढ़ी हो गयी। अन्तिम समय में उसने परलोक जाने की इच्छा प्रकट की। इसी समय नारद ने उसे बताया बिना ब्याही (असंस्कृता) कन्याओं को स्वर्ग नहीं मिलता, यद्यपि तुमने तपस्या बहुत की है, पर स्वर्ग लोक को नहीं प्राप्त किया है। इस पर कन्या ने अपना आधा तप गालव के पुत्र शृंगवान् को देकर उससे विवाह किया और स्वर्गगामी हुई (महाभा० ९।५२)। हिन्दू समाज में मध्यकाल में रजोदर्शन से पूर्व कन्या के विवाह का नियम प्रचलित हो जाने से कन्याओं के लिए विवाह अनिवार्य हो गया।[२८]

२७ इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि स्त्रियों के अविवाहित रहने के अनेक संकेत प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद २।१७।७ में पिता के घर में बूढ़ी हो जाने वाली (अमाजूः) कन्या का निर्देश है। महाभारत यद्यपि स्त्रियों का विवाह आवश्यक मानता है, किन्तु उसमें कुछ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने वाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। शल्यपर्व (५४।६) में सिद्धा नाम की बाल-ब्रह्मचारिणी के तथा शाण्डिल्य मुनि की ब्रह्मचारिणी पुत्री के मोक्ष पद पाने का वर्णन है (शल्यपर्व ५४।८)। शान्तिपर्व (३२०।८२) में सुलभा नामक ब्रह्मवादिनी संन्यासिनी ने जनक से कहा कि अपने योग्य पति न मिलने से मैंने मोक्षधर्म की शिक्षा ली और मुनिव्रत का पालन कर रही हूं (साहं तस्मिन्कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥)। देवी भागवत (पंचम स्कन्ध, अध्याय १७) में वर्णन है कि मन्दोदरी का विवाह उसके पिता ने कम्बुग्रीव के साथ करना चाहा तो उसने माता से आजीवन कुमारी रहने का संकल्प प्रकट किया और उसका विवाह नहीं हुआ। भागवतपुराण (चतुर्थ स्कन्ध १।६४) में स्वधा की वयुना और धारिणी नामक दो ब्रह्मवादिनी (वेद का उपदेश करने वाली) पुत्रियों का वर्णन है। इस पुराण के टीकाकार वीरराघव ने इन्हें सनकादि की तरह ऊर्ध्वरेता लिखा है। नैष्ठिक ब्रह्मचारिणियों के ये उदाहरण हिन्दू समाज में अपवाद रूप में ही समझने चाहिए।

२८ स्त्रियों के लिए विवाह इसलिए भी आवश्यक है कि यह उनके लिए उपनयन संस्कार के तुल्य है, जिसके न होने पर द्विज शूद्र हो जाता है। विवाह स्त्रियों का वेदमन्त्रों से होने वाला एकमात्र संस्कार है (मनु २।६७, विष्णु स्मृति २२।३२,२७।१५, याज्ञ० १।१३ धर्म सं. प्र. पृ० ४०२ पर उद्धृत, वा. रा. ५।१९।१०)। महाभारत की दृष्टि में स्त्री के जीवन का लक्ष्य और फल रति और पुत्र हैं (२।२।१२, ५।३९।

प्राचीन काल में अविवाहित पुरुष को विश्वास योग्य और सम्मानित नहीं समझा जाता था। महाभारत में कहा गया है कि विवाहित व्यक्ति पर ही विश्वास रखना चाहिए (न: सदार: स विश्वास्य:)। हर्ष ने बाण पर जब लम्पटता का आरोप किया तो बाण ने अपनी सफाई पेश करते हुए कहा था कि मैं विवाह करके गृहस्थ हुआ हूं, मुझमें क्या लम्पटता है।[२९]

(घ) **आधुनिक उदाहरण**—वर्तमान समय में हिन्दू समाज में विवाह इतना आवश्यक माना जाता है कि क्वांरे पुरुष का समाज में प्रतिष्ठित नहीं समझा जाता।[३०] अपुत्र शब्द का देशज रूप 'ऊत' अपशब्द के रूप में व्यवहृत होता है। दक्षिण भारत की कुछ जातियों में विवाह इतना अनिवार्य है कि यदि परिपक्व होने से पूर्व ही किसी पुरुष या स्त्री की मृत्यु हो जाय तो उसका मरणोत्तर (Posthumous) विवाह अवश्य किया जाता है। दक्षिण की अनेक अब्राह्मण जातियों में यह विश्वास प्रचलित है कि क्वांरे पुरुष मर कर असन्तुष्ट प्रेत (Ghosts) बनते हैं, यह (क्वांरे पुरुष) की आत्मा गौओं में बीमारी उत्पन्न कर सकती है। अतः अविवाहित पुरुष के प्रेत की किसी अन्य से शादी की जाती है और घर के किसी वास्तविक विवाह के साथ इस नकली शादी का समारोह किया जाता है। इसमें पहले तो अविवाहित दशा में मृत बालक या कन्या का प्रतिनिधित्व करने वाले एक विशेष बैल या गौ को निश्चित किया जाता है, जिस कुल से वर के जीवित होने पर, उसके लिए वधू लायी जाती उस कुल की गौ इस कार्य के लिए चुनी जाती है। बैल और गौ दोनों को खूब सजाकर गांव की सीमा पर इरगल्लु या वीरगल्लु (युद्ध में वीरगति पाने वाले की स्मृति में स्थापित किये पत्थर या स्मारक) में ले जाया जाता है और वहां इन

६७)। ये उसके विवाह से ही पूरे हो सकते हैं। इसी दृष्टि से वन्ध्या भार्या निरर्थक बतायी गयी (१२।७८।४१), वन्ध्या स्त्री की दृष्टि जिस पदार्थ पर पड़ती है, उसे देवता स्वीकार नहीं करते (१३।१२७।१३–१४), ऐसी स्त्री के घर भोजन करने से आयु क्षीण होती है (१२।३६।२७)। महाभारत में कहा गया है कि जो पुरुष रूपवती, बड़ी आयु की कन्या को सदृश गुणों वाले वर को नहीं देता वह ब्रह्म-घाती होता है (१३।२४।६)। प्रायः सभी स्मृतियों में कन्या के विवाह पर बल देते हुए कहा गया है कि पिता के घर में अविवाहित कन्या का जब जब ऋतु व्यर्थ जाता है, तब तब उसके पिता को भ्रूणहत्या का पाप लगता है (वसिष्ठ १७।७१, बौधा. ४।१।१२ अनु, नारद १२।२५–२७, याज्ञ. १।६४, पराशर स्मृति ७।५–७, विष्णु स्मृति २४।४१ मि. मनु ९।९३)। पिता के लिए कन्यादान इतना आवश्यक कर दिये जाने पर स्त्रियों के लिए विवाह का अनिवार्य होना सर्वथा स्वाभाविक था।

२९ हर्षचरित (नि. सा.) पृ० ७६ 'दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि।'

३० डुबोइस—हिन्दू मैनर्स एण्ड कस्टम्स, पृ० २०५।

दोनों की शादी के बाद मिठाई बाँटी जाती है; ताम्बूल, चार आने आठ पाई की दक्षिणा तथा वर के सिर पर बाँधा जाने वाला पट्ट नामक सुनहरा सेहरा वधू के परिवार को भेंट किये जाते हैं। ऐसी शादी में भाग लेने वाले बैल और गौ को लोग अपने पास बहुत सम्हाल कर रखते हैं और उसे अपनी इच्छा से किसी को नहीं देते।[31] मैसूर की कुछ जातियों में अविवाहित स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उसे अर्थी पर नहीं ले जाते, किन्तु छोटे शिशुओं की भाँति निम्नाभिमुख करके उसे भूमि में गाड़ देते हैं, उसकी कोई और्ध्वदैहिक क्रिया नहीं करते। इस प्रकार के व्यवहार से बचने के लिए होलेया आदि कुछ जातियों में ऐसी अविवाहित कन्या की शादी कुछ विशेष पेड़ों—करंज (Pongamia Glidera), आक, नीम या अन्य जड़ पदार्थों—तलवार आदि से करने की परिपाटी है।[32] कुछ जातियों में कन्याओं का विवाह न होना इतना बुरा समझा जाता है कि अविवाहित कन्याओं को वैवाहिक विधियों में सम्मिलित नहीं किया जाता। अविवाहित गोल्ला (महाराष्ट्र तथा तेलगू ग्वाले) युवती, वर या वधू का स्पर्श नहीं कर सकती, विवाह के जुलूस में मांगलिक कलश नहीं उठा सकती। मेदार (टोकरी बनाने वाली कजड़) जाति की कन्याएँ वैवाहिक विधियों में कोई भाग नहीं ले सकतीं, यही अवस्था अनब्याही परिवार (Parivar) नामक जाति की स्त्रियों की है।[33] अविवाहितों के इस अनादर का कारण विवाह का गौरव बढ़ाना है और यह संभवतः इसलिए किया गया है कि अविवाहित व्यक्ति समाज की नैतिकता को संकट में डाल सकते हैं।

हिन्दू समाज में न केवल उच्च वर्ग में विवाह अनिवार्य है, अपितु इसकी निचली सीमा पर रहने वाली अनेक जातियाँ भी विवाह को ऐसा समझती हैं। मार्शल के कथनानुसार टोडा जाति में कोई अविवाहित नहीं रहता। प्रत्येक नर-नारी, प्रत्येक लड़का-लड़की किसी का पति या पत्नी है। एक संग्रही लड़की तथा बूढ़ी विधवा के अपवाद के अतिरिक्त उसे टोडा जाति में क्वांरी प्रौढ़ा स्त्री का एक भी उदाहरण नहीं मिला।[34] संथालों में स्त्री-पुरुष अविवाहित व्यक्ति से घृणा करते हैं, उसे चोर और जादूगरनी (Witch) से गया बीता समझते हैं।[35]

[31] एम० एन० श्रीनिवासन—मैरिज एण्ड फैमिली इन माइसोर, पृ० १६३-४

[32] वही, पृ० १२५

[33] "

[34] मार्शल—ए फ्रेनो लोजिस्ट एमंग दी टोडाज, पृ० २२०,२२२

[35] मैन—सान्थालिया एण्ड सान्थाल्स, पृ० १०१

अधिकांश आरण्यक और सभ्य समाजों में विवाह अनिवार्य समझा जाता है। उत्तरी अमरीका के इंडियनों में अविवाहित व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। प्रेसकाट ने डेकोटा जाति के सम्बन्ध में लिखा है कि उसे उनमें एक भी क्वांरे पुरुष का ज्ञान नहीं है।

हिन्दू समाज में विवाह की अनिवार्यता के विश्वास के बद्धमूल होने का यह परिणाम हुआ है कि विवाह हिन्दू समाज में सार्वभौम और व्यापक कर्तव्य बन गया है। भारत में अविवाहितों की संख्या बहुत कम है। यद्यपि आजकल शहरों के शिक्षित समाज में क्वांरे रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, किन्तु पिछले ४० वर्षों में समूचे भारत की जनगणना में इस दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं आया। १९११ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार प्रति चौबीस अविवाहित पुरुषों में केवल एक की आयु ३० वर्ष से अधिक थी और प्रति

एंडेयर ने यह सूचित किया है कि रेड इंडियन स्त्रियां कौमार्य और वैधव्य को मृत्युतुल्य समझती हैं। पोमराय को दक्षिण अफ्रीका की जातियों में २० वर्ष से अधिक आयु की कोई लड़की क्वांरी नहीं मिली। बोरमैन (Borman) का यह कहना है कि गोल्डकोस्ट के हब्शियों में बहुत ही कम पुरुष अविवाहित दशा में मरते हैं और ऐसे व्यक्तियों की आयु बहुत कम होती है। बर्मियों में तथा बोर्नियो के पहाड़ी द्याक लोगों में क्वांरेपन के दृष्टान्त दुर्लभ हैं। सुमात्रा वासियों के सम्बन्ध में मार्सडेंट ने लिखा है कि मेरे अधीन जिले में आठ हजार व्यक्ति रहते थे, इनमें ३० वर्ष से अधिक आयु वाले दस से अधिक क्वांरे पुरुषों के उदाहरण भी मिलना संभव न था। जावा में क्राफोर्ड ने २० वर्ष की अवस्था की कोई लड़की क्वांरी नहीं देखी। कर्र ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में १६ वर्ष की अवस्था वाली कोई ऐसी कन्या नहीं सुनी, जिसका विवाह न हुआ हो। कान्तुओं में क्वांरा पुरुष अपनी पंचायत के मामलों में कोई भाग नहीं ले सकता, ब्राजील की टूपी जाति में ऐसा व्यक्ति पानगोष्ठियों में सम्मिलित नहीं हो सकता। फिजीवासियों के विश्वासानुसार अपत्नीक व्यक्ति मरने पर स्वर्ग के मार्ग पर देवता द्वारा रोक लिया जाता है है और अणुशः चकनाचूर कर दिया जाता है। चीन में अविवाहित कन्याएं मृतकों के साथ शादी कर लेती हैं अथवा आत्महत्या कर लेती हैं। रास ने लिखा है कि कोरिया में क्वांरे आदमी की आयु भले ही कितनी हो जाय, उसे पुरुष नहीं कहा जाता, उसे यातो (Yatow) के नाम से पुकारा जाता है, तेरह या १४ वर्ष का (विवाहित) पुरुष ३० वर्ष के "यातो" को पीटने, गाली तथा आज्ञा देने का पूरा अधिकार रखता है, "यातो" इस सम्बन्ध में शिकायत के लिए अपना मुंह नहीं खोल सकता। यहूदियों में यह कहावत है कि जिसकी पत्नी नहीं है, वह पुरुष नहीं है (पोमराय-मैरिज, पास्ट प्रेजेण्ट एण्ड फ्यूचर, पृ० ११९–२१)। अन्य उदाहरणों के लिए देखिए—वैस्टर मार्क—हि० ह्यू० मन मैरिज, पृ० १५६, अनु०, क्लास बार्टल्स, खं. २ पृ० २८५ अनु०। उपर्युक्त उदाहरणों से वैस्टरमार्क ने यह परिणाम निकाला है कि असभ्य जातियों में विवाह इतना अनिवार्य है कि शादी न करने वाला अस्वाभाविक प्राणी समझा जाता है और उससे घृणा की जाती है (वै. हि. ह्यू.मै. पृ०

चौदह क्वाँरी कन्याओं में से केवल एक ही १५ वर्ष से ज्यादा उम्र की थी।[३६] १९५१ में १५ वर्ष से अधिक आयु की प्रति सौ स्त्रियों में से एक अविवाहित थी। सामान्यतः[३७] बड़ी आयु के व्यक्तियों में से कोई क्वारा नहीं रहता, केवल वे ही व्यक्ति अविवाहित रहते हैं, जो किसी बीमारी या अंगहीनता से पीड़ित हों, संन्यासी, भिक्षु, वेश्या या रखैल हों, या जिनके लिए जातीय बन्धनों के कारण उपयुक्त वर या वधू न मिल सकी हो।[३८] आजकल इस स्थिति में जिन कारणों से अन्तर आ रहा है, अन्तिम अध्याय में उनका विस्तृत उल्लेख होगा। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब तक हिन्दू समाज में विवाहित जीवन एक सार्वभौम, अनिवार्य और आवश्यक संस्था रही है।

हिन्दू विवाह का आदिम रूप

चीन, मिस्र और यूनान की भाँति भारत के प्राचीन साहित्य में यह वर्णन मिलता है कि पुराने जमाने में विवाह की प्रथा नहीं थी, स्त्री-पुरुषों को यौन सम्बन्ध करने की पूरी स्वतन्त्रता या कामचार की दशा थी। पूर्व काल में स्त्रियाँ (अनावृताः) अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली और स्वतन्त्र (किसी बन्धन या पति से न रोकी हुई) थीं। वे कुमारी दशा से अनेक पुरुषों के पास जाया करती थीं। ऐसा करना अधर्म नहीं था क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी (महा भा० १।१२२।३–२१)। कहा जाता है कि श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम विवाह की मर्यादा स्थापित की, अन्यत्र यह श्रेय दीर्घतमा को दिया गया है।

पिछली शताब्दी के अन्त में कामचार का सिद्धान्त अधिकांश समाजशास्त्रियों

१३६)। इसका कारण यह है कि इन जातियों में पत्नी और बच्चे पुरुष के लिए बोझ नहीं, किन्तु उसकी आर्थिक समृद्धि में सहायक होते हैं। इन समाजों में विवाह के अतिरिक्त यौनवासना की पूर्ति के अवसर और साधन कम होते हैं तथा संघर्षप्रधान आरण्यक समाज में व्यक्ति की सुरक्षा परिवार के सदस्यों की संख्या पर तथा सम्बद्ध परिवारों की शक्ति पर अवलम्बित होती है (वेशाहि मै. पृ० ३२–३३)

३६ १९११ की जनगणना रिपोर्ट, ख. १, भाग १, पृ० २६३

३७ १९५१ की जनगणना रिपोर्ट ख. १, भाग १, पृ० ७३

३८ १९११ की भारत की जनगणना रिपोर्ट ख. १, भाग १, पृ० २६२

३९ चीनी इतिहास में यह उल्लेख है कि "प्रारम्भ में पशुओं और मनुष्यों के जीवन में बहुत कम भेद था, मनुष्य वनों में घूमते थे, स्त्रियाँ सबके लिए सामान्य उपभोग की वस्तु समझी जाती थी, बच्चे पिताओं को कभी नहीं जानते थे, वे केवल अपनी माताओं को पहचानते थे (गोगेट—दी ओरिजिन आफ लाज, आर्टस् एण्ड साइन्सिज, खण्ड ३, पृ० ३११ अनु.)। कहा जाता है कि सम्राट फो–ही ने इस दशा

द्वारा माना जाता था,[४०] अतः हिन्दू विवाह का आदिम रूप भी पहले यही स्वीकार किया जाता था। सम्भवतः सर्वप्रथम डा० जाली ने १८९६ में हिन्दू कानून पर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम' में इस कल्पना को मानते हुए इसे निम्न प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया। (१) महाभारत के कुछ प्रमाण, (२) आपस्तम्ब का एक वचन, (३) द्रौपदी का विवाह, (४) प्राचीन काल में शिथिल वैवाहिक आचार के कुछ प्रमाण।[४१]

इनमें से अधिक महत्त्व महाभारत के प्रमाणों को दिया जाता है, इनकी विस्तृत विवेचना लेखक द्वारा अन्यत्र विस्तारपूर्वक हो चुकी है और यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनके आधार पर हिन्दू विवाह का उद्गम कामचार से नहीं माना जा सकता।[४२] आपस्तम्ब के एक वचन में यह कहा गया है कि कन्या कुल के लिए दी जाती है।[४३] इसका यह अर्थ लगाया गया है कि कन्या का विवाह किसी व्यक्ति विशेष के साथ न होकर समूचे कुल के साथ होता है, जैसे द्रौपदी का विवाह अर्जुन के साथ नहीं, किन्तु पांच पाण्डवों के साथ हुआ। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता है। आप० धसू० के टीकाकार हरदत्त की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह वचन नियोग के सम्बन्ध में कहा गया है,[४४] नियोग की दृष्टि

का अन्त कर विवाह की प्रथा प्रारम्भ की। मिस्र में इसका श्रेय मेनेस को और यूनान में केक्रोप्स को दिया जाता है (गोगेट—वही, खण्ड १, पृ० २२ तथा ख० १, पृ० १६)। इस प्रकार की कथाओं को आधुनिक वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं समझते। यह जनसाधारण की उस मनोवृत्ति का परिणाम है, जो विश्व के सूक्ष्म नियमों में विश्वास न करती हुई प्रत्येक घटना के सरल और स्थूल कारण मानना चाहती है और इनका श्रेय किसी देवता या राजा या भगवान् को देना चाहती है। (वेस्टरमार्क—दी हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, पृ० ६)। इसका एक सुन्दर उदाहरण बाइबल के पहले दूसरे अध्याय में भगवान् द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है, जो वर्तमान वैज्ञानिक गवेषणा के सर्वथा प्रतिकूल है।

४० वेस्टरमार्क-दी हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, खण्ड १, अध्याय ३–६ में इस विषय का विस्तृत वर्णन है, इसके संक्षिप्त विवेचन के लिए दे० वे. शा. हि. मै. पृ० ५–१७, वेबर—मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० ५२, ५८, हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १०–११।

४१ जाली–हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, पृ० १०२–७

४२ हरिदत्त–हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ३–६

४३ आपधसू, २।१०।२७।३ कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति।

४४ वही, २।१०।२७।४ की टीका—तमिमं नियोगं ब्रुवते। आपस्तम्ब की उपर्युक्त उक्ति से सादृश्य रखने वाला एक श्लोक स्मृतिचन्द्रिका (मै. सं) ख० १ पृ० २६ में मिलता है—'अमत्तं कन्यातुमार्याग्रहणं जातिदूषितम्। कुले कन्याप्रदानं च

से कन्या कुल में दी जाती है। इसके अतिरिक्त प्राचीनकाल में विवाह में कुल का विशेष रूप से विचार किया जाता था (दे० पाँचवां अध्याय)। सम्बन्ध प्रधान रूप से व्यक्तियों के मध्य में किन्तु कुलों के बीच में हुआ करते थे, अतः कन्या दूसरे कुल के लिए अर्थात् उस कुल के योग्य व्यक्ति के लिए दी जाती थी, न कि उस कुल के सभी व्यक्तियों के लिए। द्रौपदी का पाँच पाण्डवों के साथ विवाह इस बात का प्रमाण बताया जाता है कि प्राचीन काल में ऐसे विवाहों की परिपाटी थी और यह परिपाटी गत शताब्दी में कुछ समाज-शास्त्रियों द्वारा विवाह के आरम्भिक विकास की एक अवस्था मानी जाती थी। १५ वें अध्याय में इस विवाह के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि ऐसे विवाह अपवाद रूप में और बहुत कम होते थे, प्राचीन काल में इनका व्यापक रूप में प्रचलन नहीं था।

प्राचीन भारत में शिथिल आचार के कुछ प्रमाणों के आधार पर उस समय कामचार की सत्ता सिद्ध की जाती है। यह कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में पत्नी के व्यभिचार सम्बन्धी अनेक संकेत है।[४५] वैदिक साहित्य में वेश्याओं तथा गणिकाओं का उल्लेख है,[४६]। आपस्तम्ब और (२।१३।७) बौधायन (२।३।३४) की एक गाथा में ऐसे युग का अस्पष्ट निर्देश है, जबकि स्त्रियों के सतीत्व पर बहुत कम बल दिया जाता था। धर्मशास्त्रों में गूढज[४७] पुत्र का उल्लेख उस समय की अनैतिकता सूचित करते है। बृहस्पति ने पूर्वी भारत की स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे व्यभिचार में लगी रहती है।[४८] महाभारत में इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिलते है।[४९] अतः प्राचीन काल में कामचार अवश्य रहा होगा।

वेशेष्वन्येषु कुर्वते ॥' यहाँ यह दक्षिण के वेद विरुद्ध आचारों में गिनाया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः कुल में देने का अर्थ अपने ही कुल के चचेरे ममेरे, फुफेरे भाई-बहिनों के विवाह से है, इत्यादि (कर्वे किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया, पृ० ५१)।

४५ वैदिक इंडेक्स १।३९६,९७,४८०

४६ ऋ० १।१६७।४ में मनुष्यों के वश्या (साधारणी) के साथ मिलने का तथा ऋ० १।६६।४, १।११७।१८, १।१३४।३ में जार या गुप्त प्रेमी का वर्णन है। महाभारत में वेश्याओं के लिए दे. मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया पृ० २६४।२७५

४७ वशिष्ठ १७।२४, मनु ८।१७०, याज्ञ० २।१२९

४८ बृहस्पति स्मृति, (बड़ोदा सं०) पृ० २८६ 'मत्स्यादाश्च नराः पूर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः ।'

४९ विश्वामित्र के शिष्य गालव ने ययाति की कन्या माधवी को कुछ समय के लिए हर्यश्व, दिवोदास और उशीनर को देकर इनमें से प्रत्येक से २०० घोड़े लिये थे

किन्तु यह कल्पना प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के दो-चार संकेतों के होते हुए भी वैदिक काल से भारत में नारियों की यौन नैतिकता का मानदण्ड तथा आदर्श बहुत ऊँचा रहा है[५०]। वेश्याओं की सत्ता प्रायः सभी समाजों में होती है, गणिकाएं विभिन्न कलाओं को जानने वाली स्त्रियां होती थी, जो न केवल भारत में किन्तु प्राचीन यूनान में भी विद्यमान थीं और सुकरात जैसे दार्शनिक इनके पास जाया करते थे।[५१] अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि गूढ़ज पुत्र न तो अवैध थे और न ही प्राचीन काल की आचारहीनता को सूचित करते हैं।[५२] बृहस्पति की उक्ति का आधार संभवतः तिब्बत और पूर्वी भारत में रहनेवाली जातियों के शिथिल आचार से सम्बद्ध है।[५३] वर्तमान समय में भी भारत में अनेक जातियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनुश्रुतियाँ और किंव-

(महाभा० ५।११५-२०)। पराशर ने मत्स्यगन्धा से सम्बन्ध किया (१।६३)। विश्वामित्र और मेनका से शकुन्तला उत्पन्न हुई (१।७२), गौतम ने जानपदी से कृप और कृपी को पाया (१।१३०)। व्यास और घृताची अप्सरा से शुकदेव उत्पन्न हुए (१२।३२४)। हिडिम्बा का भीम के साथ (१।१५५ अ.), अर्जुन का उलूपी (१।२१४ अ.) तथा चित्रांगदा (१।२१५) के साथ अस्थायी विवाह हुआ। किन्तु इसके साथ ही महाभारत के उन स्थलों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिनमें वैवाहिक आदर्श को अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में दिखाया गया है। ऐसा एक स्थल अष्टावक्र की कथा (१३।१९ अनु) है। ये जब वदान्य ऋषि की कन्या सुप्रभा के पाणिग्रहण के लिए उत्सुक हुए तो इन्हें परीक्षा के लिए उत्तर दिशा में भेजा गया, ये वहाँ अनेक सुन्दरियों के प्रबल प्रलोभनों में नहीं फंसे।

५० वैदिक इंडैक्स १।४७६, कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया, ५।१५९-६०, विष्णु २५-१७ याज्ञ० १।७५, व्यभिचार के कठोर दण्डों के लिए देखिए हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४६८।

५१ भरतनाट्यशास्त्र (अध्याय २४) में गणिका को अनेक विषयों का गम्भीर ज्ञान रखने वाली बताया है, कामसूत्र उसे ६४ कलाओं में प्रवीण बताता है। ललितविस्तर (१२।१२९) में कहा गया है कि शुद्धोदन अपनी पुत्रवधू को गणिका जैसा बनाना चाहता था। प्राचीन यूनान में एस्पेशिया आदि इसी प्रकार की गणिकाएँ थीं। सुकरात एस्पेशिया के पास जाया करता था और उसने डियो टीमा नामक गणिका से प्राप्त शिक्षाओं के प्रति आभार प्रकट किया है (लैकी—हिस्टरी आफ योरोपियन मारल्स, खं. २, पृ० २६३)।

५२ हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४६९-७०

५३ जाली—हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, पृ० १०७

दन्तियाँ सुनने को मिलती है,[५४] पर उनके सम्बन्ध में यह कभी नहीं कहा जाता कि उनमें कामचार है, फिर प्राचीन काल के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना क्यों की जाय ? इन इनेगिने प्रमाणों के आधार पर कामचार की सत्ता सिद्ध करना वैसा ही है, जैसे वर्तमान हिन्दू समाज में से अनाचार के कुछ उदाहरण संगृहीत कर उनके आधार पर यह मत स्थापित करना कि आजकल हमारे समाज मे विवाह का कोई बन्धन नहीं है। अतः उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा हिन्दू समाज में आदिम कामचार की सत्ता सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

इसके विपरीत वैदिकयुग में विवाह को एक स्थायी सम्बन्ध माने जाने के अनेक प्रमाण है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के विवाह विषयक मन्त्रों में इस सम्बन्ध को आजीवन बनाये रखने का बार-बार उल्लेख है। एक मन्त्र में वर वधू से कहता है कि मैं सुहाग के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ, जिससे तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था प्राप्त करने वाली हो।[५५] दूसरे मन्त्र में वधू से कहा गया है कि बुढ़ापे तक इस पति के साथ रह।[५६] ऋ० १०।८५।४२ में वर-वधू दोनों को यह आशीर्वाद दिया गया है कि वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए कभी अलग न हों, पूरी आयु का भोग करें।[५७] अथर्व० १४।१।५२ में पति पत्नी से कहता है कि मुझ पति के साथ तू सौ वर्ष तक जीने वाली हो।[५८] पत्नी भी पति के सौ वर्ष तक जीने की कामना करती है।[५९] विवाह के समय पुरोहित वधू को पितृगृह से मुक्त कर पतिगृह के साथ अच्छी तरह संयुक्त करता था ताकि वह पुत्रवती और सौभाग्यवती हो।[६०] अग्नि से यह प्रार्थना की गयी है कि वह पत्नी को पति के लिए बुढ़ापे तक पहुँचाने वाला हो।[६१] बुढ़ापे तथा सौ वर्ष तक पति-पत्नी के साथ रहने की प्रार्थनाएँ वैवाहिक सम्बन्ध के आजीवन बने रहने का प्रबल प्रमाण और कामचार का प्रत्याख्यान हैं। ब्राह्मणों, सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियों

५४ गेट ने १९११ की भारत जनगणना रिपोर्ट (खं. १ भाग १ पृ० २४३–४५) में वर्तमान भारत की अनेक जातियों के ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनमें स्त्रियों के लिये न तो विवाह से पहले और न ही विवाह के बाद सतीत्व के नियम का पालन आवश्यक समझा जाता है।

५५ ऋ० १०।८५।३६ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्याजरदष्टिर्यथासः, मि० अथर्व० १४।१।५०

५६ ऋ० १०।८५।२७ एना पत्या तन्वं संसृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः।

५७ ऋ० १०।८५।४२ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।

५८ अथर्व० १४।१।५२ मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्।

५९ वही १४।२।६२ दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवतु शरदः शतम्।

६० वही १४।१।१८ प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति।

६१ वही १४।१।४९ अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु।

में कामचार का वर्णन कहीं नहीं मिलता। इस अवस्था में जर्मन विद्वान् मेयर का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि हम अतीत के धूसरतम उषःकाल में इतनी लम्बी छलांग मारने के लिए ऐसे किस्सों पर कभी विश्वास नहीं कर सकते।[६२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह वैदिक युग से पति-पत्नी का यावज्जीवन सम्बन्ध माना जाता है। इसके प्रधान प्रयोजन धर्म का पालन, सन्तान की प्राप्ति तथा उचित मात्रा में कामसुख का सेवन है। प्रायः विवाह प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक धार्मिक सम्बन्ध और अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता है। यह पति-पत्नी में अभेद स्थापित करने वाला है। मनु के प्रसिद्ध शब्दों में जो पति है, वह पत्नी है, पत्नी पति से किसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकती। (९।४५-४६)। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो हिन्दू विवाह अविच्छेद्य है। मई १९५५ के हिन्दू कानून ने तथा वर्तमान परिस्थितियों ने इसमें जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं, उनका अन्तिम अध्याय में उल्लेख होगा।

हिन्दू विवाह में अनेक प्रकार के नियमों तथा विधि-निषेधों का पालन किया जाता है। सर्व प्रथम वर-वधू के चुनाव में गोत्र, पिण्ड और जाति का विचार किया जाता है। शातातप के शब्दों में इसमें पहले गोत्र पर ध्यान देना चाहिए, इसके बाद पिता की सातवीं और माता की पाँचवीं पीढ़ी के भीतर आने वाले सम्बन्धियों का तथा राशिकूट का विचार करना चाहिए[६३]। यहाँ अगले अध्यायों में इन विषयों का प्रतिपादन इसी क्रम से किया जायगा।

६२ मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एंश्यण्ट इंडिया, पृ० ११५ तथा पृ० १२५ की पाद टिप्पणी।

६३ सं० प्र०, पृ० ५९० पर उद्धृत शातातप का वचन—आदौ गोत्रविशुद्धिः स्यात्तत्-स्सप्तमपञ्चमम्। राशिकूटं ततश्चैव त्रेधा सम्बन्धलक्षणम्॥

दूसरा अध्याय

बहिर्विवाह—गोत्र और प्रवर

दो प्रकार के वैवाहिक नियम

हिन्दू समाज में विवाह के समय वधू चुनने के लिए मुख्य रूप से दो प्रकार के नियमों का पालन किया जाता है। वर-वधू एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग से अथवा निश्चित की हुई पीढ़ियों के भीतर आने वाले व्यक्ति न होने चाहिए। प्रत्येक विवाह इन विशिष्ट सामाजिक वर्गों से और इन पीढ़ियों से बाहर ही होता है। इसे बहिर्विवाह (Exogamy) का नियम कहते हैं। गोत्र और प्रवर हिन्दू समाज में इस प्रकार के बहिर्विवाही वर्ग (Exogamous groups) हैं, क्योंकि एक गोत्र वालों में परस्पर विवाह धर्मशास्त्रों द्वारा वर्जित ठहराया गया है। आपस्तम्ब (२।११।१५), विष्णु (२४।९-१०), मनु (३।५), याज्ञवल्क्य ने समान गोत्र और समान प्रवर रखने वाली कन्या से विवाह का निषेध किया है। गोत्र तथा प्रवर के अतिरिक्त बहिर्विवाह के दूसरे नियमानुसार पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ियों से बाहर विवाह करना आवश्यक है। इन पीढ़ियों के भीतर आने वाले सब व्यक्ति सपिण्ड कहलाते हैं। वर-वधू को असपिण्ड होना चाहिए। इस प्रकार हिन्दू समाज में असगोत्रता और असपिण्डता नामक दो बहिर्विवाही नियम (Exogamous rules) प्रचलित हैं।

दूसरे प्रकार का वैवाहिक नियम अन्तर्विवाह (Endogamy) से सम्बन्ध रखता है। इसके अनुसार वर-वधू के लिए एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग के भीतर विवाह करना आवश्यक है। हिन्दू समाज में १९४६ ई० तक कानूनी तौर से वर-वधू के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्णों की समानता आवश्यक थी।[1] बहिर्विवाह और अन्तर्विवाह के दोनों नियम ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, वस्तुतः ऐसी बात नहीं

[1] १९४६ के हिन्दू विवाह अयोग्यता निवारक कानून, १९४९ ई० के हिन्दू विवाह वैधता कानून तथा १९५५ के हिन्दू विवाह कानून द्वारा अब हिन्दू विवाह की वैधता के लिए गोत्र या प्रवर की भिन्नता तथा वर्ण की समानता आवश्यक नहीं रही। किन्तु इन नियमों का ऐतिहासिक महत्त्व है और क्रियात्मक रूप में अब भी इनका पालन हिन्दू समाज में किया जाता है।

है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध को वृत्तों के उदाहरण से समझा जा सकता है। ब्राह्मण वर्ण एक बड़ा वृत्त है, इसके भीतर विश्वामित्र वसिष्ठ आदि अनेक बहिर्विवाही सामाजिक वर्गों या गोत्रों के लघुवृत्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गोत्र के छोटे वृत्त से बाहर किसी दूसरे गोत्र के लघुवृत्त में विवाह करना पड़ता है। किन्तु ऐसा करते हुए वह ब्राह्मण वर्ण के विशाल वृत्त की परिधि से बाहर नहीं जा सकता।

यहाँ पहले बहिर्विवाह सम्बन्धी नियमों, गोत्र, प्रवर और सपिण्डता के नियम का तथा बाद में अन्तर्विवाह के नियम का वर्णन किया जायगा।

गोत्र का सामान्य स्वरूप

हिन्दू समाज में गोत्र और प्रवर विशिष्ट बहिर्विवाही वर्ग हैं। धर्मशास्त्र समान गोत्र और प्रवर रखने वालों में परस्पर विवाह का निषेध करते हैं। आपस्तम्ब (२।११।१५) के मत में अपने जैसा गोत्र रखने वाले को कन्या नहीं देनी चाहिये। गौतम भिन्न प्रवर वालों में विवाह का विधान करता है। विष्णु (२४।९–१०), मनु (३।५) और याज्ञवल्क्य (१।५३) ने इसका अनुमोदन किया है। किन्तु ये गोत्र और प्रवर क्या हैं?

गोत्र का स्वरूप अनेक कारणों से बहुत ही जटिल है। गोत्र के गोरखधन्धे को समझना सुगम नहीं है। न तो गोत्र का अर्थ[२] निश्चित है और न गोत्रों की संख्या नियत है। महाभारत चार ही मूल गोत्र मानता है (१२।२९७।१७–१८)। आगे बताया जायगा कि बौधायन ने आठ गोत्र माने हैं, किन्तु इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि गोत्र हजारों, लाखों (प्रयुत) और करोड़ों (अर्बुद) हैं, किन्तु इनके प्रवर उनचास हैं। पुरुषोत्तम पंडित ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि गोत्र तीन करोड़ हैं, धूल के कणों तथा आकाश के तारों की तरह अनन्त हैं, अतः वह इस विषय को अत्यन्त

२ अमरकोश में गोत्र के तीन अर्थ दिये गये हैं—पर्वत, वंश और नाम। वाचस्पत्य कोश में इसके ग्यारह अर्थ बताये गये हैं—पर्वत, नाम, ज्ञान, जंगल, खेत, छत्र, संघ, धन, मार्ग, वृद्धि, मुनियों के वंश। प्राचीन संस्कृत साहित्य में गोत्र शब्द का प्रयोग प्रायः वंश या पिता के नाम के लिए हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में जब गुरु ने सत्यकाम से उसका गोत्र पूछा तो उसका अभिप्राय उसके कुल या पिता के नाम से था (छान्दोग्य उप० ४।४)। महाभारत (५।७१।१५) में ययाति जब दो कन्याओं से उनका गोत्र पूछता है तो वे अपने पिता का नाम बताती हैं। पालिसाहित्य में गोत्र का प्रयोग कुल के लिए हुआ है, गोत्तरक्खिता का व्यवहार ऐसी लड़कियों के लिए किया गया है, जो सम्बन्धियों के कुलों द्वारा पाली जाती थीं (कर्वे-किनशिप आर्गेनिजेशन इन इण्डिया, पृ० ५८)।

कठिन बताता है। यहाँ पहले संक्षेप में गोत्र के सामान्य स्वरूप का वर्णन होगा।

बौधायन के मत में विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अगस्त्य मुनि की जो संतान हैं, वे गोत्र हैं। इस प्रकार कुल आठ गोत्र हैं। समान गोत्र वालों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता।[४]

किन्तु ब्राह्मणों के विवाह में केवल गोत्र की ही नहीं, प्रवर की भिन्नता भी होनी चाहिए। प्रवर का विशद रूप आगे स्पष्ट किया जायगा, यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि प्रवर में एक, दो, तीन या पाँच प्राचीन ऋषियों के नाम होते हैं, ये प्रायः मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। गोत्र और प्रवर के ऋषियों में यह अन्तर है कि प्रवर में अत्यन्त प्राचीन काल के यशस्वी तथा विश्वामित्रादि आठ गोत्रकार ऋषियों के पूर्वजों का उल्लेख होता है, गोत्रकार ऋषि प्रवरों में वर्णित ऋषियों के वंशज हैं। उदाहरणार्थ, जमदग्नि गोत्र के प्रवर भार्गव, च्यवन और आप्नवान् जमदग्नि के पूर्वज हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रवर प्राचीन ऋषि हैं और गोत्र उनके वंशज समझे जाने वाले अर्वाचीन ऋषि हैं।[५]

३ प्रवरमंजरी, पृ० ६

४ गोत्रप्रवर निबन्धकदम्ब पृ० ११ तथा ८७ 'विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः। सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद् गोत्रमित्युच्यते।' इस लक्षण के अनुसार गोत्र शब्द का प्रयोग उपर्युक्त आठ ऋषियों की सन्तान के लिए होना चाहिए। किन्तु पहले यह बताया जा चुका है कि बौधायन हजारों, लाखों और एक करोड़ गोत्र मानता है। आठ गोत्रों तथा एक करोड़ गोत्रों में स्पष्ट विरोध है। पुरुषोत्तम ने इसके समाधान का एक विफल प्रयत्न किया है (गोत्र-प्रवरनिबन्ध कदम्ब पृ० १००।१०१) जो ब्रफ के शब्दों में गड़बड़झाला मात्र है (पृ० पु० पृ० २०६)। यदि यह विश्वामित्र आदि ऋषियों के लिए गोत्रकार शब्द का प्रयोग करता तो यह अस्पष्टता दूर हो सकती थी। पुरुषोत्तम ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि गोत्र कितने करोड़ हैं यह हम नहीं जानते (कियत्यः कोटिसंख्या गोत्राणामिति न विद्मः—प्रवरमंजरी [वे प्रे] पृ० ६६)। स्मृत्यर्थसार (पृ० १५) ने इनकी संख्या अनन्त कही है।

५ गोत्रों के होते हुए प्रवरों की व्यवस्था इसलिए की गयी है कि गोत्र शब्द का प्रयोग बहिर्विवाही वर्ग (Exogamous group) तक सीमित न रह कर इसके अवान्तर उपभेदों तथा पृथक् परिवारों के लिए भी होता था। ब्राह्मण अपने को कश्यप गोत्र का ही नहीं, किन्तु इसके एक अंग भागुरि गोत्र का भी कहने लगे थे, वस्तुतः भागुरि कश्यप गोत्र के एक गण का उपविभाग है। गोत्र का प्रयोग वंश के अर्थ में भी होता था, अतः गोत्र का सुनिश्चित अर्थ न रहने से उसके साथ प्रवरों की भी व्यवस्था की गयी (ब्रफ—पृ० पु०, पृ०४-५)।

इन ऋषियों के आधार पर प्रवरों का वर्गीकरण किया गया है—भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य। ये ऋषि उपर्युक्त आठ गोत्रकार ऋषियों से कुछ भिन्न हैं क्योंकि प्रवरों के ऋषियों में भृगु और अंगिरा नये नाम हैं और गोत्रकारों में से जमदग्नि, गौतम और भारद्वाज का उल्लेख नहीं है। किन्तु यह भेद इस प्रकार दूर किया जाता है कि भृगु में जमदग्नि को तथा अंगिरा में गौतम और भारद्वाज को सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न ग्रन्थों में दी गयी गोत्रों की तालिका से उन्हें यह स्पष्ट होता है। कि जमदग्नि वर्ग के विभिन्न उपभेदों (गणों) के प्रवरों के ५ नामों में तीन अर्थात् भार्गव, च्यवन और अप्नवान् सब में समान हैं। गौतम गोत्र के विभिन्न गणों के प्रवरों में आंगिरस और गौतम के नामों की तथा भारद्वाज गोत्र के विभिन्न गणों के प्रवरों में आंगिरस, बार्हस्पत्य और भारद्वाज के नामों की समानता है। प्रवर के सम्बन्ध में बौधायन का यह प्रसिद्ध नियम है कि प्रवरों में यदि एक ऋषि का भी नाम दुबारा आये तो भृगु तथा अंगिरा वर्गों के अतिरिक्त सर्वत्र समान-गोत्रता समझनी चाहिए।[६] इस नियम के अनुसार जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज आदि प्रवरों की गणना भृगु तथा अंगिरा गणों में की गयी है। ये स्वतन्त्र बहिर्विवाही वर्ग गिने जाते हैं। इनके सिवाय भृगु तथा अंगिरा वर्गों में कुछ अतिरिक्त गण भी गिने जाते हैं। इन्हें मध्यकालीन ग्रन्थों में केवल भृगु तथा केवलांगिरस कहा गया है। इनके प्रवरों के ऋषिनामों में जमदग्नि गण की भांति तीन नामों की समानता नहीं है, किन्तु केवल एक नाम भार्गव या आंगिरस की ही समानता है, अतः इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र बहिर्विवाही वर्ग है। केवल भृगुओं में इस प्रकार के चार वर्ग—यास्क, शुनक, मित्रयु और वैन्य हैं और केवलांगिरसों में संकृति, हरित, कण्व, रथीतर, मुद्गल और विष्णुवृद्ध नामक छः वर्ग। इन दस वर्गों में यदि पहले आठ अर्थात्, भृगु (जमदग्नि), गौतम, भारद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य के वर्ग जोड़ दें तो बहिर्विवाही इकाइयों की कुल संख्या १८ होगी।[७]

गोत्र, गण और प्रवर का सम्बन्ध निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। बौधायन के अनुसार पहले बड़े गोत्र भृगु अथवा जमदग्नि गोत्र में वत्स, विद, आर्ष्टिषेण और यास्क नामक चार गण हैं। इन गणों में से प्रत्येक के अनेक वर्ग, पक्ष या वंश हैं, उदाहरणार्थ, वत्स

६ प्रवरमंजरी, पृ० ११—एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते। तावत्समान-गोत्रत्व-मन्यत्र भृग्वंगिरसां गणात्॥ भृगु तथा अंगिरा गणों में उस असगोत्रता के नियम का पालन न करने का क्या कारण था; पुरुषोत्तम ने इसकी बड़ी मनोरंजक व्याख्या की है, उसके मतानुसार बौधायन ने चूंकि गोत्र शब्द का प्रयोग पहले निर्दिष्ट आठ ऋषियों के लिये किया है और उनमें भृगु-अंगिरा का नाम नहीं है, अतः उन पर सगोत्रता के निषेध का नियम नहीं लागू होता (प्रवरमंजरी, पृ० १२)।

७ इनके स्वरूप तथा विस्तृत वर्णन के लिए देखिए ब्रफ, पृ० ३१-३७।

गण में वात्स्य, मार्कण्डेय, माण्डूकेय, माण्डव्य, कौसव, आलेखन, दार्भायण, शार्कराक्ष आदि ७३ वर्ग हैं (ब्रफ पृ० ७६—८१)। इन सब वत्सों का प्रवर पांच ऋषियों वाला—भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य होता है।

दूसरा गण बिद है—इसमें बिदशैल, अवटशैल, प्राचीन योग्य, अमग्नजान आदि १३ उपवर्ग हैं, इस गण का प्रवर भी पांच ऋषियों के नाम वाला है। इनमें पहले चार नाम वत्सगण जैसे हैं, पांचवां नाम जामदग्न्य के स्थान में बैद है। तीसरे गण में आर्ष्टिषेण नैरुथ, साम्पायन आदि १० वर्ग हैं। इनका पंचार्षेय प्रवर इस प्रकार है—भार्गव, च्यावन, आप्नवान, आर्ष्टिषेण, कानूप। इन तीनों गणों में आपस में विवाह नहीं होता। चौथे गण में यस्क, मौन, मूक, वाधूलादि २२ वर्ग हैं। इनका प्रवर त्र्यार्षेय अर्थात् भार्गव, वैतहव्य, सावेतस है (ब्रफ पृ० ८२)। मित्रयु गण में रौष्टघायन, सालिण्डिन आदि १२ वर्ग हैं और इनका त्र्यार्षेय प्रवर इस प्रकार है—भार्गव, वाध्र्यश्व और देवोदास। वैन्यगण में वैन्य, वाष्कल और पार्थ नामक वर्ग हैं और उनका त्र्यार्षेय प्रवर है भार्गव, वैन्य, पार्थ्य। शुनक गण में ग्यारह वर्ग हैं। इनका एकार्षेय प्रवर शौनक या गार्त्समद है। इन ग्यारह वर्गों में से अंतिम चार केवल भृगु के गण हैं, अतः उनमें परस्पर विवाह हो सकता है। गोत्र गण और प्रवर का पारस्परिक सम्बन्ध बौधायन के आधार पर बनायी गयी अगस्त्य गोत्र की निम्न तालिका से स्पष्ट होगा।

अगस्त्य गोत्र

संख्या	गण	प्रवर
१	इध्मवाह्	आगस्त्य, दाढ्यच्युत, ऐध्मवाह्
२	साम्भवाह्	आगस्त्य, दाढ्यच्युत साम्भवाह्
३	सोमवाह्	आगस्त्य, दाढ्यच्युत, सौमवाह्
४	यज्ञवाह्	आगस्त्य, दाढ्यच्युत, याज्ञवाह्
५	अगस्ति	आगस्त्य, महेन्द्र, मायोभुव

इस सूची से यह स्पष्ट है कि सब गणों के प्रवरों में अगस्त्य नाम आता है, अतः इन सब में परस्पर विवाह नहीं हो सकता। आठ प्रधान गोत्रों के अनेक गण हैं, प्रत्येक गण में अनेक वर्गों या वंशों के नाम पाये गये हैं। गोत्र सम्बन्धी विभिन्न सूचियों में दिये गये इन नामों की संख्या पांच हजार के लगभग है।

गोत्र विषयक ग्रन्थ

गोत्रों की गणना सर्व प्रथम सूत्र साहित्य में की गयी है और इन्हें प्रवराध्याय, प्रवरकाण्ड या प्रवर प्रश्न का नाम दिया गया है। होता तथा अध्वर्यु के पथ प्रदर्शन के लिए

संभवतः इनका प्रणयन हुआ, ताकि वे याज्ञिक कर्मकाण्ड में यजमान के परिवार का प्रवर शुद्ध रीति से पढ़ सकें (दे० मी० पृ०४२)। इसीलिए इन प्रवरों के प्रथम उल्लेख श्रौतसूत्रों में है। ऋग्वेद के आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्रवर काण्ड में इस पद्धति की संक्षिप्त रूपरेखा मात्र है, इसमें गोत्र के उपभेदों (गणों) का ही केवल उल्लेख है, किन्तु इन गणों के विभिन्न उपवर्गों का वर्णन नहीं है। उदाहरणार्थ, भृगु गोत्र के गण आर्ष्टिषेणों तथा विदों के उपभेदों का बौधायन की भाँति निर्देश नहीं है, केवल उनके प्रवरों का वर्णन है और प्रवरों में भी होता के ही प्रवार दिये गये हैं, अध्वर्यु के प्रवरों का निर्देश नहीं है। यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों—आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी (सत्याषाढ़) श्रौतसूत्रों में प्रवराध्याय है, आपस्तम्ब की सूची आश्वलायन की सूची के साथ मिलती है।

बौधायन ने सर्वप्रथम प्रत्येक गोत्र में समान प्रवर रखने वाले गणों के परिवारों की विस्तृत सूची दी। इससे सादृश्य रखने वाली सूचियाँ कात्यायन और लौगाक्षि की हैं, ये पुरुषोत्तम की प्रवरमंजरी में पायी जाती हैं। एक ऐसी अन्य सूची वैखानस धर्मसूत्र में भी है, जो बौधायन से प्रतिलिपि की गयी प्रतीत होती है। बौधायन की सूची में तथा आश्वलायन आदि शेष ग्रन्थों की सूचियों में मुख्य गोत्रों के गणों में वर्णित नामों में बड़ा अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्वलायन की सूची सबसे पहले तैयार की गयी। इसमें मुख्य गोत्रों, गणों तथा इनके प्रवरों की सूची मात्र है। काल और स्थान भेद से इन परिवारों में अन्तर आता गया। बौधायन संभवतः आश्वलायन से स्थान और काल की पर्याप्त भिन्नता रखता है। इसके अतिरिक्त, वह इसका विस्तृत प्रतिपादन करने वाला पहला व्यक्ति था, अतः उसकी सूची आश्वलायन की सूची से भिन्न और विशद है।

उपर्युक्त सूत्रग्रन्थों के अतिरिक्त गोत्रों का वर्णन प्रधान रूप से निम्न ग्रन्थों में है—महाभारत (१३।४।४९–५६, १२।२९६।१७–१८), मत्स्यपुराण (अध्याय १९५–२०२), वायुपुराण (अध्याय ८८–९), स्कन्दपुराण (धर्मारण्य काण्ड ३।२), स्मृत्यर्थसार (पृ०१४–१७), संस्कारप्रकाश (पृ० ५६१–६८०), निर्णयसिन्धु, संस्काररत्नमाला (४०३–४५३)। मध्यकाल में गोत्रों पर स्वतन्त्र रूप से अनेक ग्रन्थ लिखे गये, इनमें पुरुषोत्तम पण्डित की गोत्रप्रवरमंजरी[८] सर्वश्रेष्ठ है, इसमें बौधायन,

८ इसका नाम 'गोत्र-प्रवरनिबन्धकदम्बम्' है, इसी का एक मुद्रण १९०७ में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से हुआ है, आगे प्रायः सब उद्धरण इसी संस्करण के आधार पर दिये गये हैं। इसमें निम्न ग्रन्थ हैं—पुरुषोत्तम पंडित की प्रवरमंजरी, कमलाकर भट्ट का प्रवरदर्पण, पट्टाभिराम शास्त्री का गर्ग-भरद्वाजकुल-विवाहविचार, आश्वलायन और आपस्तम्ब के प्रवरकाण्ड (ये यथाक्रम नारायणीय वृत्ति तथा कपर्दिस्वामी के भाष्य सहित हैं) तथा गोत्रप्रवरनिर्णय। इस ग्रन्थ का निर्देश आगे गोनि (वे. प्रे.) से किया जायगा।

आपस्तम्ब, कात्यायन, लौगाक्षि, आश्वलायन और मत्स्यपुराण के विवरण अविकल रूप में दिये गये हैं। बफ के मत में यह संभवतः १२वीं शती से पहले लिखी गयी थी। यह १९०० में मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी सीरीज में चेन्नसनराव द्वारा सम्पादित होकर गोत्र-प्रवर सम्बन्धी अन्य मध्यकालीन ग्रन्थों के साथ प्रकाशित हुई है। इस विषय का दूसरा ग्रन्थ कमलाकर भट्ट का प्रवरदर्पण है, यह प्रवरमंजरी की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त, संबद्ध और व्यवस्थित है। यहाँ इन सबके आधार पर इसका संक्षिप्त वर्णन किया जायगा,[९] किन्तु इससे पहले गोत्र का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

गोत्र शब्द के विभिन्न अर्थ

संस्कृत के आधुनिक कोशों में गोत्र उसे कहा गया है, जो पूर्व पुरुषों को घोषित करता है।[१०] किन्तु इस शब्द की यह व्युत्पत्ति संभवतः इसके प्रयोग को देखकर, उसके आधार पर कल्पित की गई है। वैदिक साहित्य में इसका यह प्रधान अर्थ नहीं था। ऋग्वेद के अनेक स्थलों में इस शब्द का अर्थ गौओं का बाड़ा या समूह है।[११] इसके अतिरिक्त इस शब्द का निम्न अर्थों में भी प्रयोग है—बादल, बादल में रहने वाला दैत्य, बादलों को छिपाने वाली पर्वतमाला या पर्वतशिखर।[१२]जैसे गौएं बाड़े में बन्द होती हैं, वैसे जल मेघ

९ वर्तमान समय में प्राचीन गोत्र पद्धति का सर्वोत्तम वर्णन जॉन ब्रफ के 'दी अर्ली ब्राह्मणेनिकल सिस्टम आफ गोत्र एण्ड प्रवर' (लंदन १९५३) में मिलेगा। इस विषय में अन्य ग्रन्थों और लेखों में निम्न उल्लेखनीय हैं—
करन्दीकर—हिन्दू एक्सोगेमी, वैदिक साहित्य में गोत्र प्रवर के लिए देखिए पांडु-रंग वामन काणे का लेख—बाम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, न्यू सीरीज १९३५ का दूसरा खण्ड तथा हि० ध० शा. २, भाग १, पृ० ४७९–५००; दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी—आन दी ओरिजिन ऑफ ब्राह्मण गोत्राज, जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १९५०, पृ० २१–८०। चिन्तामणि विनायक वैद्य ने हिस्टरी आफ मिडीवल इण्डिया के खण्ड २ के एक परिशिष्ट में गोत्रों और प्रवरों की विवेचना की है। इंसा. रिलो. ई. के खण्ड ६, पृ० ३५३–५८ में फिक ने इस विषय का संक्षिप्त विवेचन किया है। जॉन ब्रफ ने 'वैदिक साहित्य में गोत्रों का विवेचन' जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी के १९४६-४७ के अंकों में किया है।

१० शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ३५५'गयते शब्दायते, पूर्वपुरुषान् यतत् गोत्रम्'।

११ ऋ० १।५१।३,२।१७।१,३।३९।४,३।४३।७,६।६५।२३,१०।४८।२,१०।१२०।८।

१२ ऋ० २।२३।३, १०।१०३।७, अथर्व० ५।२।८, यजु० १७।३९, ऋ० ६।१७।२, १०।१०३।६।

में अवरुद्ध रहता है, संभवतः इस सादृश्य के आधार पर गोत्र का अर्थ मेघ हुआ। कुछ स्थलों में गोत्र का प्रयोग समूह के अर्थ में भी हुआ है (ऋ० २।२३।१८, ६।६५।५)। इससे इस शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह में भी होने लगा और धीरे-धीरे गोत्र को वर्तमान अर्थ प्राप्त हुआ। यद्यपि ऋग्वेद में एक सामान्य पूर्वज के वंश के लिए गोत्र शब्द के प्रयोग का पुष्ट प्रमाण नहीं है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वैदिक युग में यह विचार प्रारम्भ हो गया था, अथर्ववेद में "विश्वगोत्र्यः" (सब परिवार वाले) शब्द में गोत्र का व्यवहार रक्त सम्बन्ध से संबद्ध व्यक्तियों के समूह के लिए हुआ है।[१३] कौशिक सूत्र (४।२) में गोत्र का इसी अर्थ में प्रयोग है।

पाणिनि ने गोत्रों के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया है। अष्टाध्यायी में सबसे विस्तृत प्रकरण 'तद्धित' का एक बड़ा भाग—अपत्याधिकार इसी विषय पर है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय गोत्रवाची नामों का बहुत प्रचलन था। पाणिनि के मत में पौत्र से आगे की सन्तान गोत्र कहलाती है (४।१।६२)। अपत्यवाची शब्दों के तीन बड़े भेद हैं—अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य। पहले भेद का शब्दार्थ है, जिसके बीच में किसी दूसरे लड़के का अन्तर या व्यवधान न हो, जैसे गर्ग का लड़का गार्गि कहलायेगा। इस गार्गि का लड़का या गर्ग का पौत्र उसके अनुसार गार्ग्य कहा जायगा। पौत्र के बाद की सन्तति गोत्रापत्य कहलाती है। गोत्रापत्यों का एक भेद युवापत्य है। युवापत्य गार्ग्य नहीं किन्तु गार्ग्यायण कहा जायगा। पाणिनि ने विशेष प्रत्ययों द्वारा ऐसे अनेक कुलों के गोत्र-वाचक नामों की सिद्धि की है और गणपाठों में इस प्रकार के अनेक शब्द पढ़े गये हैं। यहां पाणिनि का गोत्र पारिभाषिक शब्द है और उसने स्वयं अपत्याधिकार प्रकरण से अन्यत्र गोत्र शब्द का प्रयोग एक सामान्य पूर्वज के वंशजों के लिए किया है।[१४]

पाणिनि के कुछ सूत्रों से यह स्पष्ट है कि उसे प्रवरसूचियों वाले गोत्रों का अवश्य ज्ञान था, क्योंकि एक सूत्र (४।१।१२०) द्वारा उसने भृगु और वत्स गोत्रों के अर्थ में शारद्वतायन और शौनकायन शब्द बनाये हैं तथा अन्य अर्थों में शारद्वत और शौनक। एक दूसरे सूत्र (४।१।१०८) में उसने आंगिरस गोत्र के लिए वातण्ड्य शब्द का निर्देश किया है। कुछ गणपाठों का प्रवर-सूचियों के साथ पर्याप्त सादृश्य है। अश्वादिगण में भारद्वाजायन आत्रेय गोत्र के तथा आत्रेयायण भारद्वाज गोत्र के अर्थ में पढ़ा गया है। गणपाठ प्रवर-सूचियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध रूप में सुरक्षित रहे हैं, अतः गोत्रों के इतिहास के ज्ञान में अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।[१५]

[१३] अथर्व. ५।२१।३ 'वामस्परध: संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः।'

[१४] २।४।६३ यस्कादिभ्यो गोत्रे, ४।३।८० गोत्रादङ्कवत् सूत्रों की काशिकावृत्ति देखिए।

[१५] इस विषय का विस्तृत विवेचन जॉन ब्रफ के १९४६ के जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी के एक लेख (पृ० ४१ अनु०) में है।

मेधातिथि द्वारा गोत्र शब्द की व्याख्या

गोत्र के सामान्य प्रचलित अर्थ की सुन्दरतम व्याख्या मेधातिथि ने की है। वह मनु ३।५ तथा ११४ की टीका में असगोत्र की व्याख्या करता हुआ लिखता है—"सब पुरुषों के पुरुष रूप से तुल्य होने पर जैसे उनमें ब्राह्मणादि का भेद है, उसी तरह ब्राह्मणादि के रूप से उनके तुल्य होने पर भी उनमें वसिष्ठादि गोत्र का भेद है और प्रति गोत्र में प्रवर का भेद है। सूत्रकार गोत्रभेद सम्बन्ध से प्रवर को इस प्रकार याद रखते हैं कि जिसका यह गोत्र है उसके ये प्रवर हैं। गोत्र भेद उस गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति इस प्रकार याद रखते हैं—हम पराशर गोत्र के हैं, हम उपमन्यु गोत्र के हैं। यह गोत्र क्या है? गोत्र उस आदिपुरुष का नाम है, जिसने कुल को यह संज्ञा (नाम) दी है; जो विद्या, धन, शौर्य, औदार्य आदि गुणों से बहुत अधिक प्रसिद्ध होता है और जिसके नाम पर कुल का नाम रखा जाता है। गर्ग, गालव आदि ऐसे पुरुषों के नाम पर ब्राह्मणों के गोत्र हैं। गोत्र की इतनी व्याख्या करने के बाद, मेधातिथि आगे जो लिखता है उससे स्पष्ट है कि उसे इन गोत्रों के रक्त सम्बन्ध सूचक होने में कुछ सन्देह है। वह कहता है—गोत्र शब्द वसिष्ठ आदि मुख्य गोत्रों के साथ रूढ़ि के कारण लगाया जाता है। यह नहीं माना जा सकता कि एक समय में पराशर नाम का व्यक्ति पैदा हुआ और उसके बाद उसके वंशज पराशर कहलाने लगे। यदि यह मान लिया जाय तो वेद अनादि नहीं रहेगा, क्योंकि उसमें पराशरों और वसिष्ठों का वर्णन है। इसलिए गोत्र, ब्राह्मण जाति और वेद की तरह अनादि हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणों की तरह गोत्र को नित्य स्मरण नहीं करते। अतः उनका गोत्र लौकिक ही है अर्थात् प्रसिद्धतम आदिपुरुष को ही गोत्र समझना चाहिए।[१९]

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि गोत्र दो प्रकार का है—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय गोत्र वह है जो स्मरण-परम्परा से अनादि काल से चला आता है और लौकिक वह है जो पाणिनि के मतानुसार वंश को सूचित करता है। क्षत्रियों में यह गोत्र ऐसे व्यक्तियों के नाम से भी चलता था जो नये राजवंशों की स्थापना करते थे। ये राजा वंशकृत् कहलाते थे। गोत्र के शास्त्रीय एवं लौकिक अर्थों के भेद को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर (१।५३) भी गोत्र को वंशमूलक मानते हुए लिखता है कि गोत्र वंशपरम्परा से प्रसिद्ध होता है। मध्यकाल के निबन्धकारों ने भी गोत्र को वंशमूलक माना है (सं० प्र०, पृ० ५६३)। गोत्र के अर्थ की निरन्तर वंशमूलक व्याख्या होने से यह धारणा प्रचलित होना स्वाभाविक था कि गोत्र वंश-सम्बन्ध का ज्ञापक है। किन्तु गोत्र विषयक यह धारणा सर्वांश में सत्य नहीं। पाणिनि की परिभाषा का गोत्र स्पष्ट रूप से वास्तविक वंश-सम्बन्ध को बताता है, किन्तु शास्त्रीय एवं प्रचलित गोत्र कृत्रिम तथा

[१९] मनु ३।५

कल्पित वंश-सम्बन्ध को ही सूचित करता है। वह वास्तविक रक्त-सम्बन्ध का द्योतक नहीं है।

गोत्र-प्रवर के ऐतिहासिक विकास की अवस्थाएं

हिन्दू समाज में प्रचलित गोत्र और प्रवर का विचार कई अवस्थाओं में से होकर गुजरा है: (१) वैदिक युग मे गोत्र का विचार बीज रूप मे था। (२) ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण तथा कर्मकाण्ड की वृद्धि के समय याज्ञिक प्रक्रियाओं में गोत्र और प्रवर की आवश्यकता अनुभव हुई और इनकी यह पद्धति प्रचलित हुई। उस समय असगोत्र एवं असमान प्रवर में विवाह करने का विचार प्रचलित हुआ। (३) गोत्र के विकास की तीसरी अवस्था सूत्रग्रन्थों के निर्माण के समय मे थी। इन ग्रन्थों ने सर्वप्रथम खुल्लमखुल्ला सगोत्र विवाह की निन्दा की और उसके कुछ हल्के प्रायश्चित्त बताये। (४) २०० ई० के पश्चात् गोत्र का बन्धन बहुत कठोर किया जाने लगा। सगोत्र विवाह को तल्पारोहण के समान पाप समझा गया। १२०० ई० तक यही दशा रही। (५) १२०० ई० के पश्चात् संभवतः सगोत्र विवाह बन्द हो गये। निबन्धकारों ने इसके प्रायश्चित्तों में कुछ शिथिलता की और विधान पारिजात आदि ने तो सगोत्र वर से ब्याही कन्या के पुनर्विवाह की व्यवस्था की। (६) २०वीं शताब्दी से आधुनिक युग शुरू होता है। इस समय गोत्रों के कृत्रिम, अस्वाभाविक एवं परेशान कर देने वाले प्रतिबन्ध को हिन्दू समाज से हटाने का आन्दोलन शुरू हुआ। परिणामस्वरूप १९४९ ई० के ३७वें कानून के अनुसार समान गोत्र-प्रवर में विवाह को वैध माना गया और हिन्दू समाज से सगोत्रता के कानूनी प्रतिबन्ध का अन्त हो गया।

वैदिक युग में गोत्र

इस समय गोत्र की चर्चा बहुत कम मिलती है। ऋग्वेद में गोत्र शब्द बहुत थोड़े स्थानों पर आया है।[१७] इनमें से चार स्थानों में तो वह पर्वत व मेघ का वाचक है। यहाँ गोत्र शब्द प्रायः इन्द्र की स्तुतियों में आया है और उसे पहाड़ों व बादलों का फाड़ने वाला कहा गया है। शेष स्थानों मे इसका क्या अर्थ है, इस विषय में टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है।[१८] आधुनिक टीकाकारों में राथ ने सेन्टपीटर्स बर्ग कोश में इसका अर्थ गौओं का बाड़ा (गोष्ठ) या गोशाला किया है और गैल्डनर इस अर्थ से असहमति प्रकट करता हुआ इसका अर्थ समूह करता है। समूह वाचक गोत्र शब्द का बाद में व्यक्तियों के समूह का

१७ ऋ० ६।१७।२, ३।३९।४ (?), ३।८६।२३, १०।४८।२, १०।१२०।८, ६।१७।२ यो गोत्रभिद् वज्रभृद् यो हरिष्ठाः। स इन्द्र चित्रां अभितृन्धि वाजान्।

१८ ऋ० ६।६५।५, १०।१०३।७, २।२३।१८

१९ वैदिक इंडेक्स, ख० १, पृ० २३५ पर उद्धृत

अर्थ देना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु एक पूर्वज द्वारा प्रवर्तित वंश परम्परा के अर्थ में गोत्र शब्द का ऋग्वेद में प्रयोग नहीं है। अथर्ववेद के एक मन्त्र (५।२१।३) में यह अर्थ अवश्य उपलब्ध होता है।

मैक्समूलर की गोत्र विषयक कल्पना

गोष्ठवाची गोत्र शब्द के आधार पर मैक्समूलर द्वारा कल्पनाओं के बड़े महल खड़े किये गये हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में बड़ी-बड़ी बस्तियाँ या नगर कम थे, जंगल बहुत थे। लोग पशु अधिक पालते थे। किसी स्थान पर पानी और घास की सुविधा अधिक देखकर वे वहीं बस जाते थे। वहीं अपने पशुओं के बाड़े बना देते थे। इन पशुओं के बाड़ों को गोत्र कहा जाता था। बाड़े को गोत्र कहने का कारण यह है कि बाड़े में गौओं की रक्षा की जाती थी (गावः त्रायन्ते यत्र), उनके चारों ओर दीवार आदि की बाधा खड़ी करके उन्हें हिंस्र पशुओं के आक्रमण से सर्वथा सुरक्षित कर दिया जाता था। गौओं की रक्षा न केवल हिंस्र पशुओं से करनी होती थी, किन्तु गौओं को चुराने वाले चोरों और आक्रामकों से भी इनकी रक्षा आवश्यक थी। अतः इनके चारों ओर किलेबन्दी की जाती थी। श्री मैक्समूलर ने इस मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—"प्राचीन काल में बहुत सी लड़ाइयाँ इसलिए नहीं लड़ी जाती थीं कि एशिया और यूरोप के विरोधी राजाओं में शक्ति का संतुलन रखा जाय। किन्तु वे लड़ाइयाँ अच्छे चरागाहों को पाने के लिए और पशुओं के बड़े-बड़े समूहों को हथियाने के लिए लड़ी जाती थी। स्वभावतः चारों ओर किले की दीवारों से मजबूत किये गये पशुओं के इन बाड़ों ने दुर्गों का रूप धारण किया। एंग्लोसैक्सन भाषा में बाड़े के लिए (Tun) जर्मन में (Zaun) आता था, यह शब्द बाद में (Town) बन गया। जो लोग एक बाड़े की दीवारों के अन्दर रहते थे वे एक गोत्र, परिवार, कबीले या जाति वाले कहलाते थे।[२०] जिसके पास अधिक संख्या में पशु होते थे वह स्थान उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। कहा जाता है कि वसिष्ठ विश्वामित्र आदि गोत्र प्रवर्तक ऐसे ही व्यक्ति थे। बाद में किसी स्थान में अधिक सुविधा देखकर अन्य लोग भी वहीं बस जाते थे, किन्तु जब परिचय पूछा जाता था तो वे कहते थे कि हम वसिष्ठ गोत्र अर्थात् वसिष्ठ की गोशाला के हैं, या भारद्वाज गोत्र या भरद्वाज के गौओं के बाड़े से सम्बन्ध रखते हैं। इसका अर्थ इतना ही था कि ये लोग उन वसिष्ठादि ऋषियों के गोत्रों में रहते थे। इसका यह अर्थ नहीं था कि ये उनके वंशज थे, किन्तु पास-पास रहने से इनमें पारिवारिक स्नेह का भाव उत्पन्न हो गया था। वे लोग एक-दूसरे को आयु के अनुसार भाई-बहिन, चाचा-भतीजा, पिता-पुत्र समझने लगे। जब एक को भाई कह दिया तो उसकी बहिन से विवाह करने का मतलब अपनी बहिन से शादी करना

२० मैक्समूलर—चिप्स फ्राम ए जर्मन शाप, खण्ड, २ पृ० २८

था। यह अधर्म माना जाता था अतः एक गोत्र वालों में शादी न करने की प्रथा चल पड़ी।"

निःसन्देह यह कल्पना बहुत मनोरंजक है। 'गालिब दिल बहलाने को ख्याल अच्छा है'। किन्तु यह केवल हवाई किला है, सारी कल्पना का आधार गोत्र का अर्थ बाड़ा मानना है। किसी प्राचीन कोश या टीकाकार ने गोत्र का यह अर्थ नहीं किया, आधुनिक टीकाकारों में भी इसके अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद है। यह विवादग्रस्त अर्थ गोत्र के उद्गम पर प्रामाणिक प्रकाश नहीं डाल सकता।

वैदिक युग में गोत्र पद्धति के संकेत

वैदिक साहित्य में गोत्र पद्धति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके दो मुख्य तत्त्व महान् ऋषियों के वंशजों का अपने पूर्वजों के नाम से प्रसिद्ध होना तथा प्रवर (आर्षेय) बीज रूप में पाये जाते हैं। यहाँ इनका क्रमशः वर्णन किया जायगा।

यशस्वी पूर्वजों के नाम पर वंशजों के नामकरण की पद्धति के अनेक संकेत वैदिक साहित्य में हैं। तै. सं. (१।८।१८।१) में होता को भार्गव अर्थात् भृगु की सन्तान कहा गया है। अन्यत्र तै. सं. (८।१।६।१) में जामदग्न्य अर्थात् जमदग्नि की सन्तान का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि उस समय विभिन्न परिवारों में धार्मिक अनुष्ठान की विधियाँ एक जैसी नहीं थीं। तै. ब्रा. (१।१।४) के अनुसार भृगुओं या आंगिरसों के लिए श्रौत अग्नि का आधान 'भृगूणां (आंगिरसां) त्वा देवानां व्रतपते व्रतेन दधामि' के मन्त्र से होता था और अन्य ब्राह्मणों के लिए यह कार्य 'आदित्यानां त्वा देवानाम्' के मन्त्र से। तै. ब्रा. (२।२।३) में आंगिरसी प्रजा (अंगिरा की सन्तान) का उल्लेख है। ताण्ड्य ब्राह्मण में सगोत्र ब्राह्मण को उदुम्बर का बना हुआ प्याला दक्षिणा में देने का विधान है।[२१] कौषीतकि ब्राह्मण में यह कहा गया है कि विश्वजित् यज्ञ करने वाला अपने सगोत्र ब्राह्मण के साथ एक वर्ष तक रहे।[२२] ऐतरेय ब्राह्मण में दी गयी कथा (३३।५) के अनुसार शुनःशेप आंगिरस (अंगिरा के वंशज)[२३] को बाद में विश्वामित्र ने देवरात नाम से अपना लड़का बनाया। उपनिषदों में गुरु शिष्यों को प्रायः उनके गोत्रनामों से ही संबोधित करते हैं, व्यक्तियों के साथ गोत्रवाची नामों का प्रयोग होता है, जैसे भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव और कात्यायन (प्रश्नोपनिषद् १।१), वैयाघ्रपाद और गौतम (छान्दोग्य ५।१४।१,५।१६।१), विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप (बृह० उप २।२।४)।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उपनिषदों के समय तक गोत्रों की पद्धति

२१ ता. ब्रा. १८।२।१२

२२ कौ. ब्रा. २५।१५

२३ ऐ. ब्रा. ३३।५

सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। पर उपर्युक्त उदाहरणों में गोत्रों का प्रयोग याज्ञिक कर्मकाण्ड और शिक्षा के सम्बन्ध में हुआ है, विवाह में इसका कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया। इस विषय में संभवतः सबसे पहले निर्देश लाट्यायन श्रौतसूत्र में मिलता है।[२४] प्रायः सभी गृह्य और धर्मसूत्र सगोत्र विवाह का निषेध करते हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि यह विचार इन सूत्रों से काफी पहले जन्म ले चुका था। प्रवर और आर्षेय के वैदिक निर्देशों से इसकी पुष्टि होती है।

प्रवर

इसका प्रथम उल्लेख वैदिक युग में दर्श और पौर्णमास नामक इष्टियों में मिलता है। ये इष्टियाँ अन्य सभी यज्ञों का आधार हैं, अतः इन सब में प्रवर का पाठ होता है। यह पाठ उस समय होता है, जब यज्ञ की अग्नि उद्दीप्त करने वाली (सामिधेनी) ऋचाओं के एकदम बाद अध्वर्यु उस अग्नि पर घी डालता है। इस समय होता प्रवर का पाठ करते हुए कहता है—हे अग्नि, तू महान् है, तुझमें ब्रह्मशक्ति है, तू भरत, भृगु, च्यवन, अप्नवान्, ऊर्व और जमदग्नि से सम्बद्ध है।[२५] इसके बाद निविद् नामक मन्त्र पढ़े जाते हैं, इनमें यह कहा जाता है कि अग्नि देवताओं और मनुष्यों द्वारा जलाई गयी है, वह ऋषियों द्वारा प्रशंसित तथा विप्रों द्वारा प्रसन्न की गयी है। (देवेद्धो मन्विद्धः ऋषिष्टुतो विप्रानुमदितः)। सब यज्ञों में इसी कर्मकाण्ड का अनुसरण किया जाता है और ब्राह्मण ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि यहाँ होता का कार्य करने के लिए अग्नि का आह्वान किया जाता है। ब्रफ के मतानुसार संभवतः इसी कारण प्रवर शब्द का प्रयोग किया गया,[२६] किन्तु बाद में इसका व्यवहार ऋषिनामों की उस सूची के लिए भी होने लगा, जो यज्ञों में पढ़ी जाती थी।

शतपथ ब्राह्मण (१।५।१।१३) ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए तथा दूसरे प्रकार का प्रवर बताते हुए कहा है—'होता का काम करने वाला पुरुष अभी तक होता नहीं है, अध्वर्यु उसे होता का काम करने के लिए निमन्त्रित करता है। घी की दूसरी आहुति डालने के बाद होता कहता है—कीर्ति, यश और ब्रह्मशक्ति के तेज के लिए इस यज्ञ की घोषणा देवताओं में तथा मेरी घोषणा मनुष्यों में करो। इसके बाद अध्वर्यु कहता है—अग्नि देव ही दिव्य होता है, विद्वान् और जानने वाला वह देवताओं के प्रति वैसे ही यज्ञ करे जैसे मनु ने, जमदग्नि ने, ऊर्व ने, अप्नवान् ने, च्यवन ने तथा ब्रह्मा ने किया था, वह न देवताओं को यहाँ लाये—अमुक पुरुष मानवीय होता है। यह स्पष्ट है कि यहाँ प्रवर

२४ लाट्या. श्रौ. सू. ८।२।११

२५ तै. सं. २।५।६

२६ ब्रफ- पु० पु०, पृ० ६

का सम्बन्ध अग्नि से है[२७] किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मानवीय होता का वर्णन है, क्योंकि उसे मनु की भाँति यज्ञ करने को कहा गया है।

इससे यह प्रकट होता है कि प्रवर यज्ञ में अग्नि को बुलाने के लिए की गयी प्रार्थना है[२८] और यह दो प्रकार की होती है : (१) होता द्वारा की जाने वाली, (२) अध्वर्यु द्वारा की जाने वाली। पहली प्रार्थना में यजमान वाले आहवनीय अग्नि को भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व तथा जामदग्न्य नामक पाँच मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम वाले प्रवर से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार संबोधित अग्नि उनके हव्य को देवताओं तक पहुँचाता है, अन्यथा नहीं, ऐसा मानकर होता अग्नि से प्रार्थना करता है। दूसरी प्रार्थना में अध्वर्यु इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का नाम उलटे क्रम से लेकर प्रार्थना करता है जैसे जमदग्निवत्, ऊर्ववत, आप्नवानवत्, च्यावनवत्, भृगुवत्। अध्वर्यु द्वारा पढ़े गये प्रवर में ऋषियों के नाम यजमान से ऊपर की ओर अर्वाचीन तथा ऋषियों से प्राचीन वंशजों की ओर चलते हैं और होता मूलभूत प्राचीन ऋषि से प्रारम्भ कर क्रम से उनके बाद के अर्वाचीन ऋषियों के नामों का पाठ करता है।[२९] इस प्रकार सर्वत्र दो प्रकार के प्रवरों का पाठ होता है, पहले में ऋषि नामों का क्रम प्राचीन से अर्वाचीन की ओर होता है तथा भार्गव सदृश शब्दों का प्रयोग होता है, दूसरे में ऋषिनाम अर्वाचीन से प्राचीन की ओर पढ़े जाते आदि हैं और इन नामों के साथ वत् का प्रयोग होता है।

प्रवर को बाद में आर्षेय भी कहा जाता था। ऋग्वेद में केवल एक बार आर्षेय शब्द का प्रयोग है और वहाँ इसका अर्थ है ऋषि से सम्बन्ध रखने वाला। ऋ० ९।९७।५१ में यह प्रार्थना की गयी है आप पवित्र करने वाले हैं, आप हमें द्युलोक और भूलोक की उत्तम वस्तुएँ भेजिए, विशेष रूप से ऐसी वस्तु जिससे हम जमदग्नि की भाँति ऋषि सम्बन्धी सम्पत्ति प्राप्त कर सकें। वैदिक युग में गोत्र और प्रवर की पद्धति अधिक विकसित नहीं हुई थी, प्रवरों का विशेष सम्बन्ध याज्ञिक कर्मकाण्ड से था। गोत्र और प्रवर प्रधान रूप से ब्राह्मणों में अधिक प्रचलित थे क्योंकि ये याज्ञिक कर्मकाण्ड किया करते थे।

२७ संस्काररत्नमाला (पृ० ४१६) में प्रवर को अग्नि का विशेषण मानते हुए प्रवर की यह व्युत्पत्ति की है—"प्रवियन्ते अग्नेर्विशेषणत्वेनोत्कीर्त्यन्ते इति प्रवराः", ऋषियों के नाम अग्नि का विशेषण होने से प्रवर कहलाते हैं।

२८ प्रवरमंजरी (गोनि० पृ० ६) आहवनीयस्याग्नेर्हव्यवाहनाम्नः...प्रकर्षेण वरणानि प्रार्थनानि प्रवराः ॥

२९ बौधायन-प्रवराध्याय—अथात ऊर्ध्वानध्वर्युर्वृणीतेऽमुतोऽर्वाचो होतैष एवोभयोः सर्वत्रोद्देशः। इस पर प्रवरमंजरी की टीका (पृ० १०) अतो यजमानादूर्ध्वान् मन्त्रकृद्भिरव्यवहितान्—आहवनीये प्रार्थयते। अमुतो मूलभूतादृषेरारभ्यार्वाचीनान् मन्त्रकृतः अध्वर्युः प्रवरक्रमविपर्ययक्रमेण तदपत्यसंबन्धेन प्रार्थयते तमेवाग्निम्।

यह कल्पना होता और अध्वर्यु के ऊपर बताये गये प्रवरों के दोनों प्रकारों से भी पुष्ट होती है। होता के प्रवरों में ऋषियों के नाम व्याकरण की वृद्धि के साथ भार्गव आदि के रूपों में पढ़े जाते थे और अध्वर्यु के प्रवरों में वत् शब्द के साथ। पहले में होता को अपना कार्य करने के लिए निमन्त्रित किया जा रहा है, अग्नि प्राचीन काल से देवताओं का होता रहा है, मनुष्य को होता बनाने से ब्रफ के कथनानुसार अग्नि को ईर्ष्या और नाराजगी होना स्वाभाविक है। अतः शतपथ ब्राह्मण कहता है।[३०] कि पहले अग्नि का नाम लेकर उसे प्रसन्न किया जाता है। अध्वर्यु के द्वितीय प्रकार के प्रवर में वत् शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि यह याज्ञिक कर्म ठीक वैसे ही किया गया है जैसे भृगु ने किया था, अतः यह भृगु के यज्ञ के सदृश ही प्रभावशाली और सफल होगा।[३१]

प्रवर के प्रयोजन की यह व्याख्या मैक्समूलर और चिन्तामणराव द्वारा की गयी इसके प्रयोजन की व्याख्या से सर्वथा भिन्न है। पहले विद्वान् के शब्दों में "जब ब्राह्मण अग्न्याधान करता है तो वह यह घोषणा करना चाहता है कि वह यज्ञ कर्म के लिए अपने पूर्वजों के सदृश योग्यता रखता है।[३२] चिन्तामणराव का कथन है कि प्रत्येक ब्राह्मण जब कोई धार्मिक कार्य, अपनी सन्ध्योपासना या देवताओं का आह्वान करता है तो उसे अपने परिवार के संस्थापक महत्त्वपूर्ण पूर्वजों के नामों का उच्चारण करना पड़ता है ताकि वह यह प्रदर्शित कर सके कि योग्य पूर्वजों का उत्तराधिकारी होने के नाते वह उस कार्य को करने का उपयुक्त और अधिकारी व्यक्ति है"।[३३] अतः इस मत के अनुसार धार्मिक कार्य के लिए अपनी योग्यता सिद्ध करना ही गोत्रोच्चारण का प्रधान प्रयोजन है। किन्तु यह ब्रफ द्वारा बताये पहले उद्देश्य की तुलना में यथार्थ नहीं प्रतीत होता। ब्रफ ने अपने उपर्युक्त प्रयोजन के समर्थन में निम्न प्रमाण दिये हैं।[३४]

वैदिक साहित्य में बहुधा विशिष्ट नामों के साथ वत् शब्द के प्रयोग द्वारा अपने कार्य को प्राचीन यशस्वी व्यक्तियों के कार्यों के समान प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण बनाने का वर्णन है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि मैं अत्रि, कण्व और जमदग्नि की भाँति कृमियों को मारता हूँ, अगस्त्य की ब्रह्मशक्ति से कीड़ों को चूर्ण करता

३० शतपथ ब्राह्मण १।४।२।३ यहाँ वास्तव में निहुते शब्द का प्रयोग है, इसके अर्थ के लिए दे० ब्रफ–पू० पु०, पृ० १७।

३१ ब्रफ, वही, पृ० १८ अनु

३२ मैक्समूलर—हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३८६

३३ चिन्तामणराव—गोत्र एण्ड प्रवर पृ०, मि० मोनियर विलियम्ज ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म (१८८७), पृ० ४०६०

३४ ब्रफ—पू० पु०, पृ० १८ अनु०

है।[३४] अन्यत्र अग्नि से अथर्वा की भांति मनुष्य को मारने के लिए कहा गया है (ऋ० १०।८७।१२, अथर्व. ८।३।२१)। अथर्व. १।१४।४, २।३२।३, ४।३७।१, ६।४०।१, ८।५२।१ में इस प्रकार के उदाहरण हैं। इन सबमें पुराने प्रतिष्ठित नामों का प्रयोग इसलिए है कि इनके नाम के प्रभाव से अभीष्ट परिणाम उत्पन्न हो।

यज्ञवेदी के निर्माण (अग्निचयन) में इस बात का बारम्बार वर्णन है कि यह कार्य अंगिरा की भांति (अंगिरस्वत्) किया जा रहा है (तै. सं. ४, मै. सं. ३, यजुर्वेद अध्याय ११)। ऋग्वेद में इसका बहुशः उल्लेख है (१।६२।१,१।७८।३, २।१७।१, ६।४६।११)। इसी प्रकार मनुस्वत् का उल्लेख ऋग्वेद में निम्न स्थलों में है—१।४४।११, ४।३०।३, ५।५१।१, ७।२।३, ८।४३।२७, १०।७०।८। अत्रिवत् के उदाहरण ५।४।६, ५।७।८, ५।२२।२१, ५।५१।८–१० में पाये जाते हैं और जमदग्निवत् के ६।९७।५१में। अनेक स्थलों में कई नामों का इकट्ठा प्रयोग है, जैसे ऋ० १।३१।१७ में मनुस्वत्, अंगिरस्वत्, और ययातिवत्, ऋ० १।४५।३ में प्रियमेधवत्, अत्रिवत्, विरूपवत् और अंगिरस्वत्, ऋ० ७।९६।३ में जमदग्निवत्, ८।४०।१२ में मान्धातृवत्, अंगिरस्वत्, पितृवत्, ८।४३।१३ में भृगुवत्, मनुस्वत्, अंगिरस्वत्। इन सबमें अपने वर्तमान कार्य की प्राचीन व्यक्तियों के तत्सदृश कार्यों से तुलना करते हुए उसे प्रभावशाली और गौरवपूर्ण बनाने का प्रयत्न है।

उपर्युक्त उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं, पहली तो यह कि ययाति, प्रियमेध, मनु और अथर्वा (अथर्व. १।१४।४) के अपवादों को छोड़ कर सर्वत्र प्रायः उन्हीं ऋषियों का नामोल्लेख है, जो प्रवरों में पाये जाते हैं। दूसरी यह कि इन उदाहरणों में ऐसे ऋषियों को भी एक साथ गिना दिया गया है, जो प्रवरों में पृथक् रूप से पठित हैं। केवल ऋग्वेद के पांचवें मण्डल में अत्रिवत् के उदाहरण परवर्ती प्रवरपद्धति से थोड़ा सादृश्य रखते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय प्रवरपद्धति बीज रूप में विद्यमान थी।

प्रवर पद्धति के वैदिक निर्देश

ऋग्वेद के दो स्थल वैदिक युग में प्रवर पद्धति के स्पष्ट प्रमाण हैं। आठवें मण्डल के एक मन्त्र (१०२।४) में और्व, भृगु और आप्नवान् की भांति अग्नि के आह्वान का पहले वर्णन हो चुका है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी सूक्त में प्रवर विधि से सादृश्य रखने वाले अनेक अंश हैं यद्यपि ये ऋग्वेद के अग्नि-विषयक अन्य सूक्तों में भी पाये जाते हैं, किन्तु इनका यहाँ पाया जाना केवल आकस्मिक नहीं है। इस सूक्त (८।१०२) का दूसरा मन्त्र तैत्ति० संहिता के देवान्यक्षत् (तै० सं० २।५।११) से मिलता है। १७ वें, १८ वें मन्त्र में हव्यवाह अग्नि का वर्णन परवर्ती आहवनीय अग्नि (तै० सं० २।५।८।६–७)

३४ अथर्व २।३२।३, ५।२३।१० अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्। अगस्त्यस्य ब्रह्मणा संपिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥

से सादृश्य रखता है। इस सूक्त के विनियोग का अवसर अग्नि को जलाने में है (मंत्र २२)। पहले यह बताया जा चुका है कि प्रवर का सम्बन्ध सामिधेनी ऋचाओं से है। यह सूक्त परवर्ती प्रवरविधि का मूल या बीज प्रतीत होता है। ऐसे ही सूक्तों से बाद में सामिधेनी ऋचाएँ निकाली गयीं। ब्रफ के शब्दों में संभवतः प्रवर का प्राचीन रूप सामिधेनी सूक्त में ही था।

ऋग्वेद में प्रवर का दूसरा उदाहरण खिल सूक्तों में सुमेषज सूक्त (ऋ० १०।१५१ के बाद) है। इसके दूसरे मन्त्र में कहा गया है—"अग्नि निश्चित रूप से हमारा दूत है, हव्य ले जाने वाला है, वह देवताओं को इस यज्ञ में यहाँ लाये, वह विप्र, अलंकृत, यज्ञ, पूजनीय और कवि है, वह अप्नवान्, और्व, भृगु और जमदग्नि की भाँति कार्य करे।"[१६] इस मन्त्र में परवर्ती प्रवर विधि से सादृश्य रखने वाले वाक्यांश "अग्निर्नो दूतो, हव्यवाड्, देवान् आवक्षद्" हैं। इस सूक्त में पढ़े गये नाम बाद के प्रवरों से बड़ी समानता रखते हैं, इसमें केवल च्यवन का नाम नहीं है। यह सूक्त हमें अपूर्ण रूप में मिलता है, संभवतः इसके प्राचीन पूर्ण रूप में ऐसा पाठ रहा हो।[१७] इससे यह स्पष्ट है कि उस समय प्रवर पद्धति निर्माणावस्था में थी।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण जामदग्न्य भृगु गोत्र से सम्बन्ध रखते हैं। सूत्र साहित्य में सर्व प्रथम इसी गोत्र का वर्णन आता है। इन दोनों बातों से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सामिधेनी ऋचाओं में प्रवर के प्रयोग को विकसित करने वाले पहले व्यक्ति भृगु वंश के थे। यह तथ्य इस बात से भी पुष्ट होता है कि वैदिक साहित्य में अग्नि सम्बन्धी कर्मकाण्ड से भृगुओं का विशेष सम्बन्ध बताया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए ब्रफ ने यह परिणाम निकाला है कि प्रवर पद्धति आरम्भिक ब्राह्मण काल से पहले विकसित हुई। इसका विकास ऋग्वेद के पिछले सूक्तों के समय हुआ।[१८]

अथर्ववेद के दो स्थलों से यह प्रतीत होता है कि उस समय इस पद्धति का काफी विकास हो चुका था। अथर्व १८।३।१४–१६ में पितृमेध सूक्त के मध्य में कण्व, कक्षीवन्त, अत्रि गोत्र के आत्रेय, आर्चनानस, श्यावाश्व; अगस्ति गोत्र के आगस्त्य, माहेन्द्र, वाध्र्योश्व; कश्यप के काश्यप, आवत्सार, आसित; वसिष्ठगोत्र के कुण्डिनों के वसिष्ठ,

१६ ध्रुवं अग्निर्नो दूतो रोदसी हव्यवाड् देवान् आवक्षदध्वरे विप्रो दूतः परिष्कृतो यक्षो यजनीयः कविः अप्नवानवद् और्ववद् भृगुवज्जमदग्निवत्

१७ ब्रफ—पू० पु०, पृ० २२–२३ ब्रफ के कथनानुसार यह खिलसूक्त उस समय का है जब ऋग्वेद का निर्माण लगभग पूरा हो चुका था, पर यजुर्वेद को निश्चित रूप नहीं मिला था।

१८ ब्रफ—पू० पु०, पृ० २४

पुरुमीढ, अगस्त्य, श्यावाश्व, सोभरि, अर्चनाः, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वामदेव, वसिष्ठ, भारद्वाज और गौतम का उल्लेख है। ये सब पूर्वजों के रूप में स्मरण किये गये हैं। इनमें सोभरि तथा पुरुमीढ के अतिरिक्त सभी मुख्य गोत्रों या उनके गणों में उल्लिखित हैं। इससे बड़ी सूची अथर्व. ४।२९।३–६ में पायी जाती है। यह इस प्रकार है—अंगिरा, आगस्त्य, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, श्यावश्व, वध्र्यश्व (पुरुमीढ), अत्रि (विमद, सप्तवध्रि), भारद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवत, कण्व, (मेधातिथि, त्रिशोक), उशना (काव्य), गौतम, मुद्गल। इनमें कोष्ठों में दिये नामों के अतिरिक्त शेष सभी परवर्ती प्रवराध्यायों में पाये जाते हैं। यह तथ्य उस समय प्रवर पद्धति के विकास को सूचित करता है।

प्रवर चुनने की स्वतंत्रता

करन्दीकर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि वैदिकयुग में व्यक्ति को अपना प्रवर या ऋषि चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वत्र "आर्षेयं प्रवृणीते" (आर्षेय को चुनता है), का वाक्य मिलता है। प्रवर शब्द का मूल वरणार्थक वृ धातु है। प्राचीन प्रवर वंश-परम्परा सम्बन्ध का द्योतक नहीं, किन्तु कर्मकाण्ड के विशिष्ट सम्प्रदायों का बोधक था।[39] करन्दीकर की यह कल्पना निम्न कारणों से ठीक नहीं प्रतीत होती।

प्रवर का मूल अर्थ विशेष प्रार्थना है, प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग प्रवर के ऋषियों के लिए नहीं, किन्तु अग्नि के लिए हुआ है। प्रवरमंजरी में इस पर विशद विचार करते हुए कहा गया है कि 'वृणीते' का कर्म अग्नि है, न कि ऋषियों के नाम।[40] तै. सं. के एक प्रसिद्ध संदर्भ में इसी प्रकार का प्रयोग है। इसमें कहा गया है कि तीन अग्नियाँ हैं—देवों तक हवि ले जाने वाली, पितरों को उनका भाग पहुँचाने वाली तथा असुरों के साथ रहने वाली। ये तीनों यह कहती हैं कि वह मुझे चुनेगा। वह कहता है—हव्य का वहन करने वाली अग्नि को चुनो, वह देवों की अग्नि को चुनता है, वह ऋषियों के साथ सम्बन्ध को नहीं छोड़ता और यह उसके नैरन्तर्य या स्थिरता को बढ़ाती है।[41] यह प्रवर पद्धति का एक प्रधान संदर्भ है, इससे यह स्पष्ट है कि चुनाव अग्नि का है, ऋषि के नामों का नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वरण शब्द चुनने का अर्थ देने वाली वृ धातु से बना है। किन्तु इसके प्रयोग के सम्बन्ध में हमें वैदिक भाषा की प्रवृत्ति का भी ध्यान रखना

३९ हिन्दू एक्सोगेमी, पृ० ५६–५९

४० प्रवरमंजरी, पृ० ६–८

४१ तै. सं. २।५।८

चाहिए। वेदों में भक्त अनेक बार यह कहता है—हे अग्नि, हम तेरा वरण करते हैं। यहाँ वरण का यह अर्थ नहीं है कि हम अनेक देवताओं में से अग्नि को चुनते हैं, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि हम अग्नि की शरण में जाते हैं या उसकी उपासना करते हैं। अग्नि के वरण का यह तात्पर्य नहीं है कि भक्त किसी अन्य देवता को भी चुन सकता था। 'वृणीते' का प्रयोग उपासना के अर्थ में होना चाहिए, चुनाव के अर्थ में नहीं।[४२]

शतपथ ब्राह्मण (१।४।२।३) में वृणीते के स्थान पर प्रवृणीते का प्रयोग[४३] उपर्युक्त धारणा को पुष्ट करता है। प्रवृणीते शब्द का चुनने के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे संज्ञाओं को क्रियाओं (धातुओं) के रूप में प्रयुक्त करते हैं।[४४] प्रवृणीते इसका सुन्दर उदाहरण है। यह प्रवर शब्द से बनायी गयी धातु (क्रिया) है और इसका अर्थ है कि यह प्रवर का पाठ करता है। इस अर्थ की पुष्टि उपर्युक्त संदर्भ में अर्वाक् शब्द से भी होती है, क्योंकि इस अर्थ में यह क्रिया अकर्मक होगी। इसीलिए तै. सं. (२।५।८) के कर्मवाची 'अर्वाचः' के स्थान पर शतपथ ब्राह्मण में इस संदर्भ में 'अर्वाक्' अव्यय का प्रयोग हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण का यह स्थल प्रवर के वंशमूलक होने का भी निर्देश करता है। इसके उत्तरार्ध का अनुवाद इस प्रकार है—"वह प्रवर को परले छोर से इस ओर तक पढ़ता है, क्योंकि वंश का विस्तार दूर के सिरे से इस ओर तक होता है, इस प्रकार वह अपने को बड़े लोगों के स्वामी के (कोप से) छुपाता है। यहाँ पिता सबसे पहले, पुत्र उसके बाद और पौत्र उसके बाद आता है, अतः वह प्रवर का पाठ परले छोर से इस ओर तक करता है।" इसमें पिता-पुत्र की उपमा से यह स्पष्ट है कि प्रवर याज्ञिक कर्मकाण्ड के सम्प्रदाय मात्र नहीं थे किन्तु कुछ अंशों में वंशसूचक भी अवश्य थे।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए करन्दीकर की यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती है कि प्रवर शब्द का अर्थ यह सूचित करता है कि यजमान को अपना प्रवर चुनने में पूरी स्वच्छन्दता थी और प्रवर याज्ञिक सम्प्रदाय मात्र हैं, वंश परम्परा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[४५]

वैदिक युग के आरम्भ में बीज रूप में पायी जाने वाली पद्धति इस युग के अन्त तक काफी विकसित हो गयी थी। ऊपर बताये गये आश्वलायन, आपस्तम्ब और बौधा-

४२ ब्रफ—प्र० पु० पृ० १५
४३ शतपथ ब्राह्मण १।४।२।३
४४ उदाहरणार्थ किसी वस्तु को घी के साथ मिलाकर तैयार की गयी हवि को सांनाय्य कहते हैं, इस प्रकार की हवि देने के लिए सन्नयति का प्रयोग होता है, अभ्याधान के लिए आदधाति क्रिया रूप का प्रयोग होता है—ब्रफ—प्र० पु०, पृ० १५
४५ इस विषय में विस्तृत विवेचन के लिए दे० ब्रफ—प्र० पु०, पृ० १०–१६

यन के प्रवराध्याय और गोत्रों की सूचियाँ इस तथ्य को भली भाँति पुष्ट करती हैं। पहले आठ बड़े गोत्रों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ इन सूचियों की कुछ विशेष बातों का उल्लेख किया जायगा।

आठ गोत्रों में से विस्तार की दृष्टि से भृगु तथा अंगिरागण उल्लेखनीय हैं। भृगु दो प्रकार के हैं—जामदग्न्य और अजामदग्न्य। जामदग्न्य भृगुओं के पुनः दो प्रकार हैं:—(क) वत्स तथा बिद जामदग्न्य कहलाते हैं, (ख) आर्ष्टिषेण, यस्क, मित्रयु, वैन्य और शुनक केवलभृगु कहलाते हैं। बौधायन के अनुसार वत्स, बिद और आर्ष्टिषेणों के प्रवर में पाँच ऋषियों का नाम होता है, ये परस्पर विवाह नहीं कर सकते। अंगिरागण के तीन विभाग हैं—गौतम, भरद्वाज और केवलांगिरस। गौतम के सम्बन्ध में बौधायन और वैखानस की तथा आपस्तम्ब, कात्यायन आदि की सूची में बहुत अन्तर है। पहली सूची के अनुसार गौतम गोत्र के सात विभाग या गण हैं और दूसरी सूची के अनुसार दस।[४६] बौधायन के मत में भारद्वाजों के चार ही भेद हैं—भरद्वाज, रौक्षायण, गर्ग और कपि। आपस्तम्ब, आश्वलायन और कात्यायन इनमें शुंग, शैशिरि का भी उल्लेख करते हैं।[४७] केवलांगिरस के उपविभाग हारीत, कण्व, रथीतर, विष्णु वृद्ध, मुद्गल और संस्कृति हैं। अत्रि बहुत छोटा गोत्र है, उसके उपविभाग केवल चार (अत्रि, वाद्भूतक, गविष्ठिर, तथा मुद्गल हैं। विश्वामित्र गोत्र विविध सूत्रकारों के अनुसार उन्नीस उपविभागों में बँटा हुआ है। कश्यप गोत्र के पाँच उपविभाग निध्रुव कश्यप, रेभ, शण्डिल, लौगाक्षि और शांखमित्र हैं। वसिष्ठ गोत्र निम्न सात उपभेदों में बँटा हुआ है—वसिष्ठ, कुण्डिन, उपमन्यु, पराशर, जातुकर्ण्य, संकृति पूतिमाष, लोहित्य। अगस्त्य गोत्र के सात उपभेद ये हैं—इध्मवाह, सोम्भवाह, सोमवाह, यज्ञवाह, अगस्ति, पौर्णमास और हिमोदध।[४८] आठ गोत्रों के इन सब उपविभागों या गणों में प्रायः प्रत्येक में अनेक गोत्र हैं और इनके नामों और संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न प्रवरसूचियों में बड़ा मतभेद है।[४९]

सगोत्रता और समानप्रवरता दोनों पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विवाह में बाधक होती हैं। वधू के लिए असगोत्रा होने के साथ-साथ असमानप्रवरा होना भी आवश्यक है। गोत्र की समानता न होने पर भी यदि वर-वधू का प्रवर एक है तो विवाह नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रवर की समानता न होने पर भी यदि दोनों का गोत्र एक है तो परिणय संभव नहीं है। उदाहरणार्थ, यस्क, वाधूल, मौन और मौक गोत्रों के नामों में भिन्नता होते हुए भी विवाह नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबका प्रवर एक ही अर्थात्

४६ ब्रफ—पू० पु०, पृ० ३२-३३
४७ वही, पृ० ३३
४८ वही, पृ० ३७
४९ इसका विस्तृत विवेचन ब्रफ की उपर्युक्त पुस्तक में पृ० ७६-१६४ पर है।

भार्गव वैतहव्य सावेतस है।[५०] प्रवर में एक, दो, तीन या पाँच ऋषियों के नाम होते हैं। अब यह कहा जाता है कि प्रवर की समानता नहीं होनी चाहिए, तो उसका यह अर्थ होता है कि दो प्रवरों में एक ही ऋषि की समानता पर्याप्त होती है, इसमें केवल भृगु, अंगिरागण ही अपवाद हैं। बौधायन के शब्दों में तीन ऋषियों के नाम वाले प्रवरों में दो ऋषियों के नामों का सादृश्य होने से, पाँच ऋषियों के नाम वाले प्रवरों में दो ऋषि-नामों की समानता होने से विवाह नहीं हो सकता।

एक ऋषिनाम की समानता से भी सगोत्रता होती है किन्तु भृगु और अंगिरा गणों में यह नियम नहीं लागू होता। इन दोनों गणों में पाँच ऋषियों के नाम वाले प्रवर में तीन ऋषियों की तथा तीन ऋषियों वाले प्रवर में दो ऋषियों की समानता से विवाह नहीं हो सकता। पहले बताये गये वत्स, विद और आर्ष्टिषेण गोत्रों के पाँच ऋषियों के प्रवर में तीन ऋषि नाम—भार्गव, च्यावन, आप्नवान एक जैसे हैं, अतः इनमें विवाह नहीं हो सकता।

प्रवर में ऋषियों की संख्या

अधिकांश गोत्रों के प्रवर, त्र्यार्षेय अर्थात् तीन ऋषियों के नाम वाले हैं। कुछ गोत्र एकार्षेय, द्व्यार्षेय और पंचार्षेय भी हैं। एक ऋषि वाले मुख्य प्रवर निम्न हैं—आपस्तम्ब, आश्वलायन और वैखानस के अनुसार मित्रयु गोत्र का प्रवर वाध्र्यश्व है।[५१] वसिष्ठ गोत्र के अन्तर्गत उसके एक उपभेद वसिष्ठ का प्रवर भी एकार्षेय वसिष्ठ है। बौधायन तथा वैखानस शुनक का शौनक तथा आपस्तम्ब और कात्यायन गृत्समद का गृत्समद प्रवर कहते हैं। इध्मवाहों का प्रवर आपस्तम्ब के अनुसार आगस्त्य है।[५२] विश्वामित्र गोत्र के अनेक गणों के प्रवर द्व्यार्षेय या दो ऋषियों के नाम वाले हैं, जैसे—पूरण वारिधापयन्त (वैश्वामित्र और पौरणा, बौधायन के अनुसार) हिरण्यरेतस् (वैश्वामित्र, हैरण्यरेतस), मानवधर्मसूत्र के अनुसार, सुवर्णरेतस, कपोतरेत, घृतकौशिक के वैश्वामित्र के अतिरिक्त हैरण्यरेतस, सौवर्णरेतस्, कपोतरेतस घार्तकौशिक प्रवर, अष्टकलोहित के वैश्वामित्र और अष्टकलोहित्य (आश्वलायन के अनुसार)। तीन ऋषियों वाले प्रवरों की संख्या बहुत अधिक है। अत्रि, अगस्त्य, कश्यप, वसिष्ठ, विश्वामित्र, केवलांगिरस, भरद्वाज और गौतमकेवल गोत्रों के अधिकांश गणों के प्रवर त्र्यार्षेय हैं, उदा०

५० आश्वलायन, प्रवरमंजरी (वे. प्रे. पृ० २८)

५१ ब्रफ—पू० पु० पृ० २५ आश्वलायन के अनुसार इसके तीन ऋषि (वैश्वामित्र, गाधुच्छन्दस, आष्टक) हैं।

५२ आश्वलायन और कात्यायन के अनुसार अजामदग्न्य वत्सों का प्रवर त्र्यार्षेय (भार्गव, और्व, जामदग्न्य) है (ब्रफ—पू० पु० पृ० ३१)

मैत्रावरुण और कौण्डिन्य; विश्वामित्र गोत्र के वैश्वामित्र, देवरात, औदल, केवलांगिरस के हारीत गोत्र के आंगिरस, आम्बरीस, यौवनाश्व; भरद्वाज के आंगिरस, बार्हस्पत्य, भारद्वाज; गौतम गोत्री आयास्य के आंगिरस, आयास्य, गौतम; केवल भृगु गोत्री यस्कों के भार्गव, वैतहव्य, सावेतस।

चार ऋषि नामों वाले प्रवर नहीं होते। पांच ऋषि नामों वाले पंचार्षेय प्रवरों के प्रसिद्ध उदाहरण भृगु (जमदग्नि) गोत्र के निम्न गण हैं—वत्स (बौधायन के अनुसार), भार्गव, च्यावन, आप्नवान्, और्व, जामदग्न्य; विद (भार्गव, च्यावन, आप्नवान्, और्व, वैद); आर्ष्टिषेण (भार्गव, च्यावन, आप्नवान्, आर्ष्टिषेण, आनूप); वैदाभिमार्षेत वत्स-पुरोधस और वैद। विश्वज्योति में भार्गव, च्यावन, आप्नवान् के अतिरिक्त क्रमश: वैद और वैणधित, वत्स और पौरोधस तथा वैद और विश्वज्योतिष प्रवर हैं।[५३]बौधायन और वैखानस धर्मसूत्र के अनुसार गौतम गोत्र के कौमण्ड और दीर्घतमा गणों के प्रवर आंगिरस, औचथ्य, काक्षीवत और गौतम नामक चार सामान्य ऋषियों के साथ-साथ कौमण्ड और दैर्घतमस नामक पांचवें ऋषि नाम वाले भी हैं। भरद्वाज गोत्र के मैक्षामण और गर्ग गोत्र के प्रवर भी पंचार्षेय हैं, इनमें दोनों के तीन ऋषि आंगिरस, बार्हस्पत्य और भारद्वाज तो एक जैसे हैं, शेष दोनों क्रमश: शान्दन और मातवचस तथा शैन्य और गार्ग्य हैं। आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार एक प्रवर में तीन से अधिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं होने चाहिए,[५४] अत: प्रवर में ऋषियों की संख्या मर्यादित है। किन्तु गोत्रों में ऐसी कोई पाबन्दी न होने से इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती चली गयी।

प्राचीन सूत्रकार उपर्युक्त गोत्रों के प्रवरों के ऋषियों की संख्या तथा नामों में बहुत मतभेद रखते थे। सबसे अधिक मतभेद संभवत: कश्यप गोत्र के शाण्डिल्य गण के सम्बन्ध में है, बौधायन और वैखानस धर्मसूत्र के अनुसार इसके प्रवर में काश्यप, आवत्सार और शाण्डिल्य ऋषि हैं; आश्वलायन के अनुसार शाण्डिल्य आसित और दैवल; मानव, कात्यायन और लौगाक्षि के अनुसार काश्यप, आसित और दैवल। किन्तु आपस्तम्ब श्रौतसूत्र इसके प्रवर में दो ऋषि नाम ही मानता है—दैवल और आसित।[५५]

द्विगोत्र कुल—कुछ परिवार द्विगोत्र अर्थात् दो गोत्रों से सम्बन्ध रखने वाले माने गये हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र ने इन्हें द्विप्रवाचन कहा है।[५६] कात्यायन और

५३ ये सब उदाहरण ब्रफ की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २१–२७ से लिये गये हैं।
५४ आप. श्रौ. सू. २४।५–६
५५ ब्रफ—पू० पु०, पृ० ३६
५६ प्रवरमंजरी (वे. प्रे.) पृ० ४५

लौगाक्षि इन्हें द्व्यामुष्यायण कुल कहते हैं।[५७] ऐसे कुलों में तीन उल्लेखनीय हैं—शौंग शैशिरि, लौगाक्षि और सङ्कृति। भरद्वाज गोत्र का एक उपविभाग शुंग है, इस गोत्र के एक पुरुष ने नियोग द्वारा विश्वामित्र गोत्र के एक उपविभाग शैशिरि गोत्र की स्त्री से एक पुत्र उत्पन्न किया, दो गोत्रों से सम्बन्ध रखने के कारण यह पुत्र शौंग शैशिरि कहलाया। भरद्वाज और विश्वामित्र गोत्रों के साथ सम्बन्ध होने के कारण इस कुल के व्यक्ति इन दोनों गोत्रों में विवाह नहीं कर सकते। आप० और आश्व० के अनुसार इसका प्रवर आंगिरस—बार्हस्पत्य भारद्वाज, कात्य-आत्कील है। कात्यायन और लौगाक्षि तथा मानव सूत्र के अनुसार यह आंगिरस—बार्हस्पत्य भरद्वाज-शौंग शैशिरि है। इन प्रवरों में पहले तीन तो भरद्वाज गोत्र के ऋषि है और कात्य या आत्कील विश्वामित्र गोत्र से लिये गये हैं। लौगाक्षि बड़ा मनोरंजक द्विगोत्र है, यह वसिष्ठ और कश्यप गोत्रों से सम्बद्ध है। बौधायन, कात्यायन, वैखानस और मानव तथा मत्स्यपुराण के अनुसार इनके प्रवर में तीन ऋषि है, इनमें से दो काश्यप और आवत्सार कश्यप गोत्र के है और तीसरा ऋषि वसिष्ठ गोत्र का है। (प्रव—पू० पु०, पृ० ३६)। बौधायन के कथनानुसार ये दिन में वसिष्ठ और रात में कश्यप गोत्र के होते हैं।[५८] इस विचित्र व्यवस्था की दो व्याख्यायें की गयी हैं, अभिनवमाधवाचार्य ने 'गोत्र प्रवर निर्णय' में लिखा है कि लौगाक्षि जन्मना कश्यप की सन्तान हैं, किन्तु उनका उपनयन वसिष्ठ ने किया है। इनका जन्म रात्रि में हुआ, अतः रात को उनका गोत्र कश्यप होता है। उपनयन दिन में हुआ, अतः दिन में उनका गोत्र वसिष्ठ होता है।[५९] दूसरी व्याख्या स्मृत्यर्थसार की है, इसके अनुसार इसका कारण यह है कि दिन में वे वसिष्ठ सम्प्रदाय की पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रयाजों की विधि करते हैं और रात को कश्यपों की पद्धति के अनुसार।[६०] लौगाक्षियों का दोनों गोत्रों में विवाह वर्जित है।[६१] सङ्कृति और पूतिमाष नामक दो गोत्र अंगिरा गण और कश्यप गोत्रों के उपभेदों में पढ़े गये है। आपस्तम्ब सूत्र ने इन्हें वसिष्ठगण में पढ़ा है अतः सङ्कृति अंगिरा, कश्यप और वसिष्ठ गोत्रों में विवाह नहीं कर सकते।[६२]

अभी तक ब्राह्मणों के गोत्रों का ही वर्णन किया गया है, अब अन्य वर्णों के गोत्रों का उल्लेख होगा।

५७ प्रवरमंजरी—वही
५८ प्रवरमंजरी, पृ० [illegible]
५९ गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब (वे. प्रे.) पृ० २६६
६० स्मृत्यर्थसार, पृ० १५
६१ वही पृ० ५
६२ गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब, पृ० २६६

क्षत्रियों के गोत्र

संभवतः इनके गोत्र और प्रवर का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (३४।७) में आया है, वहाँ यह प्रश्न किया गया है कि यज्ञ में दीक्षित होते हुए क्षत्रिय का प्रवर क्या कहा जाय। इसका उत्तर यह दिया गया है कि क्षत्रिय का प्रवर उसके ब्राह्मण पुरोहित का ही प्रवर होता है। आश्वलायन और कात्यायन श्रौतसूत्रों में इस विषय में दो व्यवस्थाएँ की गयी हैं—(१) वे अपने पुरोहितों के प्रवर ले सकते हैं, (२) सब क्षत्रियों का प्रवर मानव ऐल पौरूरवस होता है।[३०] मेधातिथि ने आश्व० श्रौत सूत्र (१।३) के आधार पर गोत्र और प्रवर का भेद केवल ब्राह्मणों में ही माना है। मिताक्षरा में कहा गया है कि क्षत्रियों, वैश्यों के अपने विशेष गोत्र नहीं होते, अतः इनके विवाहों में इनके पुरोहितों के गोत्रों को ही इनका गोत्र समझना चाहिए।[३१] अन्य निबन्धकारों ने इसका समर्थन किया है। किन्तु प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में क्षत्रियों के विशिष्ट गोत्रों का बहुत वर्णन मिलता है।

महाभारत में विराट् के दरबार में छद्मवेषी युधिष्ठिर ने अपना गोत्र वैयाघ्रपाद बताया है (विराट पर्व ७।८।१२)। पाण्डवों के इस गोत्र की पुष्टि माघ मास की सुदी अष्टमी को किये जाने वाले भीष्म के तर्पण-सम्बन्धी मन्त्र से होती है, क्योंकि उसमें उसका गोत्र वैयाघ्रपाद और प्रवर सांकृति दिया गया है।[३२] अभिलेखों में कांची के पल्लवों का गोत्र प्रायः भारद्वाज और चालुक्यों का मानव्य बताया गया है।[३३] ११७६ ई० के जयचन्द्रदेव के एक ताम्रपत्र में एक क्षत्रिय को वत्स गोत्र का तथा भार्गव च्यवनाप्नवान और्व जामदग्न्य प्रवर का कहा गया है।[३४] चन्देल राजा त्रैलोक्य वर्मा के एक दानपत्र में रौत सामन्त नामक क्षत्रिय के भरद्वाज गोत्र के होने का वर्णन है।

[३०] प्रवरमंजरी, पृ० ९०

[३१] याज्ञ० १।५२, उद्वाहतत्त्व (पृ० १११) ने यही मत स्वीकार किया है। संस्कार कौस्तुभ ने इस व्यवस्था के अनेक कारण दिये हैं (पृ० ६८९–६९०)।

[३२] स्मृतिचन्द्रिका, खण्ड १, पृ० १९८

[३३] एपि. ई. खं १ पृ० ५, वही खं. ६, पृ० ३३७

[३४] इं. ए. खं १८, पृ० १३६–३८। काणे ने हि. ध. खं० २, भाग १, पृ० ४९४ पर इस प्रकार के अनेक अभिलेखों का निर्देश किया है।

वैश्यों के गोत्र और प्रवर

इस विषय में वैश्यों की स्थिति क्षत्रियों से मिलती है। प्राचीन सूत्रकारों ने उनके गोत्र और प्रवर या तो उनके पुरोहितों के गोत्रों और प्रवरों के अनुसार माने हैं या समूचे वैश्य वर्ण के लिए एक ही प्रकार के गोत्र-प्रवरों का उल्लेख किया है। आपस्तम्ब के अनुसार वैश्य एकार्षेय है, उनका प्रवर वात्सप्री है। बौधायन उनका प्रवर त्र्यार्षेय मानता है, इसके तीन ऋषि भालन्दन, वात्सप्री और मांकील हैं।[७५]

किसी व्यक्ति को अपना गोत्र याद न होने की दशा में आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था की है कि वह अपने आचार्य (वेद का अध्ययन कराने वाले गुरु) का गोत्र ग्रहण करे।[७६] गुरु का गोत्र ग्रहण करने पर वह उस गोत्र वाली गुरुकन्या से ही विवाह नहीं कर सकता, पर उस गोत्र की अन्य कन्याओं से विवाह करने का निषेध नहीं है।[७७] संस्कार-प्रकाश में यह भी कहा गया है कि यदि अपने गोत्र का ज्ञान न हो तो अपने को काश्यप गोत्र का कहना चाहिए।[७८]

धर्मसूत्र और सगोत्र विवाह

सूत्रग्रन्थों में सर्वप्रथम बौधायन ने सप्रवर तथा सगोत्र कन्या के साथ विवाह का निषेध किया है। वह निषेध से सन्तुष्ट नहीं है, अपितु सगोत्र के साथ शादी करने को पाप समझता है, इसके लिए प्रवराध्याय में चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था करता है। उसके मत में व्रत समाप्त होने पर वह उस सगोत्रा स्त्री का वैसे ही त्याग न करे, जैसे माता या बहिन को नहीं छोड़ा जाता है। यदि उससे कोई पुत्र उत्पन्न होता है तो उसे कोई पाप नहीं लगता। उस पुत्र का गोत्र काश्यप होता है।[७९] किन्तु बौधायन धर्मसूत्र (२।१।३८) पत्नी को केवल छोड़ने का तथा माता की तरह पालने का विधान करता है और चान्द्रायण व्रत का विधान नहीं करता। यदि पुत्र हो जाय तो कृच्छ्र उपवास की व्यवस्था करता है। बौधायन धर्मसूत्र का विधान प्रवराध्याय की अपेक्षा नरम है, क्योंकि चान्द्रायण व्रत

७५ प्रवरमंजरी पृ० ६०, सं. प्र. (पृ० ६५६) के अनुसार वैश्यों का भालन्दन गोत्र होता है—वैश्या भालन्दनाद्यास्तेषां भालन्दनो गोत्रम्।

७६ प्रवरमंजरी, पृ० ६१

७७ सं. प्र. पृ० ५६०—तेषां त्वाचार्यकन्यामात्रं निषिद्धं न सर्वास्तद्गोत्राः।

७८ वही—गोत्रस्य त्वपरिज्ञाने काश्यपं गोत्रमिष्यते। इस गोत्र का प्रयोग विवाह से अतिरिक्त श्राद्धादि विषयों में ही समझना चाहिए। मि. स्मृच. श्राद्ध कां. पृ० ४८१, प्रवर का ज्ञान न होने पर जमदग्नि के प्रवर से काम चलाया जा सकता है।

७९ प्रवरमंजरी, पृ० ६७

४० दिन चलता है और कृच्छ्र केवल १२ दिन। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि बौधायन से पुराने सूत्रग्रन्थ इस विषय में मौन हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र के अन्तिम अध्यायों में प्रवरों का वर्णन है, पर वह सत्रों या १२ दिन से अधिक चलने वाले यज्ञों के सम्बन्ध में है, विवाह के विषय में नहीं। इसके परिशिष्ट भाग में अवश्य इसका वर्णन है, किन्तु यह परिशिष्ट बाद का लिखा हुआ है। आश्वलायन गृह्य सूत्र १।५।५ में वधू के चुनाव के बारे में नियम दिये हुए हैं किन्तु इनमें असगोत्रता के नियम का उल्लेख नहीं है। एक ऐसे नियम का, जिसका भंग किये जाने पर बाद में कृच्छ्र और चान्द्रायण जैसे कठोर प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गयी, आश्वलायन में सर्वथा न पाया जाना बड़े आश्चर्य का विषय है। काठक गृह्यसूत्र (१४।३।४) और पारस्कर गृह्यसूत्र सगोत्रता के विषय में मौन हैं।[८०] वधू के चुनाव में इस नियम की चर्चा न करना, क्या यह बात सूचित नहीं करता कि उस समय तक आर्यों में इस प्रथा का पूरी तरह प्रचलन नहीं हुआ था।

धर्मसूत्रकारों में वसिष्ठ, आपस्तम्ब, बौधायन और गौतम ने इस विषय में विभिन्न विधान किये हैं। वसिष्ठ केवल यही कहता है कन्या का भिन्न गोत्र (८।१) हो।[८१] प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हुए उसने अगम्या स्त्रियों की जो सूची दी है (२०।८) उसमें सगोत्रा का उल्लेख नहीं है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में, वधू के चुनाव के प्रकरण में गोत्र की कोई शर्त नहीं दी गयी। किन्तु धर्मसूत्र में केवल इतना ही कहा है कि सगोत्र को अपनी लड़की न दे (२।५।११।१५)। इस नियम का भंग करने पर कोई दण्ड नहीं बतलाया गया है। बौधायन के विधान का उल्लेख ऊपर हो चुका है। किन्तु गौतम ने धर्मसूत्रों में गोत्र के नियम को सबसे अधिक उग्रता से प्रतिपादित किया है। समान प्रवर में और एक गोत्र में विवाह को वह गुरुतल्पारोहण के समान पाप समझता है (गौ. धर्म सूत्र ४।२, २३।१२)। गुरुतल्पारोहण महापातकों में से है। बौधायन ने सगोत्र विवाह को पातक या महापातक नहीं समझा था किन्तु इस पाप के लिए कृच्छ्र प्रायश्चित्त की व्यवस्था की। किन्तु गौतम इससे सन्तुष्ट नहीं है, वह इसे महापातक से कम मानने को तैयार नहीं है।

गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के गोत्र विषयक विचारों की तुलना करने से स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रों के समय गोत्र के नियम को महत्ता नहीं मिली थी, धर्मसूत्रों के समय उसे महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा और उसके भंग के लिए क्रमशः कठोर विधान बनने लगे। वसिष्ठ उसे प्रायश्चित्त योग्य अपराध नहीं समझता, बौधायन कृच्छ्र प्रायश्चित्त से इस

८० हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (१।१९।२), मानव, गृह्यसूत्र (१।७।८) और गोभिल गृह्य सूत्र (३।४।४) में सगोत्रता के नियम का उल्लेख है।

८१ वसिष्ठ ध. सू. ८।१, आप. ध. सू. २।५।११।१५, गौ. ध. सू. ४।२, मि० याज्ञ० स्मृति ३।२३१, नारद स्मृति १२।७४ तथा बृहद्यम (गौ. ध. सू. २३।१२ की टीका में हरदत्त द्वारा उद्धृत)।

पाप की शुद्धि मानता है और गौतम इसे महापाप मानता है। जिस बात को गृह्यसूत्रों के समय मामूली समझा जाता था, वह गौतम के समय महापाप क्यों बन गयी? इसी प्रश्न के उत्तर में गोत्र के उद्‌गम का इतिहास छिपा पड़ा है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के समय के बीच में ८ वी शती ई० पू० में इस प्रथा का आरम्भ होना प्रतीत होता है। अब यहाँ गोत्र की उत्पत्ति के विषय में कुछ प्रसिद्ध भारतीय मतों एवं योरोपियन विद्वानों की कल्पनाओं की समीक्षा की जायगी।

गोत्रप्रथा की उद्‌गम सम्बन्धी भारतीय कल्पना

मत्स्य पुराण में कहा गया है कि एक बार ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे, इस यज्ञ से भृगु, अंगिरा, मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु और वसिष्ठ उत्पन्न हुए (१९५।८)। किन्तु आजकल गोत्रों की जो सूचियाँ पायी जाती है उनमें क्रतु, पौलह और पौलस्त्य अगस्त्य गोत्र के उपभेद या गण में उपलब्ध होते है, स्वतन्त्र गोत्र के रूप में नहीं। फिर पुलह राक्षसों के और पुलस्त्य पिशाचों के मूल पुरुष है। शतपथ ब्राह्मण में (१४।५।२।६) गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि नामक सात ऋषि गिनाये गये है।[८२] मत्स्यपुराण की तथा शतपथ ब्राह्मण की सात नामों की सूची में वसिष्ठ और अत्रि ही उभयनिष्ठ नाम है, शेष पाँच नाम दोनों सूचियों में भिन्न है। आश्वलायन-परिशिष्ट में इन ऋषियों के साथ अगस्त्य का नाम जोड़ कर, इन आठ ऋषियों को गोत्रकार कहा गया है। बौधायन ने भी इन्हीं आठ ऋषियों के गोत्र माने हैं। किन्तु महाभारत का मत है कि अंगिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु × चार ही मूल गोत्र है।[८३] इस प्रकार ऋषियों की संख्या और ऋषियों के नामों में कोई एक सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं पाया जाता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्राचीन काल में सैकड़ों ऋषियों में आठ ही इस कार्य के लिए क्यों चुने गये। इसका सामान्य उत्तर तो यह होगा कि ये अन्य ऋषियों की अपेक्षा अधिक महान्, यशस्वी एवं पूजनीय होंगे। किन्तु पतंजलि कहते है कि (प्रारम्भ में) ८० हजार

[८२] श्री काणे ने निरुक्तकार (१२।३८) द्वारा "अर्वाग्बिलश्चमस" के मंत्र की व्याख्या में सात ऋषियों की सूर्य की सात किरणों से की गयी तुलना को इस संख्या का मूल बताया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।२।३–४) में सात इन्द्रियों या प्राणों (दो कान, दो आंखें, दो नासिका रन्ध्र और जिह्वा) के साथ विश्वामित्र आदि सात ऋषियों की तुलना की गई है।

[८३] शान्तिपर्व २९७।१७–१८

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव।
अंगिरा कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ।।

धारण करने वाले ऊर्ध्वरेता ऋषि हुए। यह माना जाता है कि इनमें से आठ ऋषियों ने सन्तान उत्पन्न की, उनके जो पुत्र हैं वही गोत्र है।[८४]

भारतीय कल्पना की दो बड़ी असंगतियाँ

श्री वैद्य ने गोत्रों के इस गोरखधन्धे को कुछ सुलझाना चाहा है।[८५] किन्तु इसके सुलझाने में वे स्वयं बहुत-सी उलझनों में फंस गये हैं। गोत्र सम्बन्धी असंगतियों में दो मुख्य—महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों की गोत्रकार ऋषियों की संख्या में अन्तर तथा उनके नामों में अन्तर—हैं। श्री वैद्य की कल्पना है कि जब आर्य भारत में आये तो महाभारत के अनुसार उनके चार ही मूल गोत्र थे—भृगु, अंगिरा, कश्यप और वासिष्ठ। ये प्रजापति के मानस पुत्र होने से आर्यों की विभिन्न जातियों के मूलपुरुष कहलाये। किन्तु सप्तर्षियों में भृगु के स्थान पर उसके पुत्र जमदग्नि का नाम आता है और अंगिरा का स्थान भी उसके दो पौत्रों भारद्वाज और गौतम ने ले लिया है। बाद में इसमें अत्रि, विश्वामित्र और अगस्त्य की वृद्धि होकर आठ गोत्र प्रवर्तक ऋषि हो गये। इन तीनों में अत्रि आर्य आक्रामकों के उस दूसरे समुदाय को सूचित करता है जो अपने को चन्द्रवंशी मानता था। चन्द्र अत्रि का पुत्र माना जाता है (स्क० पु० ४।१।१४), अतः चन्द्रवंशी राजाओं का गोत्र अत्रि है। अगस्त्य ने वैदिक ऋषि होने के कारण प्रतिष्ठा पायी। विश्वामित्र क्षत्रिय थे, वे अपनी तपस्या के बल से ब्राह्मण हुए और उन्होंने गोत्र प्रवर्तक होने का सम्मान पाया। इस प्रकार श्री वैद्य के मत में आठ गोत्रकृत् ऋषियों के नामों में कोई असंगति नहीं है।

किन्तु इस युक्ति परम्परा में अनेक दोष हैं, इसमें वसिष्ठ को आर्य जाति का मूल पुरुष एवं अगस्त्य को बाद का ऋषि माना गया है। किन्तु पौराणिक परम्परा दोनों को मित्रावरुण के वीर्य से, एक ही समय में उत्पन्न मानती है (बृहद्दे० ५।१।३४)। अत्रि को श्री वैद्य ने अर्वाचीन ऋषि माना है किन्तु मनु (१।३५) उसे ब्रह्मा की मानस सन्तान और वसिष्ठ का समकालीन मानता है। यदि अत्रि गोत्र वाले चन्द्रवंशियों ने सूर्यवंशियों पर आक्रमण किया और उन्हें जीता तो अत्रि गोत्र वालों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए, किन्तु सूत्रकारों ने गोत्रों की जो सूचियाँ दी हैं उनमें अत्रि का गोत्र और नाम बिलकुल नगण्य है। फिर यदि भृगु और अंगिरा आर्य जाति के मूल पुरुष थे तो उनके नाम हटाकर उनके स्थान पर उनके पुत्र जमदग्नि और पौत्रों—भारद्वाज और गौतम के नाम क्यों रखे गये? यदि ब्राह्मण जाति में उनका विशेष महत्व था तो परशुराम का क्या कम महत्त्व था? उसने २१ बार क्षत्रियों का संहार कर पृथ्वी को क्षत्रियहीन बनाया था। इतना अधिक गौरवपूर्ण कार्य करने वाले के नाम से गोत्र क्यों नहीं चला? भृगु का स्थान यदि जमदग्नि ने

८४ पाणिनि ४।१।७८ पर महाभाष्य

८५ हिस्टरी आफ मिडीवल इंडिया, खं. २, पृ० ५६ अनु०

ब्रह्मचर्य लिया तो जमदग्नि का स्थान लेने का परशुराम को पूरा अधिकार था। इन सब प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सका है। जब तक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता, तब तक श्री वैद्य की यह कल्पना नहीं मानी जा सकती कि पहले वसिष्ठ, भृगु, कश्यप, अंगिरा के चार गोत्र थे, बाद में ये आठ हुए और ये गोत्र वंशपरम्परा एवं रक्तसम्बन्ध को सूचित करते हैं।

गोत्रों से उत्पन्न कुलों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२।१०।६) इनकी संख्या ४६ मानता है। शब्दकल्पद्रुम में कुलदीपिका के उद्धरण के अनुसार ३२ गोत्रकारों के नाम दिये गये हैं और कहा गया है कि इनकी पूरी संख्या ४० है। इसी ग्रन्थ के एक दूसरे उद्धरण में १४ गोत्रकारों की सत्ता बतायी गयी है। मिताक्षरा की बालंभट्टी टीका (याज्ञ० १।५३) में यह संख्या १८ है। बौधायन ने ५०० तथा प्रवरमंजरी ने ५००० गोत्रों का उल्लेख किया है। संख्याभेद के साथ-साथ इनमें नामभेद भी बहुत अधिक है। प्रवरमंजरी के कर्ता ने बड़े दुःख एवं निराशा के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि सूत्रकारों के पाठ में बहुत अधिक अन्तर है। इस दशा में गोत्रों का यथार्थ निर्णय करना बहुत कठिन है।

यह कहा जाता है कि गोत्रों के नाम एवं संख्या में चाहे कितनी असंगतियाँ और विरोध हों, किन्तु उन सबमें इस बात में अवश्य समानता है कि किसी गोत्र को एक ऋषि द्वारा चलाया हुआ माना जाता है और एक गोत्र वालों में रक्तसम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। किन्तु जब किसी को अपने पूर्वज ऋषि का नाम भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं तो रक्तसम्बन्ध को किस प्रकार निश्चित माना जा सकता है। यह तो वैसी ही बात हुई कि शायद तुम्हारे और मेरे दादा का नाम वसिष्ठ था, इसलिए हम दोनों सम्बन्धी हुए। गोत्रों की ऐसी अनिश्चित दशा में, उनमें बादरायण (काल्पनिक) के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

गोत्रों के वंशपरम्परासूचक न होने के अन्य प्रमाण

गोत्र रक्तसम्बन्ध अथवा वंशपरम्परा के सूचक नहीं हैं, इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। सम्पत्ति में सगे सम्बन्धियों का पहले अधिकार होता है। मनु कहता है कि सम्पत्ति पहले सपिण्ड अर्थात् तीसरी पीढ़ी तक के दायादों को, बाद में सकुल्य अर्थात् सातवीं पीढ़ी तक के दायादों को, इसके बाद गुरु को और शिष्य को मिले (मनु. ९।१८६–८७)। बौधायन ने भी इसी प्रकार की व्यवस्था की है। वसिष्ठ तो सपिण्डों के बाद गुरु को सम्पत्ति देने का पक्षपाती है (१७।८२)। आपस्तम्ब सात पीढ़ी तक के दायादों के बाद गुरु को ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समझता है। यदि गोत्र या प्रवर रक्तसम्बन्ध को सूचित करते तो गुरु से पहले सगोत्रों को सम्पत्ति का अधिकार मिलना चाहिए था। सम्पूर्ण धर्मसूत्रों और स्मृतियों में केवल गौतम ने ही ऐसी व्यवस्था की है (गौ० धर्म-

सूत्र २८।२१)। वह कहता है कि सपिण्डों के बाद सगोत्रों व समान-प्रवरों को सम्पत्ति लेने का अधिकार है। पहले हम देख चुके हैं कि गौतम ने सगोत्र विवाह को महापातक ठहराया और गोत्र सम्बन्धी नियमों को दृढ़ करना चाहा। उत्तराधिकार का यह नियम भी इसी प्रवृत्ति को सूचित करता है। किन्तु गोत्र में कोई रक्तसम्बन्ध न होने के कारण यह कहना कठिन था कि कौन सगोत्र सम्पत्ति के पहले हकदार हों और कौन बाद में। इन क्रियात्मक कठिनाइयों का अनुभव करते हुए तथा गोत्र के सम्बन्ध को बनाते हुए संभवतः स्मृतिकारों ने गौतम का अनुसरण किया।

यही बात मरणोत्तर अशौच के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जिन जनों (कबीलों) में रक्तसम्बन्ध होता है, वहाँ किसी व्यक्ति की मृत्यु पर सारा जन (tribe) अशौच मानता है। नीलगिरि के टोडों में यह प्रथा प्रचलित है कि जब एक जन में कोई मृत्यु होती है तो उस जन का प्रत्येक टोडा निश्चित अवधि तक अपने सिर के आगे के बालों में एक गांठ बांधे रखता है।[८१] यह व्यवस्था सर्वथा स्वाभाविक है कि उसके सम्बन्धी अशौच या पातक को मनायें। धर्मशास्त्रों में सपिण्डों (सात पीढ़ी तक के सम्बन्धियों) द्वारा यह सूतक मनाने का विधान है (मनु० ५।५६, गौतम १४।१)। आपस्तम्ब कहता है कि जहाँ तक सम्बन्ध ज्ञात हो, वहाँ तक वे सब सम्बन्धी अशौच मनायें। आपस्तम्ब जब इस विषय में इतनी दूर तक गया है कि जिनसे रिश्ता जुड़ा जा सके वे सब सूतक मनायें, यदि वह वास्तव में गोत्र को ऐसा रक्तसम्बन्ध समझता तो उसका अवश्य उल्लेख करता। आजकल की प्रचलित धारणा के अनुसार गोत्र रक्तसम्बन्ध को सूचित करता है, फिर ऐसे सम्बन्ध वाले को सम्पत्ति एवं प्रेतविधि जैसे आत्मीय स्वजनों द्वारा किये जाने वाले कार्यों से दूर क्यों रखा गया है? इससे यह स्पष्ट है कि स्मृतिकार गोत्र को रक्तसम्बन्ध नहीं मानते थे। क्षत्रियों और वैश्यों में सगोत्र का रक्तसम्बन्ध सूचक न होना तो इसी बात से पुष्ट होता है कि उनको अपने ब्राह्मण पुरोहितों का प्रवर लेने के लिए कहा गया है। यदि किसी पुरोहित का वास्तव में भरद्वाज ऋषि से सम्बन्ध था और वही उसकी वंशपरम्परा में हुआ, तो क्षत्रिय क्या उस पुरोहित द्वारा कोई यज्ञ कराने से ही भरद्वाज गोत्र वाला हो गया? रक्तसम्बन्ध भी क्या बिजली के प्रवाह की तरह से है, जो सुवाहक पदार्थ के सम्पर्क से, पुरोहित से यजमान में संक्रान्त हो जाता है? क्या वह रक्त जो पुरोहित की धमनियों में बह रहा है, यज्ञ के अनुष्ठान मात्र से यजमान क्षत्रिय के शरीर में प्रवाहित होने लगता है? फिर एक पुरोहित प्रायः कई गांवों के वैवाहिक तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान कराता है। एक पुरोहित से धार्मिक अनुष्ठान कराने के कारण कई गांव एक गोत्र के हो गये और उनमें परस्पर शादी-ब्याह नहीं हो सकता। वैश्यों का तो आपस्तम्ब ने एक ही गोत्र माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें विवाह हो ही

८१ रिवर्स—टोडास, पृ० ३६८–९

नहीं सकता। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि गोत्र वास्तविक रक्तसम्बन्ध को नहीं बताता। स्मृतिकारों की ये व्यवस्थाएँ प्रारम्भ में केवल यज्ञीय कार्यों तक ही सीमित थीं, बाद में इन प्रतिबन्धों का विवाह में भी उपयोग किया जाने लगा। उन्होंने विवाह में असगोत्रता का नियम क्यों रखा? इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

असगोत्र विवाह के नियम के प्रादुर्भाव पर पश्चिमी विद्वानों की कल्पनाएं

(क) मैकलीनान की कल्पना—पश्चिमी विद्वानों ने भी इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया है और बहिर्विवाह सम्बन्धी गोत्र आदि की पाबन्दियों के मूल कारण ढूंढने का यत्न किया है।[८७] श्री मैकलीनान को यह श्रेय प्राप्त है, उन्होंने अंग्रेजी भाषा में बहिर्विवाह (Exogamy) शब्द को सर्वप्रथम गढ़ा और प्रचलित किया। उन्होंने

८७ बहिर्विवाह का नियम भारत से बाहर अनेक समाजों और जातियों में पाया जाता है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में इसका खूब प्रचार है, वहां अधिकांश कबीले दो, चार, आठ बहिर्विवाही उपवर्गों में बंटे होते हैं। इनमें प्रत्येक उपवर्ग वाले स्त्री-पुरुष का विवाह अपने उपवर्ग से बाहर ही होता है, अपने उपवर्ग के भीतर शादी करने वाले को प्राणदण्ड दिया जाता है (वै. शा. हि. मे. पृ. ७१–७२)। चीन में पहले एक जैसा पारिवारिक उपनाम रखने वालों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता था। पुराने चीनी दण्डविधान के अनुसार ऐसी शादी करने वाले को ६० प्रहारों का दण्ड दिया जाता था और यह विवाह रद्द माना जाता था (वै.—वही पृ० ७२)। वैस्टरमार्क के मतानुसार अपने गोत्र या वर्ग से बाहर विवाह का नियम प्रचलित होने का एक बड़ा कारण नामों की समानता था। वंश-परम्परा नामों के माध्यम से स्पष्ट की जाती थी, अतः नाम को प्रायः रक्त सम्बन्ध का सूचक समझ लिया जाता था। माता-पिता दोनों पक्षों की ओर से वंशपरम्परा का पूरा विवरण रखना कठिन होता है। अतः यह नाम का सम्बन्ध प्रायः एक ओर से रखा जाता है। आदिम विचारों और विश्वासों के अनुसार एक सामान्य नाम, उसे धारण करने वाले सभी व्यक्तियों को परस्पर जोड़ने वाली रहस्यमयी कड़ी समझा जाता था। डा० नानसेन ने लिखा है कि ग्रीनलैण्ड में यह माना जाता है कि एक ही नाम वाले दो व्यक्तियों में आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है। वैस्टरमार्क ने इसका एक यह भी कारण दिया है कि निकट सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध के प्रति एक स्वाभाविक घृणा होती है, इससे निकट सम्बन्धियों में विवाह वर्जित होता है। इसी निषेध को बाद में विस्तृत करके अपनी जाति में विवाह का वर्जन किया जाने लगा और और बहिर्विवाह के नियम का प्रचलन हो गया। (वै. शा. हि. मे., पृ० ६६–७)

बहिर्विवाह का कारण यह बताया कि जंगली हालत में प्रारम्भ में मनुष्य शिकार से ही अपना गुजारा करता था। उस समय जो कन्याएँ शिकार में सहायता नहीं दे सकती थीं पिता उनकी उपेक्षा करता था या उन्हें मार देता था। समाज में इस तरह स्त्रियां बहुत कम मिलती थीं, अतः उन्हें दूसरे कबीलों से स्त्रियाँ जबरदस्ती अपहरण करके लानी पड़ती थीं। इस तरह अपनी जाति के बाहर से स्त्रियों को लाने का रिवाज पड़ा और बहिर्विवाह की प्रथा प्रचलित हो गयी।[८८]

वैस्टरमार्क ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज (ख. २, पृ० १६५) में अनेक प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है कि उपर्युक्त सिद्धान्त में कन्यावध और अपहरण द्वारा विवाह के सम्बन्ध में बहुत अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। भारत में गोत्रों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि विवाह के आठ भेदों में एक राक्षस विवाह भी है, किन्तु भारत में उसके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। वैदिक काल में कन्यावध की प्रथा भी प्रचलित नहीं थी।

(ख) स्पेन्सर की कल्पना—दूसरी कल्पना सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर की है। वे कहते हैं कि कबीलों में परस्पर संघर्ष होता था। उन संघर्षों में शत्रु की सम्पत्ति को खूब लूटा जाता था। इस लूट में स्त्रियाँ भी लायी जाती थीं और यह कार्य बड़ा अच्छा समझा जाता था। अन्ततोगत्वा यही प्रवृत्ति बहिर्विवाह के रूप में समाज में चल पड़ी[८९] किन्तु असगोत्र विवाह के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। यद्यपि यहाँ रामायण और महाभारत के युद्ध हुए और पुराणों में कई स्थानों पर शत्रु की स्त्रियाँ को लाने का वर्णन है, किन्तु इन युद्धों में ब्राह्मणों ने कभी भाग नहीं लिया। गोत्र और प्रवर के बन्धन सबसे अधिक ब्राह्मणों में प्रचलित हैं। अतः स्पेन्सर का सिद्धान्त भी भारतीय असगोत्रता के उद्गम पर सही-सही प्रकाश नहीं डाल सकता।

(ग) एबबरी की कल्पना—बहिर्विवाह विषयक तीसरी कल्पना लार्ड एवबरी की है। उनका मन्तव्य है कि समाज में पहले विवाह का कोई बन्धन न था।[९०] प्रत्येक कबीले में स्त्रियाँ उस कबीले की सामूहिक सम्पत्ति समझी जाती थी। व्यक्तियों का किन्हीं स्त्रियों पर विशेष एवं पूर्ण अधिकार नहीं होता था। यदि कोई व्यक्ति दूसरे कबीले की किसी स्त्री को पकड़कर लाता था तो वह उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जाती थी और उस पर उसका पूर्ण अधिकार होता था। स्त्रियों पर वैयक्तिक एवं पूर्ण आधिपत्य रखने

[८८] मैकलीनान—स्टडीज इन एंशेन्ट हिस्टरी, पृ० ७०, ७५

[८९] स्पेन्सर—प्रिन्सिपल आफ सोशयोलोजी खं० १, पृ० ६१६ अनु०

[९०] एवबरी—ओरिजिन आफ सिविलिजेशन एण्ड दी प्रिमिटिव कण्डीशन आफ मैन, पृ० ९५।

के लिए यह आवश्यक था कि कबीले से बाहर की स्त्री लायी जाय। इसलिए समाज में बहिर्विवाह की प्रथा प्रचलित हो गयी।

इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि समाज में पहले कामचार (Promiscuity) प्रचलित था। अन्य देशों के किसी समाज में भले ही यह प्रथा प्रचलित रही हो किन्तु भारत में यह प्रथा बिलकुल नहीं थी, यह बात पहले अध्याय में बतायी जा चुकी है। इस प्रकार भारत के लिए इस कल्पना का कोई आधार नहीं है। असगोत्र विवाह की व्याख्या इस कल्पना से भी नहीं हो सकती। इस व्यवस्था को हिन्दू समाज में संभवतः निम्नलिखित परिस्थितियों और कारणों ने उत्पन्न किया।

हिन्दू समाज में सगोत्रविवाह निषेध के उत्पादक हेतु

असगोत्र विवाह का नियम प्रचलित होने का वस्तुतः कोई एक कारण नहीं था। यह संभवतः अनेक परिस्थितियों का परिणाम था। इन्हें पूरी तरह जानने के हमारे पास बहुत कम साधन हैं, फिर भी मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि भारत में इसके कुछ सामान्य और कुछ विशेष उत्पादक हेतु थे। सामान्य हेतुओं का आशय उन कारणों से है जो अन्य समाजों में भी बहिर्विवाह की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं। पहले बताया जा चुका है कि वैस्टरमार्क के मतानुसार बहिर्विवाह, निकट सम्बन्धियों में विवाह निषिद्ध होने के नियम का विस्तृत रूप है, इस नियम को गोत्रों के नामसादृश्य से पुष्टि और बल मिलता है। वंशपरम्परा का मुख्य आधार नाम है, नामों की समानता होने पर वस्तुतः रक्तसम्बन्ध न होने पर भी उसकी कल्पना कर ली जाती है और सदृश नाम वालों में विवाह वर्जित समझा जाता है। गोत्र और प्रवर भले ही वास्तविक रक्तसम्बन्ध को न सूचित करें, पर उनका ऐसा समझा जाना सर्वथा स्वाभाविक था। ऐसा समझे जाने पर उनमें परस्पर विवाह के निषेध का नियम बना।

गोत्र-प्रवर-पद्धति प्रचलित होने के विशेष कारणों का विचार करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका अधिक प्रचलन ब्राह्मण वर्ण में ही था, क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्र-प्रवर या तो उनके पुरोहितों के आधार पर थे या केवल गिने-चुने गोत्र थे। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्रीमती इरावती कर्वे के मतानुसार ब्राह्मणों में इस पद्धति के प्रचलन के निम्न कारण प्रतीत होते हैं।[६१]

(१) ब्राह्मणों में स्थानीय बहिर्विवाह का अभाव—स्थानीय बहिर्विवाह का अर्थ यह है कि एक गाँव या बस्ती में बसे हुए व्यक्तियों में विवाह का न होना। एक साथ इकट्ठे रहने वाले व्यक्तियों में प्रायः परिवार की भाँति घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता है, उस गाँव के समान आयु वाले स्त्री पुरुष भाई-बहिन, बड़ी आयु के व्यक्ति उनके माता-

६१ कर्वे—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इंडिया, पृ० ६३

पिता तथा चाचा, छोटी आयु के बच्चे लड़के-लड़कियाँ समझी जाती हैं। नजदीकी रिश्तेदारों की भाँति एक गाँव वालों में विवाह वर्जित होता है, अपने गाँव से बाहर शादी करने के इस नियम को स्थानीय बहिर्विवाह (Local exogamy) कहते हैं। यद्यपि प्राचीन साहित्य में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु अनेक संदर्भों से इसकी सत्ता सूचित होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। विवाह और वधू शब्द ले जाने का अर्थ देने वाली वह् (प्रापणे) धातु से बने है। विवाह का शब्दार्थ है विशिष्ट प्रकार से पाणिग्रहण संस्कार पूर्वक वधू को पितृगृह से श्वसुरगृह ले जाना। वधू (वहू) को यह नाम देने का यह कारण है कि वह इस प्रकार पीहर से ससुराल लायी जाती है।[62] वैदिकयुग से वधू को विवाह के बाद अपने श्वसुरालय तक निर्विघ्न पहुँचने, मार्ग में कोई कष्ट न होने की अनेक प्रार्थनाएँ हैं।[63] अतः यह स्पष्ट है कि उस समय में कन्या का अपने गाँव या स्थान से बाहर विवाह होता था। यास्क ने कन्यावाची दुहिता शब्द की एक व्युत्पत्ति यह की है कि वह दूरवर्ती (कुल में) दी जाती है।

प्राचीन काल में स्थानीय बहिर्विवाह की प्रथा का प्रचलन क्षत्रियों में अधिक था, वे प्रायः राजाओं और राजकुलों से संबद्ध होने के कारण नियत स्थानों में बसे हुए थे। किन्तु ब्राह्मणों के कोई निश्चित निवास स्थान नहीं थे, ब्राह्मण पुरोहित और मन्त्रवेत्ता थे, वे अपने आश्रयदाताओं की खोज में एक दरबार से दूसरे दरबार में जाया करते थे। जिन स्थानों पर महायज्ञों में प्रचुर दक्षिणा की संभावना हो, वहाँ उनका जाना स्वाभाविक था। अतः उनका निवास स्थान निश्चित न होने से उनमें क्षत्रियों की भाँति स्थानीय बहिर्विवाह का विकास नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध सुव्यवस्थित करने के लिए गोत्र और प्रवर की पद्धति ग्रहण की।

६२ सं. प्र., पृ० ५८३

६३ ऋग्वेद १०।८५।२३ में कहा गया है कि श्वसुर (वरेय) के पास वर द्वारा भेजे गये साथियों का मार्ग निष्कण्टक और सरल हो (अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्) मि. अथर्व०, १४।१।३४, आप. गृह्यसूत्र २।४।२, शांखा. गृ० १।६।१, कौ. सू० ७५।१२। ऋ० १०।८५।२६ तथा अथर्व १४।१।२० में वर के घर में जाने के लिए वधू को पूषा द्वारा रथ में बिठाने तथा अश्विनियों द्वारा इसे वहाँ तक पहुँचाने का वर्णन है (आश्व. गृ. सू. १।८।१ आप. गृ. सू. २।४।६)। ऋ० १०।८५।३२, अथर्व० १२।१।३२, १४।१।११ साम. ब्रा० १।८।६ में यह प्रार्थना है कि पति पत्नी को रास्ते में बटमार न पड़े (मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती, मि. आश्व. गृ. सू. १।८।६, शा. गृ. सू १।१५।१४ गो. गृ. २।४।२, आप. गृ. २।५।२४, कौ. सू. ७७।३)।

दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण प्रायः याज्ञिक विधियों का अनुष्ठान करने वाले और मन्त्र-तत्त्ववेत्ता थे। इस गुह्य ज्ञान पर विशिष्ट परिवारों का एकाधिपत्य था, उसे सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक था कि पारिवारिक सम्बन्ध विशिष्ट वर्गों तक सीमित रखे जाय, ये वर्ग गोत्र और प्रवर के रूप में विकसित हुए।

तीसरा कारण अनार्य प्रभाव प्रतीत होता है। महाभारत में हमें अनार्य कन्याओं के साथ ब्राह्मणों के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण जरत्कारु ने नागराज वासुकि की बहिन से शादी की थी (महाभा० भाण्डा० १।४१,४४ अ०)। अगस्त्य एवं ब्राह्मण के निषादी भार्या के साथ रहने का वर्णन है (महाभा० भाण्डा० १।२५।३-५)। आदि पर्व में अरण्यवासी मन्दपाल के संभवतः पक्षी के टोटम या जाति-लाञ्छन वाली एक अनार्य स्त्री जरिता के साथ विवाह का वर्णन है (महाभा० १।२३१)। वसिष्ठ-धर्मसूत्र में कृष्णवर्णा स्त्रियों के साथ विवाह का संकेत है (१८।१८)। ब्राह्मणों का अनार्यों के साथ संपर्क होने पर संभवतः उनकी इस पद्धति का गोत्रों और प्रवरों पर कुछ प्रभाव पड़ा हो।[६४]

६४ दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी का यह मत है कि गोत्रों में अनेक नाम प्राणि वाचक हैं, अतः वे वर्तमान दक्षिण भारत की अनेक अनार्य जातियों के जातीय चिह्नों (Totems) के समान हैं, गोत्र-प्रवरपद्धति का उद्गम ये अनार्यजातीय चिह्न हैं (जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १९५०पृ० २८)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन गोत्रों की सूची में अनेक नाम पशुपक्षीवाचक हैं। उदाहरणार्थ कपि (ब्रप्र. पृ. १२४) केवलांगिरस गोत्र का एक गण है, तीतरवाची तित्तिरि का उल्लेख भरद्वाजगोत्र में है (ब्रप्र.—पृ. पृ. पृ. १२-१२८) और कपिञ्जल का वसिष्ठ गोत्र में (ब्रप्र. पृ. १७८, १८३)। इसी प्रकार अन्य प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक नाम पाये जाते हैं, जैसे हस्ती, गर्दभि, गार्दभिः, मत्स्य, महाकपि, मार्कटि, मर्कट, आश्व, मयूर, छाग, मेष, उलूक। गोत्रों में प्राणियों के अतिरिक्त कुछ विचित्र नामों के ये उदाहरण हैं—स्तनकर्ण, कपिमुख, औलूक, मैथुनमति, कालहत अजगन्ध, मत्स्यगन्ध। ये सब उदाहरण प्रवरमंजरी (बे. प्रे.) के अन्त में गोत्र और ऋषियों की सूची में दिए हुए हैं। ओल्डनबर्ग ने प्राचीन भारत के ऐसे प्राणिवाची नामों के निम्न उदाहरण 'रिलीजन डेस वेद' (पृ. ८३३) में दिये हैं—वत्स (बछड़ा), शुनक (कुत्ता) कौशिक (उल्लू), माण्डूकेय। जे. ए. वान वेल्जे ने इनका वर्णन किया है (नेम्ज आफ पर्सन्स इन अर्ली संस्कृत लिट-रेचर यूट्रैक्ट १९३८पृ. ९५ अनु.)। आजकल भी भारत में ऐसे पारिवारिक नामों की कमी नहीं है, जैसे गुजरात में मच्छर, माकड़ (बन्दर), मांकड़ (खटमल) और पंजाब में कुक्कड़।

स्मृतियाँ और असगोत्रता का नियम

धर्मसूत्रों के बाद स्मृतिकारों ने असगोत्र विवाह के नियम पर अधिक बल दिया। जो स्मृति जितनी अर्वाचीन है, इस नियम के सम्बन्ध में उसने उतनी ही अधिक कठोरता दिखलायी है। सबसे पहले स्मृतिकार मनु ने असगोत्र विवाह का निषेध करते हुए कहा कि द्विजों के विवाह कर्म में वह कन्या प्रशस्त होती है जो माता की असपिण्ड या पिता के गोत्र वाली न हो। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मनु ने प्रवर का उल्लेख नहीं किया। गौतम (४।२), वसिष्ठ (८।१) तथा आपस्तम्ब (२।११।१५) ने कन्या का असमान प्रवर होना आवश्यक समझा था। किन्तु मनु गोत्र के प्रतिबन्ध को ही पर्याप्त समझता है। मेधातिथि ने गोत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि गोत्र प्रवरों की

किन्तु प्राचीन गोत्रों में जो पशुवाची नाम आते हैं, वे आठ बड़े गोत्रों के अन्तर्गत छोटे-छोटे परिवारों के नाम हैं और यह असंभव प्रतीत होता है कि ये नाम ऐसे छोटे वर्गों के जातीय लांछन रहे होंगे। ब्रफ ने ठीक ही लिखा है कि इन नामों से प्राचीन भारत में जाति-चिह्नवाद (Totemism) की सत्ता सिद्ध करना ठीक वैसा ही है जैसे फाक्स (Fox), हेरन (Heron) आदि वो बार नामों से इंगलैण्ड में इस प्रथा की कल्पना करना (ब्रफ—पु. पु.)। कोसाम्बी ने गोत्र के बड़े वर्गों के जो प्राणिवाची नाम दिये हैं, वे विश्वसनीय और निर्विवाद नहीं हैं। उदाहरणार्थ, गोतम उत्तम गौओं या उत्तम पशुओं वाला हो सकता है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि यह बैल के टोटम को सूचित करता है। भरद्वाज का मुख्यार्थ वाज (सम्पत्ति) को लाने वाला है, अपने घोंसले में अन्न लाने वाले पक्षी के लिए इसका प्रयोग गौण रूप से होता है, इस गौण अर्थ के आधार पर इसे टोटम मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। कौशिक का अर्थ उल्लू अवश्य है, किन्तु कुशिक का यह अर्थ नहीं है, अतः यह कल्पना की जा सकती है कि पक्षी का नाम जाति के नाम के आधार पर रखा गया, न कि जाति का नाम पक्षी के आधार पर। कश्यप गोत्र को कच्छप (कछुआ) से निकालना निरी खींचतान है। कोसाम्बी द्वारा प्रस्तुत कछुए के आकार जैसी यज्ञवेदी बनाने के शतपथब्राह्मण के प्रमाण (७।५।१) द्वारा प्राचीन वैदिक आर्यों में टोटेमवाद को सिद्ध करने का प्रयास ब्रफ के शब्दों में वैसा ही है जैसा मध्यकालीन कारीगरनियों के गुरुओं में प्रयुक्त मेंढकों से उस समय में इसकी सत्ता सिद्ध करना। वैदिक आर्यों में इस प्रथा के कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते (ब्रफ—पु. पु. भूमिका पृ. XVI)। अतः गोत्र पद्धति को अनार्यमूलक मानना उचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु यह संभव है कि अनार्यों की बहिर्विवाही जातियों (Exogamous classes) की पद्धति ने आर्यों की गोत्र-प्रवरपद्धति को सुदृढ़ एवं कठोर बनाने में सहायता की हो।

समानता के आधार पर है। किन्तु मनु से एक हजार वर्ष बाद टीका लिखने वाले मेधातिथि को इस विषय में मनु की मूल भावना को ठीक समझने के सम्बन्ध में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इतना ही नहीं कि मनु ने प्रवर के प्रतिबन्ध का उल्लेख न किया हो, किन्तु वह सगोत्र विवाह को कोई भयंकर अपराध नहीं समझता। बाद की स्मृतियों ने सगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान को चांडाल कहा है, किन्तु मनु ने वर्णसंकर के विस्तृत भेदों की चर्चा करते हुए इस प्रकार की सन्तान का कहीं उल्लेख नहीं किया है। प्रायश्चित्तों के प्रकरण में अगम्या स्त्रियों की गणना (११।१७०) में सगोत्रा का उल्लेख नहीं है। इसमें वह मित्र और पुत्र की पत्नी तथा सहोदरा भगिनी के अभिगमन को गुरुतल्पारोहण जैसा महापाप समझता है। गौतम ने (२३।१२) सगोत्रा के पास जाना इसी प्रकार का महापाप समझा था, किन्तु मनु इस प्रसंग में सगोत्रा का उल्लेख नहीं करता। मनु के उपपातकों (११।६०—६७) में भी सगोत्र विवाह की गिनती नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मनु के समय तक, समान गोत्र में विवाह न करने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी, किन्तु बहुधा इसका उल्लंघन भी होता था और इस उल्लंघन को पाप नहीं समझा जाता था।[६५]

याज्ञवल्क्य, नारद तथा अन्य स्मृतिकार

याज्ञवल्क्य पहला स्मृतिकार है जिसने समान प्रवर में विवाह का निषेध किया। वह असमान प्रवर और गोत्र में विवाह को न केवल आवश्यक समझता है, अपितु इस नियम का उल्लंघन होने पर वह उसे गुरुपत्नी के पास अभिगमन तुल्य महापाप समझता है।[६६] यह स्पष्ट है कि मनु के ४००, ५०० वर्ष बाद समाज के विचारों में इतना अन्तर आ चुका था कि मनु जिस व्यवस्था के उल्लंघन को दण्डनीय नहीं समझता था, याज्ञवल्क्य ने उसको पाप समझा। वास्तव में मनु के समय यह व्यवस्था हिन्दू समाज में धीरे-धीरे प्रचलित हो रही थी, पर उस समय गोत्र के नियम के प्रति इतनी अधिक आस्था एवं दृढ़ता उत्पन्न नहीं हुई थी, अगली सहस्राब्दी में यह व्यवस्था हिन्दू समाज में दृढ़मूल हो गयी। याज्ञवल्क्य के बाद आने वाले नारद ने तो इसके लिए कठोरतम व्यवस्था कर डाली। वह कहता है कि कन्या असमान प्रवर और गोत्र की होनी चाहिए।[६७] यदि कोई

[६५] मनु ३।५, असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ कुल्लूक ने इस श्लोक में एक "च" शब्द से माता के अतिरिक्त पिता की सपिण्डता और दूसरे "च" शब्द से कन्या के लिये पिता के अतिरिक्त माता की गोत्र का न होना भी आवश्यक बताया है।

[६६] याज्ञवल्क्य १।५३

[६७] नारद स्मृति १२।७

पुरुष इस नियम का उल्लंघन करे तो उसके लिए शिश्न-उत्कर्तन के अतिरिक्त और कोई दण्ड नहीं है।[६८] विष्णु (२४।६) और पराशर (१०।१३–१४) ने इस नियम के उल्लंघन के लिए ब्राह्मणों को दो गाय देने तथा तीन प्राजापत्य प्रायश्चित्तों से इस पाप की शुद्धि मानी है। इस हल्के दण्ड का कारण यह नहीं है कि पराशर इसे कम अपराध समझता है। सगोत्रा के पास जाने का अपराध तो गुरुतल्पगमन अपराध के तुल्य है, किन्तु दण्डों में पराशर ने सामान्य रूप से अन्य स्मृतिकारों की अपेक्षा नर्मी दिखायी है। इस कारण उसके दण्ड में नारद जैसी उग्रता नहीं है।

टीकाकार और गोत्र

मेधातिथि—नवीं शती से टीकाकारों का युग शुरू होता है। विश्वरूप की याज्ञ० स्मृति पर लिखी गयी बालक्रीडा नामक पहली टीका से इस विषय पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मनु के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि ने सगोत्र शब्द से सप्रवर का निषेध निकाला है, इसका पहले उल्लेख हो चुका है। किन्तु ऐसा करते हुए मेधातिथि के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि मनु द्विजातिमात्र अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए असगोत्रता आवश्यक समझता है, यदि असगोत्रता आवश्यक है तो प्रवर भी असमान होने चाहिए। किन्तु प्रवर तो क्षत्रिय—वैश्य के होते ही नहीं और गोत्र प्रवर पर आश्रित है, अतः क्षत्रियों और वैश्यों पर मनु की पाबन्दी किस तरह लागू होगी। इसलिए वह कुछ लोगों द्वारा माना जाने वाला यह पक्ष रखता है कि अन्य व्यक्ति वंश को गोत्र कहते हैं, इसमें अवधि की कोई आवश्यकता नहीं है। जहां तक इस वंश-सम्बन्ध का ज्ञान होता है वहाँ तक एक वंश का होने से विवाह नहीं होता।[६९] प्रायश्चित प्रकरण में मेधातिथि को इस बात पर आश्चर्य है कि मनु ने सगोत्रा के अभिगमन के लिए प्रायश्चित क्यों नहीं बताया। वह कहता है कि अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इस पाप के लिए प्रायश्चित बताया है अतः ऐसी अवस्था में अवश्य प्रायश्चित करना चाहिए।

मातृ गोत्र का परिहार—मेधातिथि ने गोत्र के सम्बन्ध में एक नयी पाबन्दी का उल्लेख किया है। अब तक विवाह में यही देखा जाता था कि कन्या का गोत्र वर के पिता के गोत्र से भिन्न होना चाहिए। मेधातिथि ने वसिष्ठ का एक मत उद्धृत किया है कि कन्या वर की माता के गोत्र की भी नहीं होनी चाहिए। वसिष्ठ धर्मसूत्र में माता के गोत्र वाली कन्या का भी प्रतिषेध है, सगोत्रा, समानप्रवरा से शादी करके, द्विज उस कन्या को छोड़ दे और चान्द्रायण व्रत करे। माता के गोत्र वाली कन्या के साथ भी विवाह करने

६८ नारद स्मृति १५।७३–७५
६९ मेधातिथि मनु ३।५ पर

पर ऐसा ही करे।[१००] वर्तमान वसिष्ठ धर्मसूत्र में मेधातिथि द्वारा उद्धृत ये पंक्तियाँ नहीं पायी जातीं। मेधातिथि मनु की व्यवस्था को मानते हुए इस मत में असहमति रखता है, पर इससे इतना स्पष्ट है कि नवीं शती तक माता के गोत्र का परिहार करने वाला एक सम्प्रदाय पैदा हो चुका था।

अपरार्क—१२ वीं शती में अपरार्क ने याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या करते हुए सगोत्र विवाह के अपराध के लिए अधिक भयंकर दण्ड की व्यवस्था की। बिना इरादे के ऐसा विवाह हो जाने पर वह बौधायन के अनुसार ऐसे पुरुष के लिए चान्द्रायण प्रायश्चित्त पर्याप्त समझता है, किन्तु जानबूझकर विवाह करने पर उसके मत में पति को पतित समझना चाहिए और पतित पति की सन्तान भी पतित होती है।[१०१] अब तक अपरार्क से पूर्ववर्ती किसी धर्मशास्त्रकार ने ऐसे विवाह वाले पति को पतित और सन्तान को चाण्डाल नहीं कहा था। अपरार्क के समय तक सगोत्र विवाह के विरुद्ध इतना प्रबल वातावरण बन चुका था कि उसने सगोत्र विवाह करने वालों के लिए इतनी कठोर व्यवस्था की। उसने माता के गोत्र को भी छोड़ने वालों का मत दिया है किन्तु उनसे सह-मति नहीं प्रकट की। अपरार्क (पृ०१५, ६३) ने ब्रह्मपुराण के एक वचन को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि सगोत्रों और सपिण्डों से विवाह, गौ का वध, पुरुषमेध, अश्वमेध, कलिकाल में द्विजातियों को नहीं करने चाहिए। पुराने युगों में जो व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं और मध्यकाल के टीकाकार एवं निबन्धकार जिन व्यवस्थाओं को अपने समय के लिए अनुपयुक्त समझते थे, उन व्यवस्थाओं से छुट्टी पाने के लिए उन्होंने यह आसान हल ढूंढ निकाला था कि उनको कलिवर्ज्य बना दिया जाय। ब्रह्मपुराण का यह श्लोक स्मृतिचन्द्रिका (भाग १ पृष्ठ १२) में तथा माधव की पराशरस्मृति की टीका (भाग १ पृ० १३३) में उद्धृत किया गया है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि पहले किसी समय सगोत्र विवाह प्रचलित था।

विज्ञानेश्वर—विज्ञानेश्वर का मत भी अपरार्क से मिलता-जुलता है। वह सगोत्र विवाह को उसी दशा में तल्पारोहण के तुल्य पाप समझता है, जब समागम हो चुका हो। यदि व्यक्ति सगोत्र विवाह से उस दशा के पूर्व ही निवृत्त हो जाय तो उसका अपराध तल्पा-रोहण से कम होता है।[१०२] मिताक्षराकार ने किसी अज्ञात स्मृति का एक वचन उद्धृत किया है कि सगोत्रा चाण्डाली या वृषली होती है। उसके साथ एक बार के सम्पर्क से पतित होने वाला तीन वर्ष के प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है।[१०३] बृहद्यम तथा अंगिरा

[१००] मेधातिथि मनु ३।५

[१०१] अपरार्क, पृ. ८०

[१०२] याज्ञ० ३।२३१ पर

[१०३] याज्ञ० ३।२६० पर

की उक्तियों को भी मिताक्षरा ने उद्धृत किया है। इन उक्तियों का यह आशय है कि इस पाप की चान्द्रायण प्रायश्चित्त से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मिताक्षराकार इनसे असहमत होता हुआ कहता है कि यह व्यवस्था समागम से पहले ही इस पाप से निवृत्त हो जाने वाले के लिए है।[१०४] बौधायन ने ऐसी पत्नी पर कोई दोष नहीं डाला था, केवल उसके त्याग देने तथा चान्द्रायण व्रत करने का आदेश दिया था, पर डेढ़ हजार वर्ष बाद गोत्र का नियम इतना दृढ़ हो गया कि सगोत्रा को चांडाली समझा जाने लगा उसके पुत्र की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में मिताक्षरा तथा अन्य टीकाकारों ने कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं की।

देवण्ण भट्ट—निबन्धकारों ने उक्त कमी को पूरा किया। देवण्णभट्ट ने कहा कि चान्द्रायण व्रत तो सगोत्री से विवाह कर लेने का प्रायश्चित्त है, किन्तु यदि विवाह के बाद सन्तान उत्पन्न होती है तो इस विषय में आपस्तम्ब की यह व्यवस्था माननी चाहिए कि यह सन्तान चाण्डाल होती है।[१०५] वर्तमान समय में उपलब्ध आपस्तम्ब गृह्य तथा धर्मसूत्र में देवण्ण भट्ट द्वारा उद्धृत यह व्यवस्था नहीं मिलती। प्रवरमंजरी के कर्ता पुरुषोत्तम ने इस वचन को यम के नाम से उद्धृत किया है, बाद के सभी स्मृतिकारोंने इसे या इससे मिलते जुलते वचनों को बौधायन या यम के नाम से कहा है। यह किस स्मृति का वचन है, यह चाहे निश्चित न हो, किन्तु यह निश्चित है कि सब निबन्धकारों ने सर्वसम्मति से इस वचन के आधार पर सगोत्रा से उत्पन्न सन्तान को चांडाल कहा है। देवण्ण भट्ट माता का गोत्र छोड़ने के विषय में भी अपनी असहमति ही दर्शाता है। हेमाद्रि सगोत्र विवाह को निन्दित ठहराता हुआ ऐसा करने वालों को कठोर दण्ड नहीं देता। इस विवाह से उत्पन्न सन्तान चांडाल तो है किन्तु गोबर में जलाकर उसकी शुद्धि की जा सकती है। यहाँ बच्चे को जलाने का अभिप्राय आग में उसके पुतले को जलाने से है। विज्ञानेश्वर की तरह वह पुरुष को १२ वर्ष का कठोर प्रायश्चित्त नहीं बताता, किन्तु कुछ अन्य प्रायश्चित्तों से उसकी शुद्धि को पर्याप्त समझता है (चतुर्वर्ग चिन्तामणि ४।३६५—६६)। माधव ने पराशर स्मृति (१०।५–६) की टीका में दक्ष का यह वाक्य उद्धृत किया है कि तीन प्रकार के चांडालों में एक सगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान भी है, किन्तु माधव की यह अपनी सम्मति नहीं है क्योंकि १०।१४ पर सगोत्र विवाह के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसने बौधायन आदि पुराने शास्त्रकारों के इस प्रकार के वचन उद्धृत किये हैं कि चान्द्रायण और कृच्छ्र प्रायश्चित्तों से इस पाप का परिमार्जन हो जाता है।

कमलाकर—कमलाकर भट्ट ने निर्णयसिन्धु में माधव का ही अनुसरण किया है। स्मृत्यर्थसार की सम्मति को उद्धृत करते हुए उसने कहा कि सगोत्र विवाह गुरुतल्पगमन के समान अपराध है। इस विवाह द्वारा उत्पन्न सन्तान चांडाल होती है, किन्तु यदि

१०४ वही

१०५ स्मृ. च. भाग १, पृ. १८४।

विवाह अज्ञान से हुआ हो तो चान्द्रायण व्रत से शुद्धि हो जाती है। निर्णयसिन्धु ने माता के गोत्र के परिहार पर बल दिया है।[१०६] वह पहले सत्याषाढ़ की इस उक्ति को पूर्वपक्ष के रूप में रखता है कि मातृगोत्र माध्यन्दिन शाखा वालों में छोड़ा जाता है। उत्तर पक्ष में प्रवर-मंजरीकार के मत को उद्धृत करता हुआ लिखता है कि माता के गोत्र का परिहार न करने में बहुत दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए माता के गोत्र को छोड़ना चाहिए। अपना गोत्र ज्ञात न होने पर पुरोहित, आचार्य या जमदग्नि का गोत्र ग्रहण करना चाहिए।[१०७]

मित्रमिश्र—वीरमित्रोदय को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने सगोत्र विवाह द्वारा दूषित कन्या के पुनर्विवाह पर विचार किया है। मित्रमिश्र से पहले इस प्रश्न को किसी मध्यकालीन निबन्धकार ने नहीं उठाया था कि जिस कन्या का सगोत्र वर के साथ विवाह हो चुका है उसका दूसरा विवाह हो सकता है या नहीं। मित्रमिश्र ने एक ऐसे युग में, जब स्त्रियों का पुनर्विवाह बिलकुल बन्द हो चुका था, दूषित कन्या के पुनर्विवाह का प्रश्न उठाया। किन्तु उसने इस विषय में शुष्क विवाद को अधिक महत्त्व दिया है और कन्या को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष में उसने कात्यायन का वचन रखा है कि इस प्रकार ब्याही हुई स्त्री को उत्तम वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत करके दूसरे को दे देना चाहिए और बाद में इससे असहमति प्रकट की है।[१०८] माता के गोत्र के परिहार को वह माध्यंदिन ब्राह्मण तक ही परिमित समझता है।[१०९]

अनन्तदेव ने संस्कार कौस्तुभ (पृ० ६६२–६३) में, अनन्तभट्ट ने विधान-पारिजात (पृ० ७०७–७०६) में तथा काशीनाथ ने धर्मसिन्धु (पृ० १४३–४४) में उप-र्युक्त सिद्धान्तों की पुष्टि की है। विधानपारिजात की यह विशेषता है कि वह सगोत्र विवाह से दूषित कन्या के पुनर्विवाह का विधान करता है। माता के गोत्र के सम्बन्ध में

१०६ निर्णयसिन्धु पृ०२२७। अनेक निबन्धग्रन्थों में शातातप के नाम से दिये गये निम्न वचन में माता के गोत्रवाली कन्या से शादी करने पर चान्द्रायण व्रत का विधान है—मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायण-माचरेत्। (प्रवर मंजरी पृ० ९४, सं. प्र. पृ० ६८३)। सं. प्र. ने काण्व गृह्य के नाम से भी इस विषय में एक वचन दिया है। कुछ लोग यह मानते थे कि गोत्र का अर्थ यहाँ नाम है, मातृगोत्र का अर्थ माता के नाम वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए (सं. प्र. पृ० ६८४)। मित्रमिश्र का मत है कि यह व्यवस्था नाना के गोत्र में अथवा मामा की लड़की से विवाह के निषेध के लिए है (वही पृ० ६८५)।

१०७ वही

१०८ संस्कारप्रकाश, पृ० ६८१

१०९ वही, पृ० ६८४

अधिक झुकाव इसी ओर है कि माध्यंदिन शाखा के ब्राह्मण ही माता के गोत्र का परिहार करें, दूसरों के लिए यह निषेध नहीं है।

इस प्रकार हमने यह देखा कि वैदिक युग में गोत्र-प्रवर की पद्धति बीज रूप में थी, ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम समय आठवीं शती ई० पू० में सगोत्र विवाह का यह प्रतिबन्ध शुरू हुआ। धर्मसूत्रों ने सर्वप्रथम इस प्रतिबन्ध को स्थिर एवं दृढ़ बनाना चाहा, उनके समय में संभवतः यह व्यवस्था सर्वमान्य नहीं हुई, उन्होंने इसके प्रायश्चित्त और दण्ड उल्लेख ही रखे। दूसरी शती ई० के बाद तक गोत्र का नियम समाज में अच्छी तरह प्रचलित हो चुका था, पर कभी-कभी इसका भंग हो जाता था। इन उल्लंघनों को रोकने के लिए स्मृतिकारों ने दण्डों की व्यवस्था की, नारद ने कहा कि इस पाप के लिए शिश्नोत्कर्तन के अतिरिक्त कोई दण्ड नहीं हो सकता। किन्तु इन स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान की निन्दा नहीं की। मध्यकाल के टीकाकारों ने सगोत्र विवाह से उत्पन्न सन्तान को चांडाल कहा और प्रायश्चित्तों की कठोरता यथापूर्व रखी। मेधातिथि ही एक ऐसा टीकाकार है जिसने ऐसी सन्तान को चांडाल नहीं कहा। १२ वीं शती के बाद के निबन्धकारों ने उपर्युक्त व्यवस्थाएँ यथापूर्व रखीं, माध्यंदिन शाखा वाले ब्राह्मणों में माता के गोत्र के परिहार पर बल दिया गया और विश्वनाथशास्त्रिजात ने सगोत्र विवाह से दूषित कन्या के पुनर्विवाह की व्यवस्था की। अब वर्तमान काल में हिन्दू समाज में प्रचलित गोत्र सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन होगा।

आधुनिक युग

वर्तमान समय में हिन्दू समाज में गोत्र के प्रतिबन्ध का पूरा पालन होता है। विवाह के समय गोत्र (गोल, मूल या डीह) की भिन्नता का अवश्य विचार किया जाता है। कई स्थानों पर तो गोत्रविषयक लौकिक प्रतिबन्ध शास्त्रीय मर्यादाओं की अपेक्षा बहुत कड़े हैं। धर्मशास्त्रों ने सामान्यतः पिता का गोत्र छोड़ने की व्यवस्था की है तथा कुछ निबन्धकार माध्यंदिनीय ब्राह्मणों के लिए माता के गोत्र को भी छोड़ने के लिए कहते हैं। किन्तु बिहार में चार, सात और नौ अन्य गोत्र भी छोड़े जाते हैं। उदाहरणार्थ ग्वालों में ये नौ गोत्र छोड़े जाते हैं—१. अपना गोत्र, २. माता का गोत्र, ३. नानी का गोत्र, ४. परनानी का गोत्र, ५. दादी का गोत्र, ६. परदादी का गोत्र, ७. पर परदादी का गोत्र, ८. दादी की माता का गोत्र, ९. परदादी की माता का गोत्र।[११०] यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्य जातियों में गोत्र विषयक प्रतिबन्ध कई बार ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक कड़े होते हैं। बिहार के ग्वालों का उपर्युक्त उदाहरण इसी बात की पुष्टि करता है। अनेक जातियाँ ब्राह्मणों की व्यवस्था को उनसे भी अधिक

११० रिजली—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ बंगाल, खण्ड १, पृ० २८५

उपता से लागू करके, अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा करने का यत्न कर रही है। एक मंगोल नस्ल वाली सूरजवंशी जाति ने १८७१ में ब्राह्मण गोत्रों को ग्रहण किया है।[१११] राजपूतों और जाटों के सम्बन्ध में प्रायः यह सन्देह प्रकट किया जाता है कि वे भारत में बाहर से आयी हुई जातियाँ हैं, किन्तु इस समय प्रायः सभी राजपूत सूर्य और चन्द्रवंशी तथा ब्राह्मण गोत्रों वाले हैं। जाटों ने अभी तक ऋषियों के गोत्रों को ग्रहण नहीं किया, किन्तु उनमें गोत्र विषयक नियमों का पालन बड़ी कड़ाई से होता है।[११२]

वर्तमान गोत्रों के विभिन्न रूप

इस समय भारत की विविध जातियों में कई प्रकार के गोत्रों का प्रचलन है। ब्राह्मणों तथा हिन्दुओं की अन्य उच्च जातियों में तो प्राचीन ऋषियों के नाम वाले वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज, कश्यप आदि गोत्रों का प्रचलन है, किन्तु कुछ जातियों में गोत्र पशुओं और पेड़ों के पवित्र लांछनों (Totem) के नाम पर हैं। दक्षिण की द्रविड़ जातियों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनके गोत्र विषयक प्रतिबन्ध तो धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं के अनुसार हैं, किन्तु गोत्रों के नाम पशु, पक्षी, पेड़ आदि पर हैं। इन्हें वे इतना पवित्र समझते हैं कि उसे मारने, खाने या किसी प्रकार के उपयोग करने से सख्त परहेज करते हैं और एक गोत्र या लांछन वालों में शादी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भीलों में एक आवा जाति है;[११३] आवा का अर्थ है तितली। इस जाति वाले

[१११] वही—खंड २, पृ० २८५

[११२] फ्रेजर—टोटेमिज्म एण्ड एक्सोगेमी, पृ० २८३। वर्तमान समय में भारत की विविध जातियों में प्रचलित गोत्र सम्बन्धी नियमों को जानने के लिए विभिन्न प्रदेशों की जातियों के सम्बन्ध में प्रकाशित ये सरकारी प्रकाशन विशेष रूप से उपयोगी हैं: रोज—ए ग्लासरी आफ दी पंजाब एण्ड नार्थ वेस्टर्न फ्रण्टियर प्राविन्सेज ३ खण्ड; क्रुक—दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज ४ खण्ड १८९६; रिज़ली—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ बंगाल ४ खण्ड १८९१; थर्स्टन—कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ सदर्न इण्डिया ६ खण्ड १९११; एन्थोवन—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बाम्बे ३ खण्ड; रसेल—ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ सेण्ट्रल प्राविन्सेज आफ इंडिया ४ खण्ड १९१६।

[११३] मध्य प्रदेश की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट पृ. १९८, इनके अन्य टोटेम सांप, बाघ, बांस, पीपल आदि पेड़, गाओला नामक एक विशेष लता है, जिस पर पैर पड़ जाने पर वे उसे प्रणाम करके उससे क्षमा मांगेंगे। भारतवर्ष की विभिन्न जातियों

तितली को नहीं मारेंगे, उसे पूज्य समझेंगे और आधा जाति वालों में परस्पर शादी नहीं होती। तितली इस जाति का लांछन (Totem) कहलाता है। तेलुगू लोगों में गोल्ला नाम की एक बड़ी गड़रिया जाति है।[114] इसमें राधिन्दला नाम के गोत्र वाली एक उप-जाति है। यह पीपल (Ficus Religosa) का नाम है। इस उपजाति के लोग खाने के लिए या किसी अन्य कार्य के लिए इस पेड़ के पत्तों का उपयोग बिलकुल नहीं करते। इसी प्रदेश में किसानों, जुलाहों और मछुओं की एक बड़ी जाति कुरुबा है। इस जाति के बहुत से लोगों का गोत्र अग्गिमान अर्थात् केसर था। अतः इस जाति के लोग केसर का उपयोग न कर सकते थे। उन्हें जब इसमें असुविधा हुई तो उन्होंने अपना नाम वही रखते हुए अग्गिमान का अर्थ केसर के बदले कंगा नामक एक अनाज का दाना किया, ताकि वे केसर का उपयोग कर सकें।[115] गोंड जातियों में गोत्र का नियम इस बात पर अवलम्बित है कि कौन कितने देवी-देवता पूजता है। यदि दो व्यक्ति चार या पांच-पांच देवताओं की पूजा करते हैं तो उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार वर्तमान समय में भारत में हजारों गोत्र प्रचलित हैं।

के टोटेमों का सुन्दर परिचय रिजली की पीपल आफ इंडिया (पृ० ९३–१०२) में है।

११४ इसके कुछ अन्य गोत्र ये हैं—अबूल (बेल), चिन्चल (इमली), गुर्रम (घोड़ा), गोर्रला (भेड़), गोरंटला (मेंहदी), कटारी (छुरी), नक्कल (स्यार), उल्लिपोयल (प्याज), बकयल (बैंगन), दे० अनन्त कृष्ण अय्यर—माईसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, खं. १, पृ० २४२–२६३। यहां कोमटी वैश्यों में निम्न टोटेमया गोत्र हैं: आंवला, नींबू, कद्दू, चना, लाल, नील और श्वेत कमल, करेला, उड़द, केला, पीपल, मेथ, आम, अनार, गेहूं, अंगूर, खजूर, ईख, मूली, जायफल, सरसों, चन्दन, इमली, सिंदूर, कपूर, (वही पृ० २५१)। मैसूर के तांतियों के ६६ गोत्रों में से कुछ ये हैं—भैंसा, बैल, घोड़ा, नाग, गोरैया, शंख, चील, जीरा, केवड़ा, दूब, पीपल, केसर, हल्दी, (वही पृ० २५३)। दक्षिण के ऐसे गोत्रों के कुछ मुख्य नामों के लिए दे० क्षितिमोहनसेन—भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० ११२–११५। उत्तर भारत में ऐसी प्रथा कम है, अग्रवालों में बंसल, कंसल ऐसे गोत्र बताये जाते हैं (१९०१ की पंजाब की जनगणना रिपोर्ट, खं. १)। मिर्जापुर की अगरिया जाति के गिद्ध, कछुआ, पलाश गोत्रों का आगे उल्लेख होगा।

११५ फ्रेजर—पू. पु., पृ० २८. संभवतः श्रीरामचन्द्र की सेना के वानर ऋक्ष अपनी जाति का लांछन बन्दर और रीछ मानने वाली जातियां थीं। प्राचीन और अर्वाचीन भारत की ऐसी जातियों के संक्षिप्त परिचय के लिए देखिये—क्षितिमोहन सेन-भारत में जाति भेद, पृ० १०५–११५।

गोत्रों का वर्गीकरण

श्री रिज़ली ने इन गोत्रों को पांच वर्गों में विभक्त किया है।[११६] १. लांछनात्मक (Totemistic) गोत्र—ये पशुओं, फूल-पत्तियों और वनस्पतियों के नाम पर हैं। २. मूल-पुरुष वाचक (Eponymous) गोत्र—ये ऐसे ऋषियों व राजाओं के नाम हैं जो विशेष जातियों के मूल पुरुष माने जाते हैं। ३. प्रादेशिक (Territorial) गोत्र—ये जातियों के मूल निवास स्थान या जाति के मूल पुरुष के स्थान को सूचित करते हैं। ४. उपाधिवाची अथवा उपनामवाची (Titular) गोत्र—इनसे गोत्र प्रवर्तक की वैयक्तिक विशेषता या महान् कार्य की सूचना मिलती है। ५. स्थानीय या पारिवारिक (Local or Family) गोत्र। इन पाँचों वर्गों के नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, ताकि वर्तमान काल के गोत्रों के स्वरूप का अच्छी तरह पता लग सके।

१. लांछनात्मक (Totemistic) गोत्र—दक्षिण में इस प्रकार के गोत्रों का अधिक प्रचलन है। नेल्लोर ज़िले की आरण्यक चंचु जाति में गरंग (भौंरा), अरटि (केले का वृक्ष), मेकल (बकरी) के गोत्र पाये जाते हैं।[११७] आन्ध्र देश की प्रमुख व्यापारिक जाति बलिजा में पुली (बाघ), बल्ली (छिपकली) नेमिली, (मोर) नारिकेल्ल (नारियल) के गोत्र हैं।[११८] तेलुगू गोल्लाओं के कुछ गोत्रों की ऊपर (पृ० ७१) चर्चा हो चुकी है। तेलुगू भाषाभाषी गोल्लाओं में बाग, इमली, काल, पत्थर, घोड़ा, गीदड़ के गोत्र हैं।[११९] बस्तर के मुरिया गोंड़ों में आम (मरकाम), साम्भर (टेकाम), कुत्ते (नेताम) के गोत्र हैं।[१२०] आन्ध्र के कृषकों में रेड्डी या कापु नामक एक बहुत बड़ी जाति है। इनमें गौ, गाड़ी, भैंस, भेड़, मैना, हाथी के नाम पर गोत्र हैं।[१२१] इसी प्रदेश के चमारों की मदिगा जाति में चांदी, मेंढक, गधा, टिड्डी, गौ, बिच्छू, चमेली के गोत्र पाये जाते हैं।[१२२] बेलारी, कृष्णा, मदुरा ज़िलों में बसने वाली कुरुबा जाति के कुछ गोत्रों के नाम ये हैं— अग्नि (आग), आने (हाथी), अरिवा चन्द्र, बेन (चुहिया) बन्दी (छकड़ा), मल्ली (चमेली), चन्ना (घी)[१२३]। मुंडा जाति के गोत्रवाचक कुछ लांछन

[११६] रिज़ली—दी पीपल आफ इंडिया (लंदन १९१५), पृ० १६१
[११७] थर्सटन—कास्टस् एण्ड ट्राइब्स आफ सदर्न इण्डिया, भाग २ पृ० ३९
[११८] वही—भाग १ पृ० १४१
[११९] वही—भाग २ पृ० २६१
[१२०] रसेल—ट्राइब्स एण्ड कास्टस् आफ सेन्ट्रल प्राविन्सिज़ आफ इंडिया, भाग ३, पृ० ६४–७२
[१२१] थर्सटन वही, पृ० २३१
[१२२] वही भाग ४, पृ० ३१९
[१२३] " " पृ० १४२

इस प्रकार है—अम्बा (आम), चौरिया (चूहा), बुध (बुधवार), छाता, बगघर (बाघ), गिद्ध, काग, कवान (कौवा) और नमक[१२४]। मिर्जापुर (यू० पी०) में अगरिया नाम की एक द्रविड़ जाति बसती है। इसमें गिद्ध, कछुआ और पलाश के गोत्र पाये जाते हैं।[१२५] इसी प्रकार के गोत्रों के उदाहरण अन्य बीसियों जातियों में पाये जाते हैं, किन्तु लांछन की प्रवृत्ति को सूचित करने वाले इतने गोत्रों का नाम पर्याप्त है।

२. **मूलपुरुष वाची** (Eponymous) **गोत्र**—ब्राह्मणों की तथा क्षत्रियों की अधिकांश जातियाँ धर्मशास्त्रों में वर्णित ऋषियों को अपना मूलपुरुष तथा गोत्र मानती हैं। प्राचीन राजाओं को अपना मूल पुरुष मानने वालों में अग्रवाल एक प्रमुख जाति है। इनके मूलपुरुष राजा अग्रसेन थे। इनकी १८ रानियाँ थीं। उन्होंने प्रत्येक रानी के साथ एक-एक यज्ञ किया। इन यज्ञों के १८ पुरोहितों से अग्रवालों के गोत्र चले। १८ वाँ यज्ञ पूरा नहीं हो सका था, अतः अग्रवालों में १७ गोत्र हैं।[१२६] भाटिया सिन्ध और गुजरात की प्रसिद्ध व्यापारिक जाति है। इनमें ऋषियों के नाम वाले गोत्र हैं, किन्तु ये नुख में विभक्त हैं। ये नुखें विभिन्न व्यक्तियों व स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे राय हरिया अर्थात् राजा हरिसिंह की नुख, राय गजरिया अर्थात् गजरिया गांव वाले राजा की नुख। एक व्यक्ति अपने गोत्र में शादी कर सकता है किन्तु अपने नुख में नहीं।[१२७] कम्मलान तमिल कारीगरों की जाति है। यह पेशे के लिहाज से सुनार, ठठेरा, बढ़ई, राज और लुहार नामक पाँच हिस्सों में बंटी है। इन पाँच हिस्सों को पांचाल भी कहते हैं। इनके गोत्र विष्णु, जनक, ब्रह्मि, जनार्दन, उपेन्द्र आदि ऋषि हैं।[१२८] लिंगायत दक्षिण महाराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर तथा मद्रास के उत्तर पश्चिमी भागों में फैले हुए हैं। इन्होंने ब्राह्मणों की भाँति अपने उपास्यदेव से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं के नाम पर अपने पाँच गोत्र नियत किये हैं। इन गोत्रों के नाम ये हैं—नन्दी, भृंगी, वीर, वृष, स्कन्द।[१२९] बंगाल के माली यद्यपि शूद्र समझे जाते हैं किन्तु उनमें कश्यप, मुद्गल और शाण्डिल्य आदि गोत्र प्रचलित हैं।

३. **प्रादेशिक** (Territorial) **गोत्र**—संयुक्त प्रान्त के बनियों में अगरहारी एक उपजाति है। इनमें गोत्र स्थानों के नाम पर हैं। जैसे अयुध्यावासी (अयोध्यावासी), पुरबिया (पूरब के निवासी), पछिवाहा, (पश्चिम के निवासी), माहुली (माहुल परगना

[१२४] रिज़ले—पू. पु. पृ. १०२
[१२५] कुक—पू. पु., खं. १ पृ., २–३
[१२६] वही, खण्ड १, पृ० १५–१६
[१२७] वही, खं. २, पृ० ४०–४१
[१२८] थर्सटन—पू. पु., खं. ३, पृ० १०८
[१२९] एन्थोवन—पू० पु०, खं० २, पृ० ३५६

जिला आजमगढ़ के निवासी)।[130] संयुक्त प्रान्त के घरेलू नौकरों की एक जाति धारी है। इसमें ५०३ गोत्र हैं और ये गोत्र अधिकतर स्थानों के नाम से हैं, जैसे कनौजिया, मथुरिया, बिलखरिया, इनमें आपस में बिल्कुल विवाह नहीं हो सकता। गूजर पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की महत्वपूर्ण कृषक जाति है। जनगणना की सूची[131] में उनके ११७८ गोत्र गिनाये गये हैं। इनमें से अधिकांश गोत्र स्थानों के नाम पर हैं।[132] बिहार में गोत्र को मल कहते हैं। अहीरों और ग्वालों के मूल स्थानवाचक हैं। संयुक्त प्रान्त के कायस्थ १२ भेदों में विभक्त हैं और इनमें माथुर (मथुरा के निवासी) आदि अनेक भेद स्थान वाची हैं।[133] खत्री पंजाब की प्रसिद्ध जाति है। इनके बारी, बुजाही और सरीन तीन मुख्य भेद हैं।[134] पहले में १२ तथा दूसरे में ५२ गोत्र हैं। इनमें से अधिकांश प्रादेशिक हैं। इनमें तीन भाग कपूर, खन्ना और मेहरा कौशल गोत्र के होते हुए भी परस्पर शादी करते हैं। नुनियां उत्तर एवं मध्यप्रदेश की एक जाति है, मिर्जापुर में यह जाति दीहों में बटी है। दीहों के नाम गांव के नाम से है। रत्नगिरि की सुथार (बढ़ई) जाति के विभिन्न वर्ग गांवों के नाम पर हैं। एक गांव के सुथार परस्पर विवाह नहीं करते।[135]

४. उपाधिवाची (Titular or Nickname) गोत्र—मध्यप्रान्त की भुयार नामक कृषक जाति १०० से ऊपर कुलों में बंटी हुई है। इनमें परस्पर विवाह नहीं होता। ये कुल उपाधिवाचक हैं, जैसे हजारी (१ हजार सिपाहियों के नेता), देशमुख (चौधरी या मुखिया) पिंजारी (रुई धुनने वाला)[136] छोटानागपुर की मुण्डा जाति में ठाकुर, प्रधान, छतरिया, (राजा का छत्र उठाने वाला), अमात (अमात्य) गोत्र हैं।[137] कंजर भारत की घिरन्दर जातियों में से है। इनके गोत्र पेशों के आधार पर हैं, जैसे पहलवान, कुशबन्ध (कुशा घास इकट्ठा करने वाला), फासवार (गला घोंटने वाला), सोंगर (सांप पालने वाला) और जल्लाद। इनमें आपस में विवाह नहीं होता।[138]

५. स्थानीय जातियां या पारिवारिक गोत्र—ये गोत्र उपर्युक्त श्रेणियों से भिन्न एवं कुछ थोड़े से स्थानों तक सीमित हैं। चांदा के गोंडों में उपास्य देवताओं की

[130] क्रुक—नॉ० प्र० खं० १, पृ० ३४
[131] क्रुक—पू० पृ०, पृ० २०२
[132] क्रुक—वही, खं० २ पृ० ४४३-४
[133] क्रुक—वही, खं० ३ पृ० १६४
[134] रोज—पू० पु०, खं० २, पृ० ५१२
[135] रसेल—पू० पु०, खं० ४ पृ० २६
[136] एन्थोवन पू० पु० खं० ३, पृ० ३५७
[137] रसेल—वही, खं० २, पृ० ३०१-२
[138] वही, खं० २, पृ० ३१६

संख्या से गोत्र विभाग होता है। उन गोत्रों में ४, ५, ६ और ७ देवताओं की पूजा करने वाले ४ मुख्य वर्ग हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ग में १० से १५ तक गोत्र हैं। विवाहों में भिन्न-गोत्रता तो अवश्य है, किन्तु साथ ही उपास्य देवताओं की संख्या की दृष्टि से भिन्न वर्गों का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। छिन्दवाड़ा में ६ और ७ देवताओं की पूजा करने वाले दो वर्ग हैं। इन वर्गों में से प्रत्येक वर्ग के लोग परस्पर भाई-बन्द समझे जाते हैं और उनमें परस्पर विवाह नहीं हो सकता।[139] उड़ीसा की एक जाति कुसुमी है। इस जाति में यह प्रथा है कि जिनका गृह देवता एक है वे एक ही जाति या गोत्र के समझे जाते हैं। उनमें परस्पर विवाह नहीं होता है।[140] मदुरा की नटकोटै चेट्टी नामक जाति व्यापार का कार्य करती है, यह ६ गोत्रों या वर्गों में विभक्त है। इन गोत्रों का नाम उन कोविलों (मन्दिरों) के आधार पर है जहाँ वे पूजा करते हैं।[141]

वर्तमान समय में एक ओर जहाँ बिहार के सुनार सात और ग्वाले विवाह में नौ गोत्रों का परिहार आवश्यक समझते हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें गोत्र का नियम बिल्कुल नहीं पाया जाता। ये जातियाँ विवाह को सपिण्डता या माता-पिता की पीढ़ियों से मर्यादित करती हैं। संयुक्त प्रान्त के बहेलियों,[142] अहेरियों[143] में गोत्र का कोई नियम नहीं है। पश्चिमी बंगाल की पालकी उठाने वाली बोरी जाति ने यद्यपि ब्राह्मण गोत्रों को स्वीकार किया है किन्तु उनके विवाह में सगोत्रता बाधक नहीं है।[144] चमारों, केंवों, धोबियों, डोमों में गोत्र की पाबन्दी नहीं है।[145] श्री करन्दीकर ने ऐसी ५१ जातियों की एक सूची दी है जिनमें विवाह में सगोत्रता बाधक नहीं है।[146]

वर्तमान काल की गोत्र पद्धति की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) शास्त्र में वर्णित तथा प्रतिपादित गोत्रपद्धति हिन्दू समाज के उच्च वर्ग, विशेषतः ब्राह्मण जाति तक ही सीमित है।

(२) उच्चवर्ग के अतिरिक्त शेष हिन्दू समाज में गोत्र सम्बन्धी व्यवस्था का आधार और स्वरूप एक जैसा नहीं है। इन जातियों के गोत्र वनस्पतियों, पशुओं, महापुरुषों, प्रदेशों, उपाधियों, देवताओं आदि विविध आधारों पर कल्पित किये गये हैं।

१३९ क्रुक—पू० पु०, खं० ३, पृ० १३७—८
१४० रसेल—वही, खं० ३, पृ० ६६
१४१ थर्सटन—वही खं० ४, पृ० १०८
१४२ थर्सटन—वही, खं० ५, पृ० २६१
१४३ क्रुक—पू० पु०, खं० १, पृ० १०६
१४४ वही-वही पृ० ४१
१४५ रिजली—खं० १ पृ० ७६
१४६ करन्दीकर—हिन्दू एक्सोगेमी, पृ० २४७—२५८

(३) हिन्दू समाज में हीन समझी जाने वाली जातियाँ अपनी सामाजिक स्थिति उन्नत करने के लिए ब्राह्मणों के गोत्रों को ग्रहण कर रही हैं, इनमें से कई जातियों ने अपने लांछनों को शास्त्रीय गोत्रों का रूप दे दिया है, कुछ ने मनमाने गोत्रों की कल्पना कर उन्हें ग्रहण कर लिया है। इसका प्रधान प्रेरक हेतु उच्चवर्णों की परम्परा का अनुसरण अपने दर्जे को ऊंचा उठाना है। अनेक लेखकों ने इसे निम्न जातियों में ब्राह्मणीकरण की प्रवृत्ति कहा है। इन जातियों द्वारा ब्राह्मण गोत्रों के ग्रहण कर लेने पर भी विवाह में इनका उपयोग कम होता है। बंगाल में बेरुआ, भुईमाली, राजवंशी, दासीभाई, धीवर, मलहर और बैंती जातियों में केवल एक गोत्र होता है, इनका विवाह पर कोई प्रभाव नहीं है। सूरत में कुम्हारों तथा कुछ अन्य बनिया जातियों में ऐसी स्थिति है। मद्रास में कर्मसाले पडुशाला और तांन्तियों में एक ही गोत्र होता है, किन्तु इनके साथ अनेक बहिर्विवाही वर्ग होते हैं। बेस्ता जाति काश्यप और कौण्डिल्य नामक दो वर्गों में बंटी है किन्तु विवाह में इनका कोई महत्व नहीं है। नीची जातियों में काश्यप और मार्कण्डेय गोत्र बहुत लोकप्रिय है।[१४७]

(४) दक्षिण भारत की गोत्रपद्धति उत्तर भारत की पद्धति से अनेक अंशों में मौलिक भेद रखती है। इसमें गोत्र ऋषिवाची नहीं, किन्तु गोत्रात्मक (Tote-mistic) है। बहिर्विवाही वर्गों में विवाह करने के कुछ ऐसे नियम हैं, जिनसे नजदीकी रिश्तेदारों में अधिक विवाह होते हैं। उत्तर भारत का चार गोत्रों के परिहार का नियम दक्षिण भारत में नहीं पाया जाता। स्थानीय बहिर्विवाह (Local exogamy) का उत्तर भारत में अधिक प्रचलन है।

(५) गोत्र का नियम हिन्दू समाज में सार्वभौम नहीं है। अनेक जातियों में एक गोत्र वालों में परस्पर विवाह हो सकता है, इनमें से सपिण्डता का ही नियम प्रचलित है और इसके आधार पर निकट सम्बन्धियों में विवाह का वर्जन किया जाता है।

गोत्र के नियम की अनावश्यकता

वर्तमान काल में इस नियम का विवाह में विशेष उपयोग नहीं है। गोत्र को बनाये रखने के पक्ष में दो प्रधान युक्तियाँ दी जा सकती हैं—(१) गोत्र रक्त सम्बन्ध को सूचित

[१४७] १९११ की भारत की जनगणना की रिपोर्ट सं० १, भाग १, पृ० २५०
पेट ने भारत की १९११ की जनगणना रिपोर्ट में ऐसी अनेक जातियों के उदाहरण दिये हैं। उड़ीसा में एक गोत्र वालों में परस्पर विवाह केवल ब्राह्मण जातियों में ही वर्जित है। बम्बई में अनावल ब्राह्मण एक गोत्र में विवाह कर सकते हैं बशर्ते कि वर-वधू सात पीढ़ियों से बाहर के हों, औदीच्य ब्राह्मणों में उपपद या अटक (surnames) की विभिन्नता होने पर सगोत्र

करता है और सुप्रजनन शास्त्र की दृष्टि से यह आवश्यक है कि नजदीकी रिश्तेदारों में शादी न हों। (२) धर्मशास्त्रों में सगोत्र विवाहों का निषेध है। यदि लोक प्रचलित धारणा के अनुसार यह मान लिया जाय कि गोत्र रक्तसम्बन्ध को द्योतित करते हैं, जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गौतमादि ऋषियों की वंशपरम्परा अनवच्छिन्न रूप से चली आ रही है, तो हमें यह भी मानना चाहिए कि भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि प्रारम्भ हुए १ अरब ९७ करोड़ वर्ष हो चुके हैं। इन दो अरब वर्षों में ऋषियों के बाद लाखों पीढ़ियाँ गुजर चुकी हैं। निकट सम्बन्धियों के विवाहों में हानि सम्भव है। इनमें शादी रोकने के लिए हिन्दू समाज में माता-पिता की पांच और सात पीढ़ी छोड़ने का विधान है। इस नियम के रहते हुए सुप्रजननशास्त्र की दृष्टि से गोत्र का प्रतिबन्ध अन्यथासिद्ध और निरर्थक है। गाल्टन के नियम के अनुसार पितृ-परम्परा से प्राप्त गुणों की विशेषताएँ प्रत्येक पीढ़ी में आधी रह जाती हैं। पर गोत्र के नियम में हम लाखों पीढ़ियों के अन्तर को भी पर्याप्त नहीं समझते। प्राचीन काल में विश्वामित्र के गोत्र वालों के लिए निकट सम्बन्धी होने के कारण प्रतिबन्ध लगाना भले ही आवश्यक समझा गया हो, किन्तु आज उसे उतनी दृढ़ता के साथ उसी रूप में स्वीकार करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। यदि गोत्र की यही पाबन्दी माननी है तो यह क्यों नहीं माना जाता कि ब्रह्मा के मानसपुत्र भरद्वाज वसिष्ठ आदि परस्पर भाई थे। उनकी सन्तानें भी नजदीकी रिश्तेदार हैं। उनमें परस्पर विवाह क्यों किया जाता है। गोत्र की व्यवस्था को यदि उपर्युक्त क्रम से तर्कपूर्वक सोचना शुरू करें तो हिन्दू जाति में विवाह ही नहीं होना चाहिए।

गोत्र की पाबन्दी शास्त्रीय है, अतः वह मान्य है; यह कोई प्रबल युक्ति नहीं है। इस युक्ति का बल तभी माना जा सकता था जब हम अन्य बातों में भी धर्मग्रन्थों का पूरा पूरा अनुसरण कर रहे हों। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्येक गृहस्थ के लिए अग्न्याधान एक पवित्र एवं अनिवार्य कर्त्तव्य है, किन्तु आज हजारों या लाखों हिन्दुओं में से कोई एक अग्निहोत्री मिलेगा। वैदिक युग के आर्यधर्म तथा आज के हिन्दू सनातन धर्म में आकाश पाताल का अन्तर है। हमने तरुण विवाह तथा विधवा विवाह के वैदिक आदेशों के सर्वथा विपरीत छोटी बालिकाओं के विवाह को तथा बाल विधवाओं को यावज्जीवन विधवा बनाये रखना धर्म समझा। इस विषय में सनातन नियमों का ध्यान नहीं रखा, तो सगोत्रता के विषय में ही हमारा इतना आग्रह क्यों है?

एक गोत्र वालों की संख्या विशाल होने पर गोत्र का नियम शिथिल करना

विवाह संभव है। मोढ़ ब्राह्मणों में प्रवरभेद होने पर एक गोत्र वाले शादी कर सकते हैं। बिहार के शाकद्वीपी ब्राह्मण सगोत्रता को विवाह में बाधक नहीं मानते। आसाम, गढ़वाल और मारवाड़ के ब्राह्मण गोत्र के नियम का पूरी तरह पालन नहीं करते हैं।

ही पड़ता है। प्राचीन काल में भृगु और अंगिरा गण के गोत्रों के लिए यह नियम ढीला किया गया था। श्येन, मित्रयु और शुनक भृगु गोत्र के होते हुए भी परस्पर शादी कर सकते थे। इसी तरह पृषदश्व, मुद्गल, विष्णुवृद्ध, कण्व, अगस्त्यहारी, कपि, यज्ञ और संकृति गोत्र वालों में परस्पर विवाह की अनुमति थी। आजकल भी हिन्दुओं में अनेक जातियों में एक गोत्र में विवाह हो सकता है। बिहार के छपरा जिले में सनाढ्य ब्राह्मणों के घर बहुत कम है, वे अपनी जाति से बाहर शादी नहीं कर सकते और अपनी जाति वालों से शादी करने में गोत्र का नियम बाधक है। जाति का नियम तोड़ना कठिन है, अतः उन्होंने गोत्र का नियम तोड़ लिया है।[148] दक्षिणी बिहार के सकल शाकद्वीपी ब्राह्मण अपने गोत्र में शादी करते है। पंजाब के सारस्वतों में अपने गोत्र में विवाह हो सकता है।[149] अग्रवालों में गर्ग गोत्र बहुत अधिक पाया जाता है। इसकी व्यापकता से विवाहों में बहुत कष्ट अनुभव होता था, अतः अग्रवालों ने यह नियम बना लिया है कि गर्ग गोत्र वालों में आपस में विवाह हो सकता है।

१९४६ ई० तक सगोत्र विवाहों को कानूनी दृष्टि से वैध नहीं माना जाता था। १८७२ के विशेष विवाह कानून तथा १९२३ के संशोधित विवाह कानून के अनुसार गोत्र की भिन्नता विवाह के लिए आवश्यक नहीं थी, किन्तु इन कानूनों के अनुसार दीवानी (Civil) विवाह ही हो सकते थे। धार्मिक विधि से किये गये विवाह में असगोत्रता के नियम के सम्बन्ध में विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णय एक जैसे नहीं थे।

वर्तमान न्यायालय और सगोत्र विवाह

१९४६ ई० से पहले तक अदालतें यह मानती थी कि सामान्य रूप से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जातियों में गोत्र का नियम एक सम्मानित प्रथा है।[150] किन्तु १९३३ में लाहौर हाईकोर्ट ने अग्रवाल वैश्यों में सगोत्र विवाह की प्रथा की वैधता इस आधार पर स्वीकार की कि क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्र-प्रवर उनके पुरोहितों के आधार पर होने के कारण रक्त सम्बन्ध के सूचक नहीं है।[151] १९४६ में बम्बई हाईकोर्ट ने भी सगोत्र विवाह की अनुमति देने वाले एक रिवाज को स्वीकार किया।[152] इलाहाबाद हाईकोर्ट ने यह निर्णय दिया कि एक हिन्दू विधवा अपने पिता का गोत्र रखने वाले पुरुष

१४८ भगवानदास—पुरुषार्थ
१४९ जोगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य—हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्टस्, पृ० ४८-५६
१५० रामचन्द्र बनाम गोपाल (१९०८) ३२, बं. ६१९, ६२७ मीनाक्षी ब. रामनाथ (१८८८) ११ म० ४९, ५१ फुलबेंच
१५१ श्रीकृष्ण बनाम श्यामसुन्दर आ० इ० रि० १९३३ ला० ५८५
१५२ माधवराव बनाम राघवेन्द्रराव इ० ला० रि० (१९४६) बम्बई ३७५

से वैध विवाह कर सकती है, क्योंकि पहले विवाह के बाद पतिकुल में आने पर वह पिता का गोत्र छोड़ कर पति का गोत्र ग्रहण कर लेती है; यह गोत्र पिता के गोत्र से भिन्न होता है, अतः पिता के गोत्र में उसका विवाह विधिसम्मत है।[१५३] यह तर्क इसलिए नहीं ठीक प्रतीत होता कि याज्ञ० स्मृति में यह कहा गया है कि कन्या असमान गोत्र और प्रवर में उत्पन्न होनी चाहिए (असमानार्षगोत्रजाम् १।५३)। पति का गोत्र वह उसी समय तक रखती है, जब तक वह पत्नी की स्थिति में रहती है, विधवा होने पर पुनर्विवाह के लिए वह पति का गोत्र नहीं रख सकती क्योंकि उस समय तो वह गोत्र देखा जायगा, जिसमें वह उत्पन्न हुई है और वह गोत्र उसके पिता का ही है, अतः इसमें उसका विवाह वैध नहीं होना चाहिए।[१५४] नये कानून ने इन सब विवादों का अन्त कर दिया है।

हिन्दू विवाह अयोग्यता निवारक कानून—(१६४६ का अट्ठाइसवाँ कानून) ने सगोत्र विवाहों को वैध बनाते हुए इस विषय में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। इस कानून की दूसरी धारा के अनुसार जो विवाह अन्य दृष्टियों से वैध है, वह केवल इस तथ्य के कारण अवैध नहीं होगा कि वर-वधू समान गोत्र या समान प्रवर के हैं। १६५५ के हिन्दू विवाह कानून की धारा २६ में यह व्यवस्था दोहरायी गयी है और इस प्रकार वर्तमान काल में हिन्दू विवाह में असगोत्रता के नियम का कानूनी तौर से अन्त हो गया है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं प्राचीन काल से चली आने वाली इस व्यवस्था का हिन्दू समाज से सहसा लोप होना संभव नहीं है। परम्परावादी हिन्दू इस प्राचीन रूढ़ि का पालन करते रहेंगे। नये कानून ने केवल इतना कार्य किया है कि भविष्य में सगोत्र विवाह अवैध नहीं माना जा सकेगा।

गोत्र प्रायः पितृवंशमूलक होता है, अतः गोत्र के प्रतिबन्ध के कारण पितृपक्ष के संबन्धियों के साथ विवाह वर्जित होता है। किन्तु केवल गोत्र का नियम होने पर मातृपक्ष के सम्बन्धियों, मामा की लड़की आदि अनेक निकट सम्बन्धियों के साथ विवाह संभव था। ऐसे विवाहों को रोकने के लिए असपिण्डता का नियम बनाया गया था। अगले अध्याय में इसका प्रतिपादन किया जायगा।

१५३ राधानाथ मुकर्जी बनाम शक्तिपद मुकर्जी (१६३६) ५८ इला० १०५१
१५४ मेन—हिन्दू ला (मद्रास १६५३), पृ० १६०

अध्याय ३

बहिर्विवाह–सपिण्डता

सपिण्डता का सामान्य अर्थ

हिन्दू समाज में बहिर्विवाह का प्रतिबन्ध दो प्रकार का है, एक तो यह कि विवाह अपने गोत्र और प्रवर से बाहर होना चाहिए, दूसरा यह कि सपिण्डों में विवाह नहीं होना चाहिए। सपिण्ड का अर्थ है—एक पिण्ड वाला। पिण्ड शब्द की विस्तृत व्याख्या आगे यथास्थान की जायेगी, किन्तु यहाँ इस विषय में इतना जान लेना पर्याप्त है कि पिण्ड शरीर या देह को कहते हैं। अतः सपिण्ड का अर्थ है एक ही पिण्ड या देह वाला। पुत्र और पौत्र में पिता के शरीर के अंश आते हैं, इसलिए वे पिता के साथ सपिण्ड कहाते हैं। दूसरे शब्दों में, रक्तसम्बन्ध से सम्बद्ध सम्बन्धियों के लिए सपिण्ड शब्द का व्यवहार होता है। पिता से ऊपर के सात तथा माता से ऊपर के पाँच पूर्वज सपिण्ड कहलाते हैं। वर और वधू इन सात और पाँच पीढ़ियों के अन्दर नहीं होने चाहिए। ये पीढ़ियाँ **निषिद्ध पीढ़ियाँ** (Prohibited degrees) कहलाती हैं और प्रत्येक विवाह इन पीढ़ियों से बाहर असपिण्ड सम्बन्धियों में ही होना चाहिए। इस नियम का प्रधान उद्देश्य रक्तसम्बन्ध से सम्बद्ध निकट सम्बन्धियों—पिता-पुत्री में, माता-पुत्र में, सगे भाई-बहिनों में तथा चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई-बहिनों में विवाह सम्बन्धों को रोकना है।

वैदिक युग में सपिण्डता का विचार

वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उस समय असपिण्डता के वर्तमान नियम का पूरी तरह विकास नहीं हुआ था। वेदों में पिण्ड शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में न होकर प्रायः अग्नि में डाली जाने वाली हवि के रूप में हुआ है (ऋ० १।१६२।१६, तै० सं० ४।६।८।३)। धर्मसूत्रों के समय से सपिण्ड शब्द का वर्तमान उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग होने लगा तथा स्पष्ट शब्दों में सपिण्ड विवाहों की निन्दा की जाने लगी।

वैदिक साहित्य में सपिण्ड शब्द का प्रयोग न मिलने पर भी कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय विवाह निकटवर्ती सपिण्ड सम्बन्धियों में नहीं, अपितु दूरवर्ती स्थानों में असपिण्ड सम्बन्धियों में हुआ करते थे।

ऋग्वेद के विवाह विषयक सूर्या सूक्त के मन्त्रों से यह प्रतीत होता है कि कन्या

का विवाह दूरवर्ती स्थान में होता था, पति-पत्नी के घरों में पर्याप्त अन्तर होता था। विवाह संस्कार की समाप्ति के बाद वधू रथ पर चढ़ कर अपने पति के घर जाती थी। एक मन्त्र में कहा गया है—पूषा तुम्हारा हाथ पकड़ कर तुम्हें यहाँ से ले जाय, अश्विनी देवता तुम्हें रथ में ले जायें (ऋ० १०।८५।२५)। इस सूक्त से ज्ञात होता है कि वधू के घर से वर का घर इतना दूर है कि मार्ग में चोर-डाकुओं का भी भय है, जो इस प्रकार वधू के साथ वरगृह को वापस लौटने वाली ऐसी बरातों को लूटा करते थे। संभवतः इसीलिए वर-वधू को एक आशीर्वादपरक मन्त्र में कहा गया है—जो बटमार पति-पत्नी पर हमला करते हैं, वे तुम्हें न प्राप्त हों। तुम कठिनता से पहुँचे जा सकने योग्य स्थान पर सुगम मार्गों से पहुँचो, तुम्हारे शत्रु भाग जायें (ऋ० १०।८५।३२)। निकट संबंधियों के विवाह में इस प्रकार के आशीर्वादों की आवश्यकता ही नहीं है।

कन्याओं का विवाह सामान्यतः दूरवर्ती कुल में होने का एक अन्य प्रमाण कन्या के लिए 'दुहिता' शब्द का प्रयोग है। दुहिता का अर्थ दूर रखी हुई कन्या है (दुहिता दूरे हिता भवति—निरुक्त)। दुहिता वह है जिसकी शादी दूरवर्ती कुल में हो।

यह दूरी कितनी होनी चाहिए, इस विषय में कोई स्पष्ट संकेत वैदिक साहित्य में नहीं है। बाद में धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इस दूरी की स्पष्ट व्याख्या कर दी गयी है। दुहिता पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ी से अधिक दूर होनी चाहिए, किन्तु वैदिक साहित्य में शतपथ ब्राह्मण (१।८।३।६) ने ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। उसके एक मन्त्र में कहा गया है भोक्ता और भोग्य में इस प्रकार एक कर्म से पृथक्ता हो जाती है। अतः एक ही पुरुष से भोक्ता (पति) और भोग्य (पत्नी) पैदा होते हैं। अब सम्बन्धी खेलते और प्रसन्न होते हुए कहते हैं कि चौथी या तीसरी पीढ़ी में हम दोनों मिलेंगे,[1] सायणाचार्य इस संदर्भ की व्याख्या करते हुए यह कहता है कि काण्व तीसरी पीढ़ी (Degree) में और सौराष्ट्र चौथी पीढ़ी में विवाह करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के इस वचन से श्री मैकडानल और कीथ ने यह परिणाम निकाला है कि वैदिक युग में विवाह के लिए पिता और माता की तीन या चार पीढ़ियाँ उस समय छोड़ी जाती थीं।[2]

वैदिक साहित्य में भ्रातृव्य-विवाह का संकेत

चचेरे, मौसेरे, ममेरे, फुफेरे भाई-बहिनों (Cousins) में वैदिक युग में विवाह होता था या नहीं, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हम

[1] श० ब्रा० १।८।३।६—समान एव कर्मन् व्याक्रियते तस्मात्समानादेव पुरुषादत्ता आद्यश्च जायेते इमे हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहे इति वि देवे दीव्यमाना जात्या आसते।

[2] वैदिक इण्डेक्स, खण्ड १, पृ० २३६

देख चुके हैं कि शादी सामान्यतः दूर के कुल में होती थी। दुहिता का अर्थ ही यह था कि कन्या दूर कुल में ब्याही जाय। सूर्या सूक्त के मन्त्रों से भी स्पष्ट है कि वर और वधू दूरवर्ती स्थानों के होते थे। चचेरे भाई-बहिनों की शादी (Parallel cousin marriage) का वैदिक साहित्य में कोई संकेत नहीं मिलता। पितृकुल से सम्बद्ध स्त्री-पुरुषों में विवाह नहीं होता था। किन्तु दक्षिण में मामा की कन्या के साथ शादी का रिवाज प्रचलित है। कहा जाता है कि एक वेद मन्त्र ऐसे विवाहों की पुष्टि करता है।[३] पराशर और अपरार्क ने इस मन्त्र को उद्धृत किया है। यह ऋग्वेद के खिल सूक्तों में पाया जाता है। इस मन्त्र का अर्थ पराशर के मतानुसार इस प्रकार है—"हे इन्द्र, हमारे इस यज्ञ में प्रशंसित मार्गों से आओ, अपने हिस्से को ग्रहण करो। इन (पुरोहितों) ने तुम्हारे लिए घी के साथ मिली हुई चर्बी (वपा) के भाग को उसी प्रकार रखा है जैसे विवाह में किसी पुरुष का भाग बुआ या मामा की लड़की होती है।" मध्यकाल में, टीकाकारों और निबन्धकारों ने इस मन्त्र को मामा, बुआ की सन्तानों के विवाह के पक्ष एवं विपक्ष दोनों में लगाया है। इन विवाहों का समर्थन करने वाले पक्ष का अर्थ तो ऊपर दिया गया है, किन्तु अपरार्क (पृ० ८३) आदि टीकाकार जो ऐसे विवाहों के विपक्ष में थे, वे 'जहुः' शब्द पर बल देते हैं और यह कहते हैं कि "हे इन्द्र, उन्होंने तुम्हारे भाग को उसी तरह अग्नि में छोड़ा है जैसे बुआ की लड़की और मामा की लड़की को विवाह में छोड़ा जाता है।" यह मन्त्र खिल सूक्तों में पढ़ा गया है। खिल दूसरी शाखा के वे मन्त्र हैं जो अपनी शाखा में किसी आवश्यकता के कारण पढ़े जाते हैं।[४] कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में उन्हें स्थान नहीं दिया। शौनक ने इनकी गणना मात्र की है। सायण ने इन पर टीका भी नहीं की। इनमें वैदिक काल के बहुत बाद की घटनाओं, गोपी, कृष्ण और कालियदमन का वर्णन है। अतः खिल मन्त्र वैदिक काल के विषय में प्रामाणिक नहीं माने जा सकते और इनके आधार पर वैदिक काल के सम्बन्ध में कोई परिणाम नहीं निकालना चाहिए।

महाभारत में वर्णित मातुल्यविवाह

महाभारत में मामा तथा फूफी की सन्तानों में विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। पहला उदाहरण अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का है। वसुदेव और कुन्ती भाई बहिन थे, दोनों शूर नामक राजा की सन्तान थे (आदि पर्व १११।१–३)। वसुदेव की लड़की सुभद्रा थी। इस तरह कुन्ती सुभद्रा की बुआ हुई। कुन्ती के पुत्र अर्जुन और सुभद्रा की शादी

[३] ऋग्वेद ७।५५ के परिशिष्ट का ११ वां मन्त्र—आयाहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व। तृप्तां जहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव। यास्क के निरुक्त परिशिष्ट (१४।३१) में भी यह मंत्र दिया गया है।

[४] महाभारत शान्तिपर्व ३२३।१० पर नीलकण्ठी टीका

का यह अर्थ हुआ कि सुभद्रा ने अपनी बुआ के लड़के से विवाह किया। अर्जुन ने अपने मामा वसुदेव की लड़की से शादी की। मध्यकाल के टीकाकारों के लिए कृष्ण के साथ सम्बन्ध होने से यह विवाह अत्यधिक आपत्तिजनक था। कुमारिल भट्ट ने अपने व्याख्या कौशल एवं पाण्डित्य से यह सिद्ध करना चाहा कि अर्जुन ने अपने मामा की लड़की के साथ शादी नहीं की। उनका कहना है कि सुभद्रा महाभारत में कृष्ण की बहिन कही गयी है किन्तु वह उनकी वास्तविक बहिन नहीं थी। वह वसुदेव की माता की बहिन की लड़की थी। मामी की लड़की को लड़की कहा जा सकता है और कहते हैं।[४] जिस कृष्ण ने गीता का उच्च उपदेश दिया, वे ऐसी पापवाली प्रथा को कैसे प्रोत्साहित कर सकते हैं ?

हरिवंश पुराण में मामा की लड़की के साथ विवाह के दो अन्य उदाहरण दिये गये हैं। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का रुक्मी की कन्या के साथ विवाह हुआ था। रुक्मी कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी का भाई था और इसलिए वह कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का मामा लगा। दूसरा उदाहरण प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का था। अनिरुद्ध ने रुक्मी की पोती रोचना से शादी की। इन उदाहरणों के सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ये सब यदुवंश के हैं। अन्य वंशों में इस प्रकार के विवाहों की चर्चा बिल्कुल नहीं मिलती। इसलिए यदि इस प्रकार के विवाह उस समय प्रचलित थे तो विशेष जातियों या वंशों में प्रचलित थे, सामान्य तौर पर उनका प्रचलन बिल्कुल नहीं था।

बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। अजातशत्रु राजकुमारी वजिरा की बुआ का लड़का था। वजिरा और अजातशत्रु की शादी हुई। मघा नामक एक गृहस्थ ने अपने मामा की लड़की सुजाता से शादी की (धम्मपद की टीका पृ० २६५) आनन्द अपनी बुआ की लड़की उप्पलवण्णा के रूप से मुग्ध होकर उसे ब्याहना चाहता था। महावंश (अ० ६) में लंका के राजा पाण्डु वासुदेव की कन्या चित्रा की कथा है। चित्रा इतनी रूपवती थी कि उसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति पागल हो जाता था। अतः उसे उन्मादचित्रा कहते थे। चित्रा के बारे में यह भविष्यवाणी की गयी थी कि उसका पुत्र चित्रा के भाइयों को गद्दी पाने के लिए उन्हें मार डालेगा। इसलिए उन्होंने चित्रा पर जबरदस्त पहरा बिठा दिया। एक दिन उसने अपने मामा के लड़के दीघगामनी (दीर्घ गामनी) को देखा, वह उस पर मुग्ध हो गयी, कड़े पहरे और प्रतिबन्धों के बावजूद वह चित्रा के पास प्रति रात्रि आने लगा। चित्रा गर्भवती हुई। रानी तक यह समाचार पहुँचा और अन्त में चित्रा की दीर्घगामनी के साथ शादी कर दी गयी। सुवण्णपाली के साथ उसके बुआ के लड़के कुण्डलामय ने विवाह किया तथा उसे अपनी रानी बनाया। एक जातक (सं० २६२) में इसी तरह के प्रणयविवाह की मनोरंजक कथा है।

जैन साहित्य में ऐसे विवाहों का वर्णन है। जैन रामायण (पर्व ७ सं० २) में कहा

४ तन्त्रवार्तिक, पृ० २१०

गया है कि अयोधन राजा की बहिन सत्यभामा तृणबिन्दु के साथ ब्याही गयी तथा तृण-बिन्दु की बहिन दिति का अयोधन के साथ परिणय हुआ। अयोधन की सुलसा नाम की पुत्री हुई और तृणबिन्दु का मधुपिंग नाम का लड़का। सुलसा के विवाह के लिए स्वयंवर रचा गया। दिति चाहती थी कि सुलसा का विवाह मधुपिंग से हो, उसने सुलसा को समझाया और उससे वचन भी ले लिया कि वह मधुपिंग से शादी करेगी। किन्तु सुलसा का विवाह अन्त में सगर के साथ हो गया।

भारतवर्ष में धर्मसूत्रों के समय से पहले विवाह साधारणतया दूर के कुलों में होता था, किन्तु सात और पाँच पीढ़ी के निषेध का नियम प्रचलित नहीं हुआ था। मामा-बुआ की सन्तानों में कभी कभी सम्बन्ध हो जाते थे। दाक्षिणात्यों ने तो मामा की कन्या को विवाह योग्य समझा। अतः सपिण्डता का नियम उस समय वर्तमान रूप में प्रचलित नहीं था। अपरार्क आदि टीकाकारों द्वारा ब्रह्मपुराण का एक वचन उद्धृत किया गया है। इस वचन में कहा गया है कि सगोत्र एवं सपिण्ड विवाह कलिकाल में वर्जित है। जो पुरानी बातें धर्मशास्त्रकारों को अपने समय के अनुकूल नहीं प्रतीत होती थीं, उनसे बचने के लिए उन्होंने कलिवर्ज्य का सुगम उपाय ढूँढ़ निकाला था। वैदिक युग में नियोग प्रच-लित था। बाद में समाज में उसे बुरा समझा जाने लगा। शास्त्रकारों ने कहा नियोग कलि-वर्ज्य है। यही हाल अश्वमेध और गोमेध नामक यज्ञों का था। बौद्ध धर्म ने इतने संन्यासी बना डाले कि संन्यास समाज के लिए अभिशाप बन गया। अतः संन्यास को कलिवर्ज्यों में गिना गया। सपिण्ड एवं सगोत्र विवाहों को कलिवर्ज्यों में गिनने से यह सन्देह होता है कि किसी समय में ५ और ७ पीढ़ी के नियम का इतनी कठोरता से पालन नहीं होता होगा।

धर्मसूत्रों में सपिण्डता का नियम

धर्मसूत्रों के समय में माता और पिता की कुछ पीढ़ियों को छोड़ने का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। गौतम (१।४।३) माता की पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी के बाद ही वर-वधू को विवाह की अनुमति देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कम से कम पिता की ८ वीं और माता की ६ ठी पीढ़ी में वर और वधू के होने पर उनकी शादी होनी चाहिए। गौतम का नियम इस विषय में अन्य सब सूत्रकारों की अपेक्षा अधिक कठोर है। अन्य धर्मसूत्र और स्मृतियाँ ७ वीं और ५ वीं पीढ़ी में विवाह की अनुमति देती हैं। गौतम के नियमों को अन्य धर्मसूत्रों के साथ अनुकूल सिद्ध करने के लिए ही संभवतः बुद्ध-स्वर ने इस सूत्र का अर्थ यह किया है कि उन पुरुषों में विवाह हो सकता है जो पिता की ओर से छः पीढ़ी तथा माता की ओर से चार पीढ़ी के अन्दर सम्बद्ध न हों। किन्तु गौतम के सूत्र के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि उनसे उपर्युक्त अर्थ कदापि नहीं लिया जा सकता।

बौधायन ने गोत्रविषयक नियमों का प्रथमाध्याय में विस्तार से प्रतिपादन किया

है, किन्तु सपिण्डता के नियमों के विषय में वह मौन है। यह आश्चर्य की बात है कि वह अपने गृह्य एवं धर्मसूत्र में भी इसकी कोई व्याख्या नहीं करता। अपने धर्मसूत्र के प्रारम्भ में उसने नर्मदा नदी के दक्षिण में बसने वाले दाक्षिणात्यों के ऐसे पाँच आचारों का वर्णन किया है,[६] जिनसे वह असहमत है। ये पाँच निषिद्ध आचार हैं—यज्ञोपवीत संस्कार से शून्य व्यक्ति और स्त्री के साथ भोजन करना, बासी भोजन खाना, मामा और बुआ की लड़की से शादी करना। बौधायन पहले पूर्व पक्ष रखता है कि दक्षिण में इन बातों के प्रचलित होने के कारण इनको करने में कोई दोष नहीं, किन्तु यदि कोई उत्तरापथ (उत्तरी भारत) वाला दक्षिणापथ के निवासियों के इन आचारों को करता है तो वह अवश्य दोषी है, क्योंकि उनमें देश का आचार ही प्रमाण है। गौतम इससे सहमत नहीं है। बौधायन अपना यह मत देता है कि ऐसी व्यवस्थाओं की उपेक्षा एवं अनादर करना चाहिए, क्योंकि ये बातें शिष्टों के आचार तथा स्मृति के विरुद्ध हैं (बौधा. ध. सू. १।१।२१-२२)। बौधायन ईसा से ५वीं शताब्दी पूर्व का लेखक है, इससे स्पष्ट है कि उस समय उत्तर भारत में तीसरी पीढ़ी के विवाह बिल्कुल बन्द हो चुके थे। किन्तु दक्षिण में मामा और बुआ की लड़की के विवाह करने का रिवाज प्रचलित था।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने सपिण्ड सम्बन्धों का उल्लेख बहुत अनिश्चित और अस्पष्ट रूप से किया है। वह (२।५।११।१६) कहता है कि अपनी लड़की को माता और पिता के योनि-सम्बन्ध से सम्बद्ध व्यक्तियों को न दे। किन्तु वह यह नहीं बताता है कि माता की कितनी पीढ़ी छोड़नी चाहिए। हरदत्त ने आप० धर्मसूत्र की उज्ज्वला टीका में दूसरी स्मृतियों के आधार पर योनि-सम्बन्ध वाले व्यक्तियों को माता और पिता की पाँच और सात पीढ़ी से बाहर बताया है। किन्तु हरदत्त १२ वीं शताब्दी का होने से इतना अर्वाचीन लेखक है कि उसे आपस्तम्ब के बारे में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। हरदत्त के समय में सपिण्डता का प्रतिबन्ध हिन्दू समाज में बद्धमूल हो चुका था। उसने अपने समय में प्रचलित प्रतिबन्ध के अनुसार ही उक्त सूत्र की व्याख्या की है। संभवतः आपस्तम्ब के समय में इस विषय का कोई एक नियम सारे भारत में प्रचलित नहीं था। बौधायन ने स्पष्ट रूप से उत्तर और दक्षिण के भिन्न प्रकार के नियमों का संकेत किया है। नियमों की विविधता को देखते हुए आपस्तम्ब ने इस विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित नियम बताना उचित नहीं समझा।

वसिष्ठ ने इस विषय में आपस्तम्ब और बौधायन की तरह अस्पष्टता से काम नहीं लिया। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है (८।२) कि गृहस्थ माता के घर से सम्बद्ध (मातृबन्धु) व्यक्तियों में से पाँचवीं तथा पितृबन्धु (पिता द्वारा सम्बद्ध) व्यक्तियों

६ बौधायन धर्मसूत्र १।१।१९—यदेतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सहभोजनं पर्युषितभोजनं, मातुलपितृष्वसृदुहितृगमनमिति ॥

में से सातवीं पीढ़ी की स्त्री को प्राप्त करे। इस प्रकार उसने गौतम की ८ और ६ पीढ़ी के नियम को एक पीढ़ी कम कर दिया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि गौतम के अतिरिक्त किसी धर्मसूत्रकार ने सपिण्ड विवाह को पाप नहीं ठहराया। गौतम (३।२।१) कहता है कि सपिण्डता के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति जाति-भ्रष्ट तथा पतित हो जाता है। गौतम की यह उग्रता हम सगोत्र विवाहों के सम्बन्ध को भी देख चुके हैं। यह स्पष्ट है कि गौतम इस विषय में अपने आदर्शों का प्रतिपादन कर रहा है। वस्तुस्थिति यह जान पड़ती है कि गोत्र के समान ही निषिद्ध पीढ़ियों का नियम उस समय धीरे धीरे प्रचलित होने लगा था। उत्तरी भारत में यह काफी फैल चुका था। किन्तु दक्षिण में उसका प्रचलन बहुत कम था। गौतम जैसे कुछ सुधारक इस नियम को दृढ़ बनाने का तथा इसके उल्लंघन को दण्डनीय बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु अभी तक इस नियम में काफी लचकीलापन था।

स्मृतिकार और सपिण्डता

स्मृतिकारों में मनु ने इस नियम की शिथिलता को बनाये रखा। मनु (३।५) कहता है कि असपिण्ड एवं असगोत्र कन्या से विवाह होना चाहिए। मनु ने विवाह के प्रकरण में असपिण्ड शब्द का पहली बार प्रयोग किया है। मनु के पूर्ववर्ती धर्मसूत्रकारों ने या तो पीढ़ियाँ गिनायी या योनि सम्बन्ध पर बल दिया, किन्तु पिण्ड शब्द का प्रयोग नहीं किया। मनु ने पिण्ड शब्द की कोई व्याख्या नहीं की, उसने विवाह के प्रकरण में भी यह नहीं बताया है कि सपिण्डता कितनी पीढ़ियों तक होती है, किन्तु अन्य दो प्रकरणों में उसने सपिण्डता की व्याख्या की है। प्रेतविधि (५।६०) में वह कहता है—सपिण्डता सातवें पुरुष पर समाप्त हो जाती है और समानोदक भाव उस समय समाप्त हो जाता है जब जन्म और नाम नहीं याद रहते। क्षेत्रज पुत्रों के धनाधिकार प्रकरण में वह कहता है कि तीन पूर्वजों को जल और पिण्ड देना चाहिए, चौथा पुरुष इनका देने वाला होता है, पाँचवें का इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता (९।१८६)। पहली व्याख्या के अनुसार सपिण्डता सात पीढ़ी तक है और दूसरी के अनुसार चार पीढ़ी तक। विवाह के समय कौन सी सपिण्डता अभीष्ट है, अथवा इन दोनों से भिन्न कोई सपिण्डता वांछनीय है, मनु इस पर कोई प्रकाश नहीं डालता। टीकाकारों ने पिता और माता की सात और पाँच पीढ़ी छोड़ने का जो विधान किया है, उसे अन्य धर्मशास्त्रों के वचनों से पुष्ट किया है। यह अन्य धर्मशास्त्रों का मत भले ही हो, किन्तु मनु का मत नहीं कहा जा सकता।

मनु ने अगम्या स्त्रियों के प्रायश्चित्तों का नवें अध्याय (११।१७१–७२) में उल्लेख किया है। इनमें वह बुआ, मौसी और मामा की कन्या के गमन के लिए चान्द्रायण व्रत का प्रायश्चित्त बताता है। बुद्धिमान् पुरुष को यह हिदायत की गयी है कि वह इन तीन को स्त्री न बनाये, ये रिश्तेदार होने के कारण विवाह करने योग्य नहीं है, इन्हें

ग्रहण करने वाला जाति से अधःपतित होता है। ये कन्याएँ तीसरी पीढ़ी में आती हैं। क्या मनु इस पीढ़ी के बाद के विवाह को वैध समझता था ? हम देख चुके हैं कि गौतम ने सात और पाँच पीढ़ी के अन्दर विवाह करने वाले को पतित बताया है और इस विवाह की गणना ब्रह्महत्या आदि भयंकर अपराधों में की है। मनु ने यह मर्यादा तीसरी पीढ़ी तक ही रखी है। यदि मनु सात और पाँच पीढ़ी की सपिण्डता के नियम को पाप समझता तो वह सपिण्ड सम्बन्धियों से विवाह के प्रायश्चितों में इसका अवश्य वर्णन करता। मेधातिथि को प्रायश्चितों के प्रकरण में मनु द्वारा सपिण्ड विवाह का उल्लेख न करना बहुत खटका। अतः मेधातिथि यह कहता है कि मनु चौथी पीढ़ी में विवाह आयज समझता है, ऐसा परिणाम नहीं निकालना चाहिए। किन्तु मनुस्मृति के १००० वर्ष बाद लिखी गयी मेधातिथि की टीका को मनु के बारे में अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। मनु द्वारा सपिण्ड शब्द की निश्चित व्याख्या न करने से और सपिण्ड विवाहों को प्रायश्चित्तीय अपराध न बताने से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि मनु के समय में (दूसरी शती ई० पू०) विवाह में असपिण्डता को आवश्यक समझा जाने लगा था, तीसरी पीढ़ी तक विवाह किसी भी दशा में नहीं हो सकता था। इसके बाद सातवीं और पाँचवीं पीढ़ी तक के विवाह से यदि बचा जाय तो अच्छा था, किन्तु यदि ऐसा विवाह हो जाय तो उसे केवल बुरा ही समझा जाता था, उसके कारण जातिभ्रंश आदि भयंकर दण्ड या चान्द्रायण व्रत आदि कठोर प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं थी।

याज्ञवल्क्य ने विवाह में छोड़ी जाने वाली पीढ़ियों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है (१।५३)। वह मनु की तरह, इस विषय में मौन नहीं रहा। उसके मतानुसार माता की पाँचवीं पीढ़ी और पिता की सातवीं पीढ़ी के बाद की सन्तानों में ही विवाह होना चाहिए।[७] यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ याज्ञवल्क्य ने सपिण्ड शब्द का प्रयोग नहीं किया, केवल पीढ़ियाँ ही गिनायी और ये पीढ़ियाँ वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुकूल हैं। प्रायश्चित्ताध्याय (३।२३१–३३) में याज्ञवल्क्य ने अगम्या स्त्रियों का परिगणन किया है। मनु की भाँति वह सपिण्डा स्त्री के पास जाने के लिए कोई प्रायश्चित नहीं बताता। इसमें सगोत्र विवाह को तो गुरुतल्प-गमन जैसा अपराध माना गया है, किन्तु सपिण्ड विवाह की चर्चा ही नहीं की गयी। विश्वरूप ने इन श्लोकों के 'स्वयोनि' शब्द से यहाँ सपिण्ड का ग्रहण करना चाहा है, किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य टीकाकार अपरार्क ने इस शब्द का अर्थ भगिनी या सगी बहिन किया (अपरार्क, पृ० १०४२) है। मनु (६।५८,१६६) में तथा गौतम (१३।१२) में यही शब्द सहोदर भगिनी के लिए आया है। अतः याज्ञवल्क्य स्मृति में स्वयोनि शब्द से सगी बहिन का ही अर्थ लेना चाहिए। इस प्रकार याज्ञ-

७ याज्ञवल्क्यस्मृति १।५३
पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥

वल्क्य भी मनु की तरह सपिण्ड विवाह को अच्छा न समझता हुआ भी उसके उल्लंघन को दण्डनीय अपराध नहीं मानता था।

नारद (१२।७३–७५) का भी इस विषय में यही मत है। उसने उन्नीस प्रकार की स्त्रियों के सम्बन्ध को इतना भयंकर अपराध माना है कि उनका दण्ड शिश्नोत्कर्तन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इनमें सगोत्रा स्त्री का उल्लेख है किन्तु सपिण्डा का नाम नहीं है। इनमें मातृकुल की केवल पहली, दूसरी पीढ़ियों की स्त्रियों का निषेध है। विष्णुस्मृति (३६।४–७) में सपिण्डा स्त्री को अगम्या नहीं बताया गया। पराशर भी इसके लिए किसी प्रायश्चित्त का निर्देश नहीं करता।

इस प्रकार गौतम के अतिरिक्त आठवीं शती तक के किसी धर्मशास्त्रकार ने सपिण्ड विवाह को प्रायश्चित्त योग्य अपराध नहीं बताया। ये स्मृतिकार सगोत्र विवाह को तो गुरुतल्पगमन के तुल्य अपराध मानते हैं, किन्तु सपिण्ड विवाह का दण्डनीय अपराधों में उल्लेख नहीं करते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह के समय असपिण्डा कन्या ही ढूँढ़ी जाती है। किन्तु सपिण्डा से विवाह हो जाने पर उसे अपराध नहीं समझा जाता था। इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि आठवीं शती तक सपिण्ड विवाह के नियम में पर्याप्त शिथिलता थी।

टीकाकार और सपिण्डता का नियम

आठवीं शती के बाद, टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने इस नियम को कठोर बनाने का प्रयत्न किया। उत्तर भारत के टीकाकार तथा निबन्धकार पिता और माता की सात और पाँच पीढ़ियाँ छोड़ने के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने सपिण्ड विवाहों को दण्डनीय अपराध सिद्ध करने की पूरी कोशिश की, किन्तु दक्षिण में मातुलकन्या के विवाह की परिपाटी प्रचलित थी। अतः देवण्ण भट्ट, पराशर-माधव आदि दाक्षिणात्य टीकाकारों ने इस विवाह को शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया। अब तक हमने यह देखा है कि मनु के सिवाय अन्य सभी स्मृतिकारों ने प्रायः पीढ़ियों का उल्लेख किया है। मनु ही पिण्ड शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु विवाह के प्रकरण में उसका अर्थ स्पष्ट नहीं करता। मध्य युग में पिण्ड शब्द की व्याख्या पर तीव्र मतभेद था। विज्ञानेश्वर आदि विद्वानों ने पिण्ड का अर्थ 'देह' किया तथा सपिण्ड उन सम्बन्धियों को समझा जो शरीर द्वारा अर्थात् वंश-परम्परा में पिण्ड या शारीरिक अंश द्वारा सम्बद्ध होते हैं। रघुनन्दन आदि ने पिण्ड का अर्थ मृतक को दिया जाने वाला 'पिण्ड' समझा और जो सम्बन्धी उस पिण्ड को देने योग्य थे, उन्हें सपिण्ड माना। अब यहाँ कालक्रम से इन टीकाकारों का मत बताया जायगा।

नवीं शती में विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति के १।५३ की व्याख्या करते हुए पीढ़ियों की गिनती के विषय में चार पक्ष दिये। पहला पक्ष गौतम का है, जो पिता और माता की आठवीं और छठी पीढ़ी में शादी उचित समझता है। दूसरा पक्ष शंख का है, जो दोनों

के लिए चार पीढ़ी का बन्धन पर्याप्त समझता है। तीसरा पक्ष याज्ञवल्क्य का है जो पिता और माता की सातवीं और पाँचवीं पीढ़ी के बन्धन को पर्याप्त मानता है। चौथा पक्ष शतपथ ब्राह्मण का है, जिसके अनुसार चौथी पीढ़ी में भी विवाह हो सकता है। विश्वरूप की सम्मति में पहला पक्ष सबसे अच्छा है, दूसरा उससे कम, तीसरा उससे निकृष्ट और चौथा सबसे अधम।[=] अतः यह स्पष्ट है कि उस समय तक चौथी पीढ़ी तक के विवाह हो सकते थे, यद्यपि उन्हें अच्छा नहीं समझा जाता था।

मेधातिथि के मत का पहले उल्लेख किया जा चुका है। मनु ने पिण्ड शब्द की व्याख्या नहीं की, मेधातिथि उसे माता और पिता की सातवीं और पाँचवीं पीढ़ी तक सीमित कर देता है। मनु तीसरी पीढ़ी तक के मातृकुल के सम्बन्धियों से विवाह को पाप समझता है। मातृकुल की चौथी पीढ़ी में विवाह को वह प्रायश्चित्तीय अपराध नहीं समझता, किन्तु मेधातिथि के समय तक ऐसे विवाहों को पाप समझा जाने लगा था। अतः मेधातिथि ऐसे विवाहों को प्रायश्चित्त योग्य अपराध समझता है।

विज्ञानेश्वर द्वारा सपिण्डता की व्याख्या

मिताक्षरा के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने पिण्ड शब्द की विस्तृत व्याख्या की है। भारत के बहुत बड़े भाग में आजकल मिताक्षरा वाली पिण्ड शब्द की व्याख्या के आधार पर दाय भाग का नियम प्रचलित है। विज्ञानेश्वर याज्ञ० स्मृति के १।५३ की व्याख्या में कहता है कि "असपिण्डा का आशय उस स्त्री से है जो सपिण्ड नहीं है। सपिण्ड का अर्थ है एक शरीर के अवयवों अथवा अंशों को रखने वाला। दो व्यक्तियों में सपिण्डता सम्बन्ध उस समय होता है जबकि उनमें एक ही शरीर के अंश पाये जायें। इस प्रकार पुत्र पिता का सपिण्ड है, क्योंकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र के शरीर में पाये जाते हैं। इसी तरह दादा और पौत्र में सपिण्डता है, क्योंकि पौत्र के शरीर में दादा के शरीर के अवयव पाये जाते हैं। इसी प्रकार पुत्र की माता के साथ भी सपिण्डता है, क्योंकि पुत्र में माता के शरीर के अंश पाये जाते हैं। इसी तरह माता के माध्यम से नाना के साथ भी सपिण्डता होती है। एक ही शरीर के अवयवों वाला होने के कारण एक ही व्यक्ति मौसी और मामा के साथ भी सपिण्ड सम्बन्ध रखता है। चाचा और बुआ (पितृष्वसा) से भी उसका यही सम्बन्ध होता है। पत्नी पति के साथ सपिण्ड होती है क्योंकि वह (पति के साथ) मिलकर एक नया शरीर उत्पन्न करती है। भाइयों की पत्नियों में भी सपिण्डता होती है, क्योंकि वे अपने पतियों के साथ सन्तान उत्पन्न करती हैं। इस तरह जहाँ कहीं सपिण्ड शब्द है वहाँ साक्षात् (पिता से पुत्र में) अथवा परम्परा से (दादा से पौत्र में) किसी एक शरीर के अवयवों का विद्यमान रहना पाया जाता है।"

= विश्वरूप की टीका, पृ० ६१

याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका (१।५३) में विज्ञानेश्वर कहता है कि असपिण्ड शब्द की व्याख्या में यह कहा गया है कि सपिण्डता का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से एक शरीर के अंश का पाया जाना है। यह सम्बन्ध तो सर्वत्र और सब व्यक्तियों का किसी न किसी प्रकार इस अनादि जगत् में सिद्ध हो सकता है, क्योंकि सारी सृष्टि की उत्पत्ति प्रजापति से हुई है। उपनिषद् बताती है कि प्रजापति ने कामना की कि वह बहुत (रूपों में) हो, उसी ने यह सब सृष्टि उत्पन्न की (छान्दोग्य उप० ६।२।३, तैत्ति० उप० २।६)। अतः सब व्यक्तियों में प्रजापति के शरीर का अंश होने से वे आपस में सपिण्ड या एक शरीर के अंशों वाले हुए। सपिण्डता के इस व्यापक अर्थ को सीमित करने के लिए याज्ञवल्क्य ने "पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा" का वचन कहा है। इसका यह आशय है कि माता की सन्तान से पाँचवीं तथा पिता की सन्तान से सातवीं पीढ़ी के बाद सपिण्डता समाप्त हो जाती है, इसलिए सपिण्ड शब्द अवयवशक्ति से सर्वत्र व्यापक होने पर भी निर्मन्थ और पंकज शब्दों की तरह निश्चित अर्थ में रूढ़ कर दिया गया है। पंकज का अर्थ कीचड़ से पैदा होने वाला है, कीचड़ में बीसियों पदार्थ पैदा होते हैं, पंकज उन सबके लिए प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु पंकज के लिए कमल का अर्थ निश्चित कर दिया गया है और वह उसी में रूढ़ हो गया है। मथी जाने वाली वस्तु को निर्मन्थ कहते हैं। किन्तु वह मन्थन से उत्पन्न अग्नि के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसी तरह सपिण्ड शब्द बहुत व्यापक होता हुआ भी सातवीं और पाँचवी पीढ़ी तक ही मर्यादित कर दिया गया है। अतः पिता आदि छः सपिण्ड पुत्रादि छः वंशज तथा अपने आप को मिलाकर ये सात सपिण्ड होते हैं। जहाँ कहीं नयी सन्तान-परम्परा शुरू हो वहाँ उस (पुरुष) से सातवें पुरुष तक गिनती करनी चाहिए। इसी तरह माता की ओर से पाँचवी पीढ़ी उसे कहते हैं जो माता से उसके पिता-दादा आदि की गिनती करते हुए वंश-परम्परा में पाँचवीं हो और पिता की ओर से सातवी उसे कहते हैं जो पिता से दादा-परदादा आदि की गिनती करते हुए वंश-परम्परा में सातवीं संख्या पर हो।[६]

मिताक्षरा की उपर्युक्त विवेचना से हम निम्न परिणामों पर पहुँचते हैं—

(१) विवाह में माता की पाँच तथा पिता की सात पीढ़ियाँ छोड़नी चाहिए।

(२) सन्तान परम्परा या पीढ़ियों की गिनती में मूल पुरुष को सम्मिलित करना चाहिए।

(३) वर-वधू दोनों की सपिण्डता का विचार करना चाहिए।

पहली बात के सम्बन्ध में यह ख्याल रखना चाहिए कि मूल पुरुष से पीढ़ियाँ चार तरह से गिनी जा सकती हैं—

१—वर और वधू दोनों के पिताओं की पीढ़ियाँ गिनी जायें।

[६] मिताक्षरा याज्ञ. १।५३

२—दोनों की माताओं की पीढ़ियाँ गिनी जायँ ।

३—वर की माता एवं वधू की माता की पीढ़ियाँ गिनी जायँ ।

४—वर के पिता और वधू की माता की पीढ़ियाँ गिनी जायँ ।

ये पीढ़ियाँ गिनना बड़ा पेचीदा काम है । पाँच और सात पीढ़ी की मर्यादा केवल सजातीय विवाहों में है । विजातीय विवाह में तो तीन पीढ़ियाँ छोड़ना ही पर्याप्त समझा जाता है ।[१०]

मिताक्षरा द्वारा प्रतिपादित सन्तान-गणना में तथा अंग्रेजी ढंग द्वारा पीढ़ियाँ गिनने में बड़ा अन्तर है । मिताक्षरा आदि या कूटस्थ व्यक्ति को भी गणना में सम्मिलित करती है किन्तु अंग्रेजी गणना में इस मूल पुरुष (Propositus) को नहीं गिना जाता । अतः जब मिताक्षरा पाँच और सात पीढ़ी की मर्यादा बाँधती है तो उसका अर्थ है मूल पुरुष सहित पाँचवीं या सातवीं पीढ़ी । अंग्रेजी गणना के अनुसार मूल पुरुष को छोड़ते हुए, यह मर्यादा चौथी और छठी तक मानी जायगी ।

विज्ञानेश्वर ने पाँच और सात पीढ़ियों की मर्यादा निश्चित की है । किन्तु पुराने स्मृतिकारों में कुछ लोग सपिण्डता के नियम को इतना व्यापक बनाने को तैयार नहीं थे । वे इन पीढ़ियों को बहुत अधिक समझते थे । मिताक्षरा ने वसिष्ठ-धर्मसूत्र और पैठीनसि के दो वचन उद्धृत किए हैं । वसिष्ठ के मतानुसार मातृकुल से पाँचवीं तथा पितृकुल से सातवीं पीढ़ी वाले का विवाह हो सकता है । मिताक्षराकार इन पीढ़ियों के बाद छठी और आठवीं पीढ़ी में विवाह को वैध मानता है । पैठीनसि कन्या को मातृकुल से चौथी तथा पितृकुल से छठी पीढ़ी में विवाह की आज्ञा देता है । इस तरह उसने मिताक्षरा से दो पीढ़ी कम में भी विवाह को वैध बताया है । विज्ञानेश्वर ने इन विरोधी वचनों से अपनी व्यवस्था की यह संगति बिठायी है कि वसिष्ठ और पैठीनसि का यह आशय है कि इन निकट पीढ़ियों के अन्दर विवाह नहीं होना चाहिए । उनका यह आशय कदापि नहीं है कि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित सात और पाँच पीढ़ियों के अन्दर शादी हो सकती है और इस तरह सब स्मृतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है ।

किन्तु यह व्याख्या नितान्त असन्तोषजनक है । मिताक्षरा की बालम्भट्टी टीका में विज्ञानेश्वर की यह भूल परोक्ष रूप से स्वीकार की गयी है । वास्तव में विज्ञानेश्वर की यह भूल नहीं थी । पुराने समय में सपिण्डता के नियम इतने दूरगामी नहीं थे । मिताक्षरा के समय तक वे नियम दूरगामी हो चुके थे । अतः विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य का अर्थ अपने समय की प्रचलित धारणाओं के अनुसार किया और पुराने वचनों की संगति बैठाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वह सफल नहीं हुआ । विज्ञानेश्वर के समय सपिण्डता

१० तन्त्रवार्तिक, पृ० २०४

के नियम की शिथिलता इस बात से भी झलकती है कि उसने सगोत्र विवाह की भांति सपिण्ड विवाह को दण्डनीय अपराध नहीं बताया।

अपरार्क ने भी विज्ञानेश्वर की पीढ़ियों का समर्थन किया है। पैठीनसि का उपर्युक्त वचन स्पष्टतः अपरार्क के मत के प्रतिकूल जाता था, अतः उसने उस वचन को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत करते हुए कहा कि पैठीनसि ने तीन पीढ़ी के परिहार की जो बात कही है, वह अन्तर्जातीय विवाहों के लिए है (पृ०९२)। अपरार्क ऋग्वेद और शतपथ के, मामा और बुआ की लड़की के साथ और ३ री, ४ थी पीढ़ी में विवाह की अनुमति देने वाले वचनों की व्याख्या इस ढंग से करता है कि उनसे ऐसे विवाहों की पुष्टि न हो सके। ऋग्वेद (७।५० के परिशिष्ट का ग्यारहवाँ मंत्र) वाले मन्त्र का अर्थ और अपरार्कसम्मत मत की व्याख्या पहले दी जा चुकी है। शतपथ ब्राह्मण के वचन के सम्बन्ध में उसकी सम्मति है कि वह यज्ञीय कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है (पृ०८३), विवाह के विषय में इस वचन का कोई उपयोग नहीं है। अपरार्क ने अन्त में तीसरी पीढ़ी के मामा की लड़की के विवाह को शास्त्रविरुद्ध ठहराने के लिए शातातप के एक वचन का प्रमाण दिया है कि ऐसा करने वाले को चान्द्रायण व्रत करना चाहिए (अपरार्क, पृ० ८४)।

मातुलकन्यापरिणय

दक्षिण के धर्मशास्त्रियों तथा टीकाकारों ने मातुलकन्या (मामा की लड़की) के विवाह को कभी शास्त्र विरुद्ध नहीं समझा। मध्य काल में उत्तरी तथा दक्षिणी पण्डितों में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद था। देवण्ण भट्ट ने स्मृतिचन्द्रिका में मातुलकन्या के विवाह के समर्थन में एक पूरा अध्याय लिखा है। उत्तर भारतीय शास्त्रकारों ने मातुलकन्या के विवाह का विरोध करते हुए दक्षिण वालों का बड़ा मजाक उड़ाया है। कुमारिल भट्ट ने तंत्रवार्तिक में कहा है कि दूसरे लोग यह काम (मामा की लड़की के साथ विवाह) नहीं करते हैं, किन्तु दाक्षिणात्य मामा की लड़की को पाकर प्रसन्न होते हैं। विश्वरूप ने संवर्त का यह मत उद्धृत किया है कि मामा की लड़की से विवाह करने वाला पराक प्रायश्चित से शुद्ध होता है[११]। मेधातिथि ने (मनु २।१८) मातुल-कन्या के विवाह के प्रचलन के कई हेतु दिये हैं—(१) मामा की सुन्दर कन्या की कामना करते हुए, लोगों ने उससे इसलिए विवाह कर लिया कि उन्हें राजा कहीं कन्या-गमन के अपराध का दण्ड न दे। (२) कुछ मूर्ख लोगों ने "येनास्य पितरो याताः" (मत्स्य पुराण ४।१७८) के वचन का अनुसरण करते हुए प्राचीन काल की सुनी हुई बातों को

११ विश्वरूप याज्ञ. ३।२५४ पर, संवर्त—

मातुलानीं तथाश्वश्रूं सुतां वै मातुलस्य च।
एता गत्वा स्त्रियो मोहात्पराकेण च शुध्यति॥

धर्म समझ कर पालन करते हुए इस प्रथा को अपना लिया (मनु २।१८)। मातुल कन्या के विवाह की प्रथा का कारण चाहे जो कुछ हो, यह दक्षिण भारत में प्रचलित था और देवण्ण भट्ट तथा पराशर (१२, पृ० ६३३–६८, स्मृतिचन्द्रिका खं० ६, पृ० ७०–७४) ने मनु, शातातप, सुमन्तु आदि के विरोध करते हुए इनका प्रबल समर्थन किया।

देवण्ण भट्ट द्वारा मातुल कन्यापरिणय का समर्थन—देवण्ण भट्ट ने मातुल कन्या के विवाह का समर्थन बड़े विस्तार से किया है (स्मृतिचन्द्रिका खं० १, पृ० ७०–७४)। उसका कहना है कि ब्राह्म विवाह होने पर स्त्री पिता का गोत्र खो देती है और पति के गोत्र की हो जाती है। इसी तरह स्त्री पिता के पिण्ड की न रहकर पति के पिण्ड की हो जाती है। मार्कण्डेय पुराण के मत से ब्राह्मविधि से परिणीत कन्या को पति के गोत्र से पिण्ड एवं जल दिया जायगा। आसुर आदि विवाहों में यह कार्य पितृगोत्र से ही होगा। ब्राह्मणों में ब्राह्म विवाह प्रचलित है। यदि इनमें गोत्र का परिवर्तन माना जाय तो पिण्ड का परिवर्तन क्यों न माना जाय? अब मामा की लड़की असपिण्ड है तो उससे विवाह करने में कोई दोष नहीं है। कोई यह कह सकता है कि माता की बहिन भी तो असपिण्ड हुई, अतः मौसी से विवाह करने में भी कोई दोष नहीं हुआ। देवण्ण भट्ट इसमें भी कोई दोष नहीं समझता। यदि ऐसी बात है तो मनु, (११।१७२–७३), गौतम (२३।१२), याज्ञवल्क्य (३।२३१–३३), नारद (१२।७३–७५), विष्णु (३६।४–७), शातातप, संवर्त और सुमन्तु के मातुल कन्या-गमन के निषेधपरक वचनों का क्या अर्थ होगा? देवण्ण भट्ट कहता है कि ये सब वचन आसुर तथा गान्धर्व विवाहों के सम्बन्ध में कहे गये हैं। फिर उसने चतुर्विंशतिमत का यह वचन उद्धृत किया है कि तीसरी-चौथी पीढ़ी में शादी होनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण (१।८।६) और ऋग्वेद के खिल सूक्तों वाला मन्त्र तो देवण्ण भट्ट के वैदिक प्रमाणों का मुख्य आधार है। वेद के अतिरिक्त उसने बृहस्पति स्मृति का भी यह वचन उद्धृत किया है कि पहले से चले आने वाले देश, जाति और कुल के धर्मों का पालन उसी प्रकार करना चाहिए नहीं तो प्रजा में क्षोभ उत्पन्न होता है।[१२] दाक्षिणात्य ब्राह्मण मातुल कन्या के साथ विवाह करते हैं अतः उनमें यह विवाह वैध माना जाना चाहिए। स्मृतिमुक्ताफल भी इसकी पुष्टि करता हुआ कहता है—दाक्षिणात्य लोगों में तीनों वेदों के जानने वाले, वेदार्थ का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण भी मातुल कन्या के साथ विवाह करते हैं।[१३]

१२ स्मृतिचन्द्रिका खण्ड १, पृ० १०

देशजातिकुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः।
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा॥

१३ स्मृतिमुक्ताफल—

दाक्षिणात्यानां मध्ये आन्ध्रेषु त्रैविद्यवृद्धा वेदार्थानुष्ठातारः शिष्टा अपि मातुलादि-

शिष्ट पुरुषों के आचार की दृष्टि से देवण्ण भट्ट का मन्तव्य बिल्कुल ठीक है। किन्तु उसने मनु आदि के मातुल कन्या निषेधपरक वचनों का जो विनियोग आसुर तथा गान्धर्व विवाहों में किया है, वह बिल्कुल गलत है। मनु आदि सभी शास्त्रकारों ने आसुर विवाहों की निन्दा की है। इन निन्दित विवाहों के लिए उपर्युक्त निषेधवचन कहे गये हों, यह बात तर्कसंगत नहीं जान पड़ती। अतः देवण्ण भट्ट ने असपिण्डता के बन्धन से छुट्टी पाने के लिए एक नया ही उपाय ढूंढा। वह कहता है कि मनु असपिण्डा कन्या के विवाह को उत्तम (प्रशस्त) समझता है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि असपिण्ड विवाह अच्छा है, किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि सपिण्ड विवाह निषिद्ध है। वह केवल प्रशस्त या अच्छा नहीं, किन्तु यदि ऐसा हो जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। देवण्ण भट्ट के इस मत का हेमाद्रि और माधव ने तथा संस्कार कौस्तुभ तथा धर्मसिन्धु के कर्त्ताओं ने अनुमोदन किया है। मद्रास प्रान्त की तरफ यह प्रथा अब तक प्रचलित है। कई स्थानों पर केवल इसका रिवाज ही नहीं है प्रत्युत ऐसे विवाह को अच्छा समझा जाता है। आगे बताया जायगा कि कर्नाटक के देशस्थ ब्राह्मणों तथा कन्हाड ब्राह्मणों में आजकल भी मामा की लड़की के साथ शादी होती है।

मध्ययुग में उत्तरभारत में मामा की लड़की के साथ विवाह की प्रथा प्रचलित न होने के कारण इस प्रदेश के शास्त्रकारों ने मातुल कन्या के साथ विवाह का विरोध किया। इस विषय में यहाँ मित्रमिश्र के मत का ही उल्लेख किया जायगा।

मित्रमिश्र द्वारा मातुलकन्यापरिणय का विरोध—मित्रमिश्र ने मातुलकन्या परिणय के पक्ष में दिये गये श्रुति-वचनों तथा अन्य हेतुओं का बड़े विस्तार से खण्डन किया है। (सं० प्र०, पृ० ७१८–७२५)। "आयाहीन्द्र" वाली वैदिक श्रुति के सम्बन्ध में वह अपरार्क द्वारा स्वीकृत पाठभेद ठीक मानता है।[१४] इसके अनुसार यह मन्त्र ऐसे विवाह का समर्थन नहीं, किन्तु विरोध करता है और इसका अर्थ इस प्रकार है—हे इन्द्र, अन्य प्रशंसित (ईडित) सोमपतियों के साथ इस यज्ञ में आइए, सोमरूप अन्न का सेवन कीजिए। (आपके साथ आने वाले सोम ग्रहण करने वाले देवता सोमपान से) तृप्त होकर सोम का वैसे ही त्याग करते हैं जैसे मामा के लड़के बुआ की लड़की को (पत्नी रूप से अत्यन्त अवांछनीय होने के कारण) छोड़ देते हैं।[१५] इस सम्बन्ध में "तृतीये संगच्छामहे" वाली शतपथ की श्रुति में उत्तम पुरुष का प्रयोग होने से इसे विधि नहीं

दुहितृ परिणयनमाचरन्ति। द्रविडेषु तथाविधाः शिष्टाश्चतुर्थ्यादिविवाहमाचरन्ति॥

१४ सं.प्र., पृ० ७१८—आयाहीन्द्र पथिभिरीडितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व। तृप्तां जहुर्मातुलस्येव योषा भागः पैतृष्वसेयी वपामिवौघः॥

१५ सं.प्र., पृ० ७१६—मातुलस्य सुताः पैतृष्वसेयीमिव भार्यात्वेनात्यन्तानभिलषणीयां त्यजन्ति स्वकीयमातुलस्य संबन्धाभोग्यत्वात्॥

माना गया (पृ०७२०)। उसके अतिरिक्त मित्रमिश्र ने यह भी कहा है कि निरुक्त की पद्धति का आश्रय लेते हुए यहाँ मातुल का अर्थ माता के साथ सादृश्य रखने वाला तथा पैतृष्वसेयी का अर्थ पिता से समानता रखने वाली कन्या है। उस वैदिक मन्त्र का यह तात्पर्य है कि हे इन्द्र, इस स्निग्ध पदार्थ (वपा) का तुम वैसे ही सेवन करो, जैसे मातुल अर्थात् अपनी माता के सदृश आकृति रखने वाले पुरुष द्वारा पिता की शक्ल से मेल खाने वाली कन्या से उत्पन्न की गयी कन्या जिस प्रकार सेवनीय होती है वैसे ही इस यज्ञ में यह वपा सेवनीय है। क्योंकि सामुद्रिकसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि पिता से सादृश्य रखने वाली कन्या और माता से समानता रखने वाला पुत्र भाग्यशाली होता है।[16] और इनसे उत्पन्न होने वाली कन्या बड़े भाग्य से मिलती है। इस अर्थ को मित्रमिश्र ने मत्स्यादि पुराणों में आये हुए पुलोमा और शची के उदाहरणों से पुष्ट किया है (पृ०७२३–२४)। अन्त में उसने प्रद्युम्न, अर्जुन, अनिरुद्ध आदि द्वारा मामा की लड़की के साथ शादी के विषय में धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था का उल्लेख किया है कि प्राचीन महापुरुषों में धर्म का उल्लंघन देखा जाता है, किन्तु उन्होंने ऐसा काम किया, इसके आधार पर हमें वैसा काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि हम लोग दुर्बल हैं। विशेष तेज होने से उन (महा-पुरुषों द्वारा ऐसे कार्य करने में) दोष नहीं है, किन्तु उन्हें देखकर वर्तमान अशक्त व्यक्ति यदि इस काम को करे तो दुःख पाता है। देवताओं और महापुरुषों ने जो कार्य किया हो, मनुष्यों द्वारा वह कार्य नहीं किया जाना चाहिए, उनके द्वारा कहे कर्म पर आचरण करना चाहिए।[17] अन्त में बृहस्पति, ब्रह्मपुराण और व्यास के कुछ वचनों के आधार पर मित्रमिश्र ने मामा की लड़की से विवाह का निषेध किया है।[18]

मध्ययुग में सपिण्डता के विविध प्रकार

मध्यकालीन ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि सपिण्डता का विचार चार प्रकार से

१६ वही, पृ० ७२२–३
तथा मातुस्तुल्यं लक्षणं यस्येति निरुक्त्या मातुलशब्देन मातृमुखो गृह्यते। पितृष्वसा-शब्देन च स्वसा सु असा स्येषु सीदतीति वेति च निरुक्त्या पितुः स्वे रूपे सीदतीति पितृष्वसेति पितृसदृशमुखीत्यर्थो निर्णयः। तथा च मातृमुखेन पुरुषेण पितृमुख्यां कन्यायामुत्पादिता कन्या यथा भजनीया भवति तथेयं वपा तव भजनीयेत्यर्थः। उक्तं च सामुद्रिकसारे—धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुखः सुतः। तयोर्धन्यतरोत्पन्ना कन्या भाग्येन लभ्यते॥

१७ सं. प्र., पृ० ७२४

१८ सं. प्र., पृ० ७२५

हो सकता है—[१५] (१) पिता द्वारा, (२) माता द्वारा, (३) मंडूकप्लुति, (४) एकतो निवृत्तान्यतो निवृत्त। पहले अर्थात् पिता द्वारा सापिण्ड्य का स्वरूप निम्न चित्र में स्पष्ट होगा—

मूल पुरुष (कूटस्थ)

१. विष्णु

२. शान्ति 0	२. गौरी (क.) 0
३. सुधी Δ	३. हर Δ
४. बुध Δ	४. मैत्र Δ
५. चैत्र Δ	५. शिव Δ
६. गण Δ	६. भूप Δ
७. मूढ Δ	७. अच्युत Δ
८. रति Δ	८. काम Δ

इसमें रति और काम का विवाह सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि उनके पिता मूढ और अच्युत अपने मूल पुरुष विष्णु से सातवीं पीढ़ी पर हैं। पितृमूलक सपिण्डता सात पीढ़ी तक होता है, अतः उनकी सन्तति रति और काम तक इस साषिण्ड्यसम्बन्ध की निवृत्ति हो जाती है, असपिण्ड होने से रति और काम का विवाह संभव है।

मातृमूलक सापिण्ड्य निम्न चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

१. विष्णु

२. दत्त Δ	२. चैत्र Δ
३. सोम Δ	३. मैत्र Δ
४. सुधी Δ	४. बुध Δ
५. श्यामा Δ	५. रति Δ
६. शिव Δ	६. गौरी Δ

[१५] धर्मसिन्धु ३ पूर्वार्ध पृ० २२६–२७

इसमें शिव और गौरी यद्यपि मूल पुरुष विष्णु से छठी पीढ़ी में है किन्तु उन से उनका सम्बन्ध अपनी माताओं—श्यामा और रति द्वारा है, माता द्वारा होने वाली सपिण्डता की मर्यादा पाँच पीढ़ी तक होती है, शिव और गौरी छठी पीढ़ी में है, अतः उनका विवाह हो सकता है।

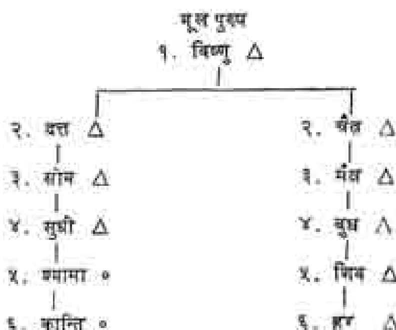
मंडूकप्लुति सापिण्ड्य निम्न उदाहरण में प्रदर्शित है—



इस उदाहरण में श्यामा और नर्मदा मूल पुरुष से पाँचवीं पीढ़ी में है, छठी पीढ़ी में इनके पुत्र शिव-काम असपिण्ड हैं, क्योंकि मातृमूलक सपिण्डता पाँचवीं पीढ़ी में समाप्त हो जाती है। किन्तु इनकी सन्तान रमा और कवि सपिण्ड है क्योंकि इनका सम्बन्ध पितृमूलक है और इसमें सपिण्डता सातवीं पीढ़ी तक रहती है, रमा और कवि विष्णु से सातवीं पीढ़ी में है अतः इनका विवाह नहीं हो सकता। इस उदाहरण में छठी पीढ़ी में सपिण्डता टूट गयी थी किन्तु सातवीं पीढ़ी में फिर आ गयी है। यह मेंढक की छलांग की भाँति पाँचवीं पीढ़ी से कूद कर सातवीं पीढ़ी में आयी है, अतः इसे मण्डूक-प्लुति कहते हैं।[२०]

चौथा प्रकार एक ओर से सपिण्डता की निवृत्ति होने और दूसरी ओर से निवृत्ति न होने का है। वह निम्न उदाहरण में प्रदर्शित है—

२० धर्मसिन्धु ३ पूर्वार्द्ध, पृ० २२७। वर्तमान समय में मण्डूक प्लुति द्वारा सपिण्डता का सिद्धान्त (त्रि. हि. ला. इन हैरिटैन्स-द्वितीय संस्करण, पृ० ५९२, ५९८–६००) तथा मेन (११ वाँ संस्करण पृ० १५४–५) ने स्वीकार नहीं किया।



इस उदाहरण में श्यामा मूल पुरुष से पाँचवीं पीढ़ी में है, अतः उसकी कन्या कान्ति की सपिण्डता निवृत्त हो जाती है, किन्तु शिव तथा उसकी सन्तान हर का सापिण्ड्य सम्बन्ध पितृमूलक होने से छठी पीढ़ी में निवृत्त नहीं होता, अतः हर और कान्ति का विवाह नहीं हो सकता। इसमें एक ओर तो सपिण्डता की समाप्ति तथा दूसरी ओर असमाप्ति है। अतः यह निवृत्तान्यतोनिवृत्त है। वर्तमान युग में सपिण्डता के विषय में हिन्दू समाज में विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था का अनुसरण किया जाता है, किन्तु इसके साथ ही भ्रातृव्य-विवाहों की अर्थात् मामे की तथा बुआ की लड़की के साथ विवाह की प्रथा प्रचलित है। यहाँ पहले भ्रातृव्य विवाहों की चर्चा की जायगी।

वर्तमान काल के भ्रातृव्य विवाह

प्राचीन युग के भ्रातृव्य विवाहों का पहले (पृ० ८१) वर्णन हो चुका है। यहाँ आधुनिक युग के ऐसे विवाहों का उल्लेख होगा। उत्तर भारत में पितृवंश-परम्परा में सात और मातृवंश में पाँच पीढ़ियों के भीतर आने वाले सपिण्ड सम्बन्धियों के साथ विवाह के वर्जन का नियम प्रायः प्रचलित है, अतः भ्रातृव्यों[५१] के विवाह (cousin marriage) का बहुत कम रिवाज है।

ज्यों-ज्यों हम दक्षिण भारत की ओर बढ़ते हैं इस प्रथा का प्रचलन बढ़ता जाता

५१ यहाँ भ्रातृव्य शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के Cousin के पर्याय रूप में किया गया है। अंग्रेजी में इस शब्द से निम्न सम्बन्धी सूचित होते हैं—(१) चचेरा भाई (पितृव्य पुत्र), (२) चचेरी बहिन, (३) मौसेरी भाई (मातृष्वसेय), (४) मौसेरी बहिन, (५) फुफेरे भाई (पितृष्वसेय), (६) फुफेरी बहिन, (७) ममेरा भाई (मातुल पुत्र), (८) ममेरी बहिन। हिन्दी में इन सब के लिए कोई एक शब्द

है। उत्तर भारत में इनी-गिनी जातियों में ही ऐसे विवाहों की प्रथा है। अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का अनुसरण छोटा नागपुर और बंगाल की कुछ जातियां करती हैं, ये क्षत्रिय

नहीं है, अतः यहां ऐसे सभी भाई बहिनों के लिए भ्रातृव्य शब्द का व्यवहार किया गया है। पाणिनि के सूत्र 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' (१।२।६७) के अनुसार भ्राता शब्द में भाई बहिन दोनों सम्मिलित हैं अतः भ्रातृव्य में भाई बहिन दोनों की सन्तान समझी जायगी। ऊपर बताये भ्रातृव्यों में से १–२ पिता के भाई चाचा की और ३–४ माता की बहिन (मौसी) की सन्तान हैं, वंशपरम्परा में पिता और चाचा, माता और मौसी का स्थान समानान्तर होने से ये समानान्तर या अनुभ्रातृव्य (Parellal cousins) कहलाते हैं। चचेरी या मौसेरी बहिन के साथ विवाह अनुभ्रातृव्य विवाह (Parellal cousin marriage or orthomarriage) कहलाता है। भाई-बहिन की सन्तान वंशपरम्परा में विभिन्न होने से प्रतिभ्रातृव्य (Cross cousin) कहलाती है और इनका पारस्परिक विवाह प्रतिभ्रातृव्य-विवाह (Cross cousin marriage) होता है। जैसे माता के भाई (मामा) की लड़की के साथ, पिता की बहिन (फूफी) की लड़की के साथ या बड़ी बहिन की लड़की के साथ। इनमें पहले प्रकार के विवाह का रिवाज बहुत कम है। चचेरे भाई बहिन में विवाह के निषेध का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल के संयुक्त परिवार में सब भाइयों के इकट्ठे रहने के कारण चचेरे भाई-बहिनों को सगे भाई-बहिनों जैसा समझा गया और सगी बहिनों की तरह चचेरी बहिनों को अगम्या माना गया। मौसी की लड़की के साथ विवाह के निषेध का कारण समझना आसान नहीं है, क्योंकि इसके तथा उसकी लड़की के भिन्न परिवार में रहने के कारण इसके साथ विवाह के निषेध का उपर्युक्त कारण नहीं हो सकता। इस विषय में तीन अन्य कारणों की कल्पना की गयी है—(१) चाचा (पिता के भाई) की लड़की के साथ विवाह के प्रतिबन्ध के नियम को मौसी (माता की बहिन) की लड़की के लिए भी सादृश्य के आधार पर लागू किया गया। (२) संभवतः यह अत्यन्त प्राचीन काल के मातृवंशी समाज का अवशेष है, ऐसे समाज में माता अपनी बहिनों के साथ परिवार में एक साथ रहती थी, उसमें माता और उसकी बहिनों की सन्तानों को सगा समझ कर उनमें विवाह का निषेध करना स्वाभाविक था। (३) रिवर्स इसे द्वंद्व सामाजिक संघटन (Dual organization) का परिणाम मानता है। इस कारण की आगे व्याख्या की जायगी (श्रीनिवास—मैरिज एण्ड फैमिली इन माइसोर, पृ० ३८–३९)। भारत में अनुभ्रातृव्य विवाह अर्थात चचेरी बहिन आदि से शादी मुस्लिम वर्ग में ही पायी जाती है।

और राजपूत होने का दावा करती है।[२२] उत्तरी कछार के कचारी आसाम के गारो लोगों की भांति बहिन की लड़की (भांजी) के साथ विवाह करते हैं। ग्वालपाड़ा जिले की राभा जाति में बुआ और मामा की कन्या से शादी का रिवाज है। कुल्लू तथा बड़ौदा की कोलकालिया जाति में ऐसे विवाह प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश की अगरिया, धानिया और कंजर जातियों में भाइयों की सन्तानों को छोड़ कर शेष सब प्रकार के भ्रातृव्यविवाहों की अनुमति है। किन्तु उत्तर प्रदेश की बहेलिया, डांगर नाई, धरकू, दोसाध और डोम जातियों में केवल मौसी की लड़की के साथ ही विवाह संभव है, सिधिया मामा की लड़की के साथ शादी करते हैं। उड़ीसा के करणों में यही पद्धति है। बम्बई में दक्षिण महाराष्ट्र की इकतीस जातियों में मामा तथा बुआ की लड़की के साथ विवाह की अनुमति है, तीन जातियों में मौसी की लड़की के साथ विवाह होता है, पन्द्रह जातियां केवल मामा की कन्या के साथ विवाह की अनुमति देती हैं।[२३] मध्यप्रदेश की अनेक जातियों में इनका रिवाज प्रचलित है। दहरिया राजपूत वंश के समझे जाते हैं, उनमें स्त्रियों की कमी के कारण भ्रातृव्य विवाह अनुमत है। छत्तीसगढ़ के मैदान में तथा मराठों, कुनबियों, महारों में बहिन के साथ भाई की लड़की का विवाह बहुत लोकप्रिय है। इसके दूसरे रूप अर्थात् भाई के लड़के और बहिन की लड़की का विवाह बैतूल, मंडला, चांदा, बस्तर के गोंडों में प्रचलित है। बैगा तथा अगरिया गोंडों में इसे दूध लौटना कहते हैं। इसका यह आशय है कि किसी परिवार से एक स्त्री के बाहर जाने से जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति उस स्त्री की कन्या के पुनः उस परिवार में लौटने से पूरी हो जाती है। माडिया गोंडों में बुआ की लड़की पर ऐसा अधिकार माना जाता है और यदि कोई उसे नहीं देना चाहता तो पंचायत द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी कारण से लड़की नहीं दी जाती तो उसका हर्जाना दिया जाता है। एक पुराने गोंड महाकाव्य लिंगो में सात बहिनें लिंगो से कहती हैं—"तुम हमारे एक भाई के पुत्र हो, हम एक बहिन की पुत्रियां हैं, हम में उत्तम सम्बन्ध है, तुम हमें कैसे छोड़ सकते हो, हम तुम्हारे साथ जायेंगी।" गुजरात में काठी, अहीर, रबारी, चारण और मयासिया जैसी कुछ जातियों में भ्रातृव्यविवाह प्रचलित है, इनमें पत्नी और पति के पिता तथा माता के लिए क्रमशः मामा जी, मामी जी शब्दों का प्रयोग होता है, माता की लड़की के साथ शादी का रिवाज है और यह कहावत प्रचलित है कि "फाई पाछड़ भतीजी आवे" अर्थात् बुआ के पीछे भतीजी (एक ही घर में) वधू के रूप में आती है। गुजरात की कोली, ढेड़ और भील जातियों में से कुछ में बुआ की तथा

२२ गोलाप चन्द्र सरकार—हिन्दू ला, अष्टमसंस्करण, पृ० ७६–११०

२३ १९११ की भारत की जनगणना रिपोर्ट, खं० १, भाग १ पृ० २५६, बम्बई की १९११ की रिपोर्ट के सातवें अध्याय के परिशिष्ट में इस प्रान्त में भ्रातृव्य विवाह करने वाली जातियों का विस्तृत वर्णन है।

मामा की लड़की से तथा कुछ में केवल ममेरी बहिन से विवाह की परिपाटी है।[२४] उड़ीसा में ऊँचे स्थानों में रहने वाली चिन्चल, कोल्स आदि जातियों में तथा पानिया डोमों में प्रतिभ्रातृव्य विवाह प्रचलित है, किन्तु चिल्का झील के उत्तर में समुद्र तट पर बसी हुई जातियों में इनका रिवाज नहीं है।[२५]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में उच्च समझी जाने वाली जातियों में भ्रातृव्य विवाहों का प्रचलन बहुत कम है, यह प्रथा प्रायः हिन्दू समाज में निम्न समझी जाने वाली जातियों में अथवा आरण्यक जातियों में है। किन्तु हम जैसे-जैसे दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, इस प्रथा का प्रचलन बढ़ने लगता है। महाराष्ट्र उत्तर और दक्षिण के मध्य में पड़ता है। इसके उत्तरी भाग में बहुत कम जातियों में प्रतिभ्रातृव्य विवाह होते हैं, केन्द्रीय महाराष्ट्र में अधिकांश जातियों में मामा की लड़की से विवाह की परिपाटी है और दक्षिणी महाराष्ट्र में मामा की लड़की के अतिरिक्त बुआ की लड़की से विवाह का रिवाज ऊँची जातियों में भी है। निम्न उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

आगे यह बताया जायगा कि महाराष्ट्र में 'पदर ला गये'[२६] के नियम के अनुसार विवाह प्रायः उसी कुल में किया जाता है, जिसमें पहले भी वैवाहिक सम्बन्ध हुआ हो। दूसरा नियम उपरिविवाह का है, इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी कन्या को ऊँचे कुल में ब्याहना चाहता है, वह यद्यपि हीन सामाजिक स्थिति वाले कुल से कन्या ग्रहण करता है, किन्तु उसमें अपनी कन्या कभी नहीं देता। इन दोनों नियमों के प्रभाव से महाराष्ट्र में मामा की लड़की के साथ विवाह करना सर्वथा स्वाभाविक है। कर्वे द्वारा दिये गये निम्न चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी।[२७] इसमें भोंसले और घोरपड़े दो परिवार हैं, दूसरे परिवार के गोपाल ने पहले परिवार की सीता नामक कन्या से

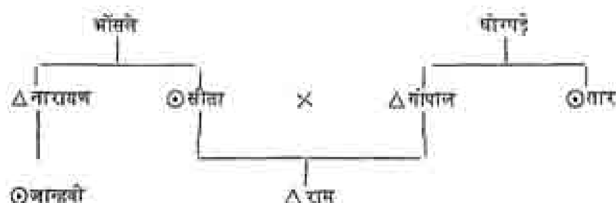
२४ कर्वे—पू. पु., पृ० १५४–५

२५ कर्वे— " " १७२

२६ पदर का शब्दार्थ है—वस्त्र का सिरा। इसका यह आशय है कि स्त्री की साड़ी का छोर जहाँ तक जाता हो, वहाँ तक सम्बन्ध करना उचित है। कल्पना कीजिये कि क कुल वाले अपनी कन्या ख कुल के लड़के को देना चाहते हैं, अब ख कुल वाले यह देखेंगे कि इससे पहले क्या क कुल के साथ उनका कोई वैवाहिक सम्बन्ध हुआ है। ऐसा सम्बन्ध न मिलने पर वे यह पता चलायेंगे कि च, छ, ज नामक जिन कुलों से उनके वैवाहिक सम्बन्ध है, क्या उनमें से किसी कुल का "क" कुल के साथ सम्बन्ध हुआ है। यदि ऐसा कोई सम्बन्ध मिलेगा, तभी क कुल की वधू स्वीकार की जायगी (कर्वे—पृ० १५६)।

२७ कर्वे—पू. पु., पृ० १५६

विवाह किया, अब दोनों परिवार इस वैवाहिक सम्बन्ध को स्थायी बनाने की कामना अनुभव करते हैं और सीता का परिवार अगली पीढ़ी में घोरपड़े परिवार को एक कन्या अवश्य देना चाहता है, यह प्रायः सीता के भाई की लड़की होगी। इस चित्र में यह दिखाया गया है कि सीता और गोपाल के पुत्र राम का विवाह अपने माता के भाई (मामा) नारायण की लड़की जान्हवी से होता है—



यह स्पष्ट है कि इसमें सीता और जान्हवी भोंसले से घोरपड़े कुल में गयी हैं। जब कुछ कुलों को ऊँचा समझा जाता है तो उनमें कन्याएँ देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसका दूसरा कारण यह है कि स्त्री प्रायः अपनी भतीजी (भाई की लड़की) को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहती है।[२८] उक्त उदाहरण में सीता जान्हवी के लिए पिता (नारायण) की बहिन या बुआ तथा सास (पति की माता) दोनों हैं। यही कारण है कि आत्या और मावलन शब्दों का प्रयोग इन दोनों सम्बन्धियों के लिए होता है।[२९] इस प्रकार पुरुष द्वारा अपने मामा की लड़की से अथवा (स्त्री द्वारा अपनी बुआ के लड़के से) विवाह की परिपाटी सारस्वत, करहाड़ और देशस्थ ब्राह्मणों में प्रचलित है।[३०]

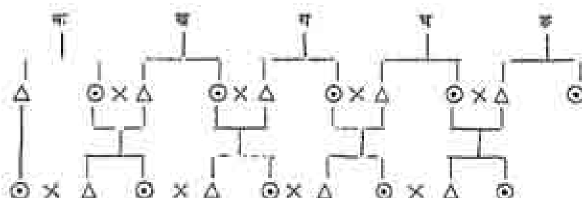
मातुल कन्या परिणय की प्रथा होते हुए भी केन्द्रीय महाराष्ट्र में और मराठी भाषाभाषी जनता में सामान्य रूप से यह धारणा है कि बुआ की लड़की के साथ विवाह दुर्भाग्य को लाने वाला होता है। इसका कारण एक मराठी कहावत में यह बताया गया है कि लता लौट कर नहीं जाती (परत वेल वेता नाये)। वधू के रूप में किसी परिवार में दी

२८ इसका एक अन्य कारण यह भी है कि इसमें विवाह का व्यय कम होता है। महाराष्ट्र के कुणबियों में पिता अपनी कन्या देने का शुल्क लेता है, किन्तु जब कोई पुरुष मामा की लड़की से शादी करता है तो कन्या के पिता को दी जाने वाली राशि उस राशि से कम होती है जो उसे किसी बाहर वाले कन्या के पिता को देनी पड़ती है (कर्वे पू. पु., पृ० १६०)।

२९ कर्वे—पू. पु., पृ० १६०

३० कर्वे—पू. पु., पृ० १६१

जाने वाली कन्या लता या बेल की भाँति है, यदि उसकी लड़की लौटकर पुनः उसके पिता के परिवार में वधू के रूप में जाती है तो यह बेल का वापिस लौटना होगा, यह प्रकृति-विरुद्ध है। बेल सदैव अपनी सब शाखाओं के साथ एक विशेष दिशा में आगे बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगी।



इसमें क ख ग घ ङ पाँच कुल हैं, इन पाँचों कुलों की समान स्थिति होने पर कन्याओं की गति ङ से क की ओर ही होगी। इसका यह परिणाम होता है कि उच्च कुलों की कन्याओं को समान स्थिति का वर न मिलने की दशा में अविवाहित रहना पड़ता है अथवा अपने से निम्न कुल में विवाह करके हीन सामाजिक वर्ग का सदस्य बनना पड़ता है। इसमें प्रायः कन्या का पितृकुल से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है।[31]

दक्षिण तथा उत्तर भारत की परिवार पद्धति के भेद

भ्रातृव्य विवाहों के दक्षिण भारत में प्रचलन के कारण दक्षिण भारत की परिवार-पद्धति उत्तर भारत की कुटुम्बपद्धति से कुछ मौलिक भेद रखती है। दक्षिण में पति-पत्नी उत्तर भारत के दम्पती की भाँति एक दूसरे के लिए सर्वथा अपरिचित और नवीन नहीं होते, बल्कि पूर्व परिचित सम्बन्धी होते हैं। उत्तर में विवाह द्वारा दूर के व्यक्ति बन्धु बनते है, किन्तु दक्षिण में पहले सम्बन्धी अधिक घनिष्ठ बनते हैं। इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के कारण उत्तर और दक्षिण में पति-पत्नी के व्यक्तित्व का विकास विभिन्न प्रकार से होता है। उत्तर में पत्नी पितृकुल से विच्छिन्न होकर जब अपने श्वशुरालय में जाती है तो उससे विशेष व्यवहार की आशा रखी जाती है। वह सास-ससुर के सामने कम आती है, उसका अधिक समय घर के अन्दर बीतता है, उसे सर्वथा नवीन वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालना तथा उनके प्रति अनुकूल बनाना पड़ता है। दक्षिण में यह समस्या कभी उत्पन्न नहीं होती, मामा, भाभी अथवा बुआ की लड़की

३१ कर्वे—यू. पु., ,० १६०
३२ कर्वे—किनशिप आर्गनिजेशन, पृ० १३४, २१६ अनु.

के साथ शादी होने पर पत्नी किसी नये स्वामी के पास नये घर में नहीं जाती, बचपन से उसके साथ खेलने वाला मामा उसका पति होता है। वह न तो उससे और न उसके घर से अपरिचित होती है, उसे अपने को पति के अनुकूल बनाने का विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह उत्तर भारत की स्त्री की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त वातावरण का अनुभव करती है।

किन्तु दक्षिण के इन विवाहों में जहां पत्नी को अपनी उत्तर-भारतीय बहनों की अपेक्षा कुछ लाभ है, वहां कुछ घाटा भी है। यहां प्रायः बचपन की मैत्री विवाह में परिणत होती है, अतः प्रणय में कभी रोमांचकता नहीं आती, यहां कभी प्रथम दृष्टि में प्रेम नहीं होता। विवाह में अपना जीवनसंगी चुनने की यहां स्वतन्त्रता नहीं है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां अनिच्छापूर्वक रूढ़ि से बाध्य होकर विवाह करना पड़ता है। कर्वे ने एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया है, जिसे अपनी दो बड़ी बहिनों की लड़कियों से शादी करनी पड़ी, क्योंकि वह दोनों बहिनों को नाराज नहीं करना चाहता था। अनेक बार एक सुन्दर युवक का विवाह एक कुरूपा युवती से केवल इसलिए होता है कि वह उसकी भांजी है।[33]

उत्तर भारत में पितृकुल और श्वशुरकुल में स्पष्ट अन्तर होता है, दोनों सर्वथा भिन्न होते हैं। पितृकुल का कोई व्यक्ति (माता, पिता, भाई, बहिन) श्वशुर कुल का व्यक्ति (सास, ससुर, साला, साली, दामाद) नहीं बन सकता। किन्तु दक्षिण में ऐसा नहीं है। बड़ी बहिन यद्यपि पितृकुल से सम्बन्ध रखती है, किन्तु उसकी कन्या से विवाह होने पर वह सास भी बन जाती है। दक्षिण भारत के सम्बन्धवाचक नामों पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ, यहां माता और बड़ी बहिन दोनों के लिए भाई शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि बड़ी बहिन की लड़की से शादी होने के बाद वह माता के समकक्ष होती है।[34] बुआ तथा मामा की लड़की के साथ शादी होने के कारण फूफा, मामा तथा श्वशुर (पत्नी का पिता, पति का पिता) के लिए तमिल, तेलुगु, कन्नड़ में प्रायः एक ही शब्द, मामा, मामनार, और्रुम्पर का प्रयोग होता है।[35]

उत्तर भारत का विवाह नवागन्तुकों को पत्नी रूप में अपने परिवारों में मिलाता है और उसका विस्तार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्रियों को नवीन परिवार के लिए अपने को अनुकूल बनाने में काफी कष्ट उठाना पड़ता है, उनका कार्य-क्षेत्र सीमित होता है, पर सम्बन्धियों का वर्ग विस्तीर्ण हो जाता है। दक्षिण भारत के भ्रातृव्य विवाह एक संकुचित वर्ग में ही सम्बन्धियों को संयुक्त करते हैं, इनमें रक्त

३३ वही, पृ० २२०, दक्षिण में इस प्रथा के कारण दादा पोती विवाह भी संभव है।
३४ कर्वे—पू. पु., पृ० २२३
३५ वही—पृ० २१४

द्वारा और विवाह द्वारा बने सम्बन्धियों में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता है, स्त्रियों को दैनिक जीवन में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।[३६]

भ्रातृव्यविवाहों के प्रेरक कारण

उत्तर और दक्षिण में इस पद्धति के अन्तर का मूल कारण बताना बहुत कठिन है। दक्षिण में प्रचलित बहिर्विवाह के विशिष्ट नियम तथा अनेक हेतुओं से निकट सम्बन्धियों के विवाह को अधिक वांछनीय समझना इसके दो प्रधान कारण हैं। इनमें पहले कारण को पिछले अध्याय (पृ० ७६) में स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरा कारण यह है कि अनेक हेतुओं से नजदीकी रिश्तेदारों में विवाह करना वांछनीय समझा जाता है।[३७]गेट के मतानुसार पहला हेतु सुरक्षा का है, आदिम समाजों में जो वर्ग विवाह द्वारा सम्बद्ध नहीं होते थे, वे प्रायः शत्रु माने जाते थे और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना बहुत कठिन होता था। इसके साथ ही, इस दिशा में प्रत्येक छोटा वर्ग अपनी संख्या बढ़ाने का यत्न करता था, ताकि उसकी रक्षा भली-भाँति हो सके। अपनी स्त्री का विवाह किसी दूसरे वर्ग में करने का अर्थ उस वर्ग की संख्या बढ़ाना तथा अपने वर्ग की संख्या कम करना था। बिलोचिस्तान के कबीलों में आज तक शादी वर्जित पीढ़ियों से बाहर यथासंभव निकटतम सम्बन्धियों में होती है (१६०१ की बिलोचिस्तान की रिपोर्ट, पृ० १२६)। एक अन्य प्रेरक हेतु यह भी होता है कि नजदीकी रिश्तेदार अपने बच्चों का एक दूसरे से विवाह करके अपने सम्बन्ध को अधिक घनिष्ठ बनाते हैं। यह भी सोचा जाता है कि सम्बद्ध परिवार में विवाह करने से कन्या के साथ उत्तम बर्ताव होगा।[३८] सर्वथा अपरिचित कुल में विवाह करने से उस कुल वाले वधू के साथ वैसा मधुर व्यव-

[३६] वही—पृ० २२६

[३७] भारत की १६११ की जनगणना रिपोर्ट खण्ड १, भाग १, पृ० २५६–७

[३८] अरबों में तथा मुस्लिम जगत् में चाचा की लड़की के साथ अनुभ्रातृव्यविवाह (Orthocousin moriags) जिन कारणों से श्रेयस्कर माना जाता है, उनमें एक दाम्पत्य जीवन का सुखमय होना है। क्योंकि इसमें पत्नी का स्वभाव पहले से ज्ञात होता है। कन्या यदि पति के वश में न रहे तो उसे अपने पिता तथा उसके भाइयों की सहायता से काबू में रखा जा सकता है। इससे वंश शुद्ध बना रहता है, सम्पत्ति परिवार से बाहर नहीं जाती और विवाह में कम खर्च होता है। (इंसा, ब्रिटा. खं० ६, पृ० ६१३) भ्रातृव्य विवाह आस्ट्रेलिया, प्रशान्तमहासागर, अफ्रीका तथा एशिया के विविध भागों में प्रचलित है। इसके विस्तृत वर्णन के लिए दे. वेस्टर मार्क—'दि हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज' खं० २, पृ० ६८–६६, फ्रेजर–फॉकलोर इन दी ओल्ड टेस्टामेण्ट, खण्ड २, पृ० ६८ अनु.।

हार करने को बाध्य नहीं होते जैसा बर्ताव निकट सम्बन्धी प्रायः वधू के साथ करते हैं। कई बार यह विचार भी होता है कि जिस व्यक्ति ने एक कुल से कन्या ली है, उसे उस कुल में अपनी एक कन्या अवश्य देनी चाहिए। इस दशा में यह कन्या प्रायः मामा के लड़के को दी जायगी। जहां मातृवंशी परिवार पद्धति का प्रचलन होता है, वहां मामा का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है।[३९] ऐसे परिवारों में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी लड़का न होकर भांजा होता है, इसके साथ अपनी कन्या की शादी करने में यह लाभ है कि भांजा उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनेगा, मामा को यह सन्तोष होगा कि सम्पत्ति उसके पुत्र तुल्य समझे जाने वाले जमाई को ही मिलेगी। यदि लड़कियों की संख्या कम हो तो भी उसे अपने लड़के के लिए अपनी बहिन की लड़की प्राप्त करना बहुत सुगम होगा। दक्षिण में मातृवंशी परिवार प्रणाली प्रचलित होने के कारण संभवतः उपर्युक्त हेतुओं से भ्रातृव्यविवाह की प्रथा का उद्भव हुआ।

वर्तमान समय में शिक्षित नवयुवकों में भ्रातृव्यविवाह कम हो रहे हैं, निकट सम्बन्धियों में विवाह के उपर्युक्त नियम को तोड़ कर नवयुवक वैयक्तिक लाभ के लिए सम्बन्धी-वर्ग से बाहर भी शादियां करने लगे हैं। कई बार ऐसे विवाहों से परिवारों में बड़ी दुःख और निराशा भी उत्पन्न होती है। उत्तर भारत के तथा अंग्रेजी शिक्षा के संसर्ग में आने वाले दक्षिण भारतीय अब भ्रातृव्यविवाहों, विशेषतः मामा-भांजी के सम्बन्ध को बुरा समझने लगे हैं।[४०] प्रस्तावित हिन्दू कोड में सारे भारत के लिए एक रूप व्यवस्था करते हुए ऐसे सम्बन्धों को समाप्त करने का सुझाव था, किन्तु दक्षिण भारत के तीव्र विरोध के कारण यह स्वीकार नहीं हो सका।

१८ मई १९५५ से लागू हुए हिन्दू विवाह कानून की २९ वीं धारा में रिवाज के रूप में प्रचलित सभी विवाहों को वैध स्वीकार कर लिया गया है। दक्षिण भारत में निकट सम्बन्धियों में विवाह करने की परिपाटी इतनी बद्धमूल है कि इसका निकट भविष्य में अन्त होना असंभव प्रतीत होता है। इस विषय में संभवतः दक्षिण भारत उत्तर भारत के नियम स्वीकार नहीं करेगा और अपना निरालापन बनाये रखेगा।

नया कानून और सपिण्डता

१९५५ के हिन्दू विवाह कानून की तीसरी धारा में सपिण्डता की बड़ी सुस्पष्ट व्याख्या की गयी है, जो प्राचीन धर्मशास्त्रों की व्यवस्था की अपेक्षा अधिक संकुचित है। इस (धारा ३) के अनुसार सपिण्ड संबन्ध मातृपक्ष में माता से ऊपर की ओर तीन पीढ़ी

३९ मैसूर में मामा के महत्त्व के लिए देखिये—श्रीनिवास—"मैरिज एण्ड फैमिली इन माइसोर" पृ० ५०—५९

४० कर्वे—पू. पु., पृ० १६२

तक होता है और पितृपक्ष में पिता से ऊपर की पांच पीढ़ी तक। इसमें पीढ़ियों की गणना सम्बद्ध व्यक्ति से ऊपर की ओर की जायगी और उसे पहली पीढ़ी माना जायगा। तीन पीढ़ी और पांच पीढ़ी तक का आशय यह है कि इन पीढ़ियों को सम्मिलित करते हुए इस सम्बन्ध की गणना की जायगी।

इस कानून के लागू होने से पहले तक मिताक्षरा की व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति के सपिण्ड सम्बन्धी निम्न होते थे—

(क) पूर्वजों में उस व्यक्ति के पिता, दादा, परदादा आदि ऊपर की ओर छः पीढ़ी तक के व्यक्ति।

(ख) उस व्यक्ति के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि छः पीढ़ी तक के सम्बन्धी।

(ग) माता, उसके पिता, दादा आदि पांच पीढ़ी तक के सम्बन्धी।

श्री हरिसिंह गौड़ ने लिखा है कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार यदि सपिण्ड व्यक्तियों की गणना की जाय तो यह २००० के लगभग होगी, इन सब में परस्पर विवाह नहीं हो सकता। यूरोप में ऐसे निषिद्ध पीढ़ी वाले सम्बन्धियों की संख्या ३० के लगभग है। प्राचीन काल में पैठीनसि आदि कुछ शास्त्रकार विवाह में सपिण्डों की संख्या घटा कर उसे पांचवी और तीसरी पीढ़ी तक मर्यादित करने के पक्षपाती थे। नये हिन्दू कानून में संभवतः इसी का अनुसरण किया गया है।

निषिद्ध पीढ़ियां

नये कानून में सपिण्ड विवाह के निषेध के अतिरिक्त निम्न प्रकार के सम्बन्धी वर्जित पीढ़ी के बताये गये हैं और इनमें विवाह निषिद्ध है—

१. जबकि दो में से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का वंशपरम्परा की दृष्टि से पूर्वज हो।

२. जब उनमें से एक व्यक्ति दूसरे का ऊपर की या नीचे की पीढ़ी में पति या पत्नी हो।

३. एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के भाई की स्त्री हो या चाचा-ताऊ या मामा की स्त्री हो।

४. जब दो व्यक्ति आपस में भाई, बहिन, चाचा, भतीजी, चाची या भतीजा हो, या भाई-बहिन की अथवा दो भाइयों या दो बहिनों की सन्तान हों। (धारा ३)

यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कानून का दक्षिण भारत के रिवाज के आधार पर होने वाले मातुल्य विवाहों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि पांचवी धारा में हिन्दू विवाहों की पांचवी शर्त में जहां यह कहा गया है कि वर-वधू सपिण्ड नहीं होने चाहिए, वहां उसके साथ यह भी विधान किया गया है कि दोनों पक्षों के रीति-रिवाज के अनुसार यदि सपिण्ड सम्बन्धियों के बीच विवाह होना संभव हो तो ऐसा विवाह अवैध नहीं होगा।

४१ हिन्दू कोड, पृ० १३१

और प्रतिलोम विवाह होते थे। वायुपुराण (८।३३, ४९ तथा ५७ अध्याय) में तो यहाँ तक कहा गया है कि कृतयुग में वर्णाश्रम की व्यवस्था ही नहीं थी। जब वर्ण व्यवस्था ही नहीं थी तो अपने ही वर्ण में विवाह का नियम उस समय कैसे प्रचलित हो सकता था? वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में असवर्ण विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। शतपथ ब्रा० (४।१।५) में बताया गया है कि भृगुवंशी ब्राह्मण च्यवन ने मनु के वंशज

किया है—(१) अन्य जातियों के समान आर्य भी अपनी लड़कियाँ दूसरी जातियों में देना अच्छा नहीं समझते थे। (२) विजेता और गौर वर्ण आर्यों में यह भावना स्वाभाविक थी कि वे विजित तथा काली जातियों को हीन समझते हुए उनसे वैवाहिक और खानपान के सम्बन्ध न रखें। जाति के लिए संस्कृत में पुराना शब्द वर्ण है, जो रंग का भी वाचक है। आजकल की श्वेतांग जातियों में इस प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है। दक्षिण अफ्रीका के बोअर वहाँ के मूलवासी कृष्ण वर्ण के अफ्रीकी लोगों से घृणा करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के २२ राज्यों में नीग्रो लोगों के साथ, चार राज्यों में रेड इंडियन जाति के साथ तथा चार राज्यों में मंगोलियनों के साथ श्वेतांग जातियों के विवाह वर्जित हैं (हाबहाउस—मारल्स इन इवोल्यूशन, पृ० १४२)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में गौरवर्ण आर्यों के कृष्णवर्ण स्त्रियों के साथ विवाह होते थे (वसिष्ठधर्म सूत्र १।२५), किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इन स्त्रियों को तथा इनसे उत्पन्न पुत्रों को हीन दर्जा दिया जाता था। (३) गेट के कथनानुसार हीन वर्ण और हीन स्थिति की स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों ने जब समान वर्ण की स्त्रियों की सन्तानों के साथ समानाधिकार के लिए होड़ की तो जातिभेद की प्रथा को बड़ा प्रोत्साहन मिला। (४) धार्मिक पवित्रता और खानपान में छुआछूत के विचार से जातिभेद को पुष्टि मिली। भारत की अनेक आदिवासी जातियों में ऐसे विचार पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, बंगाल की खरिया नामक पहाड़ी जाति के लोग अपने परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के साथ भात नहीं खाते। मुण्डा लोगों में यह प्रथा है कि कोई मुण्डारी दीर्घकाल के पश्चात् विदेश से लौटने पर उस समय तक अपने घर में प्रविष्ट नहीं हो सकता जब तक कि उसकी पत्नी बाहर आकर उसके चरण न धो ले, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि विदेश में किसी ऐसे सम्पर्क से उसका दूषित होना सम्भव है, जो उसे मुण्डा समाज की सभ्यता के लिए अयोग्य बना दे (गेट—इंसा. रिली० ई०, खं० ३, पृ० २३५)। अनार्य जातियों में प्रचलित ऐसी प्रथाओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की है कि हिन्दू समाज ने जाति-भेद के प्रधान तत्त्वों—छुआछूत और ऊंच-नीच के विचार को अनार्यों से ग्रहण किया (भारत की जनगणना की उपर्युक्त रिपोर्ट, पृ० ४२७)। इन विचारों के प्रसार

क्षत्रिय शर्याति की लड़की सुकन्या से शादी की। बृहद्देवता (५।५०) ने ऋ० ५।६१।१७–१९ की यह व्याख्या की है कि इसके अनुसार राजा रथवीति दार्भ्य ने अपनी कन्या अर्चनानस आत्रेय के पुत्र श्यावाश्व को प्रदान की। ऐतरेय ब्राह्मण का लेखक महिदास इतरा या शूद्रा का पुत्र था।[२] इतरा का पुत्र होने से वह ऐतरेय कहलाया और उसके इसी नाम से उनका बनाया ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण प्रसिद्ध हुआ। पंचविंश ब्राह्मण (१४।६।६) में एक काण्ववंशीय को भी दासीपुत्र कहा गया है। इसी ब्राह्मण में दीर्घतमा की पत्नी का नाम उशिज आया है। (१४।१।१७)। बृहद्देवता के अनुसार (४।२४।२५) उशिज शूद्रा थी, इसके के गर्भ से कक्षीवान् आदि ऋषि उत्पन्न हुए।

वैदिक युग में विभिन्न वर्णों से उत्पन्न सन्तानों को बुरा समझा जाता हो, सो बात नहीं। यह ठीक है कि ऐ० ब्रा० (२।८) में कवष ऐलूष के दासी (शूद्रा) पुत्र होने

से प्रत्येक वर्ग के लोगों में अपने को दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से पृथक् रखने, अपना उद्गम एक मूल पुरुष से मानने की भावना उत्पन्न हुई, अपने सामाजिक संबन्धों और विवाह को अपने वर्ग तक सीमित रखकर उन्होंने उसे एक विशिष्ट जाति बना दिया है। (५) जाति भेद की उपर्युक्त प्रवृत्ति ने शनैः-शनैः विभिन्न व्यवसाय तथा कार्य करने वाले बढ़ई, जुलाहा, चमार आदि के वर्गों को विशिष्ट जाति का रूप प्रदान किया। जातिभेद के उद्भव और विकास पर बहुत अधिक साहित्य प्रकाशित हुआ है। इसका सुन्दर तथा संक्षिप्त विवेचन निम्न ग्रन्थों में है—ईसा. ब्रिटा. ४।९७६–९८६, ईसा. रिलो० ई० ३। २३०–३९, इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, ख० १, पृ० २८३; पा० वा० काणे— हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खं० २, भाग १, पृ० १९–१०४, घुरये—कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया (१९३२); एन० के० दत्त—ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट सिस्टम इन इंडिया (१९३१); फिक—सोशल आर्गेनिजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धास टाइम (१९२०); ब्लंट—कास्ट सिस्टम आफ नार्दर्न इंडिया (१९३१); एस० वी० केतकर—हिस्टरी आफ कास्ट इन इंडिया, २ खण्ड (१९०९–१०); एमाइल सेनार्त की फ्रेंच पुस्तक का रासकुल अंग्रेजी अनुवाद (१९३६); हट्टन—कास्ट इन इंडिया। जातिभेद सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की विस्तृत सूची सर एथेलस्टेन बेनेस की एथनोग्राफी (१९१२) में पृ० १७३–२११ में मिलेगी। हिंदी में इसका विवेचन क्षितिमोहन सेन कृत 'भारत में जातिभेद' में है। हिन्दू समाज के आधुनिक जातिभेद का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का निर्देश आगे किया जायगा।

२ सत्यव्रत सामश्रमी—ऐतरेयालोचनम्, पृ० ११।

से उसे यज्ञ से बाहर खदेड़े जाने का वर्णन है।[४] किन्तु यह बात उसके लिए ऋ० १०।३०-४ का ऋषि होने में बाधक नहीं हुई। लाट्यायन तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्रों से यह ज्ञात होता है कि अब्राह्मणों की सन्तति ब्राह्मण होती थी। कवष की तरह उन्हें यज्ञों से खदेड़ा नहीं जाता था, अपितु उन्हें यज्ञ कराने का पूरा अधिकार था।

शाट्यायन श्रौत सूत्र (६।२।५-७) में सोमपान से पूर्व दस पुरोहितों द्वारा अपनी पितृपरम्परा की दस और मातृपरम्परा की दस पीढ़ियों के नाम लेने का वर्णन है। यदि मातृपरम्परा में किसी अब्राह्मणी का नाम आ जाय तो उसे छोड़कर ब्राह्मण-कन्याओं के नाम से दस की संख्या पूरी करनी चाहिए और यदि नाम याद न हों तो जहाँ से याद हों उन्हीं का पाठ करें। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (१।९।९), आपस्तम्ब मन्त्र-पाठ (२।१६।१), हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (२।१०।७), शांखायन गृह्यसूत्र (३।१३) तथा मनु (९।२०) में यज्ञ के समय माता में अपतिव्रता का दोष होने पर उसे दूर करने के लिए मन्त्रपाठ का विधान है। इससे यह स्पष्ट है कि माता का दोष ब्राह्मण के लिए बुरा नहीं समझा जाता था। काठक संहिता तो यहाँ तक कहती है कि ब्राह्मण के माता-पिता की बात पूछना ठीक नहीं है। महाभारत (१३।२२।५) ने इसका अनुमोदन करते हुए देवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा निषिद्ध ठहरायी है।

अनुलोम विवाहों के प्राचीन उदाहरण

ब्राह्मण-परीक्षा के निषेध से हमें स्वभावतः पुराणों में वर्णित उन प्रसिद्ध ऋषियों

४ ऐ० ब्रा० २।८, इलूष नामक शूद्रा दासी का पुत्र कवष ऐलूष सरस्वती के तीर पर सोमयाग में दीक्षित हुआ। अन्य ऋषियों ने उसे देखकर कहा कि यह अब्राह्मण दासीपुत्र हमारे बीच सोमयाग में कैसे दीक्षित हुआ? यह कहकर उन्होंने ऐलूष को सरस्वती से दूर जलहीन प्रदेश में खदेड़ दिया। ऐलूष ने वहाँ 'प्रदेवत्रा ब्राह्मणे' (ऋ० १०।३०) के सूक्त का साक्षात्कार किया और सरस्वती उसके पास आयी, तब ऋषियों ने उसे ब्राह्मण माना। शांखायन ब्राह्मण १२।३ में भी ऐसी कथा है। यहाँ दास्याः पुत्र' गाली भी हो सकती है या यह सूचित करती है कि ब्राह्मण का लड़का होने पर भी उसकी माता अनार्य थी। उच्च वर्ण वाले आर्यों तथा शूद्रों के यौन सम्बन्ध की सत्ता वाजसनेय संहिता २३।३० तथा मै० सं० ३।४।१९।३ से भी सूचित होती है। इसमें कहा गया है कि जब शूद्रा स्त्री का प्रेमी आर्य होता है तो वह अपने संबन्धियों की समृद्धि के लिए धन नहीं चाहती। शत० ब्रा० (१३।२।९।८) ने इस वचन को उद्धृत करते हुए कहा कि इसलिए वह वैश्य स्त्री के पुत्र का राजा की तरह अभिषेक नहीं करता। इससे यह सूचित होता है कि राजा वैश्य की कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु उसका पुत्र राजगद्दी का अधिकारी नहीं होता था।

की कथाएँ स्मरण हो आती हैं जिन्होंने निम्न वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह किये थे। मनु ने वसिष्ठ के साथ अधमयोनिजा अक्षमाला का और मंदपाल के साथ शारङ्गी के विवाह का उल्लेख किया है[४] (९।२३)। अधम पत्नी की बात जाने दीजिए, अरुन्धती उनकी आदर्श पत्नी थी; किन्तु वह मनुवंशी क्षत्रिय राजा कर्दम की कन्या थी (भाग० पु० ३।२४, मत्स्य पु० २०१।३०)। अगस्त्य ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (१।१६५ १३।१५,१।११६-१९ आदि) के ऋषि हैं; उनकी पत्नी लोपामुद्रा क्षत्रिय थी (महाभा० ३।९४–९७)। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति का एक वैश्यकन्या अदृश्यन्ती से विवाह हुआ (महाभा० कु० १३।५३।१७)। महर्षि पराशर ने यमुना के किनारे दाशराज धीवर की कन्या से कृष्णद्वैपायन को प्राप्त किया (महाभा० १।६३, १०५ अ०, भाग० पु० १।३)। कृष्णद्वैपायन ने विचित्रवीर्य की क्षत्रिय स्त्रियों से नियोग कर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को जन्म दिया था (महाभा० आदिपर्व अ० १०६, ब्रह्म पुराण अ० १५४, भाग० पु० ९।२२)। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मर्षि वैश्य और

४ मनु ९।२३ अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा। शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्। अक्षमाला का उल्लेख महाभा० उद्योग पर्व ११७।११ तथा मन्दपाल की कथा महाभारत आदि पर्व अ० २३१ में है। मनुस्मृति के टीकाकारों में गोविन्दराज और राघवानन्द ने अक्षमाला को अरुन्धती का ही दूसरा नाम माना है, राघ० के कथनानुसार वह ऋषियों की अनुमति से वसिष्ठ की पत्नी बनी। परवर्ती ग्रन्थों में अनेक प्राचीन ऋषियों की उत्पत्ति निम्न वर्णों की स्त्रियों से बतायी गयी है। भविष्य पुराण (४२।२२–२४) के अनुसार व्यास का जन्म कैवर्ती के गर्भ से, पराशर का चण्डाल कन्या से, शुकदेव का शुकी से, कणाद का उलूकी के गर्भ से, ऋष्यशृंग का मृगी के गर्भ से, वसिष्ठ का गणिका से, मंदपाल का नाविका से तथा मुनिराज माण्डव्य का मण्डूकी के गर्भ से हुआ। यही बात वज्रसूचिकोपनिषद् में पायी जाती है। महाभारत के कुम्भघोणम् संस्करण के अनुशासनपर्व के ५३ वें अध्याय में ऐसे ऋषियों की बड़ी लम्बी सूची देने के बाद कहा गया है—ऋषीणां च नदीनां च साधूनां च महात्मनाम्। प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च॥ (मि० गरुड़ पुराण पूर्व खण्ड ११५।५७)। इन उदाहरणों की व्याख्या के लिए दे० इन्दिरारमण—मानवार्षभाष्य पृ० १२९–१३९। प्राचीन काल में ऐसे विवाहों का प्रधान कारण जाति-व्यवस्था का लचीलापन था (क्षितिमोहन सेन—भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० २४–४२)। उस समय ब्राह्मणत्व की कसौटी जन्म नहीं, किन्तु वेदादि का ज्ञान (श्रुत), उत्तम चरित्र, समता, सत्यता, शील आदि गुण थे (सेन—पू० पु०, पृ० ४१-४२)।

शूद्र योनि में उत्पन्न हुए हैं। कपिञ्जल चाण्डाली से उत्पन्न हुए और अदृश्यन्ती का पिता वैश्य चित्ररथ था। यह वसिष्ठ के पुत्र शक्ति से ब्याही गयी (म० भा० कु० १३।५३।१७)। दीर्घतमा ऋषि ने सुदेष्णा नामक दासी के गर्भ से कक्षीवान आदि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये (महाभा० १।१०४, मत्स्य पु० ४८)। ऋचीक ऋषि ने कान्यकुब्ज के राजा की कन्या प्राप्त की थी। (म० भा० ३।११५)। जमदग्नि ऋषि की स्त्री रेणुका इक्ष्वाकुवंशीय राजा रेणु की कन्या थी (भाग० ९।१५।१२, हरि० पु० १।२७)। ऋष्यशृंग ऋषि ने दशरथ की कन्या शान्ता के साथ पाणिग्रहण किया था (भाग० ९।२३।७–१०)।

प्रतिलोम विवाहों के उदाहरण

प्रतिलोम विवाहों में क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण की कन्यायें लेते थे। राजा प्रियव्रत ने ब्रह्मर्षि कर्दम की पुत्री काम्या (वा० पु० २८ अ०) को ब्याहा। राजा नीप ने कृष्ण-द्वैपायन के पुत्र शुक की कन्या कृत्वी का पाणिग्रहण किया (भाग० ९।२१।२५)। ययाति ने शुक्राचार्य की ब्राह्मण कन्या देवयानी को ग्रहण किया था। देवयानी अपनी दासियों और शर्मिष्ठा के साथ वन में विहार कर रही थी। ययाति उसी वन में आखेट करते हुए जलपानार्थी होकर उधर आ निकला। देवयानी ने उसका परिचय पाकर दासियों और शर्मिष्ठा सहित अपने को ययाति राजा को सौंप दिया। राजा उसे स्वीकार करने में कुछ झिझकते हुए कहता है—"हे शुक्रनन्दिनी, तुम्हारा मंगल हो, मैं तुम्हारे योग्य पात्र नहीं हूं। हे देवयानि! तेरे पिता के लिए राजा लोग विवाह योग्य नहीं हैं" (१।८१।१८)। देवयानी कहती है "ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय और क्षत्रिय के साथ ब्राह्मण मिले हुए हैं। हे नाहुष! आप भी उसके अनुसार ऋषि और ऋषिपुत्र हुए, अतः मेरे साथ विवाह करो।" ययाति उसकी युक्ति से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि चारों वर्ण एक देहोद्भव होने पर भी पृथक् धर्मों वाले हैं, किन्तु अन्त में शुक्राचार्य के दान करने पर उन्हें देवयानी स्वीकार करनी पड़ी। फिर भी ययाति को वर्णसंकरता के पाप का भय है। इस पर शुक्राचार्य कहते हैं—"मैं तुम्हें अधर्म से बचाता हूँ, तुम मनमाना वर मांगो। इस विवाह से दुःखी मत हो, मैं तुम्हारा सम्पूर्ण पाप दूर कर देता हूँ (१।८१।३४)।" ययाति को इस विषय में चाहे कितना संकोच हो, किन्तु यह प्रतिलोम विवाह अवश्य हुआ। इस विवाह के तथ्य को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

क्षत्रिय से ब्राह्मण स्त्री में जो पुत्र होता था, उसे सूत कहते थे। राजा लोग सूतों से सम्बन्ध रखते थे। शौनकादि ऋषियों को पुराणों की कथा सुनाने वाला रोम-हर्षण सूत था (भाग० पु० १०।७८।२२–२३)। महाभारत (१३।२७।२९) में एक नाई द्वारा मता नामक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न मतंग मुनि की कथा दी गयी है।

उस समय सवर्ण विवाह के नियम का भंग अधिक होता था और पालन कम।

वनपर्व में भीमसेन को पकड़ने वाले सर्प से संलाप करते हुए युधिष्ठिर गुणकर्मानुसारी वर्णव्यवस्था के समर्थन में युक्ति देते हुए कहते हैं—हे महासर्प ! मनुष्यों में जाति की परीक्षा होना महा कठिन है, क्योंकि उनमें वर्ण संकर हैं। सब (वर्णों के) व्यक्ति सब (वर्णों की) स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न करते हैं (३।१८४।३१, ३२)। युधिष्ठिर की इस स्पष्ट उक्ति की पुष्टि अनुशासन पर्व के ४८ वें अध्याय में गिनाये बीसियों वर्णसंकरों से होती है[६]।

शूद्रा स्त्रियों के साथ विवाह का निषेध

प्राचीन हिन्दू समाज में सबसे पहले शूद्रा के साथ विवाह का निषेध किया गया। उस समय सब आर्येतर जातियाँ शूद्र कहलाती थी। इनके साथ आर्यों के सम्बन्ध होते थे। कहा जाता है कि शुरू में आर्य अपने साथ स्त्रियाँ कम लाये थे, वे शूद्रा स्त्रियों को ग्रहण कर लेते थे किन्तु, बाद में जब वे यहाँ बस गये तो उनमें वर्ण (रंग) भेद प्रचलित हुआ, और वे विजितों की कृष्णवर्णा स्त्रियाँ लेना नापसंद करने लगे। वसिष्ठादि ऋषियों ने शूद्राओं के साथ विवाह किये, और शूद्राओं ने महर्षि व्यास जैसे ऋषिपुंगवों को जन्म दिया। ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के लिए कृष्णवर्णा शूद्रा स्त्रियों का आकर्षण बहुत प्रबल था। बाद में जातीय शुद्धता के विचार से धर्मशास्त्रकारों को ये विवाह संभवतः बहुत बुरे प्रतीत हुए होंगे, अतः उन्होंने इनका विरोध किया। विरोध की दो अवस्थाएँ थीं। पहली तो यह कि शूद्रा स्त्री को धार्मिक अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाय और दूसरी यह कि शूद्रा के अभिगमन को भयंकर दण्डनीय अपराध बना दिया जाय।

वसिष्ठ धर्मसूत्र कहता है कि अग्निसंस्कारपूर्वक कृष्णवर्णा स्त्री को न ग्रहण करे, क्योंकि वह रमण के लिए ही होती है, धर्म के लिए नहीं।[७] वसिष्ठ की यह बात

[६] वर्णसंकरता के प्राचीन और अर्वाचीन उदाहरणों के लिए देखिए क्षिति मोहन सेन—भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० १७०–१७३। नैषधीय चरित (१७।४०) में कहा गया है "अनन्त दोषों के कारण कोई जाति निर्दोष नहीं है", इस पर नैषध के टीकाकार ने कुछ मनोरंजक प्राचीन वचन उद्धृत किये हैं; अपने रिश्तेदारों के साथ भी एक पंक्ति में भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि कौन जानता है कि किसने कौन सा पाप किया है (अप्येकपंक्त्या नाश्नीयात् संगतैः स्वजनैरपि। को हि जानाति किं प्रच्छन्नं पातकं भवेत्)। एक दूसरे वचन के अनुसार कामतृष्णा दुर्वार होने के कारण तथा कुल स्त्री के आधीन होने से जातिभेद सर्वथा निरर्थक है (अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना)।

[७] वसिष्ठ ध० सू० १८।१७-१८, 'नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्। कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्मायेति'। निरुक्त १२।२।१३ से इस विषय पर बहुत मनोरंजक

इसलिए कहने की जरूरत पड़ी कि पुराने समय में असवर्णा स्त्रियां पति के कार्यों को कर सकती थीं। सामान्यतः यज्ञ में अग्निमन्थन का कार्य सवर्णा स्त्री द्वारा होता था, किन्तु उसके अभाव में कात्यायन स्मृति (८।६) असवर्णा पत्नी को भी यह कार्य करने का अधिकार देती है। यद्यपि कात्यायन ने इस कार्य को शूद्रा पत्नी द्वारा कराने का निषेध किया है, किन्तु वसिष्ठ के कहने के ढंग और न 'धर्माय' शब्द की पुनरावृत्ति से अवश्य सन्देह होता है कि कभी शूद्रा स्त्री को धर्मपत्नी का पद अवश्य प्राप्त था। पार० गृ० सू० (१।४), बौधा० ध० सू०.(१।८।२), विष्णु धर्मसूत्र (२४।१।४), वसिष्ठ ध० सू० (१।२५) से ज्ञात होता है कि कुछ लोगों की सम्मति में शूद्रा स्त्री को ग्रहण किया जा सकता था, किन्तु उसके लिए धार्मिक संस्कार की कोई आवश्यकता नहीं थी। धर्मशास्त्रों के ये वचन इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि उस समय कृष्णवर्णा शूद्राओं के साथ विवाह का रिवाज था, किन्तु वे धर्मपत्नी के रूप में नहीं, वरन् रखैल के रूप में लायी जाती थीं।

धर्मसूत्रों को विवश होकर इस प्रथा का उल्लेख करना पड़ा था। वास्तव में उनकी सम्मति इसके विरुद्ध थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१।२५) स्पष्ट शब्दों में कहता है कि ऐसा विवाह निश्चित रूप से कुल को अधोगति की ओर ले जाने वाला है और मरने पर ऐसे विवाह से नरक मिलेगा। मनु ने शूद्रा के साथ विवाह की घोर निन्दा की है।[८]

प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में राम काले को कहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का असली अर्थ रमण करना था। आर्य शूद्रा स्त्रियों के साथ रमण ही करते थे, धर्मकार्य नहीं, अतः उन स्त्रियों को रामा कहा जाता था। ये शूद्रा स्त्रियां काली होती थीं, अतः रामा का अर्थ कृष्णवर्णा स्त्री हुआ और बाद में राम काले को कहने लगे।

८ मनु० ३।१४–१९। पराशर स्मृति (१२।२३) के अनुसार घर में शूद्रा स्त्री रखने वाला रौरव नरकगामी होता है। शंखस्मृति (४।६, १२) आपत्काल में भी शूद्रा स्त्री के साथ विवाह का निषेध करती है, क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र पिण्डदान नहीं कर सकता। महाभा० १३।४७।८–१० में मनु (३।१७) की भाँति शूद्रा से विवाह की घोर निन्दा की गयी है। विष्णु (अ० २६) ने शूद्रा के साथ विवाह की निन्दा करते हुए मनु के ३।१५ तथा ३।१८ को दोहराया है, उससे धर्मकार्य का निषेध करते हुए उसे कामान्ध के सुख का ही हेतु बताया है। बृहद्यम इसे प्रतिदिन ब्रह्महत्या के तुल्य पाप समझता है, वह इस जन्म में इस कारण शूद्रत्व को तथा अगले जन्म में कुत्ते की योनि को प्राप्त करना बताता है (३।१४)। यम के मतानुसार शूद्रागमन से ब्राह्मण तीन दिन के लिए अपवित्र होता है, किन्तु इससे सन्तान उत्पन्न करने पर उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है। ब्रह्मघातक ब्रह्मघातक नहीं है, किन्तु शूद्रा का पति ब्रह्मघातक है (न ब्रह्महा ब्रह्महा ब्रह्महा तु वृषली

यह पुराने इतिहास की दृष्टि से ओझल करता हुआ कहता है कि किसी प्राचीन उदाहरण (वृत्तान्त) में ऐसा नहीं देखा जाता कि आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ने शूद्रा से विवाह किया हो। जो द्विज मोहवश शूद्रा स्त्री से विवाह करते हैं, वे सन्तान सहित अपने कुलों को शूद्र बना डालते हैं। अत्रि और गौतम के मतानुसार शूद्रा से केवल विवाह करने से, शौनक के मत में शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने से और भृगु के मत से शूद्रा से उत्पन्न सन्तान की सन्तान होने पर द्विज पतित होते हैं। शूद्रा स्त्री से गमन करने वाला

पति:, सं० प्र०, पृ० ७५०)। हारीत इस विवाह को अधोगति पाने का साधन मानता है (सं० प्र० पृ० ७५०)। उशना के मत में मद्यपान और ब्रह्महत्या करने वाले के लिए प्रायश्चित है, किन्तु शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने वाले के लिए कोई प्रायश्चित नहीं है (सं० प्र०, पृ० ७५१)। उशना ने कुछ ऐसे आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है, जो ऐसे विवाह से व्यक्ति का अध:पतन नहीं मानते, किन्तु वसिष्ठ का यह मत है कि विवाहमात्र से उसका अवश्य पतन होता है। शौनक के मतानुसार पुत्र पैदा करने से तथा गौतम के अनुसार पुत्रों के पुत्र पैदा करने से (वही, पृ० ७५१) पतन होता है। भविष्यपुराण के मत में अत्रि शूद्रा के साथ विवाह करने से पतित हुआ, उतथ्य पुत्र पैदा करने से और शौनक पुत्र का पुत्र पैदा करने से (सं० प्र०, पृ० ७५१)। ब्रह्मपुराण के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रा कन्याओं से कभी विवाह नहीं करना चाहिए। (सं० प्र०, पृ० ७५२)। मित्रमिश्र के मत में शूद्रा के विवाह का निषेध तभी लागू होता है, जब अन्य वर्णों की पत्नियाँ उपलब्ध हों। इन विवाहों की निन्दा करने का तात्पर्य इनके दोष दिखाना है (सं० प्र०, पृ० ७५२)। पराशरमाधवीय ने महाभारत के आश्वमेधिक पर्व से शूद्रा के विवाह की निन्दा के दो वचन उद्धृत किये हैं। इनके अनुसार कामसुख के लिए भी शूद्रा से विवाह नहीं करना चाहिए। बौधायन (२।१।११) शूद्रा के साथ विवाह का परिणाम पतित होना मानता है।

मनु द्वारा शूद्रा के साथ विवाह की घोर निन्दा होते हुए भी यह मनोरंजक तथ्य उल्लेखनीय है कि वह यह मानता है कि शूद्रा भार्या में ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कन्या से यदि कोई ब्राह्मण विवाह करे तो सात पीढ़ी के बाद वह सन्तान पूरी ब्राह्मण हो जायगी (१०।६४ मि० गौतम ४।२२–२४ आप० २।१०–११ याज्ञ १।९६)। मनु के टीकाकारों में उपर्युक्त श्लोक के अर्थ के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। पहला पक्ष मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूक और राघवानन्द का है, जो उपर्युक्त अर्थ के साथ मेल खाता है। इनके अनुसार यदि ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री की सन्तान तथा उसके वंशज ब्राह्मणों के साथ विवाह करते हैं तो छठी पीढ़ी के स्त्रीवंशज ब्राह्मण हो जायेंगे। हरदत्त ने गौतम ४।२२ की इसी प्रकार की

ब्राह्मण नरक में जाता है और उसमें पुत्र उत्पन्न करने वाले का ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है। द्विज के देवकार्य, पितृकार्य और अतिथि कार्य में जो शूद्रा गृहिणी सेवा करती है, उसका हव्य, कव्य देवता और पितर ग्रहण नहीं करते और वह स्वर्ग नहीं प्राप्त करता। शूद्रा स्त्री का चुम्बन करने वाले, उसका श्वास ग्रहण करने वाले और उसमें पुत्र उत्पन्न करने वाले द्विज के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। मनु की यह घोर निन्दा केवल शूद्रा से विवाह न करने के सम्बन्ध में उसके वैयक्तिक आदर्श को ही सूचित करती है। वस्तुस्थिति तो यह थी कि शूद्राओं के साथ विवाह होते थे और मनु स्वयं इससे पहले ३।१३ में ब्राह्मण की चार, क्षत्रिय की तीन, वैश्य की दो और शूद्र की एक स्त्री स्वीकार करता है। ३।४४ में वह शूद्रा के साथ विवाह की विधि का वर्णन करता है।[९] अन्यत्र दुष्कुल से भी स्त्रीरत्न लेने की अनुमति प्रदान करता है (२।२३८), ९।१५२–५३ में वह ब्राह्मण के साथ शूद्रा आदि असवर्ण स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के दायभाग के अंश निश्चित करता है। याज्ञवल्क्य भी शूद्रा स्त्रियों के साथ विवाह के विषय में अपनी असहमति प्रकट करता है (१।५६)। किन्तु इसके बाद मनु की तरह वस्तुस्थिति के अनुरोध से वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की चार, तीन, दो और एक पत्नियों का उल्लेख करता है (१।५७)[१०],

व्याख्या की है। दूसरा पक्ष सर्वज्ञनारायण और नन्दन का है, उनके मत में यदि ब्राह्मण और शूद्रा की सन्तान (पारशव) एक उत्तम गुण वाली पारशवी से विवाह करती है और उसकी सन्तानें भी ऐसा करती हैं तो छठी पीढ़ी की सन्तति ब्राह्मण होगी। नन्दन ने इस अर्थ की पुष्टि बौधायन (१।८।१३) के एक वचन से करते हुए कहा है कि निषाद अर्थात् वैश्य से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र की शूद्रता पाँचवीं पीढ़ी में समाप्त हो जाती है। बौधायन के इस वचन के अनुसार शूद्रा स्त्रियों की सन्तान आर्य बन सकती थी। बुह्लर के मतानुसार यह संभव है कि मनु का अभिप्राय उपर्युक्त श्लोक में ऐसा रहा हो (लाज आफ मनु—सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज, पृ० ४१६–७)।

९ मनु ३।४४ 'शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥' मि० विष्णु २४।६–८, याज्ञ० १।६२, शंख और पैठीनसि पराशरमाधवीय पृ० ४६६ पर।

१० याज्ञ० १।५६–७ 'यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण तथैका यथाक्रमम्। ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ शंखस्मृति ४।६८, बौधा० १।८।२–५, वसिष्ठ १।२४–२५), पारस्कर गृ० सू० (१।४।८–११), यम तथा नारद संस्कार प्रकाश पृ० ७४८ पर उद्धृत ॥

ब्राह्मण के शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को वह पारशव कहता है (१।९१–९२) और दाय भाग में इसका भी हिस्सा रखता है। (२।१२।५१)।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में शूद्रों द्वारा अनुलोम तथा अन्य वर्णों की स्त्रियों के साथ अभिगमन के लिए बताये गये कठोर दण्ड यह सूचित करते हैं कि शास्त्रकारों को ये सम्बन्ध नितान्त अवांछनीय थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।२७।८–९) शूद्रा का अभिगमन करनेवाले आर्य को राष्ट्र से निर्वासित करने योग्य समझता है और यदि शूद्र आर्या का अभिगमन करे तो उसे वध्य बताया गया है। वसिष्ठ ध० सू० (२१।१) शूद्र के ब्राह्मणी के साथ संसर्ग होने पर शूद्र को जलाने का आदेश देता है और ब्राह्मणी को उसका सिर मुंडवाकर उस पर घी मल कर उसे गधे पर सवार कराते हुए राजमार्ग में घुमाने का।[11] गौतम धर्मसूत्र (१२।२) शूद्र द्वारा ब्राह्मणी का अभिगमन करने पर शूद्र को लिंगोद्धार का तथा सम्पत्ति छीनने का दण्ड बतलाता है, मनु शूद्र द्वारा रक्षा से रहित ब्राह्मणी के गमन में लिंगोद्धार की तथा रक्षायुक्त होने पर उसके प्राण तथा सर्वस्व लेने के दण्ड की व्यवस्था करता है (८।३७४)। याज्ञवल्क्य (२।२९४) किसी द्विज के चण्डाली के पास जाने पर उस पर भग का दाग लगवा कर उसे राज्य से निकलवाने का और यदि शूद्र आर्यागामी हो तो उसके वध का विधान करता है।

सवर्ण विवाह की प्रशंसा

इन कठोर दण्डों का उद्देश्य ब्राह्मण कन्याओं के साथ शूद्रों के विवाहों की प्रवृत्ति को रोकना प्रतीत होता है। भारत में जातिभेद का विचार बढ़ने के साथ-साथ अपने वर्ण या जाति में विवाह को अच्छा समझा जाने लगा और अपनी जाति या वर्ण में विवाह करने पर बल दिया जाने लगा। यद्यपि आश्वलायन और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में इस नियम का उल्लेख नहीं है, किन्तु मानव गृह्यसूत्र (१।७।८) तथा गौतम (४।१) इस नियम का वर्णन करते हैं।[12] गौतम सवर्ण विवाह का वर्णन करता हुआ असवर्ण विवाह को हीन नहीं बताता, किन्तु आपस्तम्ब (२।१३।१–३) वर्णान्तर विवाह में दोष समझता है। मनु (३।१२) और नारद (स्त्रीपुंस ४) अपने वर्ण की स्त्री के साथ विवाह

11 वसिष्ठ ध० सू० २१।१। आपस्तम्ब (२।२७।१०) का दण्ड विधान कुछ कोमल है, वह ऐसी स्त्री को व्रत उपवासादि करने का विधान करता है (दारं चास्य कर्शयेत्)।

12 गौतम ४।१, 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां' विन्देतानन्यपूर्वां' यवीयसीम्। हरदत्त—जात्या कुलेन च सदृशीम्। किन्तु गौतम के ४।१४–१७ में अनुलोम प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न अम्बष्ठ निषादादि अनेक जातियों का वर्णन है, इससे स्पष्ट है कि उस समय सवर्ण विवाह के नियम का पालन पूरी तरह नहीं होता था।

को श्रेष्ठ समझते हैं। इसे विवाह का पूर्वकल्प कहा जाता है, इसके साथ ही एक दूसरा हीन कोटि का विकल्प (अनुकल्प) यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की, क्षत्रिय क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की, वैश्य वैश्य और शूद्र वर्णों की और शूद्र केवल शूद्र वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है (पार० गृ० सू० १।४, बौधा० १।८।२, वसिष्ठ १।२५–२६ मनु ३।१३, विष्णु २४।१–४ याज्ञ० १।५६)। दूसरा विकल्प शास्त्रकारों को अभीष्ट नहीं था, इसमें शूद्रा के साथ विवाह की उन्होंने घोर निन्दा की है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवीं दसवीं शताब्दी तक ये विवाह हमारे समाज में प्रचलित रहे। अभिलेखों में तथा प्राचीन साहित्य में इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन्हें देखने से पूर्व यहां सवर्ण विवाह के उत्पादक कारणों पर विचार किया जायगा।

सवर्ण विवाहों का मूल कारण

सवर्ण विवाह के नियम का मूल कारण जातिशुद्धि की चिन्ता थी।[१३] जब कोई जाति अपने को विशिष्ट समझती है, उस समय वह दूसरी जातियों से अपने वैवाहिक

१३ कैलिफोर्निया के रेड इंडियनों में यह नियम था कि यदि उस जाति की कोई स्त्री किसी श्वेतांग पुरुष से विवाह या व्यभिचार करती थी तो वह मार दी जाती थी। मध्य अमेरिका के स्पेनवासियों को, ग्रीनलैण्ड के डेन लोगों को, मारीशस में और एण्टिल्स (Antilles) नामक द्वीप में फ्रेंचों को वहां के मूल निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध करने के लिए कानून द्वारा रोका गया, ताकि जातीय शुद्धता बनी रहे। रोमन बर्बर लोगों से शादी नहीं कर सकते थे (वै० शा० हि० मै० पृ० ५३–५४)। जर्मनी में हिटलर ने जर्मन आर्यों के वंश की पवित्रता बनाये रखने के लिए ही यहूदियों से आर्यों के विवाह-संबन्ध राजाज्ञा द्वारा बन्द करा दिये थे। जर्मनी में इस विषय का कानून प्राचीन काल से ही बहुत कठोर रहा है। बर्गण्डी के नियम के अनुसार कोई स्वतन्त्र कन्या किसी नीच या दास श्रेणी के व्यक्ति के साथ शादी नहीं कर सकती थी, ऐसा विवाह होने पर दोनों को कत्ल कर दिया जाता था। गाथ लोगों में स्वतन्त्र कन्या के गुलाम नौकर से शादी करने पर दोनों को सार्वजनिकरूप से कोड़े मार मारकर आग में जिन्दा जला दिया जाता था (मुलकोइहरकृत लीगल प्रोटेक्शन आफ वुमेन अमांग दी एन्शेन्ट जर्मन्स, पृ० ५८–५९)। ताहिटी में यदि उच्च कुल की स्त्री किसी हीन स्थिति के व्यक्ति को अपना पति वरण करती थी तो उस व्यक्ति से उत्पन्न बच्चे मार दिये जाते थे।

सर हेनरी मेन ने लिखा है कि फ्रांस में पहले कुलीन (Nobelesse) वर्ग के तथा नगरवासी व्यापारी बूर्जुआ वर्ग के व्यक्तियों के बीच में विवाह होना

सम्बन्ध तोड़ लेती है, क्योंकि उनके साथ सम्बन्ध रखने से उसे अपनी वंशशुद्धि नष्ट होने का भय होता है। भारत में यह भावना किस जाति में पहले पैदा हुई, ब्राह्मणों में या क्षत्रियों में, यह बड़े विवाद का विषय है। संभवतः क्षत्रियों ने इस मामले में पहल की। उनके पास राजनीतिक शक्ति, प्रभुता और सांसारिक सम्पत्ति थी, उन्हें उस शक्ति का अभिमान था। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता ब्रह्मविद्या में थी, उन्हें उस शक्ति का अभिमान था। किन्तु जनक आदि क्षत्रिय ब्रह्मविद्या जानने वाले भी थे। बौद्ध साहित्य एवं महाभारत से ज्ञात होता है कि अपनी जाति को उच्च समझने का भाव पहले क्षत्रियों में आया था और ब्राह्मणों ने उनसे यह भाव ग्रहण किया।

अम्बष्ठ सुत्त (दीर्घनिकाय १।१) में बुद्ध ने पहले गो शाक्यों की श्रेष्ठता बताते हुए यह कहा है कि जाति बिगड़ने के डर से उन्होंने अपनी बहिनों के साथ संवास किया और बाद में अम्बष्ठ द्वारा क्षत्रियों की उच्चता निम्न ढंग से स्वीकार करायी—"अम्बष्ठ, यदि एक क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण कन्या के साथ संवास करे, उनके संवास से पुत्र उत्पन्न होंगे। क्या वह पुत्र ब्राह्मणों से आसन और पानी पायेगा।" "पायेगा हे गौतम।" "क्या ब्राह्मण पहुनाई में उसे खिलायेंगे ?" "खिलायेंगे हे गौतम।" "इनको स्त्री पाने में रुकावट होगी।" "रुकावट नहीं होगी हे गौतम।" "क्या क्षत्रिय इसका अभिषेक करेंगे ?" "नहीं हे गौतम, क्योंकि यह माता की ओर अशुद्ध है।"

"भो अम्बष्ठ ! यदि ब्राह्मण कुमार क्षत्रिय कन्या के साथ संवास करे, उनके संवास से पुत्र उत्पन्न हो। क्या वह ब्राह्मणों से आसन पानी पायेगा ?" "पायेगा हे गौतम !" "क्या ब्राह्मण श्राद्ध······से उसे खिलायेंगे।" "खिलायेंगे हे गौतम", "क्या उसे ब्राह्मण स्त्री पाने में रुकावट होगी।" "रुकावट नहीं होगी हे गौतम।" "क्या क्षत्रिय

विलक्षण रूप से असाधारण घटना थी (बै० शा० हि० मै०, पृ० ६१–६२)। उपर्युक्त उदाहरणों में अपनी जाति में या वर्ग में विवाह करने के निम्न कारण प्रतीत होते हैं—(१) वंश शुद्धि की चिन्ता, (२) जातीय अभिमान, (३) पार्थक्य तथा उच्चता की भावना, (४) प्रायः जातियां अपने सदस्य दूसरों को देकर अपनी जाति की संख्या या संपत्ति में कमी नहीं करना चाहती। मूसा ने जेलोफिहेद की कन्याओं को अपने पिता की जाति में इसलिए विवाह करने की आज्ञा दी थी कि उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति उसके पिता के ही परिवार में रहे। मोरक्को में रीफ के बर्बरों में अपने गांव के समुदाय से बाहर शादी करने वाली स्त्रियों को दाय में अधिकार नहीं दिया जाता, दूसरी जातियों से अलग रहने, उनसे घृणा करने, उनके रीति-रिवाजों तथा भाषा के भेद से प्रायः अन्तर्जातीय विवाहों को नापसन्द किया जाता है और उनका निषेध किया जाता है (बै० शा० हि० मै०, पृ० ६०)।

उसका अभिषेक करेंगे।" "नहीं हे गौतम।" "सो किस हेतु से।" "गौतम, वह पिता से अनुपपन्न है।"

"इस प्रकार हे अम्बष्ठ, स्त्री की ओर से भी, पुरुष की ओर से भी क्षत्रिय श्रेष्ठ है।" गौतम के इस कथन का आशय यह है कि क्षत्रिय ब्राह्मणियों को नहीं ग्रहण करते, जो क्षत्रिय ब्राह्मणी को ग्रहण करते हैं, उनके लिए क्षत्रिय जाति में कोई स्थान नहीं रहता। ब्राह्मण ऐसे क्षत्रिय लोगों को अपने में ले लेते हैं, अतः वे हीन हैं। क्षत्रियों में स्त्री और पुरुष दोनों ही शुद्ध होने से क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं। बुद्ध ने अनेक स्थलों पर ब्राह्मणों की इसलिए निन्दा की है कि वे सवर्ण विवाह के नियम का पालन न करते हुए अन्य वर्णों की स्त्रियां ग्रहण करते हैं। सुनक सुत्त (अ० नि० ५।४।५।१) में ब्राह्मणों के ह्रास का वर्णन करते हुए बुद्ध ने उनमें कुत्तों जैसे पाँच पुराण धर्म बताये हैं। उनमें पहला पुराण धर्म यह है—"भिक्षुओ, पहले ब्राह्मण ब्राह्मणी के पास जाते थे, अब्राह्मणी के पास नहीं। भिक्षुओ, इस समय ब्राह्मण ब्राह्मणी के पास जाते हैं और अब्राह्मणी के पास भी।" द्रोण सुत्त (अ० नि० ५।४।५।२) में ब्राह्मणों के चण्डाल होने के प्रकार का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"वह ब्राह्मणी के पास भी जाता है क्षत्रियाणी तथा वैश्यानी के पास भी, शूद्रा के पास भी, चैणवी, रथकारिणी और पुक्कसी के पास भी।" ये उदाहरण उस समय ब्राह्मणों द्वारा निम्न वर्णों की स्त्रियां ग्रहण करने के रिवाज पर प्रकाश डालते हैं। अम्बष्ठ सुत्त के साथ यदि इन्हें मिलाकर देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि क्षत्रियों में सवर्ण विवाह का नियम पहले चला और वे अपने को इसीलिए अधिक श्रेष्ठ समझते थे। जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि जब भगवान् महावीर ने जन्म लेने का निश्चय किया तो वे यह सोचने लगे कि किस जाति में जन्म लूं। क्षत्रिय जाति को श्रेष्ठ समझकर उन्होंने उसी जाति में जन्म ग्रहण किया।

यह कहा जा सकता है कि बौद्धों और जैनों के ब्राह्मण विरोधी होने से इन प्रमाणों की कोई महत्ता नहीं है, किन्तु ब्राह्मणों के गौरव का गान करने वाले महाभारत में भी हमें क्षत्रियों की जातीय श्रेष्ठता व अहंकारपूर्ण बुद्धि की भावना दृष्टिगोचर होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत में ब्राह्मणों को कन्यादान करने के बहुत फल गिनाये गये हैं। हम इन्हें अन्यत्र विस्तार से देखेंगे। इन फलों और माहात्म्यों के होते हुए भी बहुत बार क्षत्रिय राजा ब्राह्मण को अपनी कन्या देने से इन्कार करते हैं या उसके लिए कोई कड़ी शर्त लगाते हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि राजाओं को ब्राह्मणों की इच्छा पूरी न करने पर, उनके शाप का पूरा भय होता था, परन्तु फिर भी कुछ राजा वंश-शुद्धि के कारण अवश्य ऐसा करने का साहस करते थे। म० भा० (१३।२) में एक प्राचीन प्रतापी राजा दुर्योधन का वर्णन है। उसकी सुदर्शना नाम की एक कन्या अभूतपूर्व सुन्दरी थी। अग्नि ब्राह्मण का वेश धारण कर दुर्योधन के पास आया और उस कन्या की याचना करने लगा। राजा ने सोचा कि यह ब्राह्मण दरिद्र

और अक्षत्रवर्ण है, इसलिए उसने उसे कन्या देने से इन्कार किया (१३।२।२२)। म० भा० १३।४ में राजा गाधि की कथा है। च्यवन का पुत्र ऋचीक भार्गव गाधिराज की कन्या सत्यवती के साथ पाणिग्रहण करना चाहता था। गाधिराज ने उसे दरिद्र समझकर पहले उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करने से इन्कार किया। इस इनकार के बाद भी जब ऋचीक ने हठ किया तो राजा ने एक ओर से श्यामकर्ण तथा वायु वेग वाले १००० घोड़े देने पर ही अपनी कन्या देना स्वीकार किया। राजा को विश्वास था कि ऋचीक यह शर्त पूरी न कर सकेगा। ऋचीक को वरुणदेव की कृपा से १००० ऐसे घोड़े प्राप्त हुए। जब उसने ये घोड़े गाधि के आगे उपस्थित किये तो राजा यह देखकर हैरान रह गया और शाप के भय उसने अपनी कन्या अलंकृत करके ऋचीक को दी (म० भा० ११।४।३६)।

जाति शुद्धि के विचार की प्रबलता के साथ सवर्ण विवाह का नियम पुष्ट होने लगा। हम देख चुके हैं कि मनु (३।१३), पार० गृ० (१।४), बौधायन ध० सू० (१।८।२), वि० ध० सू० (२४।१।८), वा० ध० सू० (१।२४) ब्राह्मण की चार, क्षत्रिय की तीन, वैश्य की दो और शूद्र की एक स्त्री मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतिलोम विवाह उन्हें इष्ट नहीं था और यह उस समय प्रचलित न था। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मसूत्रों के काल (६०० ई० से ३०० ई० पू०) तक प्रतिलोम विवाह बन्द हो चुके थे, किन्तु अनुलोम विवाहों के बन्द न होने का कारण स्पष्ट है; प्रत्येक व्यक्ति अपनी लड़की को उच्च या समान कुल में देना चाहता है, निम्न कुल में नहीं। लड़की अपनी इच्छा से भी उच्च कुल में जाना चाहेगी। भारत में ही नहीं, पाश्चात्य देशों में भी इसे बुरा माना जाता है।[४१] प्रतिलोम विवाह बन्द हो जाने के बाद विशुद्धिवादी (Puritan) धर्मशास्त्रों ने अनुलोम विवाहों का भी विरोध किया।

मनु ने लाचारी से समाज की परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए अनुलोम विवाहों की अनुमति दी है (३।१२), पर इच्छापूर्वक नहीं। वह कहता है— "द्विजों के पहले विवाह में सवर्णा स्त्री श्रेष्ठ होती है। किन्तु काम-वासना से प्रवृत्त होकर यदि कोई दूसरा विवाह करना चाहे तो निम्न वर्णों की स्त्रियाँ भी श्रेष्ठ होती हैं।" मनु के अतिरिक्त दूसरे शास्त्रों में भी इस बात पर बल दिया गया है कि पहली स्त्री सवर्णा होनी चाहिये। मार्क० पुराण (११३)[४२] में कहा गया है कि पहली स्त्री सवर्णा ही

४१ भगवानदास—पुरुषार्थ, पृ० ५२३।

४२ मार्क० पुराण के अ० ११३ में दिष्टनाभाग की कथा है, वह एक सुन्दर वैश्य कन्या को देखकर उस पर मुग्ध हो गया, उसने उसके पिता से यह कन्या देने की प्रार्थना की। कन्या के पिता ने नाभागको इस कार्य के लिए अपने पिता से अनुज्ञा मांगने को कहा। जब राजा ने ऋषियों से इस विषय में पूछा तो उत्तर मिला कि राज-

होनी चाहिए। यदि कोई पहली स्त्री निम्नवर्ण की लाता है तो वह अवश्य अधोगति को प्राप्त करता है।

स्मृतियों द्वारा अनुलोम विवाह बन्द करने के दो ढंग

अनुलोम विवाहों के प्रति अपनी अनिच्छा को शास्त्रकारों ने दो रूपों में अभिव्यक्त किया है—(१) सवर्णा को असवर्णा पत्नियों की अपेक्षा अधिक अधिकार और प्रतिष्ठा देकर, (२) अनुलोमज सन्तानों के साम्पत्तिक अधिकार कम करके। मनु (९।८५–८६) कहता है कि यदि द्विज की अनेक वर्णों की स्त्रियाँ हों तो वर्ण के अनुसार उनको बड़ाई, पूजा और स्थान दे, अपनी जाति की स्त्री को ही पति सेवा का, धर्म-सम्बन्धी काम और (रसोई आदि घर के) नित्यकर्म करने का अधिकार है, अन्य वर्ण की स्त्री को कभी नहीं। जो मोहवश अन्य वर्ण की भार्या से इन कामों को करवाता है, वह चाण्डाल के तुल्य है।[16] याज्ञ० (१।८८) मनु की व्यवस्था का अनुमोदन करते हुए कहता है कि द्विज सवर्णा स्त्री रहते पर अन्य वर्ण की भार्या से धर्म-सम्बन्धी कार्य

कुमार नाभाग की पहली शादी किसी क्षत्रिय कन्या से होनी चाहिए। उसके बाद ही वैश्य की कन्या उसकी स्त्री हो सकती है (श्लोक २०–२१)। नाभाग ने ऋषियों के वचन की अवहेलना कर जब उस कन्या का जबर्दस्ती अपहरण करना चाहा तो पहले राजा की सेना ने तथा बाद में राजा ने स्वयं उसके साथ संग्राम किया। इस समय आकाश से एक परिव्राजक प्रकट हुआ और उसने कहा (श्लोक ३०–३६) कि पुरुष अपने वर्ण की कन्या के साथ विवाह न करके जिस हीन जाति की कन्या का पाणिग्रहण करता है, वह उसी के वर्ण का हो जाता है। वैश्य कन्या के साथ विवाह करने से अब यह वैश्य हो गया है, अब इसको क्षत्रिय के साथ युद्ध का अधिकार नहीं है।
इस कथा से दो महत्त्वपूर्ण बातें सूचित होती हैं—(१) पहला विवाह सवर्णा पत्नी से होना चाहिए, (२) हीनवर्ण की पत्नी के साथ विवाह करने पर उच्च वर्ण के पुरुष का वर्ण पत्नी के समान हो जाता है। वैश्य कन्या के साथ शादी करने पर दिष्ट नाभाग क्षत्रिय से वैश्य बन गया। किन्तु व्यास स्मृति का मत इससे भिन्न है, इसमें कहा गया है कि सवर्णा स्त्री से विवाह के बाद अन्य वर्णों की स्त्रियों से शादी करने पर उनसे उत्पादित पुत्र अपने वर्ण से हीन नहीं होता है।

१६ मनु ९।८५–८७ मि० विष्णु १६।१–४, याज्ञ० १।१८, कात्यायन—विवादरत्नाकर पृ० ४२० में उद्धृत। विष्णु स्मृति सवर्णा स्त्री न होने की दशा में अव्यवहित निम्न वर्ण की पत्नी के साथ धर्म कर्म करने का विधान करता है, यद्यपि शूद्र स्त्री के साथ धर्म कार्य उचित नहीं माना गया। किन्तु संभवतः प्राचीन काल में

न करावे। कात्यायनस्मृति (८।६), व्यास स्मृ० (२।११–२२), विष्णु स्मृति (२६।१–३) ने सवर्णा को प्रशस्त एवं प्रतिष्ठित पद दिया है।

स्मृतियों में सवर्णा और असवर्णा पत्नियों में एक अन्य भेद भी प्रदर्शित किया गया। ब्राह्मण गुरु की सवर्णा पत्नी तो गुरु के समान पूज्य थी, किन्तु असवर्णाओं का सम्मान प्रत्युत्थान और अभिवादन से किया जाता था (मनु २।२१०)। विष्णु स्मृति ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि हीन वर्णोत्पन्न गुरु पत्नियों को दूर से अभिवादन करना चाहिए, चरणस्पर्श आदि से नहीं (३२।५)। उशना स्मृति का भी यही मत है (३।२७)।

असवर्णा स्त्रियों के पुत्रों के साथ दाय में अन्याय

सवर्णा स्त्री प्रशस्त है, यह कहकर ही शास्त्रकार सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने असवर्णा स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों के दाय सम्बन्धी अधिकार कम करके इस श्रेष्ठता को मूर्तरूप प्रदान किया।[17] असवर्णा स्त्रियों में जो जितने निचले दर्जे की थी, उसे सम्पत्ति में उतना कम हिस्सा दिया गया। गौतम (२८।३७) ब्राह्मण के शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को इकलौता बेटा होने पर भी वृत्तिमात्र देने की व्यवस्था करता है।[18] वसिष्ठ (१७।४८–५०) उसका उल्लेख ही नहीं करता। मनु कुछ उदार होकर उसे पिता द्वारा दिये धन का अधिकारी मानता है (९।१५५ मि० म० भा० ५।१३।४७।१९–२०)। यह स्मरण रखना चाहिए कि बृहस्पति (२५।२२) शूद्रा के पुत्र को हिस्सा नहीं देता, न केवल शूद्रा के साथ ही उपेक्षा का यह व्यवहार है, अपितु अन्य असवर्णा स्त्रियों के

ऐसी अव्यवस्था नहीं थी। मनु ने ९।२३–२४ में यह कहा है कि स्त्री जैसे गुण वाले पुरुष के साथ मिलती है, वैसे गुणवाली हो जाती है, निकृष्ट योनि में उत्पन्न होने वाली अक्षमाला और शारङ्गी ने वसिष्ठ और मन्दपाल के साथ परिणीत होने पर पूजा एवं सम्मान प्राप्त किया।

१७ मि० म० भा० १३।४७।२७–४५, युधिष्ठिर को यह शंका है कि द्विज रूप से तुल्य होने पर भी ब्राह्मणी क्यों श्रेष्ठ है तथा क्षत्रिया और वैश्या क्यों हीन हैं। उनके पुत्रों में विषम विभाग क्यों करते हैं? भीष्म कहते हैं कि ब्राह्मणी श्रेष्ठ (गरीयसी) भार्या है, अतः उसे ये विशेष अधिकार प्राप्त हैं।

१८ गौ० २८।३७, मनु ९।१५५। किन्तु इसके साथ ही मनु ने यह भी कहा है—अन्य वर्ण की पत्नियों की सन्तानें हों या न हों शूद्रा के पुत्र को दसवें हिस्से से अधिक नहीं मिलना चाहिए। मि० मनु ९।१५३—

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रींनंशान् क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥

पुत्रों के साथ भी यही बर्ताव किया गया है। पिता की सम्पत्ति में उत्तम गौ, बैल, सवारी या जो कुछ उत्तम वस्तु होगी वह ब्राह्मण के पुत्र को ही मिलेगी। म० भा० (१३।४७।११), मनु (९।१५०) के अनुसार शेष सम्पत्ति को दस भागों में बाँट दिया जाता था। इनमें से ४ हिस्से ब्राह्मणी के पुत्र को, ३ हिस्से क्षत्रिय की संतान को, २ भाग वैश्य के तथा एक भाग शूद्र के लड़के को मिलता था (मनु ९।१५३, विष्णु १८।१–३७ बौ० ध० सू० २।२।३।१०, याज्ञ० २।१२५ म० भा० १३।४७।१२–१८)। मनु और बौधा० क्षत्रिय और वैश्य की अनुलोमज संतानों के सम्पत्ति के बटवारे की चर्चा नहीं करते, किन्तु याज्ञ० (२।१२५) उपर्युक्त क्रम से क्षत्रिय की सवर्णा स्त्री से उत्पन्न पुत्र को ½, वैश्या तथा शूद्रा के पुत्रों को क्रमशः ⅓, ⅙ हिस्सा देता है (मि० बृहस्पति० ५५।२७, विष्णु १८।१ अनु)।[१६] अनुलोमज संतानों के साथ यह अत्यन्त अन्यायपूर्ण बर्ताव है। युधिष्ठिर

[१६] म० भा० १३।४७।४७–५४ में क्षत्रिय की सम्पत्ति के आठ हिस्सों में ४ क्षत्रिया पुत्र को, ३ वैश्या पुत्र को तथा एक हिस्सा शूद्रा के पुत्र को दिया गया है। वैश्य का वैश्या से उत्पन्न पुत्र ४ भाग तथा शूद्रा से उत्पन्न एक भाग का अधिकारी है।
निम्न वर्ग वाली कन्या से उत्पन्न पुत्र को नीचा दर्जा देने के उदाहरण मध्यकालीन यूरोप के जर्मनी तथा वर्तमान समय में इंगलैण्ड आदि देशों के राज परिवारों में पाये जाते हैं। पुराने जर्मन सिविल कानून के अनुसार उच्च कुलीन वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले पुरुष का निम्न वर्ग की स्त्री के साथ विवाह बहुत बुरा समझा जाता था, ऐसी स्त्री को पत्नी का दर्जा नहीं मिलता था, पति की मृत्यु पर ऐसी स्त्री या उसकी सन्तान सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं बन सकती थी (बै० सा० हि० मै०, पृ० ६१)। ऐसे विवाहों को मार्गनेटिक (Morganatic) कहा जाता है, इसका शब्दार्थ है प्रातः कालीन भेंट। क्योंकि इस विवाह में पति की सम्पत्ति पर निम्न वर्ग की स्त्री का कोई स्वत्व नहीं होता था, अतः इसकी क्षति-पूर्ति के लिए पति सुहागरात के बाद प्रातः काल पत्नी को बहुमूल्य भेंट देता था। इसका दूसरा नाम वामपाणि (Left handed) भी है क्योंकि इसमें बायां हाथ ही दिया जाता है (वैबस्टर डिक्शनरी, पृ० १५९४)। वर्तमान काल में इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण इंगलैण्ड के सम्राट् एडवर्ड अष्टम का सिम्पसन के साथ विवाह था। सिम्पसन राजकुल की स्त्री नहीं थी, इंगलैण्ड के १७७२ के रायल मैरिज एक्ट के अनुसार एडवर्ड उसके साथ केवल वामपाणीय विवाह ही कर सकता था, उस दशा में उसकी सन्तान इंगलैण्ड के राज सिंहासन पर नहीं बैठ सकती थी। एडवर्ड ने अपनी पत्नी तथा सन्तान को हीन स्थिति प्रदान करने वाला ऐसा विवाह करने की अपेक्षा राजगद्दी छोड़ना अधिक अच्छा समझा।

को इस व्यवस्था से बहुत ही आश्चर्य होता है। वह भीष्म से इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार का कारण पूछता है तो उत्तर देते हुए भीष्म ने इसका हेतु ब्राह्मण आदि वर्ण की श्रेष्ठता बताया है (म० भा० १३।४७।२७–४५)।

असवर्ण विवाहों के ऐतिहासिक उदाहरण

धर्मशास्त्रों द्वारा निन्दित ठहराये जाने के बावजूद असवर्ण विवाह हिन्दुओं में चलते रहे हैं। शुंगयुग, गुप्तयुग और मध्ययुगों में इस प्रथा का काफी प्रचार रहा। शुंगवंशी राजा ब्राह्मण थे। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में ब्राह्मण पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र (दूसरी शती ई० पूर्व) का विवाह विदर्भ के क्षत्रिय राजा यज्ञसेन की कन्या मालविका से कराया है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में रानी के वर्णावर भ्राता का वर्णन है, इसका अर्थ है कि वह रानी ऊँचे वर्ण की थी। वाकाटक राजा ब्राह्मण थे, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त वाकाटक वंशी रुद्रसेन द्वितीय (३९५ ई०) की मुख्य रानी बनी। यशोवर्मा के मन्दसौर वाले छठी शती के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वेदज्ञों के वंश में उत्पन्न और स्मृति मार्ग से विचलित न होने वाले रविकीर्ति नामक ब्राह्मण ने एक वैश्या भानुगुप्ता से विवाह किया।[20] वाकाटकवंशी देवसेन राजा का मंत्री सोमनाथ ब्राह्मण था, श्रुति, स्मृति में प्रतिपादित विधि के अनुसार आचरण करने वाले सोम ने ब्राह्मणी और क्षत्रिया स्त्री का पाणिग्रहण किया।[21] कदम्ब वंश का संस्थापक मयूर शर्मा (राज्यकाल ३४०–६० ई०) ब्राह्मण था, किन्तु उसके वंशज वर्मा अर्थात् क्षत्रिय हैं और इसी वंश के काकुत्स्थ वर्मा ने अपनी कन्याएं गुप्त राजाओं को ब्याहीं।[22] प्रतिहारवंश के संस्थापक हरिश्चन्द्र (५५० ई०) ने क्षत्रिय एवं ब्राह्मण वर्ण की दो स्त्रियों से शादी की थी।[23] सातवीं शती में यद्यपि युआनच्वांग ने लिखा है कि लोग अपनी जाति के अन्दर विवाह करते हैं,[24] किन्तु बाण ने हर्षचरित के प्रथम उच्छ्‌वास के अन्त में अपने पारशव अर्थात् शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न दो सौतेले भाइयों–चन्द्रसेन और मातृषेण का उल्लेख किया है। राज्यश्री वैश्यवर्ण की थी। किन्तु उसका

२० फ्लीट–कार्पस–इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड ३, पृ० १५२–६४

२१ आर्किओलाजिकल सर्वे आफ वैस्टर्न इंडिया, खण्ड ४, पृ० १४० । सोमस्ततः सोम इवापरोऽभूत्स ब्राह्मणः क्षत्रियवंशजासु । श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितार्थकारी द्वयोसु भार्यासु मनो दधार ॥

२२ एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड ८, पृ० २४

२३ ए० ई०, ख० ८, पृ० ८७ तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा । द्वितीया क्षत्रिया भद्रा महाकुलगुणान्विता ॥

२४ वाटर्स-आन युवानच्वांग, ख० १, पृ० १६२ ।

विवाह मौखरि वंश के क्षत्रिय राजा ग्रहवर्मा से हुआ। वलभी के क्षत्रिय राजा ध्रुवभट ने वैश्यजातीय हर्ष की लड़की के साथ विवाह किया। ६५० ई० के टिपरा के एक दानपत्र में लोकनाथ नामक सामन्त को भारद्वाजगोत्री ब्राह्मण तथा उसके परनाना केशव को पारशव लिखा है।[२५] दसवीं शती के प्रारम्भ में संस्कृत के कवि यायावर ब्राह्मण राजशेखर ने चौहान कुल की गुणवती कन्या अवन्तिसुन्दरी से परिणय किया और उसकी प्रेरणा से कर्पूरमंजरी की रचना की (का० मी० १।११)। ६७७ ई० का आटपुर का लेख यह बताता है कि गुहिल वंश के संस्थापक गुहदत्त ब्राह्मण के वंशज भर्तृ भट्ट ने राष्ट्रकूट वंश की राजकन्या से शादी की। दसवीं शती के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि ने सवर्णा स्त्री न मिलने की दशा में असवर्णा से विवाह का उल्लेख किया है (मनु० ३।१४)। काबुल और सिंध में ब्राह्मणों के राज्य थे और वहां के क्षत्रिय राजपुरुषों को ब्राह्मण कन्याओं से विवाह का अधिकार था।[२६] कथासरित्सागर (३५।१७१) में कहा गया है कि जब ब्राह्मण अशोकदत्त ने राजकुमारी से शादी की तो उन दोनों की शोभा, विद्या और विनय की तरह हुई। कई बार पिता अपनी कन्या से पूछता था कि तू चारों वर्णों में से किस वर्ण के व्यक्ति को अपने पति के रूप में चाहती है।

१२ वीं शती तक अनुलोम विवाहों का शिलालेखों में उल्लेख मिलता है। विजय नगर के प्रसिद्ध राजा बुक्क प्रथम (१२६८–१२९८) की कन्या विरूपादेवी का परिणय आरग प्रान्त के शासक ब्रह्म नामक ब्राह्मण से हुआ।[२७] मध्ययुग के अरब यात्रियों ने भी अनुलोम प्रथा के शनैः-शनैः बन्द होने का संकेत किया है। ९०० ई० के लगभग खुरदाद नामक अरब यात्री लिखता है कि कतरिय (क्षत्रिय) ब्राह्मणों को अपनी लड़की देते थे, पर उनकी लड़कियां नहीं ले सकते थे। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में अनुलोम विवाह प्रचलित था, किन्तु इसके दो शती बाद अलबेरूनी लिखता है—"हिन्दुओं को पहले अपने से नीच वर्ण की स्त्रियों से शादी करने का अधिकार था। परन्तु हमारे समय में ब्राह्मण कभी अपने से नीच वर्ण की स्त्री से शादी नहीं करते थे।" इससे स्पष्ट है कि खुरदाद के बाद २०० वर्षों में ब्राह्मणों में अनुलोम विवाह की परिपाटी उठ रही थी, फिर भी इस समय में हमें ऐसे विवाहों के कुछ उदाहरण मिलते हैं। अलबेरूनी के समय में ही एक काश्मीरी राजा संग्रामसिंह (१००३–१०२८) ने अपनी कन्या का विवाह एक ब्राह्मण युवक से किया। किन्तु १२ वीं शती के सुप्रसिद्ध काश्मीरी ऐतिहासिक कल्हण को यह विवाह पसंद नहीं था, उसने यह लिखा है कि इस विषम सम्बन्ध से उस राजा ने अपने यश की क्षति की (राजतरंगिणी ७।१०)।

२५ ए० इ०, ख० १५, पृ० ३०७।
२६ वैद्य—हिन्दू भारत का उत्कर्ष, पृ० ३०६।
२७ एपि० इं० ख० १५, पृ० १२।

मध्यकाल के प्रारम्भिक टीकाकारों से ज्ञात होता है कि उस समय तीन द्विज वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में परस्पर विवाह होते थे। नवीं शती के पूर्वार्ध में याज्ञ० स्मृति के पहले टीकाकार विश्वरूप के कथनानुसार ब्राह्मण की शादी क्षत्रिया से हो सकती थी (या० ३।२८३)। ६०० ई० के लगभग लिखे गये मेधातिथि के मनुस्मृति के भाष्य (३।१४) से प्रतीत होता है शूद्रा स्त्री के साथ असवर्ण विवाह नहीं होता था, किन्तु ब्राह्मणों के क्षत्रिय और वैश्य कन्याओं के साथ असवर्ण विवाह हो जाते थे।

किन्तु १३ वीं शती से निबन्धकारों ने असवर्ण विवाह प्रथा को कलिवर्ज्य कहकर निन्दा की, स्मृतिचन्द्रिका (१२००—१२२५) ने इसमें पहल की। हेमाद्रि (१२६०—७७) ने भी इन विवाहों का विरोध किया (चतु० चिन्ता०, खण्ड ३, भाग २, पृ० ६६७)। बाद में पराशर माधवीय (१३००—१३८०), रघुनन्दन (१५२०—१५७५), कमलाकर (१६१०—४०) ने भी इसे कलिवर्ज्य समझा। इन सब निबन्धकारों का आधार बृहन्नारदीय और आदित्यपुराण के वचन हैं।

असवर्ण विवाहों के अप्रचलित होने का कारण

इस प्रथा के पुष्ट एवं दृढ़ होने का कारण यह था कि मध्ययुग में हमारी सभी सामाजिक संस्थाएं पथराकर कठोर हो रही थीं। हमारे धर्म में एक बड़ा परिवर्तन आ रहा था। इसी समय हिन्दू धर्म को वर्तमान काल का रूप मिला। शास्त्रकारों ने खान-पान और व्रतों के कठोर नियम बनाये। वर्ण व्यवस्था के बन्धन को अधिक कठोर बनाया गया। म्लेच्छों के संसर्ग से बचने और उनसे जबर्दस्ती खानपान हो जाने पर उसके लिए कठोर प्रायश्चितों का विधान किया गया। विदेशी मुसलमानों के आक्रमण के कारण ये प्रश्न उस समय की ज्वलन्त समस्या थे। अपनी रक्षा के लिए हिन्दुओं ने अपने को संकुचित करना और अपने चारों ओर जातिभेद के प्राकार को ऊँचा करना शुरू किया। इस शुद्धता के युग में वैवाहिक बन्धनों का कठोर किया जाना स्वाभाविक ही था।[२८] "इसी युग में राजपूत राज्यों का उदय हुआ और उन्होंने अपनी जातीय शुद्धि को कायम रखने के लिए विवाह सम्बन्धी नियमों को बड़ा कठोर बनाया। उन्होंने केवल ३६ कुल ही नहीं गिने, अपितु प्रत्येक कुल के कुटुम्ब (Clans) गिन डाले। उनकी तालिकाएँ बनायीं और इनमें अन्तर्जातीय विवाह होना बन्द हुआ।[२९]

वर्तमान समय में विवाह न केवल अपने वर्ण या जाति में, किन्तु अपनी उप-

[२८] इसके विस्तृत वर्णन के लिए देखिये चिन्तामणि विनायक वैद्य का हिन्दू भारत का अन्त, पृ० ६०२-६८५।

[२९] टाड—एनल्स, पृ० ६६१

जाति में होता है। इसका मुख्य कारण वर्णों के अवान्तर भेदों का विकास है, इनसे उपरिविवाह (Hypergamy) की दूषित प्रथा प्रचलित हुई है।

वर्णों के अवान्तर भेदों का विकास

मध्ययुग में तथा वर्तमान युग में हिन्दू समाज के चार वर्णों की उपजातियों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है और इनका वर्तमान विवाह पद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा है, अतः यहाँ इनके विकास का संक्षिप्त परिचय उपयोगी होगा।

प्राचीन धर्मसूत्र चार वर्णों के अतिरिक्त बहुत थोड़ी संकर जातियों का उल्लेख करते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में केवल चण्डाल (२।२।६), पौल्कस (२।२।६), और वैण (२।२।६) नामक उपजातियों का उल्लेख है। गौतम ने पाँच अनुलोम तथा छः प्रतिलोम जातियों का वर्णन किया है। वसिष्ठ ने गौतम की अपेक्षा कम जातियाँ गिनायी हैं। मनुस्मृति (अध्याय १०) और विष्णु धर्मसूत्र (अध्याय १६) में संकर वर्णों और जातियों का पहला विशद वर्णन मिलता है। मनु के मतानुसार छः अनुलोम, छः प्रतिलोम, २० दुहरे क्रम से संकर जातियाँ और २३ विभिन्न व्यवसाय करने वाली अर्थात् चार वर्णों के अतिरिक्त ५५ जातियाँ हैं। याज्ञ० स्मृति केवल १३ जातियों का वर्णन करती है। उशना ने चालीस जातियों के पेशे गिनाये हैं। सब स्मृतियों में कुल मिलाकर सौ से अधिक जातियों का उल्लेख नहीं है।[३०] मध्ययुग में लिखे गये जातिविवेक, शूद्रकमलाकर आदि ग्रन्थों ने इन जातियों की संख्या में वृद्धि की। विल्सन ने मध्य कालीन संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित १३४ जातियों का परिचय दिया है।[३१] वर्तमान समय में भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर इनकी संख्या चार हजार के लगभग बतायी जाती है।[३२]

३० काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खं० २, भाग १, पृ० ५७।

३१ विल्सन—इंडियन कास्ट्स्, खं० २, पृ० ६५–७०।

३२ १९०१ की जनगणना रिपोर्ट में प्रमुख जातियों की संख्या २३७८ दी गयी है (रिज़्ली-पीपल आफ इंडिया)। रोज ने (इंसा० ब्रिटा०, खं० ४, पृ० ९७९) इनकी संख्या मोटे तौर इसे ३ से ४ हजार तक बतायी है। हिन्दू समाज की आधुनिक जातियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निम्न ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी हैं—१९०१, १९११, १९२१ तथा १९३१ की भारत की तथा विभिन्न प्रान्तों की जनगणना रिपोर्टें। रिज़ली—पीपुल आफ इंडिया (१९१५), जे० एन० भट्टाचार्य—हिन्दू कास्ट्स् एण्ड सेक्ट्स (१८९६) किट—कम्पेण्डियम आफ कस्टमस् फाउण्ड इन इंडिया (१८८५), नेस्फील्ड—ए ब्रीफ रिव्यू आफ दी कास्ट सिस्टम आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध (१८८५), ओमेली—इंडियन कास्ट कस्टम्ज (१९३), इंडियाज सोशल हैरिटेज (१९३४), सर एथेलस्टेन बेन्स-

चारवर्णों से चार हजार जातियों के विकास का प्रधान कारण वैदिक युग से ही उच्चता और शुद्धता का विचार[33] तथा इस कारण अपने को अन्य जातियों से पृथक् रखने की भावना है। प्रदेश, वृत्ति और धर्म के भेद से, नयी नस्लों के आगमन से इनकी संख्या बढ़ती चली गयी।[34] हिन्दू समाज इस समय चार हजार विभिन्न जातियों में किस प्रकार बंटा हुआ है, यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

एथनोग्राफी (१९१२), इसके अन्त में भारत के जाति भेद पर लिखे गये ग्रन्थों की बड़ी विस्तृत सूची है। एम० ए० शैरिंग—हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स्, ३ खण्ड (१८७२-१८८१), जान विल्सन-इंडियन कास्ट्स् २ खं० (१८७७), स्टील-ला एण्ड कस्टम्स आफ हिन्दू कास्ट्स् (१८६८)। विभिन्न प्रान्तों की जातियों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—इब्बटसन-पंजाब कास्ट्स् (१९१६), डब्ल्यू० क्रुक-ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ नार्थ वैस्टर्न प्राविन्सिज एण्ड अवध, ४ खं० (१८९६), आर०-ई० ए० एन्थोवन-ट्राइब्स एंड कास्ट्स् आफ बोम्बे, ३ खं० (१९२०), रिजली-ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ बंगाल (१८९१), आर० वी० रसेल-ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आफ् सेण्ट्रल प्राविन्सेज, ४ खण्ड (१९१३) थर्सटन एण्ड रंगाचारी-कास्ट्स् एण्ड ट्राइब्स आफ साउथ इंडिया, ७ खण्ड (१९०९) एल० वी नंजुण्ड्या और राव बहादुर एल० के० अनन्त कृष्ण अय्यर—माईसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स्, खं० १-४ (१९२८-३५), एल० ए० कृष्ण अय्यर—दी ट्रावन्कोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स्, खं० १-३ (१९३७-४१), कृष्ण अय्यर—दी कुर्ग ट्राइब्स कास्ट्स् (१९४८)। हिन्दी में विभिन्न जातियों के परिचय के लिए ज्वालाप्रसाद मिश्र का जातिभास्कर (वेंकटेश्वर प्रेस) उपयोगी है।

३३ उदाहरणार्थ, शत० ब्रा० (३।२।३।५) में कुरु-पंचाल के ब्राह्मणों की वाणी सर्वोत्तम बतायी गयी है। कौषीतकि ब्रा० (७।६) में कहा गया कि उत्तर में उत्तम वाणी बोली जाती है, श्रेष्ठ वाणी सीखने की इच्छा रखने वाले उत्तर की दिशा में जाते हैं और उत्तर से आने वालों की बोली सुनने की इच्छा की जाती है। मत्स्य पुराण (१६।१६) में म्लेच्छ देशवासियों, त्रिशंकु, बर्बर, ओड्र (उड़ीसा), आन्ध्र, टक्क, द्रविड़ और कोंकण के ब्राह्मणों को श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं समझा गया। आजकल कोंकण के चितपावन ब्राह्मण सारस्वत ब्राह्मणों को भोजन की दृष्टि से अपवित्र समझते हैं, भारत के अन्य भागों के ब्राह्मणों से वे अपने आप को इसलिए ऊंचा समझते हैं कि अन्य ब्राह्मण संस्कृत का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते (ईसा० सिटा० ४।९८०)।

३४ प्रदेशभेद से उपजातियों के विकास का एक सुन्दर उदाहरण ब्राह्मणों के निम्न दस वर्ग हैं—सरस्वती नदी के निकटवर्ती प्रदेश में रहने वाले ब्राह्मण सारस्वत, कन्नौज वासी

वर्तमान जातियों के भेद

ब्राह्मण आजकल न केवल देश भेद से पंच गौड़ और पंच द्रविड़ नाम वाले दन

कान्यकुब्ज, मिथिलावासी मैथिल ब्राह्मण कहलाते हैं। इसी प्रकार आन्ध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, और द्रविड़ देश के अलग ब्राह्मण हैं। एक वृत्ति, व्यवसाय या पेशा करने वालों का पृथक् जाति के रूप में परिणत होना अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक युग में विभिन्न पेशों वाली जातियों के लिए दे० काणे--हि० ध०, ख० २, भाग १, पृ० ४६-५०। बौद्ध साहित्य में भी इसका बहुत वर्णन है। वर्तमान काल में इसके प्रसिद्ध उदाहरण व्यापार का कार्य करने वाले महाजन, अग्रवाल, ओसवाल, खत्री, अरोड़ा, सुवर्णवणिक, कोमटी, चेट्टी आदि अनेक वर्ग हैं। इस प्रकार कृषकों, मालियों (अराई, काछी, सैणी), पशुपालकों (अहीर, ग्वाला, खारो, घोसी,) कारीगरों (सुनार, कम्मलन, राज, लुहार, कसेरा, ठठेरा), बुनकरों (जुलाहा, कोरी, तान्ती), तेलियों, नाइयों, धोबियों, मछली पकड़ने वालों, भंगियों, नटों, बाजीगरों, चोरों और शिकारियों की जातियां हैं। इनकी विस्तृत सूची सर एथलस्टेन बेनेस की एथनोग्राफी पृ० १४६--१५१ पर मिलेगी। सम्प्रदाय भेद की दृष्टि से जातियों के बनने का उदाहरण गोसाईं, बैरागी, जोगी, कर्नाटक के वीरशैव आदि हैं। नस्लों के भेद से पृथक् जाति के उदाहरण हमारे देश के पर्वतों और जंगलों में बसी हुई कोल, भील, हो, मुण्डा, बैगा, ओरांव, गोंड, गारो, खासी, मीरी, डफला आदि जातियां हैं। इनकी सूची उपर्युक्त ग्रन्थ में पृ० १५१--२ है। इसके अतिरिक्त नई जातियां निम्न कारणों से भी बनती रही हैं (इंसा० रिली० ई०, खं० ३, पृ० २३२)---(१) संकरजनन---विभिन्न जातियों के मिश्रण से नई जातियां बन जाती हैं। (२) पेशे या स्थान के परिवर्तन से नई जाति बन जाती है। कुछ ब्राह्मणों ने जब अपना यज्ञादि कराने दक्षिणा लेने का कार्य छोड़कर कृषि को अपनाया तो वे बिहार में बामन तथा उत्तर प्रदेश तगा (त्यागी) कहलाये। (३) विदेशी जातियां हिन्दू समाज में सम्मिलित होकर नये वर्ग बनाती रही हैं। वर्तमान युग में इसका एक अच्छा उदाहरण एक आदिवासी जाति कोच है। अहीर जाति का प्रादुर्भाव आभीर नामक विदेशों से आने वाली एक शक जाति से माना जाता है। (४) कुछ जातियाँ नस्लों के भेद या विभिन्नता से बनी हैं, जैसे पंजाब के जाट, गुजर, मेव, बंगाल के राजवंशी, कैवर्त, चण्डाल, बागड़ी, उत्तर प्रदेश के दुसाध, पासी, मद्रास के नायर, माल, परैयन, वेल्लाल (इंसा० रि० ई० खं० ३, पृ० २३१)।

भागों में बंटे हुए हैं।[३५] अपितु इनमें प्रत्येक भाग की बीसियों अवान्तर शाखाएँ या उपजातियाँ हैं। पंच गौड़ों में पहला भेद सारस्वत है, विलसन ने सारस्वतों की ४६९ उपजातियाँ गिनायी हैं।[३६] गौड़ों में आद्य, जुगद, धरम, सिद्ध, गौड़ादि ४२ शाखाएँ हैं।[३७] कान्यकुब्ज मुख्य रूप से पांच शाखाओं में विभक्त हैं—कनौजिया, सरवरिया, जुझौतिया, सनाढ्य, बंगाली, कनौजिया। इनमें प्रत्येक शाखा अनेक कुलों में विभक्त है।[३८] मैथिल ब्राह्मण ग्यारह गोत्रों, १७७ डीह अथवा मूलों और पांच कुलों (श्रोत्रिय, योग, पंजीबद्ध, नागर और जैव) में बंटे हुए हैं। विवाह की दृष्टि से ये कुल यथोक्त क्रम से परवर्ती कुलों से श्रेष्ठ समझे जाते हैं। पंच द्रविड़ों में से गुर्जर ब्राह्मणों में ८४ श्रेणियां हैं।[३९] कर्णाट ब्राह्मणों की आठ शाखाएं और १५ गोत्र हैं।[४०] महाराष्ट्र ब्राह्मण पहले देशस्थ, चितपावन, करहाड़ आदि शाखाओं में विभक्त हैं, फिर इनमें प्रत्येक शाखा के ऋग्वेदी यजुर्वेदी आदि अनेक अवान्तर भेद हैं और फिर इनके अनेक उपभेद हैं। श्रीमती कर्वे के पृ० १३४ पर दिये चित्र से महाराष्ट्र के ब्राह्मणों की अवान्तर शाखाओं का कुछ परिचय मिल सकता है।[४१]

ब्राह्मणों के समान अन्य जातियां भी इसी प्रकार अवान्तर उपजातियों में विभक्त हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब के खत्री तीन मुख्य वर्गों में विभक्त हैं ढाई, चुंजाही और सरीन। पहले वर्ग में बारह, दूसरे में बावन और तीसरे में १२३ उपजातियां हैं।[४२]

राजस्थान के राजपूतों में न केवल ३६ प्रसिद्ध कुल हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक के

३५ एक सुप्रसिद्ध श्लोक के अनुसार विन्ध्याचल से उत्तर में बसने वाले पांच गौड़ निम्न हैं—सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडा मैथिलोत्कलाः। पंचगौडा इति ख्याता विन्ध्यास्योत्तरवासिनः॥ विन्ध्याचल से दक्षिण में रहने वाले पंच द्रविड़ इस प्रकार हैं—द्राविडाश्चान्ध्रकर्णाटमहाराष्ट्राश्च गुर्जराः। पंचैते द्राविडा प्रोक्ता विन्ध्यादक्षिणवासिनः॥ ये श्लोक स्कन्द पुराण के सह्याद्रि खण्ड के उत्तरार्द्ध (१०। २–३) में कुछ अन्तर के साथ पाये जाते हैं। विलसन के इंडियन कास्टस् के खण्ड २, पृ० १७ में ये नाम कुछ पाठभेद के साथ दिये गये हैं।

३६ विलसन—इंडियन कास्टस्, खं० २, पृ० १२६, बम्बई प्रेजिडेन्सी गजेटियर के खण्ड ९, पृ० १८ में पंजाब के सारस्वतों के ४७० भेद बताये गये हैं।

३७ हिन्दी विश्व कोश, खं० ६, पृ० ४३७।

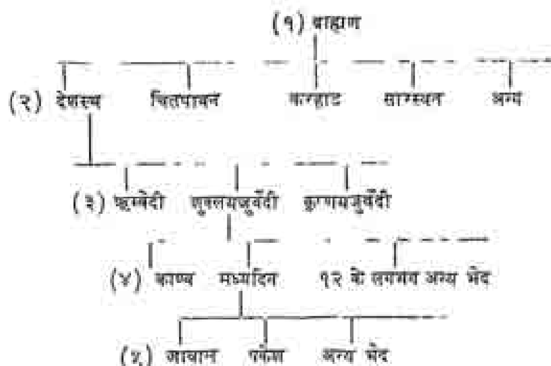
३८ वही, खण्ड ३, पृ० ७३०।

३९ हिन्दी विश्वकोश, खं० ६, पृ० ४३२, विलसन ने गुर्जर ब्राह्मणों की १६० उपजातियां लिखी हैं (इंडियन कास्टस् खं० २, पृ० ९२)

४० हिन्दी विश्वकोश, खं० ४, पृ० १२६।

४१ कर्वे—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इंडिया, पृ० ८

४२ पंजाब की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट, पृ० ३०३–४।



अनेक उपभेद है। कर्नल टाड के वर्णनानुसार चित्तौड़ के सूर्यवंशी गुहिलो की २४ शाखाएँ है, चौहानो की चौबीस, चालुक्यो की १६, प्रतिहारो की १२। इसके साथ ही टाड ने राजपूताने के व्यापारियो की ८४ उपजातिया गिनायी है।[४३] वैश्य वर्ग के अग्रवालो मे १७½ या अठारह गोत्र अथवा कुल माने जाते है।[४४] पंजाब के ओसवालो मे १६ उपजातिया है।[४५] यही दशा अन्य जातियो की है। उत्तर प्रदेश के कायस्थो के १२ भेद सुप्रसिद्ध है।[४६] उपजातिभेद की प्रवृत्ति से हिन्दुओ के निम्नवर्ग भी अछूते नही बचे। भंगियो मे विवाह की दृष्टि से बीसियो उपजातिया कही जाती है।

चारो वर्णो के हजारो उपभेदो मे बट जाने का पहला परिणाम यह हुआ कि धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित सवर्ण विवाह के नियम को लोकाचार ने उपवर्ग और उपजातियो के बहुत छोटे-छोटे वर्गों तक सीमित कर दिया है। उदाहरणार्थ पहले बताये गये महाराष्ट्र ब्राह्मणो के देशस्थ नामक ब्राह्मण वैदिक शाखाओ के भेद से ऋग्वेदी, माध्यंदिनी, काण्व और मैत्रायणी वर्गों मे बटे हुए है। इनमे परस्पर विवाह नही होता

४३ एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान, लंदन १९५०, अध्याय ७, पृ० ९८–१०० ।

४४ कुक—ट्राइब्स एण्ड कास्टस् आफ दी नार्थ वैस्टर्न प्राविन्सिज एण्ड अवध, पृ० १६, सत्यकेतु विद्यालंकार–अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास पृ० १२५ ।

४५ पंजाब की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट, पृ० ३२७ ।

४६ सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव–विवाह संस्कार, पृ० १६, अब इनके विवाह में दोष नही समझा जाता ।

है। मैसूर में ब्राह्मण ६५ उपजातियों में विभक्त है।[४७] इनकी एक उपजाति स्मार्त (शंकर के अनुयायी) ५० उपभेदों में विभक्त है। इनका भी वैष्णव (रामानुज के अनुयायी) और माध्व (माधवाचार्य के शिष्य) ब्राह्मणों के साथ विवाह नहीं होता।[४८] गुजरात के नागर औदीच्य आदि वर्ग अन्तर्जातीय विवाह नहीं करते। यदि कान्यकुब्ज को इस बात पर अभिमान है कि "नौ कनौजिये तेरह चूल्हे" तो गुर्जर ब्राह्मण कहता है "तेरह गुजराती तेंतीस (३३) चूल्हा।" प्रायः सभी उपजातियां इस बात का प्रयत्न करती हैं कि उनके शादी ब्याह उनकी उपजाति के भीतर ही हों।

उपरिविवाह

चार वर्णों में उपर्युक्त जातियों और उपजातियों के विकास का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम है हिन्दू समाज में उपरिविवाह (Hypergamy) की प्रवृत्ति का प्रबल होना। आजकल वर्ण की समानता ही नहीं, किन्तु उपजाति की समानता भी विवाह के लिए आवश्यक समझी जाती है, और उपजातियों में भी कुछ ऊंची और कुछ नीची समझी जाती हैं।[५०] प्रायः अपनी कन्या को उच्च जाति में देने का प्रयत्न किया

४७ १९२१ की मैसूर की जनगणना रिपोर्ट, भाग १, पृ० १००।
४८ मैसूर गजेटियर, खं० १, पृ० २२१।
४९ श्रीनिवास–मैरिज एण्ड फैमिली इन मैसूर, पृ० २७।
५० यह उच्चता अनेक तत्त्वों पर अवलम्बित होती है। ब्राह्मणों में विभिन्न उपजातियों की स्थिति उनके यजमानों की सामाजिक स्थिति से निश्चित होती है। उदाहरणार्थ, खत्रियों और अग्रवालों के धार्मिक कार्य करने वाले ब्राह्मण चमारों तथा भंगियों का पौरोहित्य करने वाले ब्राह्मणों से ऊंचे हैं। दूसरा तत्त्व वृत्ति या व्यवसाय के स्वरूप पर है। अन्त्येष्टि संस्कार के समय मृतकों का दान लेने वाले ब्राह्मण हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। अन्य जातियों में उच्चता की एक कसौटी यह है कि ब्राह्मण जिन जातियों से पानी, कच्चा या पक्का भोजन लेते हैं वे ऊंची समझी जाती हैं। तीसरा तत्त्व कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन है। विधवा विवाह करने वाली जातियां इसे न करने वाली जातियों से हीन समझी जाती हैं। दक्षिण भारत में मन्दिर के सेवकों का एक वर्ग मा रन अपनी जाति में इसलिए ऊंचा समझा जाता है कि वह विधवा को विवाह नहीं करने देता (इंसा० बिटा० ४।६८३)। यमुना के ऊपरी भाग में रहने वाले तागू ब्राह्मणों के अधःपतन का यह कारण था कि उनके एक पूर्वज ने अपनी सजातीय विधवा से शादी कर ली थी (इंसा० बिटा. ४।६८०)। चौथा तत्त्व खान-पान के नियम का है। एक ही वर्ग में पशु, पक्षियों के मांस का तथा मदिरा का सेवन करने वाले उसे न करने

जाता है। इसे उपरिविवाह (Hypergamy) का नियम कहा जाता है। रिजली की परिभाषा के अनुसार उपरिविवाह वह रिवाज है जो किसी वर्ग विशेष की स्त्री को उससे निम्न सामाजिक स्थिति रखने वाले वर्ग के पुरुष से विवाह करने का निषेध करता है और उसे अपने समान अथवा ऊंचे वर्ग में विवाह के लिए बाधित करता है। इस नियम का अनुसरण करने वाला सामाजिक वर्ग उपरिविवाही वर्ग (Hypergamous group) कहलाता है। इसके पुरुष तो इससे अथवा इससे निचले वर्ग से शादी कर सकते हैं, किन्तु स्त्रियां इस वर्ग से तथा इससे ऊपरले वर्ग में ही विवाह कर सकती है। उपरिविवाह की प्रवृत्ति हिन्दू समाज की सभी जातियों में तथा सभी प्रान्तों में पायी जाती है (पंजाब की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट, पृ० ३००)। भारत की विभिन्न जनगणना रिपोर्टों में इसका विस्तृत प्रतिपादन है। श्रीमती इरावती कर्वे की किनशिप आर्गेनिजेशन इन इंडिया में भी इसका रोचक विवरण है।

सजातीय विवाहों के दुष्परिणाम

सजातीय विवाह का प्रतिबंध होने का मुख्य परिणाम यह हुआ कि वर-वधू के चुनाव का दायरा बहुत संकुचित हो गया है। अवध के जिलों में पंचगौडान्तर्गत सरयूपारीण, द्विवेदी और त्रिपाठी पंक्तिपावन ब्राह्मणों में विवाह के सम्बन्ध के योग्य व्यक्ति बहुत थोड़े रह गये हैं और कन्या के विवाह में बड़ी कठिनाई होने लगी है।[५१] छपरा के सनाढ्य ब्राह्मणों की भी यही दशा है। कई जातियां इतनी छोटी हैं कि उनमें केवल ८ व्यक्ति हैं।[५२] विवाह योग्य व्यक्तियों की संख्या कम होने अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न हो गये हैं। कन्या के विवाह को हिन्दू समाज में रोका नहीं जा सकता, वह तो अवश्य करना होता है; किन्तु उसके लिए वर को अपनी जाति से बाहर नहीं ढूंढा जा सकता, अपने वर्ग तक सीमित लड़कों के साथ ही शादी करनी पड़ती है। इन लड़कों के माता-पिता कन्या के माता-पिता से सौदे-बाजी करते हैं और दहेज के लिए बड़ी-बड़ी राशियां मांगते हैं।[५३] उस समय या तो माता-पिता को भारी कर्ज लेकर ब्याह करना पड़ता है या फिर किसी ऐसे धनी वृद्ध के साथ अपनी लड़की को ब्याहना पड़ता है, जो दहेज न मांगता हो।

बाल विवाह की बुराई को भी इससे बहुत प्रोत्साहन प्राप्त होता है। कन्या के

वालों से उत्तम समझे जाते हैं। उड़ीसा में निम्न जातियां ही मद्यपान करती हैं (इंसा० रिली० ई० ३।२३६)।

५१ भगवानदास-पुरुषार्थ, पृ० ४९०-९१।

५२ दे० विट्ठल भाई पटेल का भाषण, १९१८ में अन्तर्जातीय बिल पेश करते हुए।

५३ दहेज के लिए दे० नीचे पृ० २१५-२२४।

माता-पिता यह चाहते हैं कि वे किसी वर के साथ जल्दी से जल्दी अपनी लड़की को ब्याह दें। वे लड़कों के माता-पिता के पास पहले पहुंचने का यत्न करते हैं और उनकी कोशिश रहती है कि शादी जितनी जल्दी हो उतना अच्छा है। यदि शादी देर तक टाली गयी तो संभव है कि लड़के को कोई दूसरा अधिक दहेज देने वाला मिल जाय या अधिक योग्य कन्या मिल जाय, अतः कन्या के पिता की यही चेष्टा रहती है कि विवाह शीघ्र हो।

जातियाँ छोटी होने से कई बार युवकों को जबर्दस्ती अविवाहित रहना पड़ता है। इस दशा में ये युवक दूसरी स्त्रियों से अनुचित संबन्ध रखते हैं, इन युवकों के लिए स्त्रियाँ भगाकर लायी जाती हैं और इस तरह समाज में व्यभिचार की मात्रा बढ़ती है। स्त्रियों के बेचने, अपहरण करने और किराये पर अस्थायी पत्नियों के तौर पर रखने के घृणित रिवाज चल पड़े हैं।

जब कन्याओं के विवाह करने में इतनी कठिनता हो तो उनका वध और उनकी उपेक्षा होना स्वाभाविक है। इस प्रश्न पर अन्यत्र विशेष रूप से विचार किया गया है।[५४] किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि हिन्दू समाज में कन्याओं की जो दुर्दशा है, उसका प्रधान कारण वर ढूंढने और उसे संतुष्ट करने की कठिनाइयां हैं। कन्या होते ही घर में जो शोक की लहर दौड़ जाती है, इसका कारण कन्या की विवाहविषयक चिन्ता होती है और इस चिन्ता का प्रधान हेतु सजातीय विवाह का कठिन बन्धन है। जातीय दृष्टि से हिन्दुओं को इस प्रथा से बहुत हानि हो रही है। जातिभेद की प्रथा जातीय एकता, संगठन सामूहिक चेतना और मेल के लिये सबसे बड़ी बाधा है। डा० भगवानदास के कथनानुसार हम आत्मसंतोष के लिए भले ही यह दावा करें कि भारत में हिन्दुओं की बहुसंख्या है, किन्तु यह दावा बिलकुल धोखा और गलत है। वास्तव में हिन्दू-समाज आपस में लड़ते हुए अल्पसंख्यक समुदायों का, कोई तीन हजार जातियों और उपजातियों का, जो सब भोजन और विवाह के विषय में एक दूसरे को अस्पृश्य समझती हैं, एक प्रतिक्षण विशीर्यमाण ढेर है।[५५] हमारा समाज तीन हजार टुकड़ों में बंटा है। इन टुकड़ों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। ये टुकड़े कट कर हमसे अलग हो रहे हैं। किन्तु निरन्तर क्षीण होते हुए भी हम आपस के जाति-भेदों को नहीं भूलते हैं, संगठित होकर उन्नति के लिए यत्न नहीं करते हैं। अतः हिन्दू जाति के विभिन्न वर्गों में सौहार्द उत्पन्न करने और उन्हें एकसूत्र में ग्रथित करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्तर्जातीय विवाह और न्यायालय

१९४९ के **हिन्दू विवाह वैधता कानून** के पास होने से पहले तक आधुनिक न्याया-

५४ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दूपरिवारमीमांसा, पृ० १९६–२०१।
५५ भगवानदास—पुरुषार्थ पृ० ४७०–७१।

समय अन्तर्जातीय विवाहों के सम्बन्ध में एकमत नहीं थे। इस सम्बन्ध में इनके निर्णयों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) एक मुख्य जाति की अवान्तर शाखाओं के व्यक्तियों के मध्य में हुआ विवाह वैध माना जाता है।[५६] (२) पहले कुछ समय तक न्यायालय अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का भेद न करते हुए सभी अन्तर्जातीय विवाहों को अवैध मानते रहे।[५७] किन्तु बाद में इन दोनों में अन्तर करते हुए बम्बई हाईकोर्ट ने प्रतिलोम विवाहों को अवैध माना और[५८] अनुलोम विवाहों को वैध स्वीकार किया।[५९]

प्रतिलोम अर्थात् हीनवर्ण के पुरुष के साथ उच्चवर्ण की स्त्री के विवाह को अवैध घोषित करने के जो परिणाम जनता के सामने आये, उनसे इन विवाहों को कानून द्वारा वैध बनाने का आंदोलन हुआ। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता था। बम्बई के दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा; पहले में १६ वर्ष की एक ब्राह्मणी ने अपने से हीन वर्ण के पुरुष अमनादास के साथ शादी की, २५ वर्ष तक दाम्पत्य जीवन बिताते हुए इन्हें आठ सन्तानें प्राप्त हुईं। इसके बाद पति ने पत्नी को छोड़ दिया। पत्नी नौ वर्ष तक अदालत में नहीं गयी, पर अन्त में बुढ़ापे में भूख से तंग आकर उसने पति से गुजारा पाने के लिए न्यायालय का द्वार खटखटाया, किन्तु न्यायालय द्वारा इस विवाह को अवैध माना गया और उसे कोई सहायता नहीं मिल सकी। २५ वर्ष तक इकट्ठा रहने पर भी न्यायालय ने उन्हें शास्त्रीय आधार पर पति-पत्नी स्वीकार करने से इन्कार

५६ गोपीकृष्ण बनाम मुसम्मात जग्गो (१९३६) ६३ इं० ए० २९५ ५८ अला० ३९७; इन्द्रासिंह बनाम साधुसिंह इं० ला० रि० (१९४४) १ कल० २३३; नागप्पा बनाम सुब्रह्मण्यम् इं० ला० रि० (१९४६) मद्रास १०३।

५७ लक्ष्मी बनाम कल्याणसिंह (१९००) २ बं. ला. रि. १२८ (क्षत्रिय और ब्राह्मण); मुन्नीलाल ब. श्यामा (१९२६) ४८ इलाहाबाद ६७० (शूद्र तथा वैश्य स्त्री); सेसपुरी ब० द्वारका प्रसाद (१९१२) १० इलाहाबाद ला जर्नल १५१ (ठाकुर और ब्राह्मणी); पदमकुमारी ब. सूरजकुमारी (१९०६) २८ अला० ४५८ (ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री)।

५८ काशी बनाम अमनादास (१९१२) १४ बं० ला० रि० ५४७, ५५२।

५९ बाई गुलाब ब० जीवनलाल (१९२२) ४६ बं० ८७१, नाथू बनाम मेहता छोटालाल। पंजाब में एक राजपूत और घासी स्त्री (हरिदास बनाम कन्हैया [१९०८] पं० रि० ७२) तथा एक क्षत्रिय और वैश्य स्त्री के विवाह (ब० फकीरचन्द १९०७ पं० रि० ५७) वैध माने गये। कलकत्ता हाई कोर्ट ने टिपरा के एक रिवाज के आधार पर वैश्य पति और कायस्थ पत्नी का विवाह जायज समझा (रामलाल ब० अखोयचरण ७ कल० वी० ६१९) तथा कायस्थ और डोम का विवाह वैध माना (भोलानाथ ब० सम्राट ५१ कल० ४४८)।

दिया।[६०] शास्त्रीय दृष्टि से यह निर्णय ठीक होते हुए भी स्त्री के प्रति घोर अन्यायपूर्ण था। दूसरे उदाहरण में कल्याणसिंह राजपूत ने लक्ष्मी नामक ब्राह्मणी से विवाह किया।[६१] लक्ष्मी को पति के घर से ले जाया गया और उसके साथ न रहने दिया गया। कल्याणसिंह ने पत्नी प्राप्त करने के लिए अदालत में नालिश की, अदालत ने यह निर्णय दिया कि यद्यपि सचमुच विवाह हो चुका है, परन्तु प्रतिलोम विवाह होने से कानून की दृष्टि में यह कोई विवाह नहीं है, इसलिए कल्याणसिंह पत्नी रूप से उसे अपने पास रखने का अधिकारी नहीं है।

हिंदू कानून के इस दोष को सुधारने के लिए सर्वप्रथम स्वर्गीय विट्ठल भाई पटेल ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने का विधेयक (बिल) १९१८ में व्यवस्थापिका परिषद् में प्रस्तुत किया। इस बिल के प्रस्तुत होते ही कट्टरपन्थी हिन्दुओं ने इसका घोर विरोध किया, क्योंकि इससे ऋषि प्रणीत व्यवस्थाओं पर आंच आती थी। एक कट्टर पंथी के शब्दों में यह बिल जातिबन्धन को टुकड़े-टुकड़े कर देने वाला और उन कुकर्मियों के सुभीते के लिए है जो हिन्दू परिवार की प्रत्येक पवित्र और प्रिय चीज को पांव तले रौंदना चाहते हैं, जो बदमाशी और आवारागर्दी का जीवन बिताना चाहते हैं।[६२] इन शब्दों में विरोध की उग्रता का अनुमान किया जा सकता है। उन दिनों माटेग्यू चैम्सफोर्ड सुधार लागू होने वाले थे, अतः यह बिल नवीन असेम्बली के लिए छोड़ दिया गया। इसके १९ वर्ष बाद २६ जनवरी १९३७ को डा० भगवानदास ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में पटेल वाला बिल उपस्थित किया। उन्होंने उसके समर्थन में प्रबल शास्त्रीय प्रमाण रखे, किन्तु वह सब अरण्य रोदन ही सिद्ध हुआ। सरकारी विरोध के कारण बिल गिर गया। अन्त में १९४९ में श्री ठाकुरदास भार्गव के अनथक प्रयत्न से सब प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने का कानून भारतीय लोकसभा द्वारा पास हुआ।

इस कानून के पास होने से पहले हिन्दू विवाह दो प्रकार से हो सकते थे—१८७२ के विशेष विवाह कानून के अनुसार तथा १९३७ के आर्य विवाह वैधता कानून के अनुसार। पहला कानून ब्रह्मसमाज वालों ने अपने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध करने के लिए बनाया था, इसकी तीसरी धारा के अनुसार वर-वधू को यह घोषणा करनी

६० काशी बनाम जमनादास (१९१२) १४ बं० ला० रि० ५४७, ५५२। न्यायाधीश चन्द्रावरकर ने इस विषय के सब शास्त्रीय प्रमाणों की मीमांसा करते हुए यह लिखा था कि इस प्रान्त में स्वीकार किये जाने वाले हिन्दू कानून के प्रधान ग्रन्थों के अनुसार ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्त्री नहीं स्वीकार कर सकते।

६१ लक्ष्मी ब० कल्याणसिंह २ बं० ला० रि० १२८।

६२ सनातन धर्म सभा लाहौर द्वारा प्रकाशित पैम्फलेट, सन्तराम कृत अन्तर्जातीय विवाह पृ० २२ पर उद्धृत।

पड़ती थी कि वे हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन नहीं हैं। यद्यपि ब्रह्मसमाजियों को इसमें कोई आपत्ति न थी, किन्तु अधिकांश हिन्दू ऐसी घोषणा करने के लिए तैयार नहीं थे। अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने की दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण पग १६३७ का १६ वाँ कानून था। यह श्री घनश्यामसिंह गुप्त के प्रयत्न का फल था। आर्यसमाज हिन्दुओं का सुधारक सम्प्रदाय है, वह जन्म से जातिभेद का विरोधी है, आर्यसमाजियों में अनेक अन्तर्जातीय विवाह होते थे, इनकी वैधता स्वीकार करने तथा इस विषय में सन्देहों को दूर करने के लिये आर्य विवाह वैधता कानून बनाया गया, यह १४ अप्रैल, १६३७ से लागू हुआ। यह कानून केवल उन हिन्दुओं पर लागू होता था, जो आर्यसमाजी थे, अन्य हिन्दुओं में प्रतिलोम अन्तर्जातीय विवाह अवैध थे और अनुलोम विवाह उपर्युक्त कठिनताओं को उत्पन्न करने वाले थे। इस समय हिन्दू समाज में अन्तर्जातीय विवाहों का रिवाज बढ़ने लगा, उत्तर भारत में 'जातपांत तोड़क मण्डल' ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। हिन्दुओं के शासक एवं शिक्षित वर्ग में ऐसे विवाहों में वृद्धि हुई। ऐसा एक उल्लेखनीय उदाहरण महात्मा गांधी के पुत्र देवदास गांधी का राजगोपालाचारियर की पुत्री के साथ प्रतिलोम विवाह था। इन विवाहों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ इन्हें वैध बनाने का आन्दोलन प्रबल हुआ। इसका परिणाम हिन्दू विवाह वैधता कानून था। यह १५ मार्च, १६४६ से सारे भारत में लागू हुआ। १६५५ के हिन्दू विवाह कानून में इसे सम्मिलित कर लिया गया है।

हिन्दू विवाह वैधता कानून (१६४६)

यह कानून हिन्दुओं, सिक्खों, जैनों, इनकी विभिन्न जातियों, उपजातियों और सम्प्रदायों में होने वाले विवाहों को वैध करने के लिए बनाया गया है। इस कानून की तीसरी धारा का स्वरूप इस प्रकार है "इस समय लागू होने वाले हिन्दू कानून के किसी ग्रन्थ, नियम या व्याख्या के अथवा किसी रूढ़ि और रिवाज के होते हुए भी हिन्दुओं में कोई विवाह केवल इस कारण अवैध नहीं समझा जायगा कि उसमें वर-वधू विभिन्न धर्मों, जातियों, उपजातियों या सम्प्रदायों से संबन्ध रखते थे।" यह कानून अनुलोम प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों को वैध बनाता है, अब आर्य समाजी न होने तथा विशेष विवाह कानून के अन्तर्गत शादी न करने पर भी ऐसे विवाह वैध होंगे। इस कानून ने असवर्ण विवाह निषेध के शास्त्रीय नियम को पूर्णरूप से विलुप्त कर दिया है। यह भविष्य में होने वाले विवाहों को ही वैध नहीं बनाता, अपितु इस कानून के पास होने से पहले किये गये विवाहों को भी वैध स्वीकार करता है। निःसन्देह वर्तमान युग में, हिन्दू विवाह के क्षेत्र में यह एक बड़ा क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण कानून है।

वर्तमान काल में हिन्दू समाज में जातिभेद की प्रथा का विघटन करने वाली अनेक प्रवृत्तियाँ अन्तर्जातीय विवाहों के प्रोत्साहन में सहायक सिद्ध हो रही हैं। औद्योगिक क्रान्ति, मशीनों द्वारा कारखानों में वृहद् परिमाण में वस्तुओं के उत्पादन,

व्यापार के विकास, रेलद्वारा यातायात में वृद्धि आदि से पुरानी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। गांवों में पुराने उद्योगों की समाप्ति से पुराने पेशों का अन्त हो रहा है, वकालत, डाक्टरी आदि के नये पेशे बढ़ रहे हैं। इससे वृत्ति के आधार पर बनी पुरानी जातियों का प्रभाव और महत्त्व कम हो रहा है। रेलगाड़ियों में, होटलों में, तथा बड़े शहरों की भीड़-भाड़ में सड़कों पर जातीय शुद्धि और पवित्रता के नियमों की रक्षा संभव नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश के नये संविधान में सब नागरिकों के समान अधिकार स्वीकार किये गये हैं। कांग्रेस का लक्ष्य वर्गहीन समाज का निर्माण करना है, जातिभेद की प्रथा को पुष्ट करने वाली अस्पृश्यता का कानून द्वारा उन्मूलन हो चुका है, जातिसूचक पदवियों को अपने नामों के आगे और पीछे लगाना बुरा समझा जाने लगा है। ऐसी दशा में जातिभेद के आधार पर किये जाने वाले सजातीय विवाह के नियम के पालन में भविष्य में पर्याप्त शिथिलता आने की सम्भावना है।

अन्तर्जातीय विवाह के प्रति नवीन दृष्टिकोण

नगरों में नवीन आर्थिक एवं औद्योगिक परिस्थितियों के कारण हिन्दू समाज में अन्तर्जातीय विवाह के विषय में कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है। एलीन डी० रास द्वारा किये गये अनुसन्धान से इस विषय पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। निम्नलिखित तालिका में यह प्रदर्शित किया गया है कि साक्षात्कार किये जाने वाले कितने पुरुषों तथा स्त्रियों ने अन्तर्जातीय (Intercaste), अन्तर्धर्म (Interreligious) तथा अन्तः-प्रजातीय (Interracial) विवाहों के पक्ष तथा विपक्ष में मत दिये।[६३]

	अन्तर्जातीय			अन्तर्धर्मीय			अन्तःप्रजातीय		
	पक्ष	विपक्ष	उत्तर देने वालों की सं०	पक्ष	विपक्ष	उत्तर दे.	पक्ष	विपक्ष	उत्तर
नर	४४	१६	६०	२०	१२	३२	३०	२४	५४
नारी	२६	३५	६१	६	३३	४२	६	३४	४३
सर्वयोग	७०	५१	१२१	२६	४५	७४	३६	५८	९७

इस तालिका से कई मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं—(१) पुरुषों पर नवीन विचारों और परिस्थितियों का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनका दृष्टिकोण नारियों की अपेक्षा अधिक उदार है। ६६ प्रतिशत पुरुषों ने अन्तर्जातीय तथा अन्तर्धर्मीय विवाहों का समर्थन किया। इन विवाहों के समर्थन में दो बड़े तर्क दिये गये—पहला तर्क तो यह

६३ एलीन डी० रास—दी हिन्दू फैमिली एण्ड इट्स अर्बन सैटिंग, पृ० २७०—७१

था कि इससे जातिप्रथा की बुराई का उन्मूलन होगा। दूसरा तर्क विवाह में युवकों को अपने साथी का चुनाव करने की स्वतन्त्रता देना था। उनके मतानुसार जातिभेद के बन्धनों द्वारा युवकों के प्रणय-विवाहों में बाधा नहीं डाली जानी चाहिए। इन युवकों ने इस बात पर बल दिया कि अन्तर्जातीय विवाह हमारे लिए 'उत्तम समाज' (good society) का निर्माण करने वाले हैं, केवल इन्हीं से अस्पृश्यता के कलंक का तथा जातीय भेदभाव का उन्मूलन किया जा सकता है। अन्तर्जातीय अथवा विभिन्न नस्लों वाले विवाहों का समर्थन केवल पचास प्रतिशत युवकों ने ही किया। अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन करते हुए भी नवयुवकों ने इस बात पर बल दिया कि अन्तर्जातीय विवाह करने वाले वर-वधू को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए, क्योंकि जातीय बन्धन को तोड़ने के कारण माता-पिता तथा अन्य संबंधी इनसे रुष्ट हो जाते हैं तथा उनसे इन्हें कोई सहायता पाने की आशा नहीं रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे विवाह दम्पती एवं इनके माता-पिता में मनोमालिन्य और वैमनस्य पैदा करने वाले तथा बच्चों के लिए कई विषम समस्याएं उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(२) इस सर्वेक्षण में नारियों द्वारा दिये गये उत्तरों से यह प्रकट होता है कि वे पुरुषों की भांति समाज को उत्कृष्ट बनाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करने के लिए उत्सुक एवं आतुर नहीं हैं। वे अन्तर्जातीय विवाह की पक्षपाती होते हुए भी विभिन्न उपजातियों में विवाहों की अनुमति देने के पक्ष में थीं। अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में २६ ने तथा विरोध में ३५ ने अपने मत अभिव्यक्त किये। उनके विरोध का मुख्य कारण यह था कि ऐसे विवाहों में वर-वधू को अपनी जाति के अन्य रीति-रिवाजों तथा सामाजिक प्रभावों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में बड़ी कठिनाई होती है, वे अपने कुल, जाति और बिरादरी में समुचित स्थान न पाने से उनसे प्राप्त होने वाले संरक्षण और सुरक्षा से वंचित हो जाते हैं, अतः उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ और परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं और ऐसे विवाह सफल नहीं होते हैं। एक युवती ने इस विषय में लिखा था—"मुझे यह विश्वास नहीं है कि अन्तर्जातीय विवाह सफल होंगे, क्योंकि धर्म और जाति विषयक नियम हममें इतने अधिक सुदृढ़ और बद्धमूल हैं कि हम विभिन्न आदर्शों और रीति-रिवाजों का पालन करने वाले व्यक्तियों के साथ सामंजस्य और आनुकूल्य स्थापित नहीं कर सकती हैं। यह विवाह सफल न होने की दशा में, लड़की के माता-पिता अपनी लड़की को परिवार में वापिस लेने में बड़ा संकोच करेंगे।" अन्य युवतियों ने भी ऐसे विवाहों का विरोध करते हुए यह कहा कि दूसरी जाति के पुरुष के साथ विवाह करने पर लड़की अपनी जाति और अपने परिवार के व्यक्तियों से प्राप्त होने वाली सुरक्षा से वंचित हो जाती है तथा ऐसे विवाह के परिणाम माता-पिता की अपेक्षा बच्चों को अधिक भुगतने पड़ते हैं। पुरुषों ने यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण प्रकट किया था, किन्तु उन्होंने अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देते हुए स्वयमेव या अपने परिवार के सदस्यों के विवाह

जात-पांत का बन्धन तोड़ कर नहीं किये थे। उनका यह कहना था कि वे यद्यपि इन विवाहों को बुरा नहीं समझते, फिर भी विवाह करके तथा समाज को रुष्ट करके वे अपनी समस्याओं को नहीं बढ़ाना चाहते।

इस सर्वेक्षण से रास ने यह परिणाम निकाला है कि आधुनिक विचारों से प्रभावित युवक-युवतियाँ अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करते हैं, किन्तु वे यह भी जानते हैं कि इनसे अनेक प्रकार की विषम समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, यदि उन्हें अपनी जाति में, अपना जीवनसंगी मिल जाता है तो वे अन्तर्जातीय विवाह नहीं करते हैं। ऐसा विवाह केवल उसी दशा में किया जाता है जब युवक-युवती में प्रेम की भावना इतनी प्रबल हो कि वे सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह करने को तैयार हों, अथवा उन्हें ऐसा विवाह करने से सम्पत्ति अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में बहुत बड़ा लाभ मिलता हो, ताकि वे अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का समाधान कर सकें[५४]।

५४ एलीन डी रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७३।

अध्याय ५

वर-वधू का चुनाव तथा योग्यताएँ

अन्य वैवाहिक प्रतिबन्ध

हिन्दू विवाह की तुलना एक बाधादौड़ (Hurdle Race) से की जा सकती है। बाधादौड़ का विजेता जिस प्रकार रास्ते की अनेक बाधाओं, विषम स्थलों, गहरे गड्ढों और ऊँचे टीलों को पारकर अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है, उसी प्रकार हिन्दू कन्या के माता-पिता पिण्ड, गोत्र, जाति के कठोर प्रतिबन्धों का पालन करते हुए तथा अन्य अनेक बाधाओं का सामना करते हुए बड़ी कठिनता से वर का चुनाव कर पाते हैं। पिण्ड, गोत्र और जाति के प्रतिबन्धों की चर्चा पिछले अध्याय में विस्तार से हो चुकी है। इस अध्याय में वर-वधू के चुनाव के विषय में अन्य प्रतिबन्धों और नियमों का उल्लेख किया जायगा।

विवाह से पहले वर और वधू की अनेक दृष्टियों से जाँच की जाती है। उनके रूप, गुण, बुद्धि, कुल आदि अनेक योग्यताओं का विचार किया जाता है। कुछ विशेष रोग अथवा विकृतियाँ होने पर उन्हें विवाह के योग्य नहीं समझा जाता। वधू के लक्षणों की परीक्षा पर प्राचीन ग्रन्थों में बहुत बल दिया गया है। मध्यकाल से विवाह में ज्योतिष सम्बन्धी विचार प्रबल होने लगे। वर-वधू का गोत्र और कुल देखने के साथ उनके ग्रहों और नक्षत्रों के गुणों, नाड़ी, कूट आदि का खूब विचार होने लगा। ऐतिहासिक क्रम से यहाँ वर-वधू की योग्यताओं व अयोग्यताओं की चर्चा की जायगी। इन शर्तों या प्रतिबन्धों के विषय में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इनका पालन करना अच्छा समझा जाता है, परन्तु इनका भंग करते हुए यदि कोई विवाह कर ले तो वह अवैध नहीं माना जाता है।

वर की योग्यताएं (वर-सम्पत्[1])

(१) **ब्रह्मचर्य**—वर की सबसे बड़ी योग्यता यह होनी चाहिए कि वह अखण्ड ब्रह्मचारी हो। बौधायन (४।१।११) कन्या के पिता को स्पष्ट रूप से यह सलाह देता है

१ इनका प्राचीन धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा निबन्धग्रन्थों में विशद वर्णन है, देखिये मनु ३।८८, याज्ञ० १।५५, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, पृ० ७५४।

कि वह उस व्यक्ति को अपनी कन्या का दान करे, जिसका ब्रह्मचर्यव्रत भंग न हुआ हो। मनु (३।२) तथा याज्ञवल्क्य (१।५३) ने वर के अखण्ड ब्रह्मचर्य के नियम का वर्णन किया है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन के लिए है, गृहस्थ के झंझट विद्याध्ययन में बाधक होते हैं, अतः विद्याध्ययन के बाद ही विवाह हो, इस नियम की रक्षा के लिए यह व्यवस्था की गयी थी कि वर का ब्रह्मचर्य अखण्डित होना चाहिए। किन्तु बाद में बालविवाह का प्रचलन होने पर यह शर्त बिल्कुल व्यर्थ हो गयी। मध्यकाल में ब्रह्मचर्याश्रम एवं वेदाध्ययन की परिपाटी बिल्कुल लुप्त हो गयी, उपनयन संस्कार का दिखावा अवश्य होता था, ब्रह्मचारी काशी जाने का संकल्प करता था, किन्तु उसकी बहिन या अन्य सम्बन्धी उसे वहां न जाने की प्रेरणा करते थे और वह अपना काशी जाने का निश्चय त्याग देता था। प्रायः उसी दिन समावर्तन संस्कार हो जाता था। तब उपनयन और ब्रह्मचर्य इस प्रकार एक मजाक या तमाशा हो गया। यदि वर के लिए यह शर्त आवश्यक समझी जाती तो इसका एक बड़ा लाभ यह होता कि हिन्दू समाज में बेमेल विवाहों का प्रसार अधिक न होता, ४० या ५० वर्ष की आयु वाले पहले से विवाहित वृद्ध अक्षतयोनि कन्याओं का पाणिग्रहण न कर सकते। आजकल इस शर्त का कोई महत्त्व नहीं है।

(२) कुल—वर का कुल उत्तम होना चाहिए। यह समझा जाता है कि उत्तम कुल में जन्म लेने के कारण व्यक्ति वंश-परम्परा द्वारा कुछ विशेषताओं को प्राप्त करता है और कुछ गुणों को वह अपने कुल के उत्कृष्ट एवं सभ्य वातावरण द्वारा उपार्जित करता है, अतः विवाह में कुलीनता के गुण को बहुत महत्त्व दिया जाता है। आप० गृह्यसूत्र (१।५।१) एक विशेष पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार वर-वधू के कुल की परीक्षा करने का

इनका सारांश यमस्मृति के निम्न श्लोक में है, जिसमें वर के लिए सात गुण आवश्यक बताये गये हैं—

कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान् गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥

स्टर्नबैक ने विभिन्न स्मृतियों के आधार पर वर के निम्नलिखित गुण बताये हैं—(१) अपना ही वर्ण रखने वाले (सवर्ण, सदृश) कुल का होना, (२) धनी होना, (३) मां-बाप तथा अन्य संरक्षक सम्बन्धियों का होना (सनाथता), (४) उत्तमचरित्र (शील) तथा शूर, उत्कृष्ट स्थिरमति, बुद्धिमान् होना, (५) विद्वान् तथा पढ़ा लिखा (श्रोत्रिय, पंडित) होना, (६) सुन्दर (अभिरूप मनु ९।८८,) होना, (७) बड़े परिवार वाला होना (भूरि कुटुम्बवान्, नानाकुटुम्बवान्), (८) उदार (दाता) तथा दयालु (दयासागर) होना। (९) आनन्दोपभोग का प्रेमी होना, जनप्रिय, शिष्ट होना (ज्यूरिडिकल स्टडीज इन एंशेण्ट इंडिया, खं० २, पृ० ३२-३)।

विधान करता है। इस पूर्वनिर्दिष्ट विधि का संकेत आप० श्रौतसूत्र (६।३) की ओर है और यह राजसूय यज्ञ में चमस ग्रहण करने के योग्य ब्राह्मणों का वर्णन करती है। इसके अनुसार वर के माता और पिता दोनों ओर से दस कुलों तक ऐसे होने चाहिए जिनमें विद्या, तप और उत्तम कर्म पाये जाते हों, अथवा दस पीढ़ी तक जो शुद्ध ब्राह्मणवंश के हों, अथवा कुछ लोगों की सम्मति में पिता की ओर से ही केवल ऐसी दस पीढ़ियों वाले हों। मनु ने उत्तम कुल में शादी करने के लाभ और हीन कुल में विवाह करने की हानियों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। उसने ४।२४४ में कहा है कि जो अपने कुल का उत्कर्ष चाहता है उसे उत्तमोत्तम व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध करने चाहिए और अधम लोगों के साथ सम्बन्धों का त्याग करना चाहिए। मनु यह समझता था कि जिन कुलों में कुछ बीमारियाँ पायी जायँ उनमें कभी सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। अतः ३।६–७ में वह स्पष्ट रूप से सब लोगों को चेतावनी देते हुए कहा है कि रोग वाले दस प्रकार के कुलों में गौ, भेड़, बकरी, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी विवाह सम्बन्ध न करे। ये दस कुल इस प्रकार हैं—जिनमें संस्कारों का पालन नहीं होता, जिनमें स्त्री सन्तानें ही उत्पन्न होती हों, वेदाध्ययन नहीं होता हो, जिनमें व्यक्तियों के बहुत-बड़े-बड़े बाल होते हैं, जिनमें बवासीर, क्षय, मन्दाग्नि, मिरगी, श्वित्र और कोढ़ के रोग होते हैं। याज्ञवल्क्य ने भी महाकुल (१।५४) या श्रेष्ठ कुल पर बल दिया है। हारीत (वीरमित्रोदय, पृ० ५८६) कुल पर बल देने के कारण को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि सन्तान माता-पिता के गुणों वाली होती है। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन ने यशोवती से कहा है कि वर में अन्य गुण रहते हुए, बुद्धिमान् व्यक्ति कुल को ही देखते हैं (नि० सा० सं० पृ० १४१)। कुल का विचार करके ही उसने "सकलभुवननमस्कृत" मौखरीवंश के ग्रहवर्मा को अपनी कन्या देने का विचार किया था। कुल के विचार से, मध्यकाल में बंगाल में कुलीन ब्राह्मण-प्रथा का जन्म हुआ और लोग अपने कौलीन्य की रक्षा के लिए एक ही कुलीन ब्राह्मण के साथ अनेक कन्याओं की शादी करने लगे।

कुलीनता का इतना महत्त्व होते हुए भी मनु (२।२३८) ने पुरुष को यह छूट दी है कि स्त्री यदि रत्न हो (अर्थात् रत्न की तरह श्रेष्ठ हो) तो उसे नीच कुल से भी ग्रहण कर लेना चाहिए (स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि)।

(३) **बुद्धि और गुण**—वर बुद्धिमान् और गुणवान् होना चाहिए। आप० गृह्य सूत्र (१।५।२) कहता है कि कन्या बुद्धिमान् वर को देनी चाहिए। बौधा धर्म सूत्र (४।१।१२०) के अनुसार कन्या गुणवान् को देनी चाहिए। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में (चतुर्थ अंक) गुणवान् वर को कन्या देने का समर्थन किया है। मनु कन्या गुणवान् वर को देने पर बहुत बल देता है। वह कहता है (९।८९)—"चाहे कन्या को ऋतुमती होने पर आमरण पिता के घर पर रहना पड़े, किन्तु उसे कभी गुणहीन व्यक्ति को न दे।"

अन्य योग्यताएं

इनके अतिरिक्त वर के स्वभाव, स्वास्थ्य, धन, यश आदि अनेक गुणों को पुराने जमाने में देखा जाता था और आज भी देखा जाता है। यम (स्मृति चन्द्रिका १।७८) ने कुल, शील, शरीर, यश, विद्या, धन, माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों का होना—ये सात मुख्य गुण बताये हैं। बृहत्पराशर (जीवानन्द सं० पृ० ११८) में वर के आठ गुण बताये हैं किन्तु वे यम से भिन्न हैं। वे गुण इस प्रकार हैं—जाति, ज्ञान, यौवन, शक्ति, स्वास्थ्य, (मित्रादि की) सहायता, उच्च आकांक्षाएं और धन।

(४) स्वास्थ्य—वर के तरुण, स्वस्थ और रोगमुक्त होने पर बहुत बल दिया गया है और यह स्वाभाविक भी है। आश्व० गृ० सू० (१।३।२०) वर की योग्यताओं में आरोग्य का परिगणन करता है। मनु ने विवाह में जिन दस कुलों का निषेध किया है (३।६–७), उनमें अधिकांश विभिन्न रोगों से पीड़ित हैं। याज्ञवल्क्य भी संक्रामक संचारी रोग वाले महाकुल में विवाह की अनुमति नहीं देता। कात्यायन उन्मत्त, कुष्ठी, नपुंसक, स्वगोत्रज, काने, अन्धे, मिरगी वाले वर को कन्या न देने का परामर्श देता है।

(५) पुंस्त्व—याज्ञवल्क्य (१।५५) ने वर की पुंस्त्व परीक्षा पर बहुत बल दिया है। वर के पुंस्त्व की यत्नपूर्वक जाँच की जानी चाहिए (यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे)। याज्ञवल्क्य ने इस परीक्षा की विस्तृत विधि नहीं बतायी। किन्तु नारद ने (५।११–१२) इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। उसके मत में जिस पुरुष का वीर्य जल में तैरता है और जिसका मूत्र चमकदार और झागदार है, वह व्यक्ति मनुष्य है और इनसे विपरीत लक्षणों वाला पुरुष नपुंसक होता है। विवाह से पूर्व वर की इस पुंस्त्व परीक्षा का उद्देश्य यह था कि पति-पत्नी का दाम्पत्य जीवन सुखी रहे। पश्चिम में आजकल इस तथ्य को भली-भाँति अनुभव किया जा रहा है, दाम्पत्य सुख के लिए यौन अनुकूलता (Sexual harmony) अत्यन्त आवश्यक मानी जाती है। यौन वैषम्य कभी-कभी इस सुख का सर्वथा अन्त कर देता है। अतः यहाँ दाम्पत्य सुख व रोगों की निवृत्ति के लिए डाक्टरों द्वारा वर-वधू की प्राग्विवाह परीक्षा (Premarital examination) पर बल दिया जाता है।

(६) शारीरिक लक्षण—वर में उपर्युक्त योग्यताएँ देखने के अलावा कुछ शारीरिक विशेषताएँ या लक्षण भी देखे जाते हैं। वीरमित्रोदय (पृ० ७५२–७५४) ने इन लक्षणों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। ये लक्षण शारीरिक स्वास्थ्य, सौभाग्य एवं आयु के सूचक होते हैं। उदाहरणार्थ जिसके दांत, नख, केश, त्वचा और अंगुलियों के पोर सूक्ष्म होते हैं, वह दीर्घजीवी माना गया है। माथा, कन्धा, नाक, छाती उन्नत या ऊँची उठी होनी चाहिए। कनिष्ठ अंगुलि के नीचे से यदि अविच्छिन्न रेखा हथेली के मध्य में आती है तो ८० वर्ष की आयु होती है और कनिष्ठा के पोर अनामिका के पोर से बढ़ जायें तो पुरुष १०० वर्ष तक जीने वाला होता है (वी. मि., पृ० ७५३)। यदि कनिष्ठा के तथा

अनामिका के पोर बराबर हों तो आयु ८० वर्ष की होती है, यदि बराबर न हों तो ७० वर्ष की और पोर से आधी हो तो ६० वर्ष। किन्तु वर की अपेक्षा कन्या में इस प्रकार के लक्षण विशेष रूप से ढूंढे जाते हैं।

वर के गुणों की जांच कई बार स्वयंवर में कोई शर्त रख कर की जाती है। राम और अर्जुन के बल की परीक्षा इसी प्रकार हुई थी। कई बार वर को अनेक प्रलोभन देकर उसके प्रेम की परीक्षा की जाती थी। इनका सबसे सुन्दर उदाहरण अष्टावक्र की कथा है (महाभा० १३।१९ अनु०)। अष्टावक्र ने वदान्य ऋषि की कन्या सुप्रभा का पाणिग्रहण करना चाहा। ऋषि ने उसे उत्तर दिशा में भेजा जहां उसे अनेक सुन्दरियां मिली। वह उनके प्रलोभन से बचकर जब वापिस लौट आया तभी वदान्य ने अष्टावक्र से अपनी कन्या का विवाह कराया।[२]

वर की अयोग्यताएं

वर की अयोग्यताओं को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—(१) शारीरिक तथा मानसिक अस्वस्थता, पागलपन, बहिरापन, गूंगापन या किसी असाध्य बीमारी से पीड़ित होना, (२) नपुंसक होना, (३) अन्य अयोग्यताएँ।

वर के पागल होने को कात्यायन व नारद (५।३७) ने दोष माना है। पागलों को प्रायः सभी देशों में दीवानी अधिकारों से वंचित रखा जाता है। इंगलैण्ड में पागल के विवाह को अवैध समझा जाता है।[३] किन्तु वर्तमान समय में अदालतों ने हिन्दुओं में पागल के विवाह को अवैध नहीं माना।[४] श्री गुरुदास बैनर्जी ने अदालतों के निर्णय से बड़े पुष्ट प्रमाणों के आधार पर असहमति प्रकट की है। उनका कहना है कि विवाह

---

[२] ग्राम गीतों में वर के गुणों की जाँच करने की कुछ झांकियां मिलती हैं। एक वर ब्याह करने जाता है। बीच में नदी पड़ती है, बादल छा गये हैं, वह नदी के किनारे खड़ा होकर पुकारता है—हे ससुर जी, नाव भेज दीजिए ताकि मैं उस पर चढ़कर उस पार आ जाऊँ। ससुर ने कहा—न मेरे पास नाव है, न केवट। जो मेरी कन्या चाहता है उसे नदी तैर कर आना चाहिए। वर कहता है—मेरा अंगरखा भीग जायगा, मेरी पगड़ी भीग जायगी। हे ससुर, तुम्हारी कन्या के लिए मेरे सोलहों शृंगार भीग जायेंगे। ससुर कहता है—भीगने दो। मैं अंगरखा दूंगा, पगड़ी दूंगा। हे प्यारे, मैं शृंगार की सब सामग्री दूंगा, यदि तुम गंगा तैर कर आओगे (रामनरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी, ग्रामगीत, पृ० २०८-९)।

[३] मैरिज आफ लुनेटिक्स एक्ट (१८११) ५१ जार्ज ३य, सी ३७।

[४] देवी चरण मित्र बनाम राधाचरण मित्र २ मा ९९, मौजीलाल बनाम चन्द्रावती कुमारी (इं. ला. रि. ३८ कल. ७००)

में कन्या का दान किया जाता है। पागल व्यक्ति या जन्मजात मूर्ख व्यक्ति (Idiot) में जब बुद्धि का सर्वथा अभाव है तो उसका कन्यादान ग्रहण करना या न करना कोई अन्तर नहीं रखता, इस अवस्था में इस विवाह को विवाह नहीं माना जा सकता।[५] श्री बैनर्जी की यह युक्ति तो बिल्कुल ठीक है किन्तु इसके आगे अपने मत के समर्थन में उन्होंने मनु का एक प्रमाण[६] इस बात की पुष्टि के लिए दिया है कि हिन्दू शास्त्रकार पति के पागल होने पर पत्नी को उसकी उपेक्षा करने को कहते हैं। हम नम्रतापूर्वक यह निवेदन करना चाहते हैं कि इस प्रमाण का आशय श्री बैनर्जी महोदय के आशय से सर्वथा प्रतिकूल है। मनु ने इसमें पति के पागल होने पर भी उसे न छोड़ने का अधिकार दिया है।

हिन्दू समाज में गूंगों, बहिरों, तथा असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को भी विवाह का अधिकार है।[७] उनका विवाह अवैध नहीं समझा जाता।

नपुंसकता को नारद और कात्यायन दोनों ने वर का दोष माना है, किन्तु मनु और याज्ञवल्क्य की सम्मति ऐसी नहीं प्रतीत होती। नपुंसक व्यक्तियों के यदि अपने पुत्र नहीं होते थे तो वे नियोग से पुत्र उत्पन्न करवा सकते थे और ये पुत्र अन्य सभी प्रकार के पुत्रों की भांति पिता की सम्पत्ति का हिस्सा लेते थे। मनु (९।२०३) व याज्ञवल्क्य (२।१४१–४७) में स्पष्ट रूप से ऐसा विधान है। मनु यद्यपि नपुंसक लोगों के विवाह पसन्द नहीं करता तथापि यदि कभी उन्हें विवाह की इच्छा हो, उसी दशा में मनु उन्हें नियोग की अनुमति देता है। कलियुग में नियोग वर्जित है तो क्या नपुंसकों का विवाह भी वर्जित है? आजकल नीच जातियों में नपुंसकता के आधार पर तलाक दिया जा सकता है।[८] किन्तु उच्च जातियों में पागलपन के आधार पर अदालतें विवाह को नाजायज नहीं मानतीं।[९]

परिवेदन

प्राचीन काल में बड़े भाई के विवाह से पहले छोटे भाई के विवाह या परिवेदन को महापाप समझा जाता था। अर्जुन ने द्रौपदी के साथ विवाह करने से इन्कार किया था, क्योंकि उसके दोनों बड़े भाइयों, युधिष्ठिर और भीम के विवाह नहीं हुए थे। द्रौपदी के साथ पांचों पाण्डवों का आयु के क्रम से विवाह हुआ। विवाह होने पर इसी नियम के कारण

[५] बैनर्जी—हि. ला. मै. स्त्री., पृ० ३९।

[६] मनु ९।७९—उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥

[७] मोतीलाल बनाम चन्द्रावती ३८ कल. ७०० प्रि० कौ०।

[८] स्टील—लॉ आफ कास्ट्स, पृ० १६७

[९] पुरुषोत्तमदास बनाम बाई मोनी, इं० ला० रि० २१ बं० ६१०

पाँच पाण्डव आयु के क्रम से पाँच दिनों में द्रौपदी के पास गये (म० भा० १।१९१।८, १।१९८।१३)। इसे शास्त्रीय परिभाषा में परिवेदन कहते थे। गौ० धर्मसूत्र (१५।१८) तथा आप० धर्मसूत्र (२।५।१२-२२) बड़े भाई के विवाह से पहले अपना विवाह (परिवेदन) करने वाले छोटे भाई (परिवेत्ता) को श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं समझते। विष्णुधर्मसूत्र (३७।१५-१७) परिवेदन की गणना उपपातकों में करता है। वास्तव में परिवेदन में पाप का विचार बहुत प्राचीन है और तै० ब्रा० (३।२।८) में दी गयी एक कथा के अनुसार मनुष्यों में पापियों की एक क्रमबद्ध शृंखला है। इन पापियों में परिवित्त (अविवाहित बड़ा भाई) और परिवेत्ता (विवाहित छोटा भाई) की गणना की गयी है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१।१८) में पापियों की गणना में परिवेत्ता और परिवित्ति दोनों गिनाये गये हैं। तै० ब्रा० (३।४।४) के पुरुषमेध प्रकरण में परिवित्त, परिविविदान और दिधिषु पति का सम्बन्ध निर्ऋति, आर्ति और अराद्धि (असफलता) के साथ बताया गया है। रामा० ४।१७।३६ में राजघातक, ब्रह्मघातक, गोघातक, चोर, हिंसक, नास्तिक के साथ परिवेत्ता की गिनती करते हुए, उसे नरकगामी कहा गया है। महाभा० (१२।१६५।६८-६९, १२।३५।२७-२८) में परिवेत्ता के लिए चान्द्रायण और कृच्छ्र नामक प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। मनु (३।१७१-७२) में कहा गया है कि जो अपना बड़ा भाई रहने पर भी विवाह करता है और गार्हपत्यादि अग्नियों को प्रज्वलित करता है उसे परिवेत्ता (आप० धर्मसूत्र २।५।१२।२२ इसे परिविविदान और याज्ञ० १।२२३ परिविन्दक कहता है) कहते हैं और बड़े भाई को परिवित्ति। परिवित्ति, परिवेत्ता, ब्याही जाने वाली कन्या, कन्या का दाता तथा विवाह-संस्कार कराने वाला—ये पाँचों व्यक्ति नरकगामी होते हैं। इस महापाप से शुद्ध होने के लिए वसिष्ठ, हारीत, शंख, यम ने कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र व चान्द्रायण प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है। विज्ञानेश्वर ने याज्ञ० ३।२६५ पर इन मतों को विस्तार से उद्धृत किया है।

कुछ अवस्थाओं में सूत्रकार परिवेदन को पाप नहीं मानते और छोटे भाई को बड़े भाई से पहले विवाह की अनुमति प्रदान करते हैं। गौ० धर्मसूत्र (१८।१८।१९) कहता है कि यदि बड़ा भाई विदेश चला जाय तो छोटा भाई १२ वर्ष प्रतीक्षा करके अग्न्याधान करे तथा कन्या के साथ विवाह करे। कुछ लोगों का मत है कि वह छः वर्ष ही प्रतीक्षा करे। हरदत्त ने इस सूत्र पर वसिष्ठ का मत उद्धृत किया है कि ८, १० या १२ वर्ष प्रतीक्षा न करने वाला पापी होता है, १२ वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करना न्याय्य है। मध्यकाल के स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों ने इस नियम में कई अन्य अपवाद भी बताये हैं। अत्रिसंहिता (१०५-६) बड़े भाई के नपुंसक, विदेशस्थ, पतित, संन्यासी और योग-शास्त्र का अभ्यासी होने पर परिवेदन में कोई दोष नहीं समझती। इतना ही नहीं,

वह बड़े भाई के कुबड़े, बौने, नपुंसक, गर्हित, जड़, अन्धे, बहरे और गूंगे होने पर परिवेदन में कोई दोष नहीं देखती।[१०]

परिवेदन का कारण

बड़े भाई द्वारा पहले विवाह करने के नियम का कारण संयुक्त परिवार पद्धति थी। संयुक्त परिवार में बड़े भाई के विशेष अधिकार समझे जाते थे। उसके अविवाहित रहते हुए दूसरे भाइयों को विवाह का अधिकार देना उचित नहीं प्रतीत होता था। केरल प्रान्त के नम्बूदरी ब्राह्मणों में बड़े भाई का यह अधिकार इतना अधिक है कि विवाह करने का एकमात्र अधिकार १९३३ तक उसी को था। मध्यकाल में परिवेदन का नियम शिथिल होने लगा। संयुक्त परिवार पद्धति के विघटन के साथ-साथ इस नियम का भी भंग होने लगा। अब हिन्दू समाज में इस नियम को विवाह में कहीं भी बाधक नहीं माना जाता है। इतनी बात अवश्य है कि इस पर काफी ध्यान रखा जाता है कि बड़े भाई का विवाह पहले हो।

यूरोप में वर की अयोग्यताओं में से एक यह भी है कि विवाह के समय उसकी कोई पहली पत्नी जीवित नहीं होनी चाहिए। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने इस प्रकार की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की। आप० धर्मसूत्र (२।५।११।१२-१३) धर्म और प्रजा का उद्देश्य पूरा होने पर अन्य विवाहों का निषेध करता है और दूसरा विवाह करने पर १।१०।२८-१९ में इस पाप का प्रायश्चित्त भी बताता है। नारद (५।९५) पुत्र वाली, अनुकूल, दक्ष स्त्री को छोड़ने वाले व्यक्ति को राजा द्वारा दण्डनीय बताता है, किन्तु सामान्यतः पुरुषों को विवाह के मामले में बड़ी छूट थी और वर की पहली पत्नी होना, वर के विवाह में बाधक नहीं समझा जाता था। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने मनु० ३।१२-१३ से यह सिद्ध करना चाहा है कि एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं हो सकता, किन्तु यह बात उचित नहीं जान पड़ती। मनु (३।१२-१३) से उनका मत पुष्ट नहीं होता और मनु (९।८१) से तो स्पष्ट रूप से उनके मत का खण्डन हो जाता है।

वधू का चुनाव

हिन्दू शास्त्रकारों ने वर की अपेक्षा वधू के गुणों का और चुनाव के ढंग का अधिक वर्णन किया है। यह स्वाभाविक है क्योंकि घर का सुख, समृद्धि और शांति पत्नी पर ही

१० मेधातिथि ने मनु ३।१७१ में पहले श्लोक से मिलता-जुलता श्लोक उद्धृत किया है। गोभिल स्मृ० १।७२-७४ के इस आशय के श्लोकों को गृ० र० पृ० ६०, विवाह खण्ड (१।६८।७७) में उद्धृत किया है। स्मृत्यर्थसार पृ० १३ तथा वीरमित्रोदय ने पृ० ७६०-६६ में परिवेदन का विस्तृत वर्णन किया है। पराशर० (४।२५),

अवलम्बित है, पत्नी गृहस्थ का मूल आधार है। उसके अच्छा होने पर घर स्वर्ग हो सकता है और बुरा होने पर नरक, अत: उसके गुणों का विस्तार से प्रतिपादन आवश्यक था।

वधू के गुणों का तारतम्य

वर में जो योग्यताएँ या गुण ढूंढ़े जाते हैं, वधू में भी उन गुणों का ढूंढ़ना स्वाभाविक ही है। वधू का कुल अच्छा होना चाहिए, धन तथा रूप खूब होना चाहिए, वधू का बुद्धिशालिनी होना भी आवश्यक है। यदि वधू में ये सब गुण पाये जायें तो परम सौभाग्य की बात है। किन्तु यदि इनमें किसी गुण की न्यूनता हो तो क्या किया जाय? इनमें से कौन से गुण आवश्यक हैं और कौन से अनावश्यक? भारद्वाज गृह्यसूत्र (१।११) ने इस पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। वह कहता है—"यदि सब गुण न पाये जायें तो धन की उपेक्षा करे। धन के बाद रूप की उपेक्षा करे, किन्तु कुल और बुद्धि में किसे महत्ता दे, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ कहते हैं कुल को महत्व देना चाहिए, दूसरे बुद्धि को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं"। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।५।३) ने वधू के बुद्धि, रूप, शील लक्षण युक्त होने तथा नीरोग होने पर बल दिया है। मनु० (३।४), याज्ञ० (१।५२), सांख्या० गृ० (१।५।६) ने कन्या के उत्तम लक्षणों वाली होने पर बल दिया है। ये लक्षण वर के लक्षणों की तरह शारीरिक विशेषताओं को सूचित करते हैं, कन्या के भाग्य और आयु को बताते हैं। गृह्यसूत्रों के समय से ही इन लक्षणों की बहुत महिमा गायी गयी है। गो० गृ० सू० (२।१।३) कहता है—"स्त्री के लक्षणों को जानने वाले चतुर व्यक्ति द्वारा कन्या की परीक्षा कराये। उत्तम लक्षणों या चिन्हों वाली स्त्री को पत्नी बनाये"। मनु० (३।८-१०), वि० ध० सू० (२४।१२-१६), बा० ध० सू० (१।३८), वात्स्यायन कामसूत्र (३।१।२), बृहत्संहिता (७०।१) में इन लक्षणों की विस्तार से चर्चा है। वा० का० सू० का वर्णन अधिक संक्षिप्त एवं स्पष्ट होने के कारण पहले यहाँ उसी के आधार पर वधू के गुणों पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। कामसूत्र इनका वर्णन करते हुए कहता है—

"कन्या उत्तम कुल वाली, माता-पितायुक्त, वर से तीन वर्ष कम आयु वाली होनी चाहिए। श्लाघ्य आचार वाले, धन-धान्य परिपूर्ण, स्नेह रखने वाले तथा खूब संबंधियों वाले कुल में उत्पन्न, रूपवती, शीलवती, लक्षणयुक्त बिल्कुल पूरे (न अधिक न कम और न नष्ट हुए) दाँत, नख, कान, केश, आँखें और स्तन रखने वाली तथा स्वस्थ शरीर की कन्या का वरण करे।"

वात्स्यायन कन्या के (३।१।१२) सोलह दोषों को गिनाता हुआ कहता है कि

महाभा० (१२।३४।२७) में भी छोटे भाई को उपर्युक्त दशाओं में विवाह का अधिकार दिया गया है।

ऐसी कन्याओं के साथ सम्बन्ध न करे। ये १६ इस प्रकार हैं—(१) बुरे नाम वाली कन्या, (२) ऐसी कन्या जिसे छिपा कर रखा गया हो, (३) वाग्दत्ता, (४) भूरी या कपिला (मि० मनु० ३।८), यह पति को मारने वाली समझी जाती, (५) सफेद दागों वाली (पृषता), ऐसी कन्या के बारे में यह विचार था कि वह धन का नुकसान कराने वाली होती है, (६) मर्दानी औरत (वृषभा), (७) झुके कन्धे वाली (८) अगहन आँखों वाली, (९) बड़े मांस वाली, (१०) मृत पिता की किया करने के कारण अशुद्ध, (११) किसी दूसरे पुरुष द्वारा दूषित अथवा नाजायज सम्बन्ध वाली, (१२) रजस्वला, (१३) गर्भवती, (१४) मित्र, (१५) जिस की छोटी बहिन हो, (१६) जिसके हाथ पैरों से पसीना निकलता हो (स्वेदवती)।

कन्या के लक्षणों का तथा इन लक्षणों के फलों का विस्तृत उल्लेख ज्योतिष के ग्रन्थों में पाया जाता है। बृहत्संहिता, ज्योतिस्तत्त्व आदि ग्रन्थों में इसका बहुत विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ, जिस कन्या के हाथ में कलाई से निकली रेखा मध्यमा उंगली तक चली गयी हो वह कन्या भाग्यवती होती है, ऐसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए। स्त्री का ललाट लम्बा होने से पता लगता है कि उसके देवर का नाश होगा, उदर लम्बा होने से श्वसुर तथा नितम्ब दीर्घ होने से स्वामी का नाश होता है। ऐसी कुलक्षणा कन्या कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। प्राचीन काल में फलित ज्योतिष का विचार बहुत प्रबल था और उसी के आधार पर इन लक्षणों की कल्पना की गयी।[11]

मृत्पिण्डों द्वारा लक्षण परीक्षा—उपर्युक्त लक्षणों की परीक्षा कोई आसान बात नहीं है। गोभिल० गृह्यसू० १।२।२ में इन लक्षणों की परीक्षा कुशल व्यक्ति से कराने का आदेश दिया गया है। कुशल व्यक्ति यदि सुलभ न हो तो उस दशा में क्या किया जाय? गृह्य सूत्र संभवतः इन लक्षणों के गोरखधंधे से बचने के लिए उसके चुनाव का एक विचित्र किन्तु सुगम उपाय बताते हैं। इनके अनुसार विभिन्न स्थानों से लाये गये मिट्टी के ढेलों से वधू के भविष्य की जानकारी की जाती है। आश्व०गृ०सू० (१।५।४-६) में कहा है कि मिट्टी के आठ पिण्ड बनाये जायं। ये आठ पिण्ड विभिन्न स्थानों की मिट्टी से बनाये गये हों—पहला पिण्ड वर्ष में दो फसलें देने वाले क्षेत्र की मिट्टी से, दूसरा गोशाला से, तीसरा यज्ञवेदी से, चौथा कभी न सूखने वाले तालाब से, पाँचवाँ जुए के स्थान से, छठा चौराहे से, सातवाँ बंजर स्थान से और आठवाँ श्मशान से मिट्टी लेकर बनाये जायं। इन आठ पिण्डों पर 'ऋतमग्रे' का मन्त्र पढ़े। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'ऋत सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, ऋत में सत्य प्रतिष्ठित है। यह कुमारी जिसके लिए उत्पन्न हुई है उसे ग्रहण करे, जो सत्य है वह दिखायी दे।' इन पिण्डों पर यह मन्त्र पढ़ कर

११ नागेन्द्रनाथ वसु के हिन्दी विश्व कोश खण्ड २१, पृ० ५६२-६५ पर कन्या के ऐसे लक्षणों का विस्तृत विचार किया गया है।

वह कुमारी से कहता है कि वह उनमें से एक पिण्ड ग्रहण करे। वह जो पिण्ड चुनती है, उससे उसकी परीक्षा हो जाती है और उसके भाग्य का पता लग जाता है। यदि उसने फसलें देने वाले खेत का पिण्ड चुना है तो उसके पुत्र प्रचुर अन्न वाले होंगे। यदि उसने गोशाला का पिण्ड चुना है तो वह खूब पशुओं वाली होगी। इसी तरह वेदी के पिण्ड से उसका ब्रह्मतेज युक्त पुत्र, न सूखने वाले तालाब के पिण्ड से प्रत्येक वस्तु से युक्त होना, जुए के स्थान वाले ढेले से जुआरी, चौराहे वाले पिण्ड से स्वैरिणी, बंजर से गरीब, और श्मशान वाले से उस कन्या के पतिघाती होने का पता लगता है।

गोभिल गृह्यसूत्र (२।१।१) भी यही विधि बताता है। अन्तर केवल इतना है कि उसके मत में इन आठ पिण्डों के अतिरिक्त सब पिण्डों से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर नवाँ पिण्ड बनाना चाहिए। "ऋतमग्रे प्रथमं" के मन्त्र से वह कुमारी कोई एक पिण्ड उठावे, यदि वह पहले चार पिण्डों में से किसी को उठाती है तो उसके साथ विवाह कर ले, कुछ लोगों के मत में मिश्रित पिण्ड उठाने पर भी उसके साथ विवाह किया जा सकता था।

आप० गृ० सू० (३।१५-१८) में इस विधि का यह रूप दिया गया है कि पाँच पिण्डों को ऊपर से एक जैसा बनावे और उन के भीतर विभिन्न वस्तुएं छिपा कर रखे। पहले पिण्ड में नाना प्रकार के बीज, दूसरे में वेदी की धूल, तीसरे में खेत का ढेला, चौथे में गोबर और पाँचवें में श्मशान का ढेला छिपावे। कन्या को इन पिण्डों में से किसी को स्पर्श करने को कहे। पहले चार पिण्डों का छूना ऋद्धि का सूचक है। इसी प्रकार की वधू परीक्षा की विधियाँ वराह गृ० १०, भार० गृ० १।११, मानव गृ० १।७।९-१० में दी गयी हैं। यह एक प्रकार की लाटरी ही है।

कन्या की गुणपरीक्षा का सुगम उपाय—कन्या के गुणों की यह पहचान भी बहुत जटिल है। आप० गृ० (३।२१) इस विषय में एक बहुत सरल नियम देता है। उसके के अनुसार कुछ व्यक्तियों का मत है कि जिस कन्या में दिल और आंख लग जाय उसी कन्या से कल्याण प्राप्त होता है, उससे अन्य वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए (यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके)। भारद्वाज गृह्य० इसी नियम का और भी अधिक महत्ता देता हुआ कहता है कि जिसमें मन और आँख लग गयी है उसमें ज्ञान या पिण्ड के गुण को नहीं ढूंढ़ना चाहिए। वा० कामसूत्र ३।१।१४ में बहुत मामूली परिवर्तन के साथ आप० गृ० ३।२१ का उपर्युक्त वाक्य उद्धृत किया गया है। वास्तव में कन्या वरण करने का इससे अधिक सरल उपाय कोई दूसरा नहीं हो सकता है।

गौतम धर्मसूत्र ४।१, व० ८।१, याज्ञ० १।५२, मनु० ३।४ में वधू के अपनी जाति की होने तथा अक्षतयोनि होने पर बल दिया है। सजातीय विवाहों के प्रकरण में हम यह देख चुके हैं कि सजातीय विवाह का बन्धन कैसे प्रारम्भ हुआ और इसके अतिरिक्त शास्त्रों में कन्या का अक्षतयोनि होना भी अच्छा माना गया है। यह स्वाभाविक है कि पुरुष भुक्त-पूर्वा कन्या को पसन्द न करें। नारद (५।३६) संसृष्टमैथुना को विवाह के लिए अयोग्य

(दूषित) कन्या समझता है। किन्तु इस नियम की एकांगी कठोरता ने हिन्दू समाज को बाद में बहुत हानि पहुँचायी। यदि पुरुष के लिए यह उपयुक्त था कि वह पुनर्भू (अन्यपूर्वा) से शादी न करे तो स्त्री के लिए भी यह उचित समझा जाना चाहिए था कि उसे विवाहित पुरुष से न ब्याहा जाय। किन्तु यह नहीं हुआ। ५०-६० वर्ष के बूढ़े लोग पहली पत्नी या पत्नियों के मरने पर या उनके जीवित रहते हुए भी नयी-नयी अक्षतयोनि कन्याओं से शादी करते रहे और विधवाओं को विवाह के अधिकार से वंचित रखा गया। इस विषय का आगे (पृ० २४६-५२) विस्तार से प्रतिपादन किया जायगा।

अब वधू के ऐसे दोषों या अयोग्यताओं की चर्चा की जायगी जिनके कारण विवाह असम्भव माना जाता था या अब माना जाता है।

परिवेदन—परिवेदन का नियम भाइयों की तरह बहिनों पर भी लागू होता है। बड़ी बहिन के अविवाहित रहते हुए छोटी बहिन की शादी नहीं हो सकती। इस नियम का भंग करके शादी करने वाली छोटी बहिन **'अग्रे दिधिषू'** कहलाती है और बड़ी बहिन को **'दिधिषू'** कहते हैं (मिताक्षरा याज्ञ० ३।२६५ पर)। अग्रेदिधिषू का विवाह अत्यन्त प्राचीन काल से पाप माना जाता था। तै० ब्रा० (३।४।४) में दिधिषू-पति का सम्बन्ध अराद्धि (असफलता) से बताया गया है। तै० ब्रा० (३।२।८) व वसिष्ठ ध० सू० (१।१८) में अग्रेदिधिषू तथा दिधिषू के पति को पापियों (एनस्वियों) में गिना गया है। वसि० ध० सू० (२०।९-१०) में कहा गया है कि अग्रे दिधिषू का पति १२ दिन का कृच्छ्र प्रायश्चित करे और अतिकृच्छ्र प्रायश्चित्तों का पालन करे। दोनों एक दूसरे के दोष के निवारण के लिए अपनी पत्नियाँ दें और फिर बड़े भाई की आज्ञा पाकर छोटा भाई उससे विवाह करे। यह ध्यान रखना चाहिए कि दिधिषू-पति के लिए अधिक प्रायश्चित है, क्योंकि उसके होते हुए उसकी छोटी बहिन का विवाह हो, यह उसके लिए अधिक लज्जा की बात है। आप० ध० सू० (२।५।१२।२२) भी इसे पाप मानता है। हिन्दू समाज में इस नियम का भाइयों के नियम की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से पालन हुआ है। यह नियम न केवल हिन्दू समाज में है, अपितु अनेक प्राचीन व अर्वाचीन समाजों में पाया जाता है। बाइबल के जिनेसिस के अ० २९ से ज्ञात होता है कि यहूदियों में इस प्रथा का प्रचार था। याकूब रैचल से विवाह करने के लिए ७ वर्ष तक उसके पिता लाबान के पास नौकरी करता है। किन्तु उसके बाद विवाह में रैचल के बदले उसका पिता लाबान याकूब को रैचल की बड़ी बहिन लीह देता है। याकूब ने जब लाबान से इस धोखे का कारण पूछा तो उसने कहा (जिनी. २९।२६) कि हमारे देश में यह रिवाज नहीं है कि छोटी बहिन (अनुजा) को बड़ी बहिन (अग्रजा) से पहले ब्याह दिया जाय।[१२]

१२ आधुनिक यूनान में पुत्रों के लिए यह बहुत बुरा समझा जाता है कि कन्याओं के आयु क्रम से शादी होने से पहले उनकी शादी हो। आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड, वेल्स, स्काट-

रघुनन्दन ने उद्वाहतत्त्व में माता के नाम वाली कन्या से शादी का निषेध किया है। यदि किसी ऐसी कन्या से वाग्दान हो गया है तो उसका नाम बदल कर उससे शादी करनी चाहिए। गुरु की कन्या के साथ भी पाणिग्रहण वर्जित है। महा. (१।७७) में देवयानी ने जब कच से विवाह का प्रस्ताव किया तो कच ने उसे इस आधार पर अस्वीकार किया कि वह गुरुपुत्री होने के कारण धर्म की दृष्टि से उसके लिए पूज्य है (१।७७।७)। देवयानी के अधिक आग्रह करने पर कच कहता है—"हे शुभव्रते, तुम मुझे अनुचित कार्य के लिए कह रही हो। हे सुभ्रु, प्रसन्न होओ। तुम मेरे लिए गुरु से भी अधिक गरीयसी हो। शुक्राचार्य की जिस कोख में तुमने वास किया था उसी कोख में मैंने वास किया है। इससे धर्मानुसार तुम मेरी बहिन हुई, सो फिर ऐसी बात न कहना (१।७७।१२-१४)"। इस नियम के दो कारण प्रतीत होते हैं, पहला तो यह कि आचार्य दूसरा पिता समझा जाता था (मनु २।१७१) और पिता की कन्या से शादी करना बहिन से शादी करने के समान जघन्य था। दूसरा कारण यह था कि पुराने जमाने में विद्यार्थियों की शिक्षा गुरु के कुल में होती थी, वे उसके घर पर रहते थे और गुरु के परिवार से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। इस वातावरण में अनुचित सम्बन्धों को रोकने के लिए यह आवश्यक था कि गुरु-कन्याओं के साथ विवाह को निषिद्ध ठहराया जाय।

मनु ३।११ व याज्ञवल्क्य १।५३ वधू के भ्रातृमती होने पर बल देते हैं। उनके मतानुसार जिस कन्या का कोई भाई न हो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। ऋग्वेद (१।१२४।७) एवं अथर्व (१।१७।१) में इसके संकेत हैं तथा यास्क ने निरुक्त में (३।४-५) इसकी विस्तार से चर्चा की है। मनु ने अभ्रातृमती कन्या के निषेध का कारण उस लड़की को पुत्रिका बनाने की संभावना को माना है। पुराने जमाने में जब किसी का पुत्र नहीं होता था तो वह लड़की को पुत्रिका बनाता था और दौहित्र को अपना लड़का समझता था। अपने जामाता से वह यह शर्त करता था कि वह उसके घर में रहेगा, उसकी लड़की का लड़का (दौहित्र) अपने पिता को पिण्ड दान न देकर अपने नाना को पिण्ड दान करता था। पिता के पिण्ड दान से वंचित रह जाने के कारण अभ्रातृमती कन्या से विवाह करना बहुत बुरा समझा जाता था। किन्तु आजकल स्थिति बिल्कुल बदल गयी है। लोग ऐसी कन्या को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि उससे श्वसुर की सम्पत्ति मिलने की संभावना होती है।

मनु ने (३।५) तथा दूसरे शास्त्रकारों ने सपिण्ड, सगोत्र तथा याज्ञवल्क्य (१।५३) एवं अन्य सूत्रकारों व स्मृतिकारों ने समानप्रवर वाली कन्या से शादी का निषेध किया है। पिछले अध्यायों में इनका विस्तृत विचार हो चुका है। जिस स्त्री का एक बार विवाह

लैण्ड में पहले इस प्रथा का बहुत अधिक रिवाज था। वाण्ड कहता है कि यदि कभी छोटी बहिन की पहले शादी हो जाती थी तो बड़ी बहिनें उसकी शादी पर जूते उतार कर नाचती थी ताकि उनका दुर्भाग्य दूर हो सके वे० शा० हि० मे०, पृ० ३६-३८।

हो चुका हो उस स्त्री का दुबारा विवाह नहीं हो सकता, क्योंकि पाणिग्रहण संस्कार के मन्त्र तो केवल कन्याओं के लिए ही पढ़े जाते हैं[१३] एक बार हिन्दू कन्या किसी पुरुष की स्त्री होने पर उससे किसी प्रकार अलग नहीं हो सकती[१४] और कन्या का दान एक ही बार होता है[१५]। यह केवल प्राचीन शास्त्रों का विधान हो ऐसी बात नहीं। भारतीय दण्डविधान की धारा ४९४ के अनुसार जीवित पति वाली स्त्री का दूसरे पति से विवाह एक दण्डनीय अपराध है।

मनु ने विधवाओं को विवाह के अयोग्य ठहराया है। मनुस्मृति के पंचम अध्याय के अन्त में (१५७-१६२) यह उपदेश दिया गया है कि पति के मरने पर वह ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे, पुत्र प्राप्ति के लालच में भी मृत पति का अतिक्रमण न करे, साध्वी स्त्रियों का कोई दूसरा स्वामी नहीं हुआ करता। पराशर तथा नारद ने यद्यपि विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति दी थी, तथापि मध्यकाल में इसे निषिद्ध ही समझा जाता रहा।[१६] १८५६ में विधवा-पुनर्विवाह कानून से विधवाओं को विवाह करने की आज्ञा मिली।

मेलापक या मेलन—मध्य युग में वर-वधू की जन्मकुण्डली मिलाकर विवाह करने की परिपाटी प्रचलित हुई[१७] और आज तक प्रचलित है। इसका मूल उद्देश्य बहुत सुन्दर था। वर और वधू में जितनी अधिक बातों की अनुकूलता होगी उनका जीवन उतना अधिक सुखमय होगा। उनके स्वभाव, रुचियां, प्रवृत्तियां एक जैसी होनी चाहिए। यूरोप के कुछ आधुनिक विचारक इस बात पर बल देते हैं कि विवाह से पहले वर-वधू इकट्ठे रह कर पारस्परिक अनुकूलता को देख लें, किन्तु भारतीयों ने इसका हल ज्योतिष से ढूंढ निकाला था। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अपने जन्म के समय के

१३　मनु ८।२२६—पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
१४　मनु ९।४६—न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या प्रमुच्यते।
१५　वही ९।४७ सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
१६　दे० आगे—विधवा विवाह का प्रकरण, पृ० २३६-५२
१७　बैकमान (Backmann) ने On the Soul of Indian Woman (पृ० १८६) में यह मत प्रकट किया है कि जन्मपत्रियों का मिलाना ४०० ई० से हिन्दू समाज में प्रचलित हुआ है, इसी समय से बाल विवाह होने लगे थे। माता-पिता एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसके अनुसार उनके द्वारा किया गया शिशुओं का वैवाहिक सम्बन्ध ईश्वरीय व्यवस्था की स्वीकृति प्राप्त कर सके तथा उन्हें इस बात का विश्वास हो सके कि उनके बच्चों का दाम्पत्यजीवन सुखमय होगा। आजकल बालविवाह की प्रथा कम हो जाने पर भी माता-पिता जन्मपत्रियों के मिलाने पर बहुत बल देते हैं, क्योंकि वे इससे वर-वधू के चुनाव के भारी उत्तरदायित्व से बहुत कुछ मुक्त हो जाते हैं। वैवाहिक जीवन दुःखमय

नक्षत्रों से निश्चित होता है। अतः दो व्यक्तियों में अनुकूलता देखने के लिए जन्मकुण्डलियों का मिलाना आवश्यक हो जाता है। विवाह के समय वर और वधू की कुण्डलियाँ देख कर शुभाशुभ स्थिर करने को मेटक या मेलन कहते हैं। यह मेलन आठ भागों में बाँटा जाता है—ग्रहमैत्रीकूट, राशिकूट, वर्णकूट, वश्यकूट, ताराकूट, योनिकूट, गण मैत्रीकूट, विनाड़ी कूट। तर्कवाद के वर्तमान युग में फलित ज्योतिष तथा उसके आधार पर की गयी कल्पनाओं का अमान्य होना सर्वथा स्वाभाविक है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि ग्रहों और नक्षत्रों का हमारे शरीर और स्वभाव पर असर पड़ता है, तो भी विवाह में कई कारणों से इनके फलाफल और शुभाशुभ की शुद्धता में सन्देह करने के प्रबल कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि ६६ प्रतिशत जन्म-कुण्डलियों में जन्म के समय के ग्रहों और राशियों की गणना कल्पित होती है। ज्योतिषाचार्य कहते हैं कि जन्म के समय के ज्ञान में एक दो पल का अन्तर होने से आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है।

जन्मपत्र बनाने वाले पण्डितजी को शायद ही कभी किसी बच्चे के जन्म का ठीक समय बताया जाता हो। देहात में घण्टे नहीं लगते, घड़ियाँ नहीं होती और बच्चा पैदा होने के कई दिन बाद पण्डितजी को बताया जाता है कि अमुक दिन शाम के समय कल्लू के लड़का हुआ है। यदि पण्डितजी ने शाम के समय को कुछ अधिक बारीकी से जानना चाहा तो यह उत्तर मिलता है कि गायें घर कर आ गयी थीं। ज्योतिषी जी के लिए इतना संकेत पर्याप्त है। समय के इसी निर्भ्रान्त और अचूक ज्ञान के आधार पर ज्योतिषी जी जन्मपत्री की ऊँची इमारत उठाते हैं और इसी ज्ञानालोक के द्वारा देखी गयी लग्न और ग्रहादि की स्थिति का निश्चय करते हैं। फिर इसी पर अविचल विश्वास करके विवाह काल उपस्थित होने पर लड़के-लड़कियों के आजीवन भाग्य विधान का अनुष्ठान होता है। इससे बढ़कर क्या विडम्बना होगी? उपर्युक्त कारणों से जन्मकुण्डलियों के आधार पर वैवाहिक विचार को प्रामाणिक एवं आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए। किन्तु हिन्दू विवाहों में इनका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऊपर हमने आठ कूट गिनाये हैं। इनके आधार पर ३६ गुण नियत किये गये हैं। जिस प्रकार विश्वविद्यालयों की परीक्षा में नियत अंक लेना आवश्यक होता है और उससे कम अंकों वाला परीक्षार्थी अनुत्तीर्ण समझा जाता है, वैसा ही नियम वर और वधू के लिए भी है। उन्हें ५० प्रतिशत अर्थात् १८ गुण

होने पर वे इसे भाग्य का परिणाम समझते हैं। कैकमान ने लिखा है कि जन्मपत्रों में विश्वास रखना एक ओर तो यह सूचित करता है कि भाग्य की रेखा अटल है और दूसरी ओर इसे पहले से ही जानने तथा अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी जन्मपत्री मिलाना आवश्यक समझा जाता है तथा कई बार वैवाहिक विज्ञापनों में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जाता है।

अवश्य प्राप्त करने चाहिए और उपर्युक्त ८ कूटों में अलग-अलग ५० प्रतिशत गुण करने चाहिए। इस विषय में जिन्हें अधिक कुतूहल हो वे मुहूर्तचिन्तामणि, दीपिका, राजमार्तण्ड आदि ग्रन्थ देख सकते हैं।[१८]

वैवाहिक प्रतिबन्धों के दुष्परिणाम

हिन्दू विवाहों के उपर्युक्त प्रतिबन्धों के कारण वर और वधू के चुनाव में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लड़के तो फिर भी कुछ देर तक अविवाहित रह सकते हैं, किन्तु कन्याओं का विवाह तो लाचार होकर करना ही पड़ता है। कन्या के पिता को वर ढूँढने और उसे सन्तुष्ट रखने में जितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं उन्हें भुक्तभोगी ही जानते हैं। एक ग्रामगीत में यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि जिस के घर में क्वांरी कन्या हो भला उसे कैसे नींद आ सकती है। इन कारणों से हिन्दू घरों में कन्या के जन्म पर बहुत दुःख मनाया जाता है।[१९]

वर-वधू के चुनाव की आधुनिक प्रवृत्तियां

वर्तमान युग में वर-वधू के चुनाव में तथा इनके लिए आवश्यक गुणों के स्वरूप में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। पहला परिवर्तन वर-वधू द्वारा अपना जीवन साथी चुनने में स्वतन्त्रता की मांग करना है। पहले वर-वधू का चुनाव माता-पिता किया करते थे। बाल विवाह के प्रचलन के बाद यह सर्वथा स्वाभाविक था, माता-पिता द्वारा **निर्धारित विवाह** (Arranged marriage) हिन्दू समाज का सार्वभौम नियम था। किन्तु वर्तमान युग में शिक्षा के प्रसार से विवाह की आयु ऊंची उठने पर समानता और स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत हिन्दू युवक-युवतियाँ इस बात की मांग करने लगे हैं कि विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयों के निर्धारण में उनकी सम्मति और सहमति ली जानी चाहिए। इस विषय में हिन्दू समाज में होने वाला परिवर्तन एक हिन्दू नारी के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होगा- "जब हमारा विवाह हुआ था तो मेरी आयु १० वर्ष की तथा पति की आयु १६ वर्ष की थी, मेरे माता-पिता ने विवाह से पूर्व मेरे पति को तथा उन के माता-पिता ने मुझे देखा था, किन्तु हम दोनों ने विवाह संस्कार से पहले एक दूसरे को नहीं देखा था। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में एक नयी प्रथा का श्रीगणेश हुआ है, इसे लड़की देखना कहा जाता है। जब मेरी लड़की की शादी हुई तो उस समय यह प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। उसने तथा उसके भावी पति ने

---

१८ इस विषय के संक्षिप्त वर्णन देखिए हिन्दी विश्वकोश (कलकत्ता) खण्ड १६, योटक शब्द, पृ० ७४६-५२।

१९ इसके विशद वर्णन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० १६७-२०७।

एक दूसरे को देखा, किन्तु उन्हें एक दूसरे से बात करने की अनुमति नहीं दी गयी थी। किन्तु जब मेरी पोती का विवाह हुआ तो लड़के-लड़की ने आपस में बातचीत की और विवाह से पहले उन्हें घर से बाहर घूमने जाने की अनुमति भी दी गयी थी। यद्यपि उनका यह विवाह माता-पिता ने तय किया था[२०]।" माता-पिता द्वारा विवाह तय करने में न केवल युवकों को उनके परिपक्व अनुभव का पूरा लाभ मिलता है, अपितु वे अपने साथी का चुनाव करने में होने वाली परेशानियों और संझटों से बच जाते हैं। यह तथ्य बम्बई में स्वतन्त्र रूप से आजीविका कमाने वाले तथा अनुसंधान कार्य करने वाले एक नवयुवक के निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगा—"यद्यपि मैं पी० एच० डी० प्राप्त करने के बाद फौरन विवाह करना चाहता हूँ, किन्तु मैंने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है कि मैं किस प्रकार की लड़की से विवाह करूँगा। इस विषय में मैं अपने पिताजी पर भरोसा रख रहा हूँ की वे मुझे एक लड़की ढूंढ देंगे और मुझे इस विषय में कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ेगी। मेरे माता-पिता ने मुझे कुछ इस विषय में चुनाव करने का अन्तिम अधिकार दिया है, शायद वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मैं उनकी इच्छाओं के प्रतिकूल कार्य नहीं करूँगा।"[२१]

रास द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण में वर-वधू के चुनाव के विषय में अविवाहित (unmarried), हाल में विवाहित (young married) तथा चिरकाल से विवाहित (older married) स्त्री-पुरुषों से यह पूछा गया था कि वे अपने जीवन-साथी के चुनाव के बारे में पूरी स्वतंत्रता (complete choice) चाहते हैं, कुछ स्वतंत्रता चाहते हैं या कोई स्वतंत्रता नहीं (no choice) चाहते। इस विषय में नर-नारियों के उत्तर निम्न-लिखित तालिका में प्रदर्शित किये गये हैं।[२२]

नारियाँ	चुनाव में पूरी स्वतन्त्रता	कुछ स्वतंत्रता	स्वतंत्रता का न होना	सर्वयोग
अविवाहित	७	५	५	१६
कुछ समय पहले विवाहित	३	५	५	२१
चिरकाल से विवाहित	२	१०	१०	२२
स्त्रियों की कुल संख्या	१२	२०	२०	६२

[२०] एलीन रास—दी हिन्दू फैमिली इन इट्स अर्बन सैटिंग, पृ० २५२
[२१] एलीन रास—पू० पु०, पृ० २५२
[२२] एलीन रास—पू० पु०, पृ० २५८

पुरुष	चुनाव में पूरी स्वतंत्रता	कुछ स्वतंत्रता	स्वतंत्रता का न होना	सर्वयोग
अविवाहित	१८	२१	३	४२
कुछ समय से विवाहित	६	८	१०	२०
चिरकाल से विवाहित	—	७	४	११
पुरुषों की कुल संख्या	२०	३६	१७	७३
सर्वयोग	३२	६६	३७	१३५

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि चिरकाल से विवाहित स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा अविवाहित नर-नारियों में यह इच्छा निश्चित रूप से अधिक मात्रा में है कि उन्हें वैवाहिक साथी चुनने में स्वतंत्रता होनी चाहिए। ४२ पुरुषों में केवल तीन ही पत्नी का चुनाव माता-पिता पर छोड़ना चाहते थे। अविवाहित स्त्रियों में १४ पूरी या आंशिक स्वतंत्रता चाहती थी और पाँच अब भी अपने पति के चुनाव का भार माता-पिता के कन्धों पर ही डालना चाहती थीं। इस तालिका की व्याख्या करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि अविवाहित स्त्री-पुरुष वैवाहिक साथी के चुनाव में पूरी स्वतन्त्रता चाहते हैं, तथापि यह संभव है कि उन्हें यह स्वतन्त्रता न मिले। अब भी नर-नारियों की ऐसी संख्या पर्याप्त है जो चुनाव का भार माता-पिता पर डालना चाहती है। कुछ पुरुषों ने माता-पिता द्वारा निर्धारित विवाहों का समर्थन इस आधार पर किया है कि ये विवाह कई शताब्दियों से चले आ रहे हैं, ये सुखमय होते हैं, विवाह का निर्णय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसमें माता-पिता का परामर्श और पथप्रदर्शन अत्यावश्यक है।

आधुनिक हिन्दू युवक और युवतियाँ अपने वैवाहिक साथी में जिन गुणों को आवश्यक समझते हैं, उन पर नवीन सर्वेक्षणों से बड़ा मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। पहले वर-वधू के गुण माता-पिता द्वारा देखे जाते थे, अब बड़ी आयु में विवाह होने के कारण युवक-युवती इन पर विचार करने लगे हैं। रास द्वारा किये गये सर्वेक्षण के आधार पर अविवाहित तथा विवाहित नर-नारियों ने अपने साथी में जिन गुणों को आवश्यक समझा है, उनको प्राथमिकता एवं महत्ता के क्रम से निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया गया है।

वर-वधू के अभीष्ट गुण

	नर		नारी	
गुण	अविवाहित	कुछ समय पूर्व विवाहित	अविवाहित	कुछ समय पूर्व विवाहित
चरित्र	४१	३	१७	११
समानता	३४	७	१२	३
उत्तम शिक्षा	२८	१	६	२
घर का कार्य	२१	७	—	—
रूप	१६	२	१	—
सामाजिकता	१३	—	४	—
वैयक्तिक संबंध	१०	—	१२	५
सर्वयोग	१६३	२०	५५	२१

उपर्युक्त तालिका में दिये गये गुणों का स्वरूप इस प्रकार था—स्त्रियों के लिए चरित्र का अभिप्राय सती, साध्वी, शुद्ध, पवित्र और नैतिक होना तथा पतियों के लिए इसका अर्थ उदारता, सच्चाई, ईमानदारी तथा विश्वसनीयता के गुण थे। नर-नारियों ने समानरूप से चरित्र-सम्बन्धी इन गुणों को अपने वैवाहिक साथी के चुनाव में पहला स्थान दिया था, इससे यह स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे में विश्वास, भरोसे और सच्चाई को रूप, धन आदि अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। दूसरा गुण समानता का है। यह हिन्दू-विवाह में पति-पत्नी के सम्बन्ध में एक नूतन प्रवृत्ति को सूचित करता है।[२३] अब तक भारतीय नारी को सीता जैसे आदर्शों का अनुसरण करते हुए पति की सेवा करने के लिए कहा जाता रहा है। पति-पत्नी में स्वामी-सेवक का सम्बन्ध माना जाता रहा है, किन्तु अब उनमें समानता की भावना को अभीष्ट समझा जाने लगा है। अविवाहित स्त्री-पुरुषों ने उपर्युक्त सर्वेक्षण में यह भावना बड़ी प्रबलता से प्रकट की है, सात अविवाहित पुरुषों ने स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि वे अपनी पत्नियों पर शासन नहीं करना चाहते, चार स्त्रियों ने कहा कि वे पति को अपना स्वामी (Boss) बनाना पसन्द नहीं करती हैं। तेरह पुरुषों तथा चार स्त्रियों ने पति-पत्नी में सखा भाव (Companionship) का तथा सात पुरुषों ने मित्रता (Friendship) का सम्बन्ध बनाने का समर्थन किया। इसके बाद शिक्षा को महत्त्व दिया गया। २८ पुरुषों ने सुशिक्षित स्त्रियों की माँग की, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के कारण

२३ एलीन रास—पू० पु०, पृ० २५८-९

पत्नियों के लिए भी शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसके बाद पुरुषों ने स्त्रियों के लिए घरेलू कार्यों में दक्षता को तथा सुगृहिणी होने को अधिक महत्त्व दिया।

एक पुराने संस्कृत श्लोक[२४] के अनुसार कन्या विवाह में रूप को विशेष महत्त्व देती है। किन्तु इस सर्वेक्षण की स्त्रियों ने पुरुषों में रूप के गुण को कोई महत्त्व नहीं दिया। १८ पुरुषों ने सामान्य रूप से सुन्दर पत्नी की माँग की, किन्तु इसके साथ ही इस ने यह भी कहा कि पत्नी अत्यधिक सुन्दर नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अति सुन्दरता बड़ी खतरनाक होती है। यह हमें 'भार्या रूपवती शत्रुः' की पुरानी कहावत का स्मरण कराती है। भारत में यद्यपि पति उजले रंग को अधिक पसन्द करते हैं, किन्तु पुरुषों में केवल एक व्यक्ति ने पत्नी के श्वेत रंग पर बल दिया। स्त्रियों ने सामान्य रूप से पुरुषों के रूप के गुण को विशेष महत्त्व नहीं दिया। वैयक्तिक सम्बन्ध का आशय एक दूसरे के प्रति प्रेमपूर्ण, सहानुभूति रखने वाला तथा एक दूसरे का सहयोग तथा सहायता करने वाला व्यवहार है। इसे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने अधिक महत्त्व दिया। धन-सम्पत्ति को केवल एक विवाहित स्त्री ने तथा एक अविवाहित पुरुष ने महत्त्व दिया। सात पुरुषों का यह कहना था कि पत्नी के चुनाव में धन उनके लिए कोई महत्ता नहीं रखता। कुछ युवकों ने यह भी आशंका प्रकट की कि धनी घर की स्त्री में अपनी सम्पत्ति का अभिमान होगा, वह अपने को पति से ऊँचा समझेगी, नये परिवार में उसका निभाव कठिन होगा, अतः धनी घर की लड़की से विवाह करना ठीक नहीं है।[२५]

२४ कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥
मि० यमस्मृति, कुलं च शीलं च सनाथतां च विद्यां च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त विचिन्त्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥

२५ एलीन रास—पू० पु०, पृ० २५६

अध्याय ६

विवाह के प्राचीन तथा नवीन रूप

हिन्दू विवाह के रूपों की विभिन्नता

हिन्दुओं में अत्यन्त प्राचीन काल से विवाह के अनेक रूप या भेद प्रचलित रहे हैं। हिन्दू समाज में बहुसंख्यक जातियों, सम्प्रदायों, मतों और संस्कृतियों का समन्वय हुआ है,[1] अतः उसमें वैविध्य सर्वथा स्वाभाविक है। यदि ये भेद न होते और एक ही प्रकार का विवाह प्रचलित होता तो निःसन्देह यह एक बड़े आश्चर्य की बात होती।

शास्त्रकारों ने विवाहों के इन भेदों को स्वीकार किया है और इनका विस्तृत वर्णन किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।६) के समय से सूत्रकार एवं स्मृतिकार इनका नियमित रूप से उल्लेख करते रहे हैं। गौतम (४।६-१३), बौधायन धर्मसूत्र (१।११), कौटिल्य (३।२), मनु (३।२१-४०), महाभारत (१।७३।८-६, १३।४४-४५), विष्णु धर्मसूत्र (२४।१८-१९), याज्ञ० (१।५८), नारद (स्त्रीपुंस, ३८-३९) में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच नामक आठ प्रकार के विवाहों का लक्षण एवं स्वरूप बताया गया है।[2] इन ग्रन्थों में इन विवाहों का एक निश्चित क्रम नहीं पाया जाता। ऊपर मनुस्मृति के प्रसिद्ध क्रम का अनुसरण किया गया है। आश्व० गृ० सू० (१।६) के अनुसार उपर्युक्त क्रम की ३ री और ४ थी संख्या में अन्तर है, वहाँ पहले प्राजापत्य का और बाद में आर्ष का उल्लेख है। इसी तरह अन्तिम दो में पैशाच को राक्षस से पहले माना गया है। आपस्तम्ब ध० सू० (२।५।११।

[1] इनके संक्षिप्त वर्णन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—भारत का सांस्कृतिक इतिहास दूसरा अध्याय पृ० १४-२१।

[2] सुप्रसिद्ध पोलिश विद्वान् लुडविक स्टर्नबैक (जुरिडिकल स्टडीज इन ऐंशेण्ट इंडियन ला, भाग १, पृ० ३४७) ने इन आठ प्रकारों के वस्तुतः कानूनी दृष्टि से ११ प्रकार या भेद माने हैं। उसका यह मत है कि शेष तीन प्रकार ये हैं—गान्धर्व विवाह का राक्षस विवाह के साथ संयुक्त होने वाला प्रकार, गान्धर्व विवाह का राक्षस विवाह के साथ संयुक्त न होने वाला प्रकार तथा स्वयंवर नामक प्रकार। आगे यथास्थान इनका वर्णन किया जायगा।

१३-२०, २।५।१२।१-२) तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र में यह संख्या छः ही है। आपस्तम्ब पैशाच और प्राजापत्य को भी छोड़ देता है और वसिष्ठ ध० सू० अन्तिम दो को मानुष नाम से तथा प्राजापत्य को क्षात्र के नाम से कहता है। महाभारत का अनुशासन पर्व (४४।४०) ब्राह्म, क्षात्र, गान्धर्व, आसुर और राक्षस—ये पाँच भेद ही मानता है। मानव-गृह्यसूत्र के मत में विवाह के केवल दो भेद हैं—ब्राह्म और शौल्क। किन्तु अधिकांश लेखकों ने विवाह के उपर्युक्त आठ भेद माने हैं और मनु ने निम्नलिखित रूप में इनके लक्षण किये हैं।

विवाह के आठ भेद

(१) **ब्राह्म**—जब कन्या का पिता वेदों के विद्वान् एवं आचारवान् वर को स्वयं बुलाकर अपनी कन्या को वस्त्रों तथा भूषणों से अलंकृत करके उसे दान करता है तो उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं (३।२७)।

(२) **दैव**—ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के विस्तृत या दीर्घकाल व्यापी होने पर यथाविधि यज्ञ का कार्य करने वाले ऋत्विक् के लिए आभूषणों से सुसज्जित कन्या के दान को दैव विवाह कहते हैं (३।२८)।

(३) **आर्ष**— यज्ञादि के धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए वर से गौ-बैल की एक जोड़ी या दो जोड़ी लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करना आर्ष विवाह कहलाता है (३।२९)।

(४) **प्राजापत्य**—'तुम दोनों एक साथ मिलकर धर्म का आचरण करो' इस प्रकार जब आदेश दे करके तथा वर की पूजा करके कन्या का दान किया जाता है, उसे प्राजापत्य कहते हैं (३।३०)।

(५) **आसुर**—कन्या के पिता आदि को तथा सम्बन्धियों को कन्या के बदले में यथाशक्ति धन देने पर जो कोई इच्छापूर्वक कन्या का ग्रहण करता है, उसे आसुर विवाह कहते हैं (३।३१)।

(६) **गान्धर्व**—कन्या और वर का अपनी इच्छा से एक दूसरे के साथ जो संयोग होता है वह गान्धर्व विवाह कहलाता है (३।३२)।

(७) **राक्षस**—जब कन्यापक्ष के लोगों का हनन करके, कन्या के घर की रक्षा करने वाली दीवार आदि का भेदन करके, रोती हुई और चिल्लाती हुई कन्या को जबर्दस्ती घर से भगा लिया जाय तो उसे राक्षस विवाह कहते हैं (३।३३)।

(८) **पैशाच**—सोती हुई, नशे में बेहोश या उन्मत्त कन्या को एकान्त में जब वर मैथुनपूर्वक ग्रहण करता है तो सब विवाहों में अधम इस विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं (३।३४)।

विवाहों की श्रेष्ठता का तारतम्य

इन आठ विवाहों में धर्मशास्त्रों ने पहले चार को श्रेष्ठ व अन्तिम चार को निन्दित बताया है (मनु ३।२४)। पहले चार में भी श्रेष्ठता का तारतम्य, है। इनमें ब्राह्म विवाह सबसे अधिक श्रेष्ठ है और प्राजापत्य की श्रेष्ठता सबसे कम है।[३] ब्राह्मण के लिए पहले चार प्रकार के विवाह वैध माने जाते हैं।[४] किन्तु क्षत्रियों के लिए गान्धर्व, आसुर और राक्षस विवाह भी वैध समझे जाते हैं। वैश्यों और शूद्रों के लिए आसुर, गान्धर्व और पैशाच विवाह वैध माने जाते हैं[५] (मनु ३।२३)। बौ० ध० (१।११।१८) वैश्यों व शूद्रों में इन विवाहों को वैध ठहराने के लिए दो विचित्र कारण देता है। पहला तो यह कि स्त्रियों की कोई मर्यादा नहीं होती और दूसरा यह कि दोनों खेती और सेवा का निकृष्ट कार्य करते हैं[६]। मनु (३।२५) व महाभारत (४४।६–१०) ने पैशाच और आसुर विवाह की खूब निन्दा की है।

इन विवाहों की सन्तानों के विषय में भी शास्त्रकारों ने कुछ रोचक बातें कही हैं। आप० (२।५।१२।४) स्पष्ट रूप से यह कहता है कि जैसा विवाह होता है, सन्तान उसके अनुरूप होती है।[७] यदि ब्राह्म आदि विधियों के अनुसार विवाह हुआ तो सन्तान अच्छी होगी और राक्षस व पैशाच विवाहों में सन्तान बहुत खराब होगी। मनु ने (३।३६–४२) आपस्तम्ब के उपर्युक्त सूत्र का लगभग भाष्य करते हुए यह बताया है कि ब्राह्मादि चार विवाहों द्वारा क्रमशः ज्ञानी और तेजस्वी, रूपवान्, गुणी, धनी और १०० वर्ष की आयु तक जीने वाले पुत्र पैदा होते हैं। आसुर आदि विवाहों द्वारा क्रूर, झूठे, वेद व धर्म से द्वेष करने वाले पुत्रों की उत्पत्ति होती है। धर्मशास्त्रों को इतने से ही सन्तोष नहीं है। वे इस बात का भी विस्तार से प्रतिपादन करते हैं कि विभिन्न विवाहों द्वारा उत्पन्न सन्तानों से कितनी अगली और पिछली पीढ़ियों के पापों का मोचन हो जाता

३ बौ० ध० सू० १।११।१०—तेष्वपि पूर्वः श्रेयान्। आप० ध० सू० २।५।१२।३—तेषां त्रय आद्याः प्रशस्ताः पूर्वः पूर्वः श्रेयान्। यहाँ तीन विवाहों का ही उल्लेख किया गया है, क्योंकि वह प्राजापत्य विवाह का उल्लेख नहीं करता। गौ० ध० सू० १४।१२, चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः।

४ किन्तु मनु ने ३।२३ में ब्राह्मणों के लिए छः विवाह धर्म्य माने हैं और पिछले चार क्षत्रिय के लिए अच्छे समझे हैं।

५ बौ० ध० सू० १।११।१२ 'अत्रापि षष्ठसप्तमौ क्षात्रधर्मानुगतौ तत्प्रत्ययत्वात् क्षत्रस्येति।' वही १।११।१६ 'गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्।' मनु ३।२६ 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥'

६ बौ० ध० सू० १।११।१४-१५, अनियन्त्रितकलत्रा हि वैश्यशूद्रा भवन्ति।

७ आ० ध० सू० २।५।१२।४ यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवति।

है। मनु के मत में (३।३७–३८) ब्राह्म विवाहों द्वारा उत्पन्न पुत्र पूर्वजों की १० और वंशजों की १० तथा अपनी एक—इस प्रकार कुल २१ पीढ़ियों को निष्पाप बनाता है। दैव विवाह से उत्पन्न सन्तान १४ पीढ़ियों को, प्राजापत्य विवाह की सन्तति १३ पीढ़ियों को और आर्ष विवाह से पैदा हुई सन्तान सात अगली तथा पिछली पीढ़ियों को पाप मुक्त करती है।[८] धर्मशास्त्रकार पहले चार प्रकार के विवाहों को अच्छा समझते थे और उनकी प्रशंसा करने के लिए ही उन्होंने ऐसे वचन लिखे हैं। विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका करता हुआ लिखता है कि ये सब बातें ब्राह्मादि विवाहों की प्रशंसा के लिए हैं (स्तुतिमात्रमेतत्)।

विवाहों का नामकरण

न केवल उत्तम सन्तान को पाने तथा कई पीढ़ियों को पाप मुक्त करने के लिये पहले चार विवाहों की प्रशंसा कई श्लोकों द्वारा की गयी है, अपितु उनके नाम भी बहुत अच्छे रखे गये हैं। ब्राह्मणों, देवों और ऋषियों के स्वभावानुकूल विवाहों को ब्राह्म, दैव और आर्ष कहा गया है। निकृष्ट समझे जाने वाले विवाहों को राक्षस, आसुर, पैशाच नाम दिये गये हैं। कुल्लूक भट्ट ने मनु ३।२१ की टीका में लिखा है—ब्राह्म, राक्षस आदि नाम शास्त्र के व्यवहार तथा स्तुति और निन्दा प्रदर्शित करने के लिए हैं। अनेक विद्वानों ने यह कल्पना की है कि आसुर, राक्षस आदि जातियों में प्रचलित होने से इन विवाहों को राक्षस, आसुर आदि नाम दिये गये हैं। बम्बई हाईकोर्ट के जज श्री बैस्ट ने विजयनगरम् बनाम लक्ष्मण के मुकदमे में यह लिखा था—"हिन्दू शास्त्रों द्वारा स्वीकृत विवाह के विभिन्न रूप ऐतिहासिक दृष्टि से उन विभिन्न समुदायों और जातियों के आधार पर थे, जो समुदाय बाद में एक हिन्दू जाति के रूप में परिणत हो गये। आसुर नाम यह सूचित करता है कि यह इस देश के मूल निवासियों या आर्यों के आक्रमण से पहले यहाँ बसने वाले व्यक्तियों में प्रचलित था।[९] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य असीरिया के रहने वालों को असुर बताते हैं और यह कहते हैं कि उनमें यह रिवाज था कि वर कन्या के पिता को कुछ शुल्क देकर कन्या के साथ शादी करता था, अतः ऐसे विवाह को आसुर विवाह कहते थे। आगे प्रत्येक विवाह के प्रकरण में, उसके नाम पर विशेष रूप से विचार किया जायगा, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि आधुनिक विद्वानों की कल्पना की अपेक्षा कुल्लूक की यह व्याख्या अधिक सच्ची प्रतीत होती है कि ये नाम विवाहों की निन्दा या प्रशंसा को सूचित करने के लिए रखे गये हैं।

८ मनु (३।३७।३८), मि० याज्ञवल्क्य १।५८-६०। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।६)
९ विजयनगरम् बनाम लक्ष्मण ८ ब० २४४।

आठ प्रकार के विवाहों का क्रमिक विकास

इन विवाहों में एक स्वाभाविक क्रमिक विकास दिखायी देता है। मानव गृ० सू० (१।७।८) दो ही प्रकार के विवाह मानता है—ब्राह्म और शौल्क। ब्राह्म विवाहों में कन्या को अलंकृत करके दान किया जाता था और शौल्क में कन्या के पिता को कन्या का शुल्क या दाम देना पड़ता था। वसिष्ठ (१।३५) शौल्क विवाह को मानुष का नाम देता है। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि यह विवाह उस समय साधारण जनता में बहुत प्रचलित था, किन्तु क्षत्रिय न तो ब्राह्मणों की भाँति कन्या को दान में लेना पसन्द करते थे और न ही वे उसे खरीदना चाहते थे। वे उसका अपहरण करना अधिक पसन्द करते थे। युद्ध में प्रायः उन्हें इस प्रकार के अवसर मिलते थे, अतः उनमें राक्षस या क्षात्र विवाह की परिपाटी प्रचलित थी। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों जातियों में ब्राह्म, राक्षस (क्षात्र) और आसुर (मानुष) विवाह बहुत पहले से प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त प्रणय विवाहों को (Love marriages) गान्धर्व विवाह कहा गया है। यह विवाह संभवतः गन्धर्व नामक जाति में प्रचलित होने से ऐसा कहलाया। श्री जायसवाल आदि विद्वानों की कल्पना है कि गान्धर्व विवाह के नाम के आधार पर बाद में अन्य विवाहों को जातिपरक नाम दिये गये।[१०] ब्राह्म विवाह के बाद आर्ष, दैव और प्राजापत्य नामक अवान्तर भेद उत्पन्न हुए और इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों में आठ विवाहों का विकास हुआ।[११]

विवाहों का वर्गीकरण

आठ प्रकार के विवाहों के लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखने से यह विदित होगा कि इनको चार वर्गों या श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) वे विवाह जिनमें कन्या

१० जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य

११ स्टर्नबैक (Sternback) ने लिखा है कि यद्यपि प्रमाणों के अभाव में भारतीय विवाह पद्धति के विकास के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है, फिर भी समाजशास्त्रीय साहित्य के अनुसार विवाह की संस्था के विकास को देखते हुए आठ प्रकार के विवाहों के विकास के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इनमें सबसे प्राचीनतम रूप राक्षस और पैशाच विवाह का है, इनसे आसुर विवाह (Marriage by purchase) तथा आर्ष विवाह (Marriage by Sham purchase) का विकास हुआ, इसमें माता-पिता द्वारा कन्या से बिना पूछे उसके विवाह करने की व्यवस्था (ब्राह्म विवाह, दैवविवाह, प्राजापत्य विवाह) विकसित हुई, अन्त में वर-वधू की अपनी स्वतन्त्र सहमति से होने वाले विवाह (गान्धर्व विवाह) तथा स्वयंवर का विकास हुआ (ज्यूरिडिकल स्टडीज़, पृ० ४२२-२३)।

का दान मुख्यवस्तु है। इस वर्ग में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य नामक चार प्रकार आते हैं। (२) कुछ विवाहों में वधू के लिए कुछ धन या शुल्क देना पड़ता था (आसुर विवाह)। (३) जब वर और वधू अपनी इच्छा से प्रेमपूर्वक विवाह करें (गान्धर्व विवाह)। (४) जब कन्या का हरण किया जाय, उस समय हरण के प्रकार-भेद से—राक्षस और पैशाच दो प्रकार के विवाह होते हैं।

भारतीय विवाहों के इन भेदों को समझने के लिए, इन विवाहों को विलोम क्रम से देखना अधिक सुविधाजनक है। कुछ समाजशास्त्रियों ने यह कल्पना की है कि पहले कन्याओं का अपहरण करके लाने या राक्षस विवाह की पद्धति प्रचलित थी, इसमें बहुत खूनखराबी होती थी। इससे बचने के लिए कन्या को खरीद कर लाया जाने लगा और अन्त में वर्तमान प्रथा शुरू हुई। यह कल्पना मनोरंजक अवश्य है, किन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि सत्य नहीं है। विषय की स्पष्टता और सरलता के लिए, यहाँ शास्त्रों के क्रम से सर्वथा विपरीत क्रम में इन विवाहों के भेदों का वर्णन किया जायगा अर्थात् पहले राक्षस और पैशाच का, फिर गान्धर्व का और अन्त में ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य और दैव का।

राक्षस व पैशाच विवाह

राक्षस एवं पैशाच नामक दोनों प्रकारों में कन्या का अपहरण किया जाता था। स्मृतिकारों ने इन विवाहों की घोर निन्दा की है। मनु ने पैशाच को अधम विवाह कहा है। इन विवाहों के नाम भी इस बात को सूचित करते हैं कि शास्त्रकार इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। राक्षस और पिशाच दोनों ऐसी जातियों के नाम हैं जो प्राचीनकाल में घृणा तथा निन्दा की दृष्टि से देखी जाती थी। कहा जाता है कि इन जातियों में इन विवाहों का विशेष प्रचार था, अतएव इन्हें ऐसा नाम दिया गया था। ये राक्षस और पिशाच हिन्दुस्तान की मूल जातियों में से थे। ये जातियाँ लंका तक फैली हुई थीं। रावण राक्षसों का राजा था। उसने रोती हुई सीता का पंचवटी से बलपूर्वक अपहरण किया था।

किन्तु हमें यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती। इस कल्पना के ठीक न होने का मुख्य कारण यह है कि प्राचीन भारत में इस प्रकार के विवाह क्षत्रियों में विशेष रूप से प्रचलित थे। महाभारत के समय अत्यन्त मान्य तथा पूजनीय समझे जाने वाले महापुरुष भीष्मपितामह तथा श्री कृष्ण ने कन्याओं का अपहरण या राक्षस विवाह किया था। श्रीकृष्ण ने तो स्पष्ट रूप से कहा है—"अतएव शूरवीर क्षत्रियों के लिए स्त्रियों को बलात्कार हर ले जाना उत्तम मार्ग है" (महाभा० १।१२१।२१–२३)। अतएव कई स्थानों पर इसे क्षात्र अर्थात् क्षत्रियों के लिए उचित विवाह कहा गया है। वसि० ध० सू० (१।३८।३४) और महाभा० (१३।४७।१०) में इसी शब्द का प्रयोग है। यह नहीं कहा जा सकता कि राक्षसों में प्रचलित होने से इस विवाह का यह नाम पड़ा।

राक्षस नाम का असली कारण यह है कि स्मृतिकार इसे नापसन्द करते थे। उन्होंने इसकी बहुत निन्दा की है। वे इस विवाह को समाज में बन्द करना चाहते थे, अतः उन्होंने इसे राक्षस और पैशाच के बुरे नाम प्रदान किये हैं। अंग्रेजी में कहा जाता है कि कुत्ते को बुरा नाम दे दो और फांसी पर लटका दो (Give dog a bad name and hang it)। राक्षस और पैशाच विवाहों के सम्बन्ध में संभवतः स्मृतिकारों ने यही किया। पहले इस विषय में कुल्लूक का कथन उद्धृत किया जा चुका है।

उपर्युक्त कल्पना के आधार पर यह शंका उठायी जा सकती है कि यदि धर्मशास्त्र-कर्त्ताओं को ये विवाह नापसन्द थे तो उन्होंने इनका वर्णन क्यों किया? इनका वर्णन करने से तो उन्हें वैधता प्राप्त हो गयी। श्री मैकनाटन ने इस विषय पर आश्चर्य प्रकट किया है कि इन विवाहों को वैध मानकर हिन्दूशास्त्रों ने विवाह में धोखे को जायज माना है। वस्तुतः स्मृतिकार इन्हें नापसन्द करते हैं, इनकी घोर निन्दा करते हैं। यदि इन विवाहों का उन्होंने उल्लेख किया है तो वह इनको निन्दित एवं निकृष्ट बताने के लिए ही किया है। दूसरा कारण यह है कि महाभारत के समय से समाज में अक्षतयोनि एवं अनुपभुक्त कन्याओं का विवाह प्रशस्त समझा जाने लगा। उस समय राक्षस विवाह या कन्या-अपहरण की पद्धति भी प्रचलित थी। यदि शास्त्रकार इन विवाहों का उल्लेख न करते तो उन कन्याओं के साथ घोर अन्याय होता। वे कन्याएं एक बार भगा लिये जाने पर विवाह के अयोग्य समझी जाती। उस अवस्था में इन कन्याओं को जबरदस्ती आजीवन विधवा रहना पड़ता। ऐसी अभागी कन्याओं की रक्षा आवश्यक थी। मनु और याज्ञवल्क्य ने ऐसी कन्याओं की रक्षा के लिए विस्तृत नियम बनाये। मनु (८।३३६–३६६) तथा याज्ञवल्क्य (२।२८७–८८) से यह स्पष्ट है कि कन्या का हरण करने वालों को कन्या के साथ होम और सप्तपदी द्वारा विवाह कर लेना चाहिए, यदि कोई ऐसा नहीं करता है तो वह दण्डनीय होता है। किन्तु इस अवस्था में कन्या की क्या स्थिति होगी—यह बात मनु ने स्पष्ट नहीं की, किन्तु वसिष्ठ (१७।७२) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि कन्या का अपहरण बलपूर्वक हुआ हो और मंत्रों से उसका संस्कार न हुआ हो तो वह कन्या विधिपूर्वक दूसरे को देनी चाहिए,[१२] उसे कन्या अर्थात् अविवाहित ही समझना चाहिए। बौ० ध० सू० (४।१।१७) ने भी यही व्यवस्था की है। इन कन्याओं की रक्षा के लिए स्मृतिकारों को लाचारी में ये दोनों विवाह मानने पड़े। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि आपस्तम्ब और वसिष्ठ धर्मसूत्र ने पैशाच विवाहों का उल्लेख नहीं किया। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि वे ऐसे विवाहों को पसन्द नहीं करते थे, किन्तु दूसरा कारण यह हो सकता है कि उनके समय में समाज में इन विवाहों की प्रथा उठ चुकी थी।

[१२] वसिष्ठ धर्मसूत्र १७-७२, बौधा धर्मसूत्र ४।१।१७

राक्षस और पैशाच विवाहों के लक्षणों और क्रम में धर्मग्रन्थों में कुछ मतभेद दिखाई देता है। आश्व० गृ० सू० (१।६।७) पैशाच विवाह को राक्षस से पहले स्थान देता है और उसे राक्षस से अधिक उत्कृष्ट समझता है। इसका कारण यह है कि वह पैशाच का लक्षण मनु से सर्वथा भिन्न करता है। उसके मत में पैशाच का अर्थ चोरी से वधू का अपहरण है और जब यह चोरी से संभव नहीं होता तो वर शक्ति द्वारा कन्या का अपहरण करता है, अतः पैशाच विवाह राक्षस की अपेक्षा अधिक उत्तम है। कामसूत्र भी आश्वलायन के मत की पुष्टि करता है। वात्स्यायन कामसूत्र (३।५।२४) पैशाच का वर्णन करता हुआ लिखता है कि 'अष्टमी चन्द्रिका' आदि के दिन नायिका की दासी या सौतेली बहिन उसे मादक शराब आदि पिलाकर नायक के पास सुरक्षित एकान्त स्थान में किसी बहाने से ले आये और उसी अवस्था में नायक या वर उसे दूषित करके ब्राह्मण के घर से आग लाकर विवाह संस्कार करे। यदि यह भी संभव न हो तो अन्त में वात्स्यायन राक्षस विवाह की अनुमति देता है। जब कन्या दूसरे ग्राम या उद्यान को जा रही हो, तो उस समय नायक अपने मित्रों के साथ कन्या के रक्षकों पर हमला करे, उन्हें डरा कर भगा दे या मार दे और कन्या का अपहरण करे। राक्षस और पैशाच में चाहे लक्षणों में अन्तर हो, किन्तु इन दोनों में कन्या का हरण मुख्यवस्तु थी। किन्तु राक्षस विवाह में कन्या का अपहरण बलपूर्वक किया जाता था और पैशाच में प्रायः यह कार्य उसे धोखा देकर होता था।[१३]

१३ पैशाच विवाह के धोखे या छल पर आधारित होने का स्पष्ट वर्णन याज्ञ० १।६१ (मि० संख ४।६) में है। मिताक्षराकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कन्या जब सोयी हुई हो, उस समय उसे धोखे से अपहरण करके ले जाना पैशाच विवाह है। अन्य धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में दिये गये विवरण से यह स्पष्ट है कि कन्या के धोखे या छल से अपहरण में निम्नलिखित परिस्थितियाँ होती थीं—(क) कन्या सो रही होती थी। (ख) कन्या मद्यपान या अन्य किसी प्रकार के नशे से बेहोश या अचेत होती थी। इस दशा में कन्या की इच्छा के विरुद्ध उससे मैथुन सम्बन्ध करके उसका अपहरण किया जाता था। पैशाच में छल का तथा राक्षस में बल का तत्त्व महत्त्वपूर्ण होता था।

पैशाच विवाह भी राक्षस विवाह के समान निन्दित, अप्रशस्त, अधर्म्य समझा जाता था। मेन (ट्रीटाइज आन हिन्दू ला) ने इसकी तुलना औरंगउतान नामक वनमानुष में सहसा पैदा होने वाली पाशविक कामोत्तेजना के साथ की है। शास्त्रकारों ने इसे जघन्य बताते हुए ब्राह्मणों के लिए इसे सर्वथा वर्जित ठहराया है (मनु, ३।२५, महाभारत १३।४४), किन्तु क्षत्रिय, वैश्यों और शूद्रों को ऐसे विवाह की अनुमति दी है (मनु ३।२३, बौधायन धर्मसूत्र १।११।२०।१३)। मनु

राक्षस विवाह के प्राचीन उदाहरण

प्राचीन भारत में राक्षस विवाहों के सबसे अधिक उदाहरण महाभारत में उपलब्ध होते हैं। भीष्मपितामह जैसे महापुरुषों ने कन्याओं का अपहरण किया था। महाभारतकार ने कन्या अपहरण के कार्य को भीष्म के वीरतापूर्ण कार्यों में गिना है (६।१३।६, १२, ४६, १३)। भीष्म की मृत्यु पर गंगा अपने पुत्र के इस कार्य का विशेष रूप से उल्लेख करती है। महाभारत में व्यास ने दो बार भीष्म द्वारा काशीराज की कन्याओं के अपहरण का विस्तृत वर्णन किया है (१।१०२, ५।१७३)। पहला वर्णन बहुत रोचक एवं प्रभावजनक है। विचित्रवीर्य के युवा होने पर भीष्म कन्याओं के स्वयंवर की चर्चा सुनकर काशी गये। स्वयंवर में जब कन्याओं ने उस वृद्ध को देखा तो वे वहां से चली गयीं और राजाओं ने वृद्ध, सफेद बालों से युक्त, निर्लज्ज बनकर यहां आने वाले भीष्म की यह कह कर खिल्ली उड़ायी कि भीष्म ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु उसके ब्रह्मचारी होने की बात सर्वथा मिथ्या है। भीष्म ने इस पर कुपित होकर सारे राजाओं को चुनौती देते हुए उन तीनों कन्याओं को हर लिया, अपने रथ पर बिठाया और राजाओं से कहा कि "आठ प्रकार के विवाहों में क्षत्रिय स्वयंवर की प्रशंसा करते हैं, किन्तु धर्मवादी यह कहते हैं कि क्षत्रियों का मर्दन करके लायी हुई कन्या श्रेष्ठ होती है। मैं इनको बलपूर्वक हरण करके यहां से ले जाना चाहता हूँ। तुम अपनी शक्ति से विजय या पराजय के लिए प्रयत्न करो" (महाभा० १।१०२।१६३)। राजाओं के साथ भीष्म का घोर युद्ध हुआ, राजा परास्त हुए। शाल्वराज ने भीष्म का मार्ग रोकना चाहा, किन्तु वह भी अपने उद्देश्य में विफल हुआ। भीष्म ने तीनों कन्यायें विचित्रवीर्य को सौंप दीं। इस प्रकरण में भीष्म का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है कि धर्मवादी इस प्रकार लायी हुई कन्या को उत्तम समझते हैं। दूसरे वर्णन (५।१७३) में भीष्म यह कहते हैं कि ये कन्याएँ वीर्यशुल्का (शक्ति द्वारा प्राप्त होने वाली) थीं, अतः वह उन्हें हर लाया।

दूसरा उदाहरण अर्जुन का है। अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया और कृष्ण ने इस कार्य में उसकी पूरी सहायता की। अर्जुन को द्रौपदी के पास असमय में जाने का प्रायश्चित्त करने के लिए, १२ वर्ष का वनवास भोगना पड़ा था। इसी यात्रा में वह द्वारका में कृष्ण के पास जाता है। रैवतक पर्वत के उत्सव में वह सहेलियों से अलंकृत सुभद्रा को देखकर मुग्ध हो जाता है। कृष्ण ने उसका मजाक उड़ाते हुए कहा—"क्या वनवासी का मन भी कामभाव से क्षुब्ध होता है"। अर्जुन ने कृष्ण के आगे अपना सारा मनोभाव खोलकर कहा और सुभद्रा की प्राप्ति का उपाय पूछा। कृष्ण ने उसे यह सलाह दी कि

(३।४२) इस विवाह की सन्तान की निन्दा करता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रकार पैशाच विवाहों को आठ प्रकार के विवाहों में अन्तिम स्थान देते हैं इसे निकृष्टतम या अधम विवाह मानते हैं।

"क्षत्रियों में स्वयंवर के विवाह का तो नियम है लेकिन यह संशयास्पद है, क्योंकि (स्त्रियों के) स्वभाव का कोई कारण (या ठिकाना) नहीं है कि वे किसे पसन्द करें। क्षत्रियों के लिए बलपूर्वक हरण ही उत्तम उपाय है, धर्मवेत्ता विद्वान् इसे शूरवीरों के विवाह का हेतु मानते हैं"। (महा० आ० १।१२१।२१–२३)। कृष्ण के इस परामर्श पर अर्जुन उत्तम रथ पर चढ़ा और देवों की पूजा करके लौटती हुई सुभद्रा को रथ पर बैठा कर उसे अपने साथ भगा ले गया। वृष्णि बहुत क्रुद्ध थे। उन्होंने अपनी सभा बुलाई। इस सभा में कृष्ण ने वृष्णियों का क्रोध शान्त करते हुए कहा—"अर्जुन ने जो कार्य किया है, उससे हमारा अपमान नहीं हुआ, वास्तव में इसमें सन्देह नहीं कि उससे हमारा सम्मान हुआ है। अर्जुन जानता है कि सात्वत धन के लोभी नहीं हैं, अतः उसने धन देकर विवाह की चेष्टा नहीं की, स्वयंवर में शंका रहती है; अतः उसने उसका भी प्रयत्न नहीं किया। पशु की भांति कन्या का दान ग्रहण करना किसी क्षत्रिय को अच्छा नहीं लगता और कन्या बेचने में भी कोई पुरुष सहमत नहीं है। मेरी यह सम्मति है कि अर्जुन ने इन दोषों को देखा है, अतः अर्जुन ने धर्मपूर्वक बलात्कार कन्या का अपहरण किया है" (महाभा० १।१२३।३–८)। कृष्ण के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे क्षत्रियों के लिए राक्षस विवाह को ही श्रेष्ठ समझते हैं।

दुर्योधन कर्ण के साथ कलिंगराज की कन्या के स्वयंवर में गया (शान्तिपर्व ४ था अध्याय)। स्वयंवर में राजकन्या जब दुर्योधन को छोड़कर आगे बढ़ी तो दुर्योधन से यह अपमान नहीं सहा गया। उसने कन्या को अपने रथ पर बिठा कर वहाँ से प्रस्थान किया। दुर्योधन पर राजाओं ने आक्रमण किया। किन्तु कर्ण ने उन सब आक्रमणों का मुकाबला किया और राजाओं को युद्ध में हरा दिया। स्त्रियों को सफलतापूर्वक भगा कर लाना क्षत्रियों की विशेषता समझी जाती थी और इस कारण उनकी प्रशंसा होती थी। द्रोणपर्व (१०।१०।३३) में सात्यकि की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उसने सौवीरराज की महान् सेना को मर्दन करके सर्वांग सुन्दरी भोजा को प्राप्त किया था। इसी अध्याय में वार्धक्षेमि की यह प्रशंसा की गयी है कि उसके काशियों की कन्या का अपहरण किया था।

उपर्युक्त अपहरणों के सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। अपहरण अधिक-तर अविवाहित कन्या का ही होता था। सुभद्रा, अम्बा, अम्बालिका, अम्बिका आदि कुमारियाँ ही थीं। यदि इनमें से, कोई अपने मन में किसी पति का वरण कर ले तो उसे बहुधा अपने पति के पास जाने दिया जाता था। अम्बा मन से शाल्वराज का वरण कर चुकी थी, अतः भीष्म ने उसे शाल्वराज के पास जाने की अनुमति दे दी। किन्तु कुछ अवस्थाओं में कई व्यक्ति अपने पराक्रम से प्राप्त कन्या को इस प्रकार दूसरे के पास जाने देना पसन्द नहीं करते थे। शान्तिपर्व (अ० ८६) में कहा गया है कि हरण करके लायी हुई कन्या से एक वर्ष तक कोई पूछताछ न की जाय, शायद वह अवधि बीत जाने पर,

उसके साथ जबरदस्ती विवाह किया जाता था। यह अपहरण कई बार विवाहित कन्याओं का भी होता था। जयद्रथ ने द्रौपदी के हरण का प्रयत्न किया था। धौम्य ने जयद्रथ को यह कहा है कि "पाण्डवों को जीते बिना तुम इसे नहीं ले जा सकते। पुरातनकाल से क्षत्रियों का जो धर्म चला आता है, उसकी ओर ध्यान दो"। धौम्य के इस वचन से यह ध्वनित होता है कि शत्रु को जीतने पर विजेता को उसकी विवाहिता स्त्री को हरण करने का अधिकार होता होगा।[१४]

महाभारत ने स्त्रियों के अपहरण की पर्याप्त निन्दा की है। महाभा० (१२।३५।२५) ने कहा है दूसरे की स्त्री को चुराने वाला एक वर्ष का व्रत रखकर इस पाप से मुक्त होता है। शिशुपाल के अपराधों में एक यह भी गिनाया गया है कि उसने एक स्त्री का अपहरण किया था। चोरों से यह आशा की जाती थी कि वे स्त्री का अपहरण या स्त्री-गमन का पापकर्म नहीं करेंगे। (१२।१३३।२७)। शान्तिपर्व के १३५ वें अध्याय में मर्यादा का पालन करने वाले एक डाकू की कथा है। उस डाकू ने अपने साथियों को पहला उपदेश यह दिया है (१२।१३५।१२ म०) कि तुम तपस्वी, स्त्री, भीत और बालक का वध मत करना, लड़ाई न करने वाले को मत मारना और स्त्रियों को बल-पूर्वक न पकड़ना।

धीरे-धीरे राक्षस विवाह की प्रथा बुरी समझी जाने लगी। स्मृतिकारों ने इसकी निन्दा की और यह प्रथा समाज से उठने लगी। मध्यकाल में इसके एक दो उदाहरण ही दिखाई देते हैं। अमोघवर्ष के ७६३ शक संवत् के संजान ताम्रपत्रों में यह तथ्य उत्कीर्ण है कि इन्द्रराज ने खेड़ा के चालुक्यवंशी राजा की कन्या के साथ राक्षस विवाह किया (एपि० इं०, खण्ड १८, पृ० २४३)। पृथ्वीराज चौहान ने जयचन्द्र की कन्या का अपहरण किया था। चन्द्रबरदाई की इस घटना में ऐतिहासिकों को पूरा सन्देह है, किन्तु जिस समय पृथ्वीराज रासो लिखा गया, चाहे वह १२ वीं शती हो या १४ वीं शती—राजपूत राजाओं में उस प्रथा को बुरा नहीं समझा जाता था। श्रीकृष्ण की तरह शायद वे भी क्षत्रियों के लिए इस प्रकार के विवाह को श्रेष्ठ समझते थे, क्योंकि ऐसे विवाहों में क्षत्रियों को अपना शौर्य दिखाने का अवसर प्राप्त होता था, अतः उनके लिए ये विवाह स्वाभाविक माने जाते थे।

१४ विजेता विजितों की पत्नियां प्रायः सभी देशों में ग्रहण करते हैं। मूसा ने डिट्रानमी (२१।१०-११) में यह व्यवस्था की है कि तू विजित की पत्नी को ग्रहण कर सकता है। जहालत के जमाने में अरबों में शत्रु की पत्नी लेना बहुत अच्छी बात समझी जाती थी। प्राचीन ट्यूटन जाति में भी यह पद्धति प्रचलित थी।

राक्षस विवाह की कानूनी विशेषता

इसके सम्बन्ध में विभिन्न धर्मशास्त्रों में दिये गये वर्णनों से इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—(१) यह बलपूर्वक अपहरण एवं युद्ध द्वारा किया जाता था। कुछ धर्मशास्त्र इस प्रकार के युद्ध में लड़की के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को मारने (मनु० ३।३३, याज्ञ० १।६, ८ महाभारत १३।४४) का वर्णन करते हैं। वधू का यह अपहरण आलंकारिक या प्रतीकात्मक (symbolical) न होकर वास्तविक होता था, क्योंकि इस समय लड़की अपहरण किये जाने पर खूब चिल्लाती और रोती थी। (२) इस विवाह में कन्या के माता-पिता कोई भाग नहीं लेते थे, इसमें कन्या को किसी प्रकार का दहेज नहीं दिया जाता था, इसके लिए कन्या के माता-पिता किसी प्रकार का कोई शुल्क नहीं लेते थे। इसमें कन्या अपहरण या डकैती द्वारा पाशविक शक्ति के प्रयोग से वर को प्राप्त होती थी। (३) धर्मशास्त्रकार इस प्रकार के विवाह को निन्दित (मनु ३।४२), अप्रशस्त और अधर्म्य (मनु ३।२३, २५, २६) मानते थे। (४) धर्मशास्त्रों के समय में यह एक पुरानी प्रथा का अवशेष या स्मृतिमात्र रह गया था और वे बलपूर्वक अपहरण द्वारा प्राप्त कन्या के विवाह को वैध बनाने के लिए इसका विवाह संस्कार करना आवश्यक समझते थे। वसिष्ठ (१७।७३) के मतानुसार यदि किसी कन्या का अपहरण करने के बाद वैदिक मन्त्रों के साथ उसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण नहीं किया जाता, तो वह अविवाहित कन्या ही समझी जाती थी और किसी दूसरे व्यक्ति के साथ उसका विवाह हो सकता था। (५) राक्षस विवाह ब्राह्मणों के लिए वर्जित था (मनु ३।२५, नारद १२।४४)। यह राजाओं के लिए (महाभारत आदि-पर्व अ० ७३) तथा क्षत्रियों के लिए ही उचित माना जाता था (बौधायन धर्मसूत्र १।११।२०।१२, मनु ३।२४, २६)। (६) इस विवाह से उत्पन्न सन्तान निन्दित समझी जाती थी (मनु ३।४२)। (७) अधिकांश स्मृतियों में इसे आठ प्रकारों में सातवाँ स्थान दिया गया है, केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र इसे पैशाच विवाह के बाद आठवाँ स्थान देता है।

अन्य जातियों में राक्षस विवाह के उदाहरण

कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करने की प्रथा भारत से बाहर संसार के अन्य बहुत से देशों की जातियों में पायी जाती है। दक्षिण अमेरिका के इण्डियन कन्या अपहरण के उद्देश्य से ही युद्ध करते हैं। ब्राजील के अनेक कबीलों में स्त्रियाँ दूसरे कबीलों से पकड़ कर लायी जाती हैं। कैलिफोर्निया के तट वासी लुइसैनो (Luiseno) इण्डियनों में विवाह का एक यह ढंग प्रचलित है कि वर अपने कुछ मित्रों के साथ जिस स्त्री को ब्याहना चाहता है, उसे बलपूर्वक पकड़ कर ले आता है। उ० पू० एशिया में रहने वाली चकची जाति के युवक युवती को पकड़ कर, उसके हाथ-पैर बाँधकर, उस व्यक्ति के

घर ले जाते हैं जो उसे ब्याहना चाहता है। कालमुक लोगों की प्रथा वात्स्यायन के पैशाच विवाह का स्मरण कराती है। कई बार जब वर कन्या को चुराकर लाता है तो कन्या के माता-पिता उसके विवाह के लिए तैयार नहीं होते, किन्तु यदि वह कन्या वर के झोंपड़े में एक बार सो लेती है तो उसके माता-पिता को बाध्य होकर उससे शादी करनी पड़ती है। मलाया और आस्ट्रेलिया में ऐसे हमलावर तैयार किये जाते हैं जो शत्रुओं का संहार कर उनकी स्त्रियों को पकड़ कर ले आयें। अरबों और यहूदियों द्वारा युद्ध में कन्यायें या स्त्रियाँ पकड़ लाने का पहले उल्लेख हो चुका है। प्राचीन आर्य जातियों में भी यह प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी। डायोनिसियस यह बताता है कि किसी समय यूनान में यह प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी। सकेलेरियोस कहता है कि यह प्रथा यूनान में आज तक पायी जाती है। ट्यूटन लोगों में यद्यपि इसे दण्डनीय अपराध बना दिया गया था तो भी यह चलती रही। स्कैंडेनेवियन और स्लाव लोगों में भी इसका प्रचलन था।[१५]

राक्षस विवाह के प्रचलन के कारण

राक्षस विवाह के प्रचलित होने के कई कारण हैं—(१) स्त्री जब सामान्य उपाय से न प्राप्त हो सके तो उसका बलपूर्वक हरण किया जाता है। किसी समाज में स्त्री के प्राप्त न होने का कारण यह भी हो सकता है कि स्त्रियों की संख्या कम हो अथवा स्त्री और उसके माता-पिता वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिए उद्यत न हों। ब्राजील की तथा आस्ट्रेलिया की विभिन्न जातियों में राक्षस विवाह इसी उद्देश्य से प्रचलित है।

(२) बहुत सी जातियों में कन्याएँ धन देकर खरीदी जाती हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि भारत में इसी प्रकार की आसुर विवाह की पद्धति प्रचलित थी और वर को कन्या पाने के लिए शुल्क देना पड़ता था। जब वीर युवक इस शुल्क को देने में असमर्थ होते थे तो वे कन्या का अपहरण किया करते थे। रूस की समोयद (Samoyed), वुतियाक (Votyak) और ओस्तियाक (Ostyak) आदि जातियों में जो युवक कन्या का शुल्क नहीं दे सकते थे, वे कन्या का अपहरण करते थे।

(३) वीर पुरुष अपहरण द्वारा प्राप्त की हुई कन्या को श्रेष्ठ समझते हैं। कहते हैं, शेर दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता; क्षत्रियों को दूसरे की दी हुई कन्या पसन्द नहीं आती। श्रीकृष्ण ने तो स्पष्ट रूप में कन्यादान को पशुओं के विक्रय जैसा एक व्यापार कहा है, क्षत्रिय दान नहीं लेता है। उसके लिए दान के लिए अपना हाथ पसारना आत्मप्रतिष्ठा एवं आत्मसम्मान की हत्या करना है। अतः भीष्म और कृष्ण

१५ वेस्टरमार्क—शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज, पृ० ११०-११३; स्टर्नबैक—ज्यूरिडिकल स्टडीज इन एंशेण्ट इंडियन ला, पृ० ३६३-८।

ने राक्षस विवाह को क्षत्रियों के लिए पत्नी प्राप्त करने का श्रेष्ठतम साधन कहा है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने यह कल्पना की है कि प्राचीन काल में मानव समाज में राक्षस विवाह की पद्धति सार्वभौम थी।[१५] इस कल्पना की पुष्टि में, कुछ ऐसी प्रथाओं का उल्लेख किया जाता है जो प्राचीन राक्षस विवाहों का अवशेष कहे जाते हैं। कुछ स्थानों पर वधू के घर पर नकली हमले किये जाते हैं और कृत्रिम युद्ध (Mockfight) होते हैं। बरमा में बरात को रोकने के लिए रास्ते में रस्सी लगा दी जाती है। यूरोप में बरात के रास्ते में रुकावटें डाल दिये जाते हैं, वर की गाड़ी के आगे रस्सा बांध दिया जाता है और कुछ धन देने पर ही मार्ग की यह बाधा हटायी जाती है। वेल्स में विवाह से अगले दिन जब वर वधू को मांगता है तो उसे साफ इन्कार कर दिया जाता है। इसके बाद वह वधू को जबरदस्ती अपने घोड़े पर बिठा कर भागता है, वधू के घर वाले उसका पीछा करते हैं और बड़े संघर्ष के बाद उसे वधू को ले जाने की अनुमति मिलती है।

कुछ जातियों में यह प्रथा अवश्य मानी जा सकती है, किन्तु इन अवशेषों के आधार पर इस प्रथा को सार्वभौम कहना ठीक नहीं है। अनेक अवस्थाओं में इन अवशेषों (Survivals) की कई अन्य प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है। विवाह की प्रत्येक प्रथा के बारे में यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि वह किसी वास्तविक घटना को सूचित करती है। वैस्टरमार्क ने इसका एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण दिया है। बहुत सी जातियों में पति-पत्नी को राजा-रानी कहा जाता है। क्या इस प्रथा से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि प्राचीनकाल में केवल राजा और रानी का ही विवाह होता था और यह प्रथा उस काल का अवशेष है? उक्त लेखक के मत में कृत्रिम युद्ध (Mock-fights) वास्तव में कन्या के सम्बन्धियों की कन्यादान की अनिच्छा को सूचित करते हैं।

१५ पिछली शताब्दी के अधिकांश समाजशास्त्री मैकलीनान (Mclennan), सर जान लब्बक (John Lubbock) तथा स्पेन्सर इसी मत के थे। इनका यह विचार था कि स्त्रियां आरम्भ में समूचे परिवार, कुटुम्ब या कबीले की सम्पत्ति होती थीं, इन पर किसी व्यक्ति का निजी या विशेष अधिकार तभी स्वीकार किया जाता था, जब वह किसी अन्य कबीले या जाति की स्त्री को बलपूर्वक छीनकर अपने घर में ले आता था। मैकलीनान का यह मत था कि इस प्रकार राक्षस विवाह के प्रादुर्भाव का कारण कन्यावध की दूषित प्रथा थी, इससे अपने समाज में स्त्रियों की कमी होने के कारण पुरुषों को अन्य जातियों से स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण करना पड़ता था। लब्बक इस कल्पना को दोषपूर्ण मानते हुए यह कहता है कि राक्षस विवाह का प्रचलन इसलिए हुआ कि किसी स्त्री पर अपना वैयक्तिक स्वामित्व स्थापित करने का एकमात्र उपाय स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण करना था (स्टर्नबेक—क्यूरियिकल स्टडीज, पृ० ३६२)।

उन्हें इसमें संकोच होता है कि उनकी कन्या किसी दूसरे पुरुष द्वारा उपभुक्त हो। कन्या स्वयमेव इस विषय में बहुत संकोच करती है। म्यूलर ने स्पार्टा की कन्याओं के बारे में लिखा था कि वे अपने कौमार्य एवं विशुद्धता का तब तक परित्याग नहीं करती थीं, जब तक पुरुष उन्हें अपनी शक्ति से बाधित नहीं कर देता था। कई स्थानों पर वधू के सम्बन्धी अपनी कन्या का कौमार्यहरण बरदाश्त ही नहीं कर सकते। सीब के अरबों में यह रिवाज है कि जब वर वधू को लेने जाता है तो वे उस पर हमला करते हैं। वे उसके आगमन को अपनी जाति का अपमान समझते हैं (वै० मा० हि० मै० पृ० १२४)। स्त्रियों में कौमार्यभंग के भय के कारण संकोच या अनिच्छा हो, यह बात नहीं। कई बार पुरुषों में भी यह संकोच पाया जाता है। आसाम की गारो जाति में वधू पक्ष के लोग वर के पास इस उद्देश्य से जाते हैं कि वे उसे विवाह के लिए पकड़ कर ले आवें। वर यह सुनकर जंगल में भाग जाता है। वे उसकी तलाश करते हैं, उसे तरह-तरह के प्रलोभन देकर ब्याह के लिए तैयार करते हैं और जब वह नहीं मानता तो उसे एक तालाब में धकेल देते हैं और पानी में उसे तब तक गोते खिलाते रहते हैं जब तक वह विवाह के लिए तैयार न हो जाय। इस तरह के सब रिवाज वास्तव में कन्या पक्ष वालों की अनिच्छा को ही सूचित करते हैं, न कि राक्षस विवाह की व्यापकता को।

एक लेखक (सम्प्रबंध पृ० १०५—८) ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि हिन्दुओं में पहले यह प्रथा प्रचलित थी और उसके बाद दूसरे विवाह प्रचलित हुए। अपने पक्ष के समर्थन में उसने जो युक्तियाँ दी हैं, यहाँ इनका प्रतिपादन करते हुए, इनकी आलोचना की जायगी।

(१) विवाह-वाचक सभी शब्द राक्षस विवाह की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। राक्षस विवाह में कन्या का अपहरण किया जाता है और विवाह का अर्थ भी वधू को ढोकर ले जाना है (वह प्रापणे)। वधू और नवोढ़ा शब्द भी 'वह' धातु से बनते हैं और उनके अर्थ ले जायी (ढोई) जाने वाली स्त्री है। परिणय भी 'णीञ् प्रापणे' से बना है और इसका अर्थ वधू को ले जाना (पहुँचाना) है।

किन्तु इस युक्ति से अपहरण की व्यापकता को नहीं सिद्ध किया जा सकता। कन्या तो प्रत्येक विवाह के बाद पति के घर में जाती है, चाहे वह राक्षस विवाह हो या दैव। पति का घर उसका स्वाभाविक निवास स्थान है, वह वहीं जायगी। परिणय और विवाह शब्द इसी भाव को सूचित करते हैं कि कन्या पिता के घर से पति के घर की ओर जाती है। इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि यह अपहरण करके ही लायी जाती रही है।

(२) विवाह प्रथा के कुछ अवशेष इस बात को पुष्ट करते हैं। विवाह में सिन्दूर दान की प्रथा है। सिन्दूर लाल होता है। यह इस बात को सूचित करता है कि प्राचीन जमाने में कन्या के अपहरण में बहुत खूनखराबी होती थी। यह उसी काल का

एक अवशेष है। जब लड़ाइयाँ बन्द हो गईं तो इस प्रथा के स्मृति चिह्न के तौर पर वधू की माँग में सिन्दूर भरा जाने लगा।

वास्तव में सिन्दूर-दान की प्रथा अनार्य है—सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न ही सिन्दूर भरने की विधि का कोई मन्त्र है। सामवेदीय पट्टस्थापन में सिन्दूर को स्पर्श करते जो मंत्र पढ़ा जाता है वह यह है—"ओ३म् सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तम् उक्षिणम्"—इत्यादि। यजुर्वेदीय पट्टस्थापन में "ओ३म् सिन्धोरिव प्राध्वने" का मन्त्र और विवाह में "सिन्धोरुच्छ्वासे" पढ़ा जाता है। इन तीनों में प्रथम और तृतीय मंत्र (ऋग्वेद ७।८६।४३) में पाया जाता है, यहाँ सिन्धु नदी के उच्छ्वास का प्रसंग है। केवल शब्द साम्य मात्र से यह सिन्दूर के मन्त्र के रूप में व्यवहृत हुआ है। द्वितीय मन्त्र ऋग्वेद का ४।५८।७ वाँ मंत्र है। इसके साथ भी सिन्दूर का सम्बन्ध नहीं है।[१७] ऐसी अवैदिक और अनार्य सिन्दूर-दान की पद्धति के आधार पर प्राचीन आर्यों में राक्षस विवाह की प्रथा सिद्ध करना बालू की नींव पर विशाल प्रासाद खड़ा करना है।

(३) कहा जाता है कि बरात के समय अधिक से अधिक मनुष्य ले जाने की परिपाटी भी राक्षस विवाह की प्राचीनता को सिद्ध करती है। उस समय कन्या का अपहरण करते हुए युद्ध अनिवार्य होता था। उस युद्ध में जितने अधिक साथी हों, विजय की आशा उतनी ही अधिक होती थी, अतः बड़ी-बड़ी बरातें ले जाने का रिवाज चला।

यह युक्ति भी उपर्युक्त युक्तियों की तरह सारहीन है। प्राचीन काल में अपहरण के जो उदाहरण मिलते हैं उनमें बरात का वर्णन नहीं है और जहाँ बरात का वर्णन है वहाँ अपहरण की गन्ध तक नहीं है। भीष्म ने एकाकी काशीराज की कन्याओं का अपहरण किया था। सुभद्रा को भी अर्जुन ने अकेले ही हरा था। बरात का रिवाज भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से है। अथर्ववेद में बरात का बहुत सुन्दर वर्णन है, किन्तु उसमें राक्षस विवाह का कोई संकेत नहीं।[१८]

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल में राक्षस विवाह ही प्रचलित था। क्षत्रियों में उसका अवश्य प्रचलन था, किन्तु वह धीरे-धीरे कम होता गया। आजकल भारत में कुछ जंगली जातियों में इस प्रथा का जीवित रूप दिखायी देता है। उड़ीसा राज्य

१७ श्री क्षितिमोहन सेन—भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० ७७

१८ डाक्टर जाली के प्रसिद्ध जर्मन ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवादकर्ता श्री बटकृष्ण घोष ने एक टिप्पणी (पृ० १०६) में लिखा है कि दक्षिण में विवाह के बाद गले में ताली बाँधे जाने का रिवाज यह सूचित करता है कि पहले कन्याओं का अपहरण किया जाता था। दक्षिण की ताली उस युग का एक स्मारक अवशेष है। ताली की यह बड़ी उपहासास्पद व्याख्या है। यदि यह सच माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि चूड़ियाँ स्त्रियों की हथकड़ियाँ हैं और पाजेब बेड़ियाँ।

की भइया जाति में यह प्रथा है कि यदि कोई युवक किसी युवती से प्रेम करता है, किन्तु वह कन्या या उसके माता-पिता विवाह के लिए तैयार नहीं होते, तो वह युवक अपने साथियों का एक जत्था तैयार करता है और मौका मिलने पर उस कन्या का अपहरण करता है। उसके साथी अपहरण में उसकी सहायता करते हैं। इससे कई बार बड़ा रक्तपात और भीषण युद्ध हो जाता है। बंगाल की कुछ जातियों में मण्डी में हो रहे नाच में से कुछ व्यक्ति किसी कन्या को पकड़ लाते हैं और बाद में कन्या का शुल्क तय होता है। चटगांव में जिनके पास थोड़ी स्त्रियां होती हैं वे अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित होकर बाहर निकलते हैं और कमजोर कबीलों में से कन्याओं को बलपूर्वक छीन कर ले जाते हैं।[१९] राजपूतों में तथा कमारों, ओरावों, भील, कुनबी, गोंड और कोदो जाति में कुछ ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं जिनमें राक्षस विवाह के तत्त्व मिलते हैं।[२०] किन्तु इन प्रथाओं के बारे में बहुत सन्देह है। उदाहरणार्थ, पंजाब में कई जगह यह रिवाज है कि दूल्हा कृपाण से जण्ड के पेड़ की एक डाल काटता है, वन्दन-वार को भी काट गिराता है और मिट्टी के प्याले फोड़ता है। इन प्रथाओं के बारे में यह कहा जाता है कि ये राक्षस विवाह का अवशेष हैं। किन्तु यह क्यों न माना जाय कि ये वर की वीरता को प्रदर्शित करती हैं। वर्तमान काल में राक्षस विवाह के जो निश्चित उदाहरण हैं, वे बंगाल और आसाम की मूल जातियों में ही पाये जाते हैं।

स्वयंवर विवाह

स्वयंवर विवाह राक्षस विवाह का विलोम था। राक्षस विवाह में पति को चुनाव करने का अधिकार था, किन्तु स्वयंवर में कन्या स्वयं अपने पति को चुनती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयंवर पद्धति कई अवस्थाओं में से होकर गुजरी है। प्राचीनकाल में उसका बहुत रिवाज था। धीरे-धीरे उस रिवाज को मर्यादित एवं सीमित किया जाने लगा। द्रौपदी और सीता के स्वयंवर सच्चे अर्थों में स्वयंवर नहीं थे। स्त्री को वर चुनने की पूरी स्वाधीनता देना संभवतः उचित नहीं समझा जाता था। धर्मशास्त्रों ने स्वयंवर विवाह का उल्लेख ही नहीं किया। वे गान्धर्व विवाह का उल्लेख करके ही चुप हो गये हैं और उसका उल्लेख भी उन्होंने अपनी नापसन्दगी जाहिर करते हुए किया है। यह स्पष्ट है कि वे ऐसे विवाहों को अच्छा नहीं समझते, राक्षस आदि विवाहों को अच्छा न समझते हुए भी उन्होंने इन विवाहों का उल्लेख किया है, किन्तु स्वयंवर का उन्होंने स्पष्ट रूप

१९ बं० शा० हि० मै०, पृ० १११-१२

२० डा० हि० ला० क०, पृ० १०६ की तीसरी टिप्पणी में इन सब जातियों के नाम विस्तार से दिये गये हैं।

में उल्लेख नहीं किया।[२१] बाण ने कादम्बरी (पृ० ४७८) में पत्रलेखा से यह कहलवाया है कि यदि ऐसी बात न हो (अर्थात् कन्याएँ पतियों का वरण न करती हों) तो धर्मशास्त्रों द्वारा उपदिष्ट स्वयंवर की विधि व्यर्थ है। बाण का आशय शायद महाभारत आदि में वर्णित स्वयंवर विधि से है। यदि धर्मशास्त्रों का आशय धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से हो तो उनमें यह विधि नहीं मिलती। इसे गान्धर्व विवाह के अन्तर्गत समझा जाय तो बाण का यह कथन ठीक हो सकता है। १७वीं शती का 'वीरमित्रोदय' इस कल्पना को पुष्ट करता हुआ कहता है कि स्वयंवर को गान्धर्व विवाह का अंग ही समझना चाहिए।[२२] वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। गान्धर्व विवाह में युवक युवती दोनों एक दूसरे को समान रूप से चाहते हैं और विवाह में दोनों की सहमति आवश्यक हो जाती है। किन्तु स्वयंवर में अन्तिम अधिकार कन्या का है। स्वयंवर की पद्धति क्षत्रिय राजाओं में विशेष रूप से प्रचलित थी; सावित्री, सीता, दमयन्ती राजाओं की कन्याएँ थी। ब्राह्मणों में इस पद्धति का रिवाज बहुत कम था, अतः ब्राह्मणों द्वारा लिखी गयी स्मृतियों में स्वयंवर का उल्लेख भी नहीं है।

स्वयंवर के तीन भेद

स्वयंवर की पद्धति को विकास की दृष्टि से तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है। (१) इसमें अत्यन्त प्राचीन काल में कन्याओं को पति चुनने की पूरी स्वाधीनता होती थी। (२) स्वयंवर में कोई शर्त रख दी जाती थी। इस शर्त को पूरा करने वाले पुरुष को ही कन्या वरण करती थी। (३) जब पिता रजस्वला हो जाने पर भी कन्या की निश्चित अवधि तक शादी नहीं करता था तो स्मृतियों ने इस दशा में कन्या को अपना वर स्वयं तलाश करने की या स्वयंवर करने की आज्ञा दी थी।

(१) पहली अवस्था के स्वयंवर का सर्वोत्तम उदाहरण कुन्ती और दमयन्ती है। यह प्रथा बहुत प्राचीन थी। वैदिक काल में वधुएं पतियों का स्वयं वरण करती थी,[२३]

२१ स्टर्नबैक ने स्मृतिकारों द्वारा स्वयंवर का उल्लेख न करने का यह कारण बताया है कि जब कन्या पिता द्वारा विवाह न करने पर अपना पति स्वयमेव चुन लेती थी, तो वह कन्या के पिता को कोई शुल्क नहीं देता था, क्योंकि समुचित समय में कन्यादान न करने के कारण उसका पिता अपनी कन्या पर स्वामित्व खो बैठता था। स्मृतिकारों के लिए उत्तम विवाह वही था जिसमें कन्यादान होता था। कन्या द्वारा स्वयमेव पति ढूंढ़ लेने में ऐसा संभव नहीं था, अतः उन्होंने इस प्रकार के विवाह का उल्लेख करना उचित नहीं समझा (ज्युरिडिकल स्टडीज, पृ० ३८७)

२२ वी० मि० भा० १।६१ 'एवं च स्वयंवरोऽपि विवाहः।'

२३ ऋ० १०।२७।१२ 'भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं कृणुते जने इत्।'

किन्तु उसका विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। महाभारत में ऐसे वर्णन विस्तार से उपलब्ध होते हैं। कुन्तिभोज ने पृथा या कुन्ती के स्वयंवर में राजाओं को बुलाया। कुन्ती ने रंगभूमि में राजाओं में शार्दूल, महाबली एवं सूर्य की तरह सब राजाओं की प्रभा को ढाँपने वाले पाण्डु को देखा और उसने कामभाव से विह्वल होकर लजाते हुए अपनी माला पाण्डु के गले में डाल दी (महाभा० १।११२)।

महाभारत में नल-दमयन्ती उपाख्यान वनपर्व में बड़े विस्तार से (५३ अ० से ७६ तक) दिया गया है। दमयन्ती के पिता विदर्भ राज भीम ने अपनी कन्या को प्राप्त-यौवना देखकर, राजाओं को स्वयंवर का निमन्त्रण भेजा (५४।८-६)। राजा नल का प्रणय-संदेश दमयन्ती के पास हंस द्वारा पहुँच ही चुका था। दमयन्ती हृदय से नल को चाहती थी। दमयन्ती के अत्यन्त रूपवती होने के कारण इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम लोकपाल यह चाहते थे कि दमयन्ती उन्हें प्राप्त हो। ये लोकपाल नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजते हैं। पर दमयन्ती नल को ही पति रूप में वरण करने का दृढ़ निश्चय करती है। स्वयंवर के दिन चारों देवता नल का रूप धारण करके, उस सभा में आये। दमयन्ती पाँच नलों को देखकर बड़े असमंजस में पड़ी और उसने देवताओं को छाया रहित, अनिमेष, पसीना रहित और न मुर्झाने वाली माला से युक्त देखकर पहचान लिया कि ये देवता हैं, इस प्रकार दमयन्ती ने अत्यन्त सुन्दर माला नल के गले में डाल दी। राजाओं ने इस पर हाहाकार किया और ऋषियों ने प्रसन्नता का जयघोष (५७।३०)। यहाँ दमयन्ती को अपना पति चुनने की पूरी स्वाधीनता मिली थी। यह बात अवश्य विचारणीय है कि जब दमयन्ती का नल से प्रेम हो चुका था तब स्वयंवर का आडम्बर रचने का क्या लाभ था? दमयन्ती का चुनाव तो पहले से निश्चित था, दूसरे राजाओं को बुलाकर उन्हें व्यर्थ में दुःखी क्यों किया गया?

बौद्ध साहित्य में जिन स्वयंवरों का उल्लेख है, वे इसी कोटि के हैं। धम्मपद की टीका (खण्ड पृ० २७८-७६) के अनुसार असुरराज वेपचित्ति ने किसी भी असुर राजकुमार को अपनी कन्या देना पसन्द नहीं किया। उसने कहा—"मेरी कन्या इच्छा से अपना पति चुनेगी।" उसने सब असुरों को बुलाया और अपनी कन्या को एक माला देते हुए कहा—"जो पति तुम्हें अनुकूल प्रतीत हो उसे चुन लो।" कन्या ने अपनी इच्छा के अनुसार पति का वरण किया और उसके गले में जयमाला डाली। कुणाल जातक (सं० ५३६) में द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों की कथा एक दूसरे ही ढंग से कही गयी है। इसमें कन्हा (कृष्णा) नामक राजकुमारी के स्वयंवर का वर्णन है। वह स्वयंवर में राजा पाण्डु के पाँच पुत्रों अर्जुन, नकुल, भीमसेन, युधिष्ठिर और सहदेव को देखती है और उन पर मुग्ध होकर पाँचों के गले में वरमाला डाल देती है और माता से यह कहती है कि मैं इन पाँचों को पसन्द करती हूँ, ये पाँचों व्यक्ति उसके पति बनते हैं। उसके स्वयंवर को माता-पिता स्वीकार करते हैं।

काव्यों में ऐसे अनेक स्वयंवरों का वर्णन है, जिनमें कन्या को वरण का पूरा अधिकार था। कालिदास ने रघुवंश में अज और इन्दुमती के स्वयंवर का बड़ा भावपूर्ण और सुन्दर चित्र खींचा है। प्रत्येक राजा इन्दुमती के पास आने पर कितना प्रसन्न और उसके आगे निकल जाने पर कितना दुःखी होता था, कालिदास ने इस तथ्य को एक अत्यन्त भावव्यंजक उपमा में व्यक्त किया है और इस उपमा ने कालिदास को अमर बना दिया है तथा उसे 'दीपशिखा-कालिदास' का नाम प्रदान किया है।[२४] बिल्हण ने १२वीं शती में अपना काव्य लिखते हुए विक्रमांकदेव चरित के ९वें सर्ग में एक स्वयंवर का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। इस स्वयंवर में करहाट के शिलाहार राजा की कन्या चन्द्रलेखा कल्याण के राजा चालुक्य विक्रमांक देव का वरण करती है। चन्दबरदाई ने संयोगिता के स्वयंवर का बड़ी ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है। पृथ्वीराज चौहान का कन्नौज के राजा जयचन्द की पुत्री संयोगिता के साथ विवाह आधा स्वयंवर और आधा राक्षस विवाह है।

महाभारत और काव्यों में स्वयंवर का वर्णन होने पर भी इसके ऐतिहासिक प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। शिलालेखों में स्वयंवर शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु यह सर्वथा आलंकारिक अर्थ में है। उदाहरणार्थ, सम्राट् बुधगुप्त के ४८४-८५ ई० के एरण प्रस्तर लेख में यह उत्कीर्ण है कि महाराज मातृविष्णु को राजलक्ष्मी स्वयंवर द्वारा प्राप्त हुई थी (स्वयंवरायेव राजलक्ष्म्याधिगतेन)। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख में यह कहा गया है कि राजलक्ष्मी ने चन्द्रगुप्त का वरण किया। शीलादित्य सप्तम के ७६६-६७ के अलीना ताम्रपत्रों पर यह उत्कीर्ण है कि ध्रुवसेन तृतीय का राजलक्ष्मी द्वारा स्वयंवर किया गया है। राजा के राज्य प्राप्त करने का यह काव्यमय वर्णन है। इन वर्णनों को ऐतिहासिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

(२) स्वयंवर का दूसरा रूप यह था कि कन्या के विवाह के लिए कोई शर्त या पण निश्चित कर दिया जाता था। उस शर्त को जो राजा पूरा करता था, उसके साथ उस कन्या का विवाह कर दिया जाता था। इसमें कन्या के चुनाव का कोई प्रश्न नहीं था। इसमें क्षत्रियों की शक्ति या वीर्य की परीक्षा होती थी। जो क्षत्रिय वीरता और शूरता में सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा होता था, वही कन्या के साथ विवाह के लिए योग्य समझा जाता था। अतः ये **वीर्यशुल्क स्वयंवर** कहलाते थे। वास्तव में इसे स्वयंवर नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसमें कन्या के वरण का कोई महत्त्व नहीं था। द्रौपदी को अर्जुन के साथ और सीता को रामचन्द्र के साथ विवाह करना पड़ा था। उन्होंने यह विवाह इसलिए नहीं किया कि वे अर्जुन और श्रीराम को चाहती थीं, किन्तु इसलिए किया था

२४ **रघुवंश ६।६७, संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।**
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

कि उन्होंने मत्स्यवेध और शिवजी का धनुष उठाने की शर्तें पूरी की थीं।

स्वयंवर की इस पद्धति के प्रचलित होने का यह कारण दिखाई देता है कि पति का चुनाव कन्या पर छोड़ देने पर, कन्या जिस राजा का स्वयमेव वरण करती थी। दूसरे राजा उससे डाह और ईर्ष्या करते थे। दमयन्ती के मामले में तो राजा हाहाकार करके ही चुप हो गये थे किंतु कई बार भीषण युद्धों की नौबत आ जाती थी। इन युद्धों से बचने का यह तरीका था कि कोई ऐसी शर्त रक्खी जाय जिसे पूरा करने पर विवाह किया जाय। उस अवस्था में असन्तुष्ट राजाओं को झगड़ा करने के लिए कोई विशेष आधार या कारण नहीं रहता था। यदि वे स्वयंवर में सफल नहीं हुए तो इसका कारण उनकी अपनी अयोग्यता थी। जब तक कन्या के चुनाव में कोई कसौटी नहीं थी, उसमें युद्ध होना अधिक संभव था, किन्तु एक कसौटी या परीक्षा नियत हो जाने पर, राजाओं को इस तरह की शिकायत का कोई अवसर नहीं रहता था। दूसरा कारण यह था कि माता-पिता की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे योग्यतम और सबसे अधिक वीर पुरुष को अपनी कन्या का दान करें, क्षत्रियों को भी इसमें अपनी शूरता दिखाने का अवसर मिलता है।

लाक्षागृह से जीवित बचकर निकलने के बाद पाण्डव ब्राह्मण वेश में घूम रहे थे। धौम्य ऋषि के परामर्श से वे पंचाल देश में द्रौपदी का स्वयंवर देखने के लिए रवाना हुए। मार्ग में उन्हें कुछ ब्राह्मण मिले। उन ब्राह्मणों ने भी पाण्डवों को स्वयंवर में जाने के लिए उत्साहित किया कि शायद द्रौपदी उन दर्शनीय देवरूप ब्राह्मणों में से किसी का वरण कर ले (१।१८६-१८)। द्रुपद ने अर्जुन को अपनी कन्या देने के उद्देश्य से एक दृढ़ धनुष बनाया था, जिसे कोई दूसरा व्यक्ति नहीं झुका सकता था और आकाश में एक यन्त्र में एक लक्ष्य बनवाया था। उस धनुष में डोरी चढ़ाकर उक्त लक्ष्य को बिद्ध करने वाले वर को कन्या देने का निश्चय किया गया था। द्रुपद ने इस निश्चय की सूचना तथा अपनी कन्या के स्वयंवर का समाचार सब राजाओं को भिजवाया था। यह समाचार सुनकर राजा वहां आने लगे। १६वें दिन द्रौपदी उस सभा में आई और धृष्टद्युम्न ने स्वयंवर की शर्त की उद्घोषणा की—"यह धनुष है, यह लक्ष्य है, ये पाँच बाण हैं, इन पाँच बाणों से यंत्र के छिद्र को बिद्ध करना है। जो राजा इस कार्य को करेगा, मेरी बहिन कृष्णा उसकी पत्नी होगी।" राजा लोग धनुष पर डोर चढ़ाने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु उसमें सफल नहीं हुए। कर्ण उठा, उसने प्रत्यंचा चढ़ा ली और धनुष पर बाण भी लगाने लगा। द्रौपदी यह देखकर उच्च स्वर से कह उठी कि मैं सूत के साथ विवाह नहीं करूँगी (१।१९०।२२)। कर्ण ने रोषपूर्वक धनुष नीचे फेंक दिया। अन्त में अर्जुन ने देखते ही देखते धनुष उठाया, उस पर डोरी चढ़ायी और पाँच शर लेकर लक्ष्य वेध कर दिया। ब्राह्मण इस पर अत्यधिक प्रसन्न हुए किन्तु क्षत्रियों ने कहा कि 'स्वयंवर क्षत्रियों में होता है, यह बात प्रसिद्ध है (१। १९७।७)। ब्राह्मणों का उसमें कोई अधिकार नहीं है। यदि हम दब गये तो अन्य स्वयंवरों में भी यही दशा होगी।" स्वधर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों ने द्रुपद पर हमला किया।

भीम और अर्जुन ने उनके आक्रमणों का सफलतापूर्वक निराकरण किया और द्रौपदी पाण्डवों के साथ उनकी कुटिया पर चली गयी।

द्रौपदी के स्वयंवर में दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह कि स्वयंवर में यद्यपि यह शर्त जरूरी थी कि लक्ष्य भेद करने वाले को ही द्रौपदी प्राप्त हो, किन्तु द्रौपदी ने वरण में पर्याप्त स्वतंत्रता दिखायी। कर्ण भी संभवतः लक्ष्यभेद कर लेता, किन्तु द्रौपदी उसे पसन्द नहीं करती थी; अतः उसने कर्ण का स्पष्ट रूप से तिरस्कार किया। दूसरी बात यह है कि स्वयंवर की पद्धति क्षत्रियों के लिए ही श्रेष्ठ समझी जाती थी। क्षत्रिय राजाओं ने द्रौपदी के विवाह पर यह आपत्ति उठायी है कि ब्राह्मणों को इस प्रकार वरण करने का अधिकार नहीं है। धृष्टद्युम्न ने प्रारंभ में स्वयंवर के पण के सम्बन्ध में जो घोषणा की है, उसमें क्षत्रिय या ब्राह्मण होने की कोई शर्त नहीं लगायी थी। बाद में द्रुपद भी युधिष्ठिर से कहता है—"चाहे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र कोई हो, वह प्रतिज्ञा पूरी करने वाले को द्रौपदी देगा।" किन्तु फिर भी यह मानना पड़ता है इस प्रथा का अधिक प्रचलन क्षत्रियों में ही था। इस वीरतापूर्ण कार्य की शर्त द्वारा स्वयंवर को **वीर्यशुल्क स्वयंवर** की पद्धति कहते थे।

वीर्यशुल्क स्वयंवर का दूसरा उदाहरण सीता का है (वा० रा० १।६६।६७)। जनक ने सीता के विवाह के लिए यह शर्त तय की थी कि जो शिवजी के धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ायेगा, वह सीता के पाणिग्रहण का अधिकारी होगा। रामचन्द्र के मिथिला आने पर, डेढ़ सौ व्यक्ति उस लोहे की पेटी को घसीट कर लाये जिसमें यह धनुष रखा था। राम ने उसे बड़ी आसानी से उठाया, उस पर प्रत्यंचा चढ़ायी और उसे खींचकर जब बाण छोड़ना चाहा तो धनुष टूट गया। इसके बाद सीता का राम से विवाह हो गया।

कई बार इन स्वयंवरों के बाद, भयंकर संघर्ष होते थे। म० भा० ७।१४४ में कहा गया है कि देवक की कन्या के स्वयंवर में शिनि विजयी हुआ। वह देवकी को अपने रथ पर बिठा कर चला, किन्तु सोमदत्त से यह बरदाश्त न हुआ, उसने शिनि पर हमला किया। आधा दिन दोनों में घूंसेबाजी और भयंकर युद्ध चला। अन्त में सोमदत्त इस युद्ध में बुरी तरह मारा गया।

(३) तीसरी कोटि में वे स्वयंवर हैं जो लाचारी में किये जाते थे। जब माता-पिता कन्या के लिए वर नहीं ढूंढ़ सकते थे तो लाचारी में वे कन्या को स्वयं अपना पति ढूंढने की अनुमति देते थे। सावित्री के पिता जब वृद्ध हो गये तो उन्होंने सावित्री को अपना पति स्वयं खोज लाने के लिए कहा। सावित्री ने बहुत देशों में भ्रमण कर लेने के बाद सत्यवान को अपना पति चुना। गौतम (१८।२०) और विष्णु धर्मसूत्र (२४।४०-४१) यह व्यवस्था करते हैं कि यदि माता-पिता कन्या के रजस्वला होने के बाद तीन महीने (तीन ऋतुओं) तक विवाह न कर सकें तो कन्या स्वयं अपने पति का वरण कर ले।

किन्तु वासिष्ठ ध० सू० (१७–६७-६८), मनु (९।९०), बौधायन ध० सू० (४।१।१३) यह अवधि तीन वर्ष तक बढ़ा देते हैं[२४]। याज्ञवल्क्य (१।६४) ने पिता या संरक्षक के अभाव में प्रत्येक कन्या को स्वयंवर का अधिकार दिया है। यह वास्तविक स्वयंवर नहीं था, किन्तु स्वाचारी थी।

रामायण और महाभारत में इस प्रकार के स्वयंवर की पर्याप्त निन्दा की गयी है। रामायण (१।३२) में राजा कुशनाभ की १०० कन्याओं की कथा है। ये युवती कन्याएँ अलंकृत होकर वन विहार के लिए जाती हैं, वहाँ खेलती-कूदती गाती हैं। वायु देवता उनके रूप और सौन्दर्य से मुग्ध होकर, उनसे प्रणय की याचना करता हुआ कहता है—"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ तुम मेरी स्त्रियाँ बनो। मनुष्य जाति के विचार और ढंगों को छोड़ो क्योंकि मनुष्य जाति का यौवन क्षणभंगुर होता है। मेरे साथ तुम अमर होओ।" कन्याओं ने वायुदेवता की प्रार्थना सुनने पर उनका खूब मजाक उड़ाया और कहा—"हे मूढ़! वह समय न आये, जब हम अपने सत्यवादी पिता से घृणा करके अपनी इच्छानुसार स्वयंवर करें। हमारा पिता हमें जिस व्यक्ति को प्रदान करेगा वही हमारा पति होगा।" महाभारत (१३।४५।४) में भीष्म ने सावित्री के स्वयंवर की निन्दा की है। सावित्री ने पिता की आज्ञानुसार सत्यवान को स्वयं वरण किया था। उसके इस कार्य की कुछ लोग प्रशंसा करते हैं, किन्तु धर्मज्ञ उसके इस कार्य की प्रशंसा नहीं करते। भीष्म धर्मज्ञों के प्रशंसा न करने का कारण स्पष्ट करता हुआ कहता है—"क्योंकि दूसरे साधु पुरुषों ने ऐसा आचरण नहीं किया है, और साधुओं का आचरण ही धर्म का सबसे बड़ा लक्षण

२४ विष्णुस्मृति के टीकाकार नन्द पंडित ने यह लिखा है कि ऋतु का अर्थ वर्ष करना चाहिए। यदि इस व्याख्या को सही माना जाय तो विष्णु और मनु के तीन ऋतुओं तथा तीन वर्षों की अवधि में कोई विरोध नहीं रहता है। किन्तु नन्द पंडित की व्याख्या ठीक नहीं प्रतीत होती है। ऋतु का अर्थ यहाँ मासिक धर्म ही करना चाहिए। प्राचीन शास्त्रकार रजस्वला होने से पहले ही स्त्री के विवाह की व्यवस्था करते हैं ताकि उसका कोई भी ऋतुकाल व्यर्थ न जाय और अधिक से अधिक सन्तान उत्पन्न हो सके। कौटिल्य ने जनसंख्या की वृद्धि की दृष्टि से ऋतुधर्म (तीर्थ) की उपेक्षा को धर्म की हत्या करना बताया है (कौ०, तीर्थोपरोधो हि धर्मवधः।) अतः माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि ऋतुकाल से पहले ही कन्या का विवाह कर दिया जाय (मि० गौतम धर्मसूत्र १८।२२—प्रदानं प्रागृतोः)। यदि पिता किसी कारणवश अपनी कन्या का विवाह ऋतुकाल या रजोदर्शन से पहले नहीं करता है तो तीन ऋतुकाल बीतने पर कन्या को अपना विवाह स्वयं कर लेने का अधिकार था। अतः विष्णु स्मृति में ऋतु के स्वाभाविक अर्थ को छोड़ कर उसे वर्ष का पर्याय मानना उचित नहीं प्रतीत होता है।

है।" भीष्म ने जनक के नाती सुक्रतु का वचन उद्धृत करते हुए अन्त में स्वयंवर के विरोध का ठीक-ठीक कारण यह बताया है—"स्त्रियों को स्वाधीनता देना आसुरधर्म है। पुराने जमाने के विवाह शास्त्रों में हमने इसे कभी नहीं सुना।" महाभारत (३।१९०।३६) में कन्याओं द्वारा पतियों के वरण करने के रिवाज को प्रलय का पूर्वलक्षण बताया गया है। मार्कण्डेय ऋषि कलियुग के भविष्य का कथन करते हुए कहते हैं—"उस समय न कोई कन्या को मांगता है और न कोई कन्या दी जाती है। युग के अन्त में सब लोग स्वयं एक दूसरे के साथ परस्पर विवाह करते हैं।" धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री को पति वरण करने की आज्ञा मजबूरी की हालत में दी थी। अग्निपुराण (२२६।४१) स्त्रियों के इस अधिकार को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करता है। स्वयं पति का वरण करने वाली स्त्री राजा द्वारा दण्डनीय नहीं होती। किन्तु ब्रह्मपुराण (२।१९) स्त्रियों के लिए स्वयंवर को स्पष्ट शब्दों में बुरा बताते हुए एक स्त्री के बारे में कहता है कि "पिता के होते हुए इसने स्वतंत्र होकर और धर्म को छोड़ कर पतियों का वरण किया है, अतः यह अधोगति पाने वाली हो।" स्वयंवर के निषेध का कारण यह था कि शास्त्रकार स्त्री को पति के चुनने में अप्रतिबद्ध एवं पूर्ण स्वतंत्रता नहीं देना चाहते थे। बाल विवाह के प्रचलन के कारण कन्यादान को अत्यधिक पवित्र एवं धार्मिक कर्तव्य बना दिया गया था। अतः स्वयंवर की प्रथा का ह्रास होने लगा। मध्यकाल में लोक गीतों में इस प्रथा के कुछ अवशेष पाये जाते हैं और आजकल भी इस प्रकार के एक दो उदाहरण कभी-कभी देखने-सुनने में आ जाते हैं।

आसुर-विवाह

स्वरूप—आसुर विवाह में कन्या प्राप्त करने के लिए वर कन्या के माता-पिता को धन देता है। दूसरे शब्दों में, इस विवाह में कन्या धन द्वारा खरीदी जाती है। महाभारत (१३।४७।३) में भीष्म ने आसुर विवाह का लक्षण यह किया है—'प्रायः धन से (कन्या को) खरीद कर और उसके सम्बन्धियों को धन का लालच देकर जो विवाह होता है, विद्वान् लोग उसे असुरों का धर्म कहते हैं।' आजकल कन्या के लिए दहेज की चिन्ता करने वाले माता-पिता को संभवतः यह बात आश्चर्यजनक जान पड़ेगी कि किसी युग में वर कन्या के माता-पिता को विवाह के लिए धन दिया करता था। उस समय वर के माता-पिता को वैसी ही चिन्ता और परेशानी उठानी पड़ती होगी जैसी आजकल कन्या के माता-पिता को उठानी पड़ती है। इस समय अधिकांश हिन्दू-समाज में वर का विक्रय होता है, आसुरविवाह में कन्या का विक्रय होता था। आज कन्या के माता-पिता वर की सब तरह से खुशामद करते हैं और दहेज आदि से उसे संतुष्ट रखना चाहते हैं, आसुर विवाह में वर को कन्या के माता-पिता की खुशामद करनी पड़ती थी। कन्या विक्रय की प्रथा न

केवल भारत में अपितु संसार के अन्य देशों में भी बहुत व्यापक रूप से पायी जाती है।[२६]

२६ असभ्य समझी जाने वाली जातियों में दो तीन प्रकार का मूल्य या कन्याशुल्क कन्या के पिता को दिया जाता है: (१) कई स्थानों पर कन्या विनिमय (Exchange) द्वारा ग्रहण की जाती है। डा० हाविट ने आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के सम्बन्ध में लिखा है कि उनमें यह आम रिवाज है कि माता-पिता अपने लड़कों के लिए दूसरे घरानों से लड़कियां लाते हैं और उनके बदले में अपनी लड़कियाँ उन घरानों में विवाह के लिए भेज देते हैं, जहां से वे लड़कियाँ लाये थे। कई बार युवक यह अदला-बदली स्वयं करते थे। वे अपनी बहिन या किसी दूसरी लड़की को दूसरे कुल में देकर, वहाँ से अपने लिये पत्नी प्राप्त करते थे। आस्ट्रेलिया में अत्यन्त निर्धनता के कारण पत्नी पति के लिए मूल्यवान् सम्पत्ति होती है, अतः वह वर को अपनी कोई बहुमूल्य स्त्री सम्बन्धी देकर ही बदले में प्राप्त हो सकती है। भारत में विनिमय द्वारा होने वाले विवाहों की कमी नहीं। पंजाब का 'बट्टा-सट्टा' इसी प्रथा का रूप है।

(२) कन्या के शुल्क का एक रूप यह भी है कि वर वधू के घर पर कुछ दिन तक नौकरी करता है। इस नौकरी के बाद वह वेतन या भृति के रूप में कन्या को प्राप्त करता है। उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका, साइबेरिया, मलाया प्रायद्वीप और हिन्द चीन में इस प्रथा का प्रचलन है। यहां सेवा का काल १ से १५ वर्ष तक होता है। बाइबल में बताया गया है कि याकूब ने हराक में जाकर लाबान की बेटी रैचल को पाने के लिए लाबान से यह प्रतिज्ञा की कि मैं रैचल को पाने के लिए ७ वर्ष तेरी सेवा करूँगा (जिनीसस २९।१८)। लाबान इससे सहमत हो गया और याकूब ने लाबान की ७ वर्ष ईमानदारी से सेवा की। इसके बाद उसने लाबान से कहा कि मेरी अवधि पूरी हो गयी है, रैचल से मेरी शादी कर दो। इस पर लाबान ने रात को रैचल के बदले अपनी बड़ी बेटी लीह को याकूब के पास भेज दिया। सवेरे जब याकूब को इस धोखे का पता लगा तो उसने लाबान से इसका कारण पूछा। लाबान ने कहा कि बड़ी लड़की के अविवाहित रहने पर छोटी लड़की का ब्याह नहीं किया जा सकता, तू ७ वर्ष और सेवा कर, मैं तुझे रैचल भी दे दूंगा। याकूब ने दूसरी बार ७ वर्ष की सेवा के बाद रैचल को प्राप्त किया। सेवा द्वारा वधू को प्राप्त करने की प्रथा के मूल में कन्या को मुफ्त देने की अनिच्छा तो है ही, किन्तु इसके साथ दो कारण और भी हैं। पहला तो यह कि निर्धनता के कारण जो कन्या का दाम या शुल्क न दे सके अथवा जिसके पास विनिमय करने के लिए अपनी कोई बहिन आदि स्त्री सम्बन्धी न हो वह सेवा द्वारा अपने इन दोनों अभावों की पूर्ति कर सकता है। दूसरा कारण यह है कि इससे कन्या पक्ष

वैदिक युग में आसुर विवाह

उपमा के रूप में कन्याविक्रय का संकेत वेद में है। ऋ० १।१०९।२ में कहा गया है—हे इन्द्र और अग्नि, मैंने यह सुना है कि तुम दोनों कुछ दोष रखने वाले जँवाई

वर की योग्यताओं को भली-भाँति जान जाता है, सेवाकाल में इस बात को अच्छी तरह जाँचा जा सकता है कि वह जामाता बनाने लायक है या नहीं। डा० जोकलसन ने साइबेरिया के कुरयाक लोगों के बारे में लिखा है कि उनमें वर को सेवाकाल में तरह तरह के कष्ट दिये जाते हैं। उसको रद्दी से रद्दी खाना और कपड़ा देकर कड़े से कड़ा परिश्रम कराया जाता है। वर की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद ही कन्या का पिता उसे विवाह की अनुमति देता है। नौडोवेसीज (Naudo-wessies) नामक जाति (उत्तरी अमेरिका) में कन्या का पिता इस परीक्षा से यह जान लेता है कि वर अपने परिवार के भरण-पोषण में भी समर्थ होगा या नहीं।

(३) कन्या का शुल्क या दाम रुपयों, पशुओं तथा सम्पत्ति के रूप में भी दिया जाता है। यहूदियों में इस प्रकार के कन्या शुल्क (Bride price) को महर कहते हैं। यहूदियों में विवाह की एक यह भी विधि थी कि दो साक्षियों की उपस्थिति में वर वधू को एक सिक्का देता हुआ यह कहता था कि आज से तू मेरे लिए बँध हुई। इस विधि को कसेफ कहा जाता था और इसके बिना कोई विवाह जायज नहीं माना जाता था। मध्यकाल में सिक्के के स्थान पर अंगूठी का प्रयोग होने लगा। अरबों में भी इसे महर कहा जाता था, और भारत के मुसलमानों में यह इसी नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन आर्य जातियों में यह प्रथा बहुत प्रचलित थी। अरस्तू बताता है कि यूनानी प्रारम्भिक युग में अपनी स्त्रियों को खरीदा करते थे। जर्मनी के ट्यूटन (Teuton) लोगों में पत्नी खरीदने के मुहावरे का प्रयोग मध्ययुग तक खूब होता था। हालैण्ड में आज तक वधू को वरकोख्ट (Varkocht) अर्थात् बेची हुई कहते हैं। रूस में वर का पिता वधू के घर पर जाकर पहली बात यह कहता है—हमारे पास एक ग्राहक है और तुम्हारे पास माल है, क्या तुम अपना माल बेचोगे ? इसके बाद जो बातचीत होती है, वह वैसी ही होती है जैसे गौ आदि के लिए सौदे की बातचीत की जा रही हो। पिछली सदी में सर्बिया में कन्याओं का दाम इतना बढ़ गया था कि वहाँ के राजा जार्ज को इसे एक ड्यूकेट तक मर्यादित करना पड़ा।

कन्या का शुल्क या दाम लेने का कारण ऊपर यह बताया गया है कि कन्या के माता-पिता कन्या को देने में अनिच्छा प्रकट करते हैं, अतः वे उसे मूल्य लेने पर ही देते हैं। किन्तु इस अनिच्छा के अन्य भी अनेक कारण हैं—(१) कन्या आर्थिक

और साले के लिए अधिक दान देने वाले हों।" इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि जैसे आजकल कन्या के रूप रंग में किसी प्रकार की कमी या दोष होने से उनके माता-पिता

समाजों में आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभकर होती है। इन समाजों में औरतों से मजदूरों की भांति काम लेने का रिवाज बहुत प्रचलित है। कन्याएं घर का तथा खेती आदि का काम करती है, उनके ब्याहे जाने से पिता को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, अतः यह आवश्यक है कि पिता कन्या का दाम ले। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि समाज के उच्चवर्ग में स्त्री पुरुष पर भारस्प होती है। पुरुष को उस स्त्री के पालन-पोषण की जिम्मेवारी लेनी पड़ती है। कोई भी पुरुष इस जिम्मेवारी को लेते हुए संकोच करता है, अतः कन्या के माता-पिता वर को दहेज आदि देकर उसके इस भार को कुछ हल्का करते हैं। यहाँ माता-पिता को कन्याओं के ब्याहने की गरज अधिक है और पुरुष उसमें अनिच्छा प्रकट करता है, अतः उसे बहुत सा रुपया दिया जाता है। किन्तु जिन समाजों में स्त्री कमाने वाली होती है वहाँ उसे पाने के लिए पति को रुपया देना पड़ता है। यह अर्थशास्त्र के माँग और पूर्ति (Demand and Supply) के नियम का सुन्दर उदाहरण है।

कन्या को बिना मूल्य देने का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि वह बिलकुल निकम्मी थी, क्योंकि निकम्मी वस्तु का कोई दाम नहीं होता। कन्या के सम्बन्ध में इस तरह के प्रवाद को अपने कुल के लिए कलंक समझा जाता है। अतः कई जातियों में कोई व्यक्ति अपनी कन्या को किसी हालत में मुफ्त देने को तैयार नहीं होता है। याकूतों में इसका अर्थ यह समझा जाता है कि वह बहिष्कृत और मित्रशून्य थी, उसका कोई मूल्य नहीं था। अफ्रीका की काफिर स्त्रियां उस स्त्री को अत्यन्त घृणित समझती हैं, जो किसी पशु से न खरीदी गयी हो। ऐसी स्त्री को वे बिल्ली कहते हैं, क्योंकि बिल्ली को इतना निकम्मा प्राणी समझते हैं कि उसको कभी कोई नहीं बेचता है। कन्या का शुल्क उस की योग्यता की कसौटी है।

कुछ समाजशास्त्रियों के मत में पहले राक्षस विवाह प्रचलित था। इसमें खूनखराबी और हत्या देखकर लोगों ने धन देकर स्त्रियां खरीदनी शुरू की। अपने इस कथन के समर्थन में वे यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कई स्थानों में कन्या को पहले हर लिया जाता है और बाद में उसका दाम तय हो जाने पर उसके साथ शादी हो जाती है। इसे मोचन धन (Ransom) कहते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि पहले कन्या को भगा कर ले जाने की पद्धति का रिवाज था। किन्तु कन्या का दान मोचन धन नहीं है; कन्या का दाम लिये जाने के

जँवाई को प्रचुर धन का लालच देते हैं, धन के बल पर अपनी कन्या के दोष ढाँपते हैं और बहुत बड़े दहेज के साथ उसकी शादी करते हैं, उसी तरह वैदिक काल में, वर के रूप रंग या शरीर में कोई दोष होने पर, वह कन्या के पिता को खूब रुपया देता था। उपमा उसी वस्तु की दी जाती है जो खूब प्रसिद्ध या प्रचलित हो। शायद ऐसे जँवाइयों की उस समय बहुत संख्या रही होगी, तभी इस तरह की उपमा दी गयी है। यास्क (६।६) ने उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"मैंने सुना है, तुम दोनों विजामाता या सदोष जँवाई से अधिक धन देने वाले हो। दाक्षिणात्य खरीदी हुई स्त्री के पति को विजामाता कहते हैं"। इससे ज्ञात होता है दक्षिण में यह प्रथा अधिक प्रचलित थी। यास्क ने ३।४ में इस प्रश्न पर विचार किया है कि कन्याओं को संपत्ति में उत्तराधिकार मिलना चाहिए या नहीं। इस प्रकरण में भी उसने स्त्रियों के खरीदे जाने का संकेत किया है। स्त्रियों को संपत्ति दिये जाने के विरोधी लोगों का पक्ष रखते हुए यास्क ने अनेक युक्तियाँ दी हैं। इनमें एक युक्ति यह भी है कि स्त्रियों का दान, विक्रय और त्याग होता है, अतः वे संपत्ति की अधिकारिणी नहीं हैं। इसके उत्तर में कन्या को संपत्ति देने के पक्ष का समर्थन करने वालों ने स्त्रियों के विक्रय या बेचे जाने के तथ्य से इन्कार नहीं किया, अपितु यह कहा है कि यदि यह युक्ति मान ली जाय तो पुरुषों को भी संपत्ति में अधिकार नहीं रहेगा, क्योंकि पुरुष भी बेचे जाते हैं, जैसे शुनःशेप को उसके पिता अजीगर्त ने राजा हरिश्चन्द्र को बेचा था (निरुक्त ३।४)।

स्त्रियों के खरीदे जाने का एक स्पष्ट प्रमाण मैत्रायणी संहिता (१।१०।११) में है—"यज्ञ ऋत और सत्य है, स्त्री झूठ है, निश्चय से वह स्त्री झूठा (या पाप का) काम करती है जो पति से खरीदी जाने पर भी दूसरे व्यक्तियों के साथ विचरण करती है"।[२७] मीमांसा दर्शन में जैमिनि ने तथा इस के भाष्य में शबर ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। शबर जैमिनीय सूत्र के ६।१।१० का पूर्व पक्ष इस प्रकार रखता है[२८]—"स्त्रियाँ क्रय-विक्रय से

कारण कुछ और ही हैं जो ऊपर दिये गये हैं। कन्या का शुल्क लेने की प्रथा ऐसी जातियों में भी है जिनमें अपहरण द्वारा विवाह करने की प्रथा कभी नहीं रही और राक्षस विवाह के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि पहले कहीं यह विवाह पद्धति सामान्य रूप से प्रचलित थी (वें० शा० हि०, मै० पृ० १६६-७०)।

२७ मै० सं० (१।१०।११) 'ऋतं वै सत्यमतोऽनृतं स्त्री अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।

२८ जै० सू० (६।१।१०) पर शबर का भाष्य 'क्रयविक्रय संयुक्ता हि स्त्रियः। पित्रा विक्रीयन्ते भर्त्रा क्रीयन्ते। विक्रया हि श्रूयते। शतमतिरथं दुहितृमते दद्यात्'। जै० सू० (६।१।१५) पर शबर भाष्य 'यत्तु क्रयः श्रूयते धर्ममात्रं नु तत्। नासौ क्रय इति नियतं ह्येवं दानम्। शतमतिरथं शोभनामशोभना च कन्यां प्रति'।

युक्त होती हैं, वे पिता द्वारा बेची जाती हैं और पति द्वारा खरीदी जाती हैं। श्रुति में उनके विक्रय का वर्णन है—"लड़की के पिता को १०० गौएं और एक रथ दे।" फिर उसने मै० सं० के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि कन्याओं के पिता को दिया जाने वाला उपर्युक्त शुल्क निश्चित धन राशि है; चाहे कन्या सुन्दर हो, या न हो वह हर हालत में दिया जाता है। वास्तव में कन्याशुल्क की प्रथा इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि उसे स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता था। जब उसे लेना ही था तो धर्म के नाम पर लेना सबसे अच्छा था। शबर ने ऐसा ही किया।

महाभारत में आसुर विवाहों के उदाहरण

इसमें कन्याशुल्क के कई ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि यह प्रथा दक्षिण में ही नहीं, अपितु उत्तर भारत के भी अनेक प्रदेशों में प्रचलित थी।

कुन्ती के साथ पाण्डु का विवाह करने के बाद, भीष्म ने उसका दूसरा विवाह करना चाहा। वे अपने मंत्रियों के साथ मद्रदेश (स्यालकोट) गये। भीष्म ने मद्रराज शल्य से उसकी बहिन माद्री पाण्डु के लिए मांगी। मद्रपति शल्य ने कहा "मेरी यह सम्मति है कि मेरे लिए आपसे अच्छा कोई वर नहीं होगा, किन्तु हमारे कुल में पूर्वजों द्वारा कन्या के लिए शुल्क लेने का नियम चला आ रहा है, वह भला हो या बुरा, मैं उस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। आप उस नियम को जानते ही हैं, अतः कन्यादान की बात आपके लिए उचित नहीं है। शुल्क लेना हमारा कुलधर्म है और पहले लोग इस विधि का अनुसरण किया करते थे, अतः इसमें कोई दोष नहीं है।" भीष्म ने इसके उत्तर में शल्य से कहा कि यह तुम्हारी साधुसम्मत मर्यादा है (महाभा० १।११३।८-१३)। अतः भीष्म ने, शल्य को सोना, विविध प्रकार के रत्न, हजारों हाथी, घोड़े, रथ, कपड़े, आभूषण मणि, माणिक्य, मोती, मूंगे आदि माद्री को पाने के लिए दिये। शल्य ने यह सब धन लेकर नाना अलंकारों से सजी हुई अपनी बहिन भीष्म को दान कर दी।

आगे चलकर हम देखेंगे कि भीष्म स्वयं इस प्रथा की घोर निन्दा करता है किन्तु यहाँ वह आसुर विवाह को ब्रह्मा द्वारा चलाया हुआ (ब्राह्म) धर्म मानता है और इसमें कोई दोष नहीं समझता। शल्य को शुल्क माँगने में अवश्य कुछ झिझक हुई, किन्तु भीष्म ने उस शुल्क को देने में कोई संकोच नहीं किया।

वनपर्व में (३।११५।२०-३०) कान्यकुब्ज के राजा गाधि की इसी प्रकार की कथा है। राजा गाधि की अप्सराओं जैसा रूप रखने वाली एक लड़की सत्यवती हुई। ऋचीक भार्गव ने राजा गाधि से इस कन्या की याचना की। गाधि ने कहा "हमारे कुल के पूर्वजों ने यह प्रथा बना दी है कि एक हजार काले कान वाले, श्वेत वर्ण और महा-वेगवान् घोड़े कन्या का शुल्क होते हैं (३।११६।२२३)। हे भार्गव, मैं आपसे यह शुल्क

कैसे माँगू ?" ऋचीक ने कहा—"मैं आपको एक हजार श्याम कर्ण, श्वेत वर्ण, वेगवान् घोड़े दूँगा। आपकी कन्या मेरी स्त्री होगी।" ऋचीक ने ये घोड़े वरुण से प्राप्त किये और उन्हें देकर गाधि से सत्यवती को प्राप्त किया। द्विजश्रेष्ठ ऋचीक ने धर्मपूर्वक भार्या को प्राप्त कर उससे यथाकाम रमण किया। यहाँ भी अपने कुल में चिरकाल से चले आने वाले इस नियम को धर्म कहा गया है और इस विवाह को एक भृगुवंशी ब्राह्मण ने किया है।

कन्या-शुल्क के अनेक अन्य उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। मणिपुर के राजा चित्रवाहन ने अर्जुन से अपनी कन्या का यह शुल्क माँगा था कि अर्जुन से चित्रांगदा का जो पुत्र उत्पन्न हो वह उसके कुल को चलाने वाला हो (महाभा० १।२३५)। रामायण से ज्ञात होता है कि दशरथ ने कैकेयी का पाणिग्रहण भी शुल्क देकर किया था। कन्या विक्रय की इस प्रथा को भारत में यूनानियों ने आकर देखा था। उन्होंने लिखा है कि तक्षशिला नगरी में युवती कन्याएँ बाजार में बेचने के लिए लायी जाती हैं और जो सबसे अधिक कीमत देता है उसी के साथ सौदा तय होता है।

कन्या शुल्क तथा आसुर विवाह की निन्दा

महाभारत और धर्मशास्त्रों ने कन्या के लिए शुल्क लेने की घोर निन्दा की है। महाभारत में इसका विस्तार से वर्णन है। हम पहले यही देखेंगे। अनुशासन पर्व में राक्षस और आसुर दोनों प्रकार के विवाह करने वाला भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देता है कि ये दोनों विवाह अधर्म हैं और इन्हें कभी नहीं करना चाहिए।[२१] युधिष्ठिर ने शुल्क के संबंध में जो प्रश्न किये हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि कन्या का शुल्क उन दिनों एक ज्वलन्त समस्या थी। युधिष्ठिर प्रश्न करता है—"एक कन्या के लिए कोई शुल्क दे, कोई यह कहे कि मैं इसे दान करता हूँ, कोई उसे हर ले, कोई उसे धन का लोभ दिखाये और कोई उसका पाणिग्रहण करने वाला हो तो उस कन्या का वास्तविक पति कौन होगा (१३।४४।१६-२०)"। इसी तरह युधिष्ठिर ने आगे चल कर यह प्रश्न किया है कि यदि कन्या के लिए एक पुरुष ने शुल्क दे दिया है और धर्मार्थकाम-सम्पन्न कोई अन्य वर पहले पुरुष की अपेक्षा अधिक अच्छा मिल जाता है तो क्या किया जाना चाहिए। दोनों पक्षों में दोष है, यदि शुल्क देने वाले से कन्या का विवाह होता है तो कन्या को अच्छा वर नहीं मिलता और यदि वह शुल्क लेकर दूसरे से विवाह करता है तो भी उसे पाप लगता है, इस दशा में क्या करना चाहिए। (१३।४४।२८-२६) भीष्म ने इन प्रश्नों का उत्तर बड़े विस्तार से दिया है। वह कहता है—"कन्या के लिए शुल्क ग्रहण करने से विवाह की सिद्धि

[२१] म० भा० १३।४४।६, पंचानां तु त्रयो धर्म्याः द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन ॥

होती है, ऐसी बात नहीं है। साधु लोग शुल्क ग्रहण करके कन्या का दान कभी नहीं करते।"[३०] इस विषय में वह कहता है कि यदि शुल्क से ही विवाह हो जाता हो तो फिर पाणिग्रहण संस्कार की क्या आवश्यकता है। जो लोग क्रय या शुल्क को मानते हैं, वे धर्मज्ञ नहीं हैं। शुल्क के साथ कन्या को कभी नहीं ब्याहना चाहिए। भार्या का कभी क्रय-विक्रय नहीं करना चाहिये।[३१] आगे चल कर भीष्म आसुर विवाह की निन्दा करता हुआ कहता है कि इस विवाह से असूयायुक्त, अधर्मनिष्ठ और शठ पुत्र पैदा होते हैं। धर्मशास्त्र के जानने वाले, धर्मपाश में बंधे हुए सज्जन पुरुष आसुर विवाह की निन्दा में यम द्वारा गाये हुए इन श्लोकों का उल्लेख करते हैं—"जो मनुष्य पुत्र को बेचकर धन लाभ करते हैं अथवा जीविका के लिए शुल्क ग्रहण करके कन्या प्रदान करते हैं, वे मूढ़ पुरुष महाघोर सातवें नरक में, स्वेद, मूत्र और विष्ठा का भोग करते हैं (१३।४५।१७-२०)"। शुल्क लेने की इससे अधिक भयंकर निन्दा क्या हो सकती है?[३२]

धर्मसूत्रों ने आसुर विवाह की प्रथा का विरोध कई प्रकार से किया। किन्तु विरोध करते हुए भी उन्होंने कई जगह दबे शब्दों में इसका समर्थन भी कर दिया। बौधायन धर्मसूत्र (१।११।२०–२१) ने शुल्क देकर खरीदी हुई स्त्री को वैध पत्नी नहीं स्वीकार किया और उसे दासी का दर्जा दिया है। उसके शब्दों में इस प्रसंग में आचार्य पुरातन वचनों को उद्धृत करते हैं—"धन से जो स्त्री खरीदी जाती है, वह पत्नी नहीं बनायी जाती। वह देवताओं की पूजा तथा पितरों के तर्पण में, पति के साथ सम्मिलित नहीं हो सकती। कश्यप उसे दासी कहता है। जो लोग लोभ के कारण अपनी लड़की को, शुल्क या दाम से देते हैं वे आत्मा का विक्रय करने वाले महापापी हैं। वे घोर नरक में जाते हैं (बौधायन धर्मसूत्र १।११।२०)"। अन्यत्र (२।१।७६) यही धर्मसूत्र कहता है कि जो अपनी कन्या को बेचता है वह अपने पुण्यों को बेचता है, लेकिन बौधायन यह स्वीकार करता है कि आसुर विवाह क्षत्रियों के लिए धर्मानुकूल है (१।११।१२)। किन्तु वसिष्ठ धर्मसूत्र इसका नाम

३० महाभा० १३।४४।३१, नहि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित्।

३१ वही ४५-४७ 'ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नराः। न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा॥ न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रेया कथंचन। ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च। भवेत्तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम्॥

३२ शुल्क की निन्दा के अन्य वचनों के लिए दे० महाभा० १२।६३।१२३ व १३।६४।३१, ७।४३।२७, ७।४३।४२। पहले दो स्थलों में कन्या शुल्क लेकर कन्यादान करने वालों को अत्यन्त गर्हणीय एवं कुकर्म करने वाले मनुष्यों में गिनाया गया है। १३।४५।२३ में कहा गया है, जब अन्य पशुओं को बेचना भी उचित नहीं है तब मनुष्य द्वारा संतान का बेचना कभी धर्मसंगत नहीं हो सकता (अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्याः किं पुनः प्रजाः) मि० मनु० ३।५३।

मानुष अर्थात् मनुष्यों में प्रचलित बताता है। वसिष्ठ इसकी निन्दा नहीं करता, किन्तु श्रम के उन पुराने वचनों को उद्धृत करता है जिन्हें शबर ने उद्धृत किया है। मानव गृह्यसूत्र (१।७।८) में उसका नाम शौल्क दिया है, किन्तु निन्दा नहीं की। मनु ने (३।५१-५४) कहा है कि कन्या का पिता धन ग्रहण करने के दोष को जानता हुआ अणुमात्र भी शुल्क न ले; लोभ से उसे ग्रहण करता हुआ वह सन्तान बेचने वाला होता है। किन्तु जब कन्या के सम्बन्धी वर का शुल्क अपने आप नहीं लेते किन्तु कन्या को सौंप देते हैं, तब यह कन्याओं का अर्हण या पूजन है, इसमें कोई दोष नहीं है। मनु शूद्र तक को कन्या का शुल्क लेने से मना करता है, क्योंकि यह प्रच्छन्न कन्या-विक्रय है (६।६८)। वस्तुतः इन श्लोकों में मनु ने अपने आदर्श को सूचित किया है। वह यह अवश्य चाहता था कि शुल्क न लिया जाय, किन्तु समाज में कन्याशुल्क लेने की प्रथा काफी दृढ़मूल थी। अतः अन्यत्र (६।६३ व ८।१६६) में उसने शुल्क को स्वीकार किया है। मनुस्मृति (६।६३) में कहा गया है कि ऋतुयुक्त कन्या का परिणय करने वाला वर पिता को कन्या का शुल्क न दे, क्योंकि पिता उसके ऋतुकाल का निरोध करने से कन्या पर अपना स्वामित्व खो बैठा है। इसी तरह ८।१६६ में समान जातीय कन्या को दूषित करने वाले युवक के लिए दण्ड की व्यवस्था करता हुआ वह कहता है कि यदि पिता इस विवाह को पसन्द करे तो वर कन्या का शुल्क ही दे, उसे और कोई दण्ड न हो। ८।२०४ में मनु कहता है कि यदि कन्या का पिता शुल्क तय करने के समय अच्छी कन्या दिखाता है और बाद में विवाह के समय दूसरी (दोष वाली) कन्या देता है, तो एक ही शुल्क से वर दोनों कन्याओं के साथ शादी कर ले। इन दोनों श्लोकों से स्पष्ट है कि मनु कन्या के पिता को शुल्क लेने का स्वाभाविक अधिकारी मानता था। याज्ञवल्क्य ने (३।२३६) संतान बेचना उपपातकों में गिना है (मि० मनु० ११।६१)।

कन्याशुल्क की तीव्रतम निन्दा महानिर्वाण तंत्र (११।८४) तथा पद्मपुराण में है। म० नि० कहता है—"राजा नास्तिक और पतित व्यक्ति की तरह अपनी कन्या का शुल्क लेने वाले व्यक्ति को भी अपने राज्य से निर्वासित कर दे"। पद्मपुराण ब्र० खं० (२४।२६) कहता है—"बुद्धिमान् कन्या बेचने वालों का मुख न देखे, यदि अज्ञान से उनका मुख देख ले तो सूर्य का दर्शन कर उस पाप की निवृत्ति करे"।[३३]

स्मृतिकारों की उपर्युक्त व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि वे शुल्क की प्रथा को बन्द करना चाहते थे। संभवतः उन्होंने इसीलिए इसे आसुर विवाह का नाम दिया। असुर भी राक्षसों की तरह एक बदनाम और देवताओं की विरोधी जाति थी। उस बुरी जाति में प्रचलित प्रथा का अनुसरण शिष्ट लोगों को नहीं करना चाहिए। श्री वैद्य ने यह कल्पना

[३३] जर्मन लोगों में भी यह रिवाज था कि जब तक कन्या का शुल्क न दिया जाय तो विवाह वैध नहीं समझा जाता था (वैं० शा० हि० मैं०, पृ० १७६—७)।

की है, कि कन्या का शुल्क लेने की परिपाटी असीरिया में प्रचलित थी। असीरिया के संसर्ग से यह भारत में आयी और भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों—मद्र, केकय आदि में उसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। माद्री कैकेयी के विवाह शुल्क से हुए थे, अतः इस प्रथा को आसुर कहा गया था। इस कल्पना में पहला दोष तो यह है कि कन्याशुल्क की प्रथा केवल पश्चिमी भारत तक ही सीमित नहीं थी। यास्क उसे दाक्षिणात्यों का रिवाज बताता है महाभारत में पवित्र आर्यदेश के कान्यकुब्ज जैसे महत्त्वपूर्ण स्थान के राजा गाधि को अपनी कन्या का शुल्क लेने वाला बताया गया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथा पश्चिमी भारत तक ही सीमित थी और यहां वालों ने इसे असीरिया से ग्रहण किया। दूसरा दोष यह है कि श्री वैद्य ने असीरिया में इस प्रथा के प्रचलित होने के कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिये। केवल असुर और असीरिया के नामसाम्य से यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें यह प्रथा प्रचलित थी।

आसुर विवाहों की निन्दा का कारण

धर्मशास्त्रों द्वारा आसुर विवाहों की निन्दा का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि वे कन्या को दान की वस्तु समझते थे। कन्यादान और विवाह पर्यायवाची शब्द हैं। दान की वस्तु को खरीदा नहीं जाता। दान और खरीदना दो विरोधी वस्तुएं हैं। जब कन्या को एक बार दान की वस्तु समझ लिया गया तो उसके विक्रय का निषेध एवं निन्दा सर्वथा स्वाभाविक थी। किन्तु इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कन्या को दान की वस्तु क्यों माना गया? हम यह देख चुके हैं कि असभ्य जातियों में पिता और सम्बन्धी अपनी कन्या को आसानी से नहीं देते हैं। इसमें उनका स्नेह तथा स्वार्थ दोनों कारण हो सकते हैं। प्राचीन भारत में भी पहले कन्या विक्रय होता था और आजकल भी भारत की निम्न तथा असभ्य जातियों में उसका खूब प्रचलन है। आसुर विवाह में स्त्रियों का दर्जा ऊँचा हो जाता है। राक्षस विवाह में इनकी कोई कीमत नहीं और ब्राह्म, दैव आदि में उनकी कोई पूछ नहीं है। जब व्यक्ति को पत्नी खरीद कर लानी पड़ती है तो वह उसके साथ दुर्व्यवहार या अत्याचार नहीं कर सकता, उसे कोई कष्ट नहीं दे सकता, क्योंकि हमेशा उसे यह भय रहता है कि यदि उसने पत्नी को रुष्ट किया और पत्नी ने उसे छोड़ दिया तो नई पत्नी लाने के लिए उसे और रुपया खर्च करना पड़ेगा। उसका यह भय समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठा, गौरव और स्वतन्त्रता प्रदान करता है। हम अन्यत्र विस्तार से यह देखेंगे कि ब्राह्मण स्मृतिकारों को 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का सिद्धान्त बहुत प्रिय है और विवाह-सम्बन्धी नियमों में उन्होंने स्त्रियों के साथ अन्याय किया है। कई बार यह अन्याय स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से किया गया है। ब्राह्मण प्रत्येक वस्तु को दान में चाहता था, चाहे वह कन्या हो या दक्षिणा। कन्याशुल्क के नियम में निर्धन ब्राह्मणों को बहुत असुविधा उठानी पड़ती थी। भीष्म ने जो मद्रराज को माद्री का शुल्क

सोना, चांदी, बहुमूल्य मणि-माणिक्य के रूप में बड़ी प्रसन्नता से दिया, किन्तु ऋचीक भार्गव को गाधि की कन्या का शुल्क देने के लिए वरुण से १००० घोड़ों की याचना करनी पड़ी, अतः ब्राह्मणों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे कन्या के शुल्क की निन्दा करें।

मध्यकाल के स्मृतिकारों और पुराणों द्वारा इस प्रथा की घोर निन्दा का एक कारण श्री अल्तेकर ने 'पोजीशन आफ वुमैन इन एंशेण्ट इंडिया' (पृ० ४६) में यह बताया है कि बालविवाह के प्रचलन से शुल्क की बुराई बहुत बढ़ गयी थी क्योंकि कन्या के माता-पिता वर से शुल्क मांगते थे। किन्तु यह कारण ठीक प्रतीत नहीं होता। बालविवाह में रजस्वला होने से पहले ही कन्या को ब्याह देने का नियम था, उसे रोक रखने पर माता-पिता को बड़ा पाप लगता था। इस दशा में कन्या के माता-पिता किसी भी प्रकार कन्या का विवाह कर देना चाहते थे। कन्या का शुल्क मांगने से तो कन्या के विवाह में देरी होने की संभावना थी। इसके विपरीत, वे वर के माता-पिता को विवाह के लिए दहेज के रूप में प्रलोभन देना उचित समझते थे। अतः बालविवाह दहेज की बुराई को बढ़ाने वाला कारण अवश्य है, किन्तु कन्या के शुल्क के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्मशास्त्रों द्वारा निन्दित होने पर भी यह प्रथा प्राचीन एवं मध्यकाल में चलती रही। वैदिक काल में तथा मौर्यकाल में कन्या-विक्रय के प्रचलन का ऊपर उल्लेख हो चुका है। गुप्त काल में कन्याशुल्क को सूचित करने वाले बहुत से शिलालेख मिलते हैं। एरण (जि० सागर) प्रस्तर स्तम्भलेख में यह उत्कीर्ण है कि राजा ने सती साध्वी (दत्तादेवी) से पाणिग्रहण किया, उस कन्या का शुल्क उसने अपनी वीरता और शौर्य के रूप में प्रदान किया।[34] चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के शिलालेख में यह वर्णन है कि उसने पृथ्वी को अपने विक्रम से खरीदा था (विक्रमावक्रयक्रीता)। यह प्रयोग आलंकारिक है किन्तु कन्याविक्रय की पद्धति को अवश्य सूचित करता है।[35] शंकराचार्य के सम्बन्ध में केरल में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने ६४ आचार नियत किये थे। इन आचारों में कन्या-विक्रय तथा सती प्रथा का निषेध भी है।[36] १४२५ ई० के पदैविडु (जि० अर्काट) के एक शिलालेख में कर्णाट, तामिल, तेलगु, ऑलाट ब्राह्मणों का यह समझौता उत्कीर्ण है

३४ फ्लीट—इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, पृ० २० 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का।'

३५ वही पृ० २५, कालिदास ने 'दुहितृशुल्क' शब्द का दो स्थानों पर संकेत किया है। अज-इन्दुमती स्वयंवर में भोज का वर्णन करते हुए वह इसके लिए 'हरण' शब्द का प्रयोग करता है। मल्लिनाथ के मत में हरण कन्या के शुल्क को कहते हैं। इसी प्रकार ११।२८ में उसने जनक की 'दुहितृशुल्क' संस्था का उल्लेख किया है। ये दोनों उद्धरण इतने अस्पष्ट हैं कि इनसे कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता है।

३६ इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड ४, पृ० २५५-५६

कि वे अपनी कन्याओं के लिए सुवर्ण नहीं लेंगे और उनका दानमात्र कर देंगे। जो व्यक्ति कन्या के विवाह के लिए शुल्क देगा वह राजा द्वारा दण्डित होगा और ब्राह्मण उसे जाति से बहिष्कृत कर देंगे।[१७] १८०० ई० के लगभग महाराष्ट्र में पेशवा ने वाई (जि. सतारा) के ब्राह्मणों के नाम यह आज्ञा निकलवायी थी कि ब्राह्मण कन्याओं के लिए शुल्क न लें, जो शुल्क लेंगे, उन्हें दण्ड दिया जायगा। जो यह शुल्क देंगे या जो घटक (गाईं) इस शुल्क को तय करायेंगे वे भी दण्डित होंगे।[१८]

गान्धर्व विवाह

स्वरूप—युवक-युवती परस्पर प्रीति उत्पन्न होने पर माता-पिता की अनुमति के बिना जो विवाह करते हैं, उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[१९] आजकल पश्चिम में जिस प्रकार के प्रणय विवाह (Love marriages) चल रहे हैं, प्राचीन काल में उसी तरह गान्धर्व विवाह प्रचलित था। पिछली कई शतियों से बाल-विवाह का अत्यधिक प्रसार होने से गान्धर्वविवाहों की प्रथा हिन्दू समाज से उठ गयी है और उनमें ऐसे विवाहों की कल्पना न है और न ही की जा सकती है। आज से ७० वर्ष पूर्व हिन्दू विवाह की दशा को देखते हुए श्री रिजली ने लिखा था—"इस विषय पर विचार करते हुए हमें अनुरंजन (Courtship) के सब विचार अपने दिल से निकाल देने चाहिए।" ये सब विचार यूरोपियन लोगों के विवाह के साथ अधिक सम्बद्ध हैं। रिजली के मत में 'प्रणय विवाह' यूरोप की विशेषता है, किन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता है। जब तक हमारे देश में बाल-विवाहों का रिवाज नहीं चला था उस समय तक प्राचीन भारत में प्रणय-विवाह होते थे; ऋषियों के आश्रमों में, सरिताओं के कूलों पर, वेतस कुंजों में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता था। वे एक दूसरे के प्रति सत्यसन्ध रहने की प्रतिज्ञा किया करते थे।

वैदिक युग में गान्धर्व विवाह

वैदिककालीन साहित्य में प्रणय विवाहों का बड़ा मधुर वर्णन है। ऋ० (१०।३४।५) में जुआरी यह शिकायत करता है कि मैं जुआ न खेलने का संकल्प करता हूँ, किन्तु जब पासों के पड़ने की आवाज आती है तो मैं जुए के स्थान पर उसी तरह चला जाता हूँ,

१७ हुल्श—साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शनस सं० ५६।

१८ काणे-हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खं० २ भा० १, पृ० ५०६-७।

१९ बौ० ध० सू० १।११।६, सकामेन सकामायां मिथः संयोगो गान्धर्वः। मि० व० ध० सू० १।३।३, आप० ध० सू० २।५।११।२०, गौ० ध० सू० १।४।८ इच्छन्त्या स्वयं संयोगो गान्धर्वः।

जैसे प्रेमिका प्रिय से मिलने के लिए निश्चित संकेत स्थान की ओर जाती है। सोम के प्रकरण में उपमारूप से कहा गया है कि उंगलियां सोम को उसी तरह दबाती है जैसे कन्या प्रेमी से प्यार करती है (ऋ० ९।५६।३)। ऋग्वेद ९।३२।५ में भी स्त्री का प्रेमी के पास जाने का वर्णन है। केवल स्त्रियाँ ही पुरुषों के पास जाकर, उनसे प्रणय प्राप्त करने का यत्न नहीं करती, अपितु पुरुष भी स्त्रियों से प्रेम पाने की आकांक्षा रखते और उसके लिए नाना प्रकार के यत्न करते थे। अथर्ववेद के कामात्मा (६।८) और कामिनी-मनोभिमुखी-करण (प्रेमिका के मन को अपनी तरफ आकृष्ट करना) नामक (२।३०) सूक्तों के मंत्रों की टेक है—"मेरी प्रेमिका मुझे चाहने वाली हो। मेरे से दूर हट कर जाने वाली न हो।" अथर्व ६।८।१ में प्रेमी प्रेमिका से उस तरह के आलिंगन की मांग करता है, जैसा आलिंगन लता वृक्ष के साथ करती है। एक दूसरे सूक्त में पुरुष अपनी कामिनी या प्रेमिका के प्रेम को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के उपायों का आश्रय लेता है, वह अश्विनियों से सहायता मांगता है (२।३०।२), ओषधि का प्रयोग करता है और अन्त में सफल होकर कहता है कि तू मेरे पास पति की इच्छा से और मैं तेरे पास पत्नी की इच्छा से आया हूँ। हिनहिनाते घोड़े की तरह ऐश्वर्य के साथ तेरे पास आया हूँ (अथर्व २।३०।५)। कामात्मा सूक्त (अथर्व ६।९) में भी पुरुष ने इस प्रकार की अभिलाषा व्यक्त की है—हे कामिनी, तू मेरे शरीर, पैर, आंख, सक्थि की कामना कर, क्योंकि तेरी आँखें और केश स्पृहणीयता से मुझे जला रहे हैं। हे कामिनी, मैं बाहु में लगी हुई तुझको अपनी प्रेमलता बनाता हूँ ताकि तू मेरी इच्छा (संकल्प) वाली हो और मेरे चित्त को प्राप्त करे (अथर्व ६।९)। अभिसौमनस्य सूक्त (६।१०२) और स्मरसूक्तों (६।१३०।३१) में भी प्रेमी ने कामिनी के प्रति अपने प्रेम की विह्वलता एवं आतुरता को प्रकट किया है—"अश्विनी, जैसे यह घोड़ा सारथी की इच्छा से आता जाता है (अर्थात् पूर्णरूप से उसके अधीन हो जाता है) हे कामिनी, उसी तरह तेरा मन मेरी ओर आवे जावे (पूर्ण रूप से मेरे अधीन हो)"। (६।१०२।१)। छठे काण्ड के स्मरसूक्त (१३०।३१) की टेक यह है—हे देवो (मेरी कामिनी या प्रेमिका के पास) काम देवता को भेजो ताकि वह मेरी ही चिन्ता करती रहे (देवा प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु)। उसके पास देवताओं का, गन्धर्वों का, अप्सराओं का काम भेजो (ताकि मेरी प्रेमिका) मुझे प्यार करने लगे, मेरा प्रेमी मुझे याद करने लगे (अथर्व ६।१३०।२)। हे अग्नि, हे इन्द्र, हे अन्तरिक्ष, तुम मेरी प्रेमिका को इस तरह उन्मत्त बनाओ कि वह मेरा ही ध्यान करे (अथर्व ६।१३०।३)। पुरुष के द्वारा प्रणय की इतनी तीव्र और स्पष्ट याचना भारत के प्राचीन साहित्य में बहुत कम अभिव्यक्त हुई है।

युवक-युवती के प्रेम का उदय होने पर कई बार माता-पिता उसमें बाधक होते हैं। गान्धर्व विवाह की दूसरे विवाहों से यह विशेषता है कि इसमें माता-पिता की परवाह नहीं की जाती। अथर्व ३।२५ में प्रेमी अपनी प्रेमिका के प्रति काम के इतने जबर्दस्त

बाण फेंकता है कि उसकी प्रेमिका माता के पास हो या पिता के पास, किन्तु वह प्रेमी के वश में हो जाती है: "हे कामिनी, अपने (प्रेम के) चाबुक से मेरी ताड़ना कर, मैं ऐसी प्रेरणा करता हूँ कि चाहे तू माता के पास हो या पिता के, तू मेरे संकल्प वाली हो और मेरे चित्त को प्राप्त करे।" प्रेमी चाहता है कि उसका प्रेमबाण ऐसा प्रबल हो कि प्रेमिका उससे विद्ध होकर रात को सोने की इच्छा न करे (मा क्षुधाः शयने स्वे)। वह बाण उसके हृदय को सुखा दे और उससे विद्ध होकर उसका तालु बिल्कुल सूख जाय और वह प्रेमी के पास प्रियवादिनी होकर बैठ जाय (अथर्व ३।२५।४—५)। शिव ने कामदेव का विध्वंस ज्ञान के तीसरे नेत्र से किया था, विवेक और काम का विरोध है। प्रेमी को भय है कि यदि प्रेमिका कुछ ज्ञान वाली हुई तो वह उसे प्राप्त नहीं कर सकेगा, अतः वह मित्र और वरुण देवों से प्रार्थना करता है कि तुम इसे बुद्धिशून्य (अक्रतु) बना दो और मेरे वश में कर दो (३।२५।६)।

वेद में इन वर्णनों के इतने विस्तार से उपलब्ध होने के कारण यह बात सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होती है कि उस समय गान्धर्व या प्रणय विवाहों का प्रचलन था। कीथ और मैकडानल ने यह कल्पना की है कि उस समय पिता पुत्र के विवाह को नियन्त्रित करता था जो इस पद्धति के सर्वथा विपरीत है। किन्तु जिमर यहाँ तक कहता है कि पिता लड़कियों के विवाह में हस्तक्षेप नहीं करता था।[४०] यदि इन विरोधी सिद्धान्तों को सर्वथा सत्य न माना जाय तो भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि युवक-युवतियों को उस समय प्रणय विवाह करने में पर्याप्त स्वच्छन्दता थी।

महाभारत में गान्धर्व विवाह (दुष्यन्त-शकुन्तला)

प्राचीन काल के इतिहास में गान्धर्व विवाह का सुप्रसिद्ध उदाहरण दुष्यन्त और शकुन्तला का है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल ने उसे अमर बना दिया, किन्तु दोनों वर्णनों में अन्तर है। महाभारत के अनुसार (१।६९) दुष्यन्त अगणित सेना और अनेक वाहनों के साथ पशुओं का शिकार करने के लिए घने वन में गया, उसने अनेक प्राणियों का शिकार किया, अन्त में वह मालिनी नदी के तट पर पहुँचा। उसने कण्व ऋषि के तपोवन में प्रवेश किया, कण्व ऋषि बाहर गये थे। राजा ने आश्रम को सूना पाकर यह पूछा कि यहां कौन है? आश्रम इस प्रश्न से गूंज उठा। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए लक्ष्मी-सी एक रूपवती तपस्विनी कन्या उस आश्रम से बाहर निकली। उसने अतिथि की अभ्यर्थना की, उसके स्वास्थ्य और कुशल का समाचार पूछ कर मुस्कराते हुए कहा—"आपको क्या कार्य है?" राजा ने कहा कि "मैं महर्षि कण्व से मिलने आया हूँ"। उस कन्या ने उत्तर दिया वे फल बटोरने आश्रम से बाहर गये हुए हैं, आप क्षण भर ठहरिये,

४० वै० इं०—खण्ड १,

वे थोड़ी देर में लौट आयेंगे। राजा ने इसके बाद कन्या के रूप की प्रशंसा करते हुए कन्या का परिचय पूछा। कन्या ने विस्तार से अपनी जन्म कथा सुना दी।

दुष्यन्त ने उसकी जन्म कथा समाप्त होते ही यह कहा—"तुम राजपुत्री हो, मेरी पत्नी बन जाओ।" फिर बाद में शकुन्तला को लालच देते हुए कहा—"मैं तुम्हारे लिये सुवर्ण हार, वस्त्र, सुवर्ण कुण्डल, मणि और रत्न लाऊंगा, मेरा सारा राज्य तुम्हारे लिये है। हे सुन्दरी, तुम मेरी पत्नी बन जाओ, हे भीरु, तुम मेरे साथ गान्धर्व विवाह करो, क्योंकि गान्धर्व विवाह सब विवाहों में श्रेष्ठ होता है (१।७३।४)"। शकुन्तला बोली—"मेरे पिता फल बटोरने के लिए गये हैं, आप क्षण भर ठहरें, वह आकर मेरा सम्प्रदान करेंगे।" दुष्यन्त को इतना धैर्य कहाँ था कि वह कण्व की प्रतीक्षा करता। वह बोला अपना आत्मा ही अपना बन्धु है (आत्मनो बन्धुरात्मैव), वही अपनी गति है, अपना दान तुम स्वयं ही कर सकती हो अर्थात् तुम्हें कण्व से पूछने का या उस द्वारा अपना दान करवाने की आवश्यकता नहीं। आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन करते हुए वह कहता है कि "गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के लिए धर्मविवाह है (१।७२।१३)। इसमें शंका मत करो। इसमें सन्देह नहीं कि ये दो प्रकार के विवाह, चाहे अलग रूप से हों या मिलकर हों, राजाओं के लिए उचित हैं। मैं तुम्हारी कामना करता हूँ और तुम मुझे चाहती हो, अतः तुम गान्धर्व विवाह के द्वारा मेरी भार्या बन सकती हो"।

शकुन्तला राजा की अभिलाषा की तीव्रता का अनुभव कर, मौके से लाभ उठाती है और राजा के साथ अपने विवाह की शर्तें तय करती हुई कहती है—"यदि यही धर्म पथ है, मेरा आत्मा मेरा स्वामी है तो हे पौरव आत्मदान के विषय में मेरी शर्तें सुनो, मैं एकान्त स्थान में जैसा कहती हूँ, मेरे साथ वैसी प्रतिज्ञा करो। मुझ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वह युवराज हो और आपके पीछे राज्य का अधिकारी हो। हे दुष्यन्त मैं सच कहती हूँ यदि ऐसा हो तो आपके साथ मेरा संगम हो सकता है (१।७३।१६–१७)"। राजा ने शकुन्तला की यह शर्त मान ली और विधिपूर्वक शकुन्तला से पाणिग्रहण किया। उसके साथ सहवास किया और बाद में उसे यह विश्वास दिला कर राजधानी चला गया कि मैं तुम्हें लिवाने के लिए चतुरंगिणी सेना भेजूंगा।

कुछ समय बाद कण्व ऋषि आश्रम में लौट आये। लज्जावश शकुन्तला उनके पास नहीं गयी। कण्व ने दिव्य ज्ञान से सारी बात जानकर कहा कि "आज मेरी सम्मति के बिना एकान्त में पुरुष से मिलने पर तुम्हारे धर्म की हानि नहीं हुई क्योंकि क्षत्रिय के लिए गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ कहा गया है। निर्जन स्थान में कामयुक्त पुरुष का कामयुक्ता नारी से जो मिलन होता है, वही गान्धर्व विवाह कहलाता है।" यथासमय शकुन्तला का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। छोटी आयु में वह शेर, हाथी आदि सभी भयंकर पशुओं का दमन करने से सर्वदमन कहलाया। उसके छः वर्ष का होने पर कण्व ने अपने शिष्यों के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजा।

शकुन्तला ने राजमन्दिर में राजा को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया। राजा ने उस प्रतिज्ञा को याद करते हुए भी, यह कहा कि "मुझे कुछ स्मरण नहीं है, तू दुष्टा तपस्विनी है। तेरे साथ मेरा धर्म, अर्थ, काम का कोई सम्बन्ध हुआ हो, यह मुझे याद नहीं आता। तू चाहे जो कर, चाहे चली जा, चाहे यहाँ रह (१।७४।१६–२०)"। शकुन्तला ने इसके उत्तर में एक लम्बी वक्तृता दी है। स्त्रियों के अधिकारों का उसमें जैसा प्रबल समर्थन किया गया है, बीसवीं सदी के स्त्री समानाधिकारवादी आन्दोलनकारी (Feminists) भी संभवतः नारी के अधिकारों का वैसा तीव्र समर्थन नहीं करते हैं। पहले उसने दुष्यन्त को सर्वव्यापक परमेश्वर की दुहाई दी है, जिसके आगे कोई पाप नहीं छिपा रहता, फिर उसने पतिव्रता होने के कारण, राजा से पत्नीकृत होने की प्रार्थना की है। बाद में उसने पत्नियों के महत्त्व एवं गौरव के गीत गाये हुए, यह कहा है कि "अतिक्रुद्ध होने पर भी पति को पत्नी को पसन्द न आने वाला काम नहीं करना चाहिए"।[४१] शकुन्तला को शायद यह आशंका थी कि पुरुष नारियों के गुणगान को सुनकर प्रभावित नहीं हो सकते, अतः उसने अगली अपील पुत्र के नाम पर की है। दुष्यन्त ने औरतों को झूठी तथा अविश्वास्य बताते हुए, मेनका से उत्पन्न होने के कारण शकुन्तला को वेश्या सी बातें करने वाली कहा है। शकुन्तला ने इस पर दुष्यन्त को खूब खरी-खरी सुनायी है—"राजन्! आप सरसों (के दाने) जैसा दूसरों का सूक्ष्म दोष देखते हैं और बेलफल जैसा अपना बड़ा दोष नहीं देखते"। वह राजा की तुलना विष्ठा चुनने वाले सूअर और ऐसे कुरूप व्यक्ति से करती है, जिसे अपनी सुन्दरता का अभिमान है, किन्तु उसने शीशे में अभी तक अपना मुँह नहीं देखा है। शकुन्तला की अन्तिम अपील सत्य के नाम पर है। "सत्य ही परब्रह्म है और सत्य ही परम नियम है। हे राजन्! आपने मुझ से जो प्रण किया था, उसे पूर्ण कीजिये, अन्यथा मैं जाती हूँ"। शकुन्तला चली गयी। उसके बाद एक आकाशवाणी हुई—"शकुन्तला ने जो कहा है, वह सब सत्य है तुझे उसके पुत्र का भरण करना होगा" (१।७४।११७–१९)। राजा ने मन्त्रियों से कहा कि मैं जानता था कि इस पुत्र ने मुझसे जन्म लिया है, किन्तु यदि मैंने शकुन्तला के वचनानुसार पुत्र को ले लिया होता तो प्रजा यह शंका करती कि यह पुत्र शुद्ध नहीं है।[४२]

४१ १।७४।५२ 'सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।' कालिदास ने शकुन्तला के लिए महर्षि कण्व के मुँह से इससे बिल्कुल उल्टी बात कहलाई है—
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।

४२ कालिदास ने महाभारत की इस कथा को अपनी कल्पना से परिमार्जित कर अभिज्ञानशाकुन्तल में कुन्दन बना दिया है। कालिदास की शकुन्तला न तो प्रगल्भ होकर राजा को अपनी जन्मकथा कहती है और न अपने पुत्र के लिए राजा होने की शर्त बाँधती है। कालिदास का दुष्यन्त भी शकुन्तला को जानबूझ कर नहीं

बौद्ध साहित्य में गान्धर्व विवाह

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय गान्धर्व विवाह का पर्याप्त प्रचलन था। जातक (सं० ७) की कथा कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा से बहुत मेल खाती है। एक बार काशीराज ब्रह्मदत्त अपने प्रमोद के लिए उपवन में गया। वह फल और फूल ढूंढता हुआ घूम रहा था। अकस्मात् उसकी दृष्टि कुंज में लकड़ियां बीनती और गाती हुई एक लड़की पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही राजा उस पर मुग्ध हो गया। कन्या को राजा से गर्भ रह गया। उसने राजा से यह बात कही। राजा ने उसे अपनी मुद्रा देते हुए कहा कि यदि लड़की हो तो इस अंगूठी से धन प्राप्त करना तथा उस धन को पालन-पोषण पर व्यय कर देना और यदि लड़का हो तो यह अंगूठी और बच्चा मेरे पास ले आना। यथासमय एक बालक उत्पन्न हुआ। उसने माता से अपने पिता के बारे में पूछा। माता ने कहा—"वाराणसी का राजा तेरा पिता है" और उसे अंगूठी वाली बात सुना दी। पुत्र ने माता से आग्रह किया कि वह उसे राजा के पास ले जाय। माता राजदरबार में गयी, उसने मुद्रा उपस्थित की। राजा जानता था कि वह सच कह रही है, किन्तु दरबारियों के आगे यह बात स्वीकार करने में उसे लज्जा का अनुभव हुआ। उसने दुष्यन्त की तरह स्पष्ट प्रत्याख्यान करते हुए कहा कि यह मेरा लड़का नहीं है। माता ने मुद्रा का साक्ष्य उपस्थित किया, राजा ने उससे भी इन्कार कर दिया। अन्त में उस बच्चे के अलौकिक चमत्कार दिखाने पर राजा ने उस बालक को स्वीकार किया। उसे एक प्रान्त का शासक बनाया और राजा के मर जाने के पश्चात् उसने पिता के राज्य पर शासन किया।[४३]

कई बार स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के साथ भाग जाती थीं। श्रावस्ती के एक धनी श्रेष्ठी की कन्या पाटच्चारा जब १६ वर्ष की हुई तो उसे सातवीं मंजिल पर कड़ी चौकसी से रखा गया। किन्तु उस कन्या का रक्षक से ही प्रेम हो गया। माता-पिता ने उसकी एक दूसरे युवक से शादी तय कर दी, किन्तु शादी के दिन वह कन्या अपने प्रेमी के साथ भाग गयी (धम्मपद अट्ठ० कथा, खण्ड २, पृ० २६०)। अन्यत्र अट्ठकथा (खण्ड १, पृ० १६१) में उज्जयिनी के चण्ड-प्रद्योत की पुत्री वासुलदत्ता की कथा

भुलाता, अपितु दुर्वासा के शाप के कारण उसे शकुन्तला का विस्मरण हो जाता है।

४३ ऐसा जान पड़ता है कि यह कथा महाभारत और कालिदास की शकुन्तला की मध्यवर्ती है। महाभारत में अंगूठी की चर्चा नहीं है, इस कथा में पहचानने के लिए राजा द्वारा अंगूठी के दान की चर्चा है। म० भा० और जातक में प्रत्याख्यान का मूल हेतु लोकलज्जा है, किन्तु कालिदास अंगूठी गुम करके तथा शाप द्वारा राजा को शकुन्तला का विस्मरण करा कर इस कथा को सर्वथा नया रूप देता है।

दी गयी है। उसके पिता ने कन्या को हाथी पकड़ने का मन्त्र सिखाने के लिए उदयन को नियत किया। उदयन और वासुलदत्ता का प्रेम हो गया और वासुलदत्ता उसके साथ भाग गयी। यह बौद्ध कथा कौशाम्बी के वासवदत्ता और उदयन की प्रणय कथा का स्मरण कराती है।

भास ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक नाटक में उदयन और वासवदत्ता की कथा लिखी है। वत्स (प्रयाग के पास का प्रदेश) के राजा उदयन और उज्जयिनी के राजा प्रद्योत में शत्रुता थी। उदयन को हाथी पकड़ने का बड़ा शौक था। वह हाथियों को मस्त कर देने वाली वीणा बजाना जानता था। प्रद्योत ने उसके इस व्यसन का लाभ उठाया। एक बार उदयन नागवन में हाथी पकड़ने गया। प्रद्योत ने एक नकली हाथी में सिपाही भरवा दिये और उदयन उस हाथी में छिपे हुए सिपाहियों के द्वारा पकड़ लिया गया। प्रद्योत ने उसे अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणा सिखाने के लिए शिक्षक नियत किया। वीणा सीखने के समय दोनों के बीच में परदा रहता था। एक बार अकस्मात् उदयन ने वासवदत्ता को देखा। दोनों में प्रेम उत्पन्न हो गया। वत्सराज उदयन अपने मंत्री की योजना से उसे भगा लाया।[४४]

वात्स्यायन तथा गान्धर्व विवाह

वात्स्यायन ने कामसूत्र में प्रणयविवाहों की बड़े विस्तार से चर्चा की है। कामसूत्र के तीसरे अधिकरण का विषय है—"कन्या किस प्रकार प्राप्त की जाय।" वात्स्यायन ने एक यह मत लिखा है कि जिस कन्या में युवक का दिल और आँखें लग गयी हों उसी कन्या से उत्तम सिद्धि हो सकती है, दूसरी से नहीं।[४५] वह कहता है कि जब कन्या विवाह योग्य आयु की हो जाय तो माता-पिता उसे अलंकृत कर एवं सजाकर यज्ञों में, विवाहों में तथा सखियों के साथ वसन्त आदि उत्सवों में भेजें। वहाँ लोग खूब इकट्ठे होते हैं, क्योंकि कन्या सौदेबाजी की वस्तु है।[४६] कन्या को वरण करने वाले या चाहने वाले जो व्यक्ति घर पर आयें माता-पिता उन्हें कन्या को दूसरे-दूसरे बहानों से दिखा दें।

कई बार इस प्रकार के प्रणय-विवाहों में माता-पिता बाधक होते थे। किन्तु

४४ उदयन और वासवदत्ता की कथा प्राचीन भारत में बहुत लोकप्रिय थी। कालिदास ने मेघदूत (१।२२) में इसका संकेत किया है।

४५ ३।१।१४ वात्स्यायन कामसूत्र।

यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिः नेतरामाद्रियेत।

४६ वा० का० सू० ३।१।१६ नित्यप्रसाधितायाः सखीभिः सह क्रीडा। यज्ञविवाहादिषु जनसंद्रावेषु प्रायत्निकं दर्शनम्। तथोत्सवेषु च। पण्यसधर्मत्वात्॥

वात्स्यायन विवाह में प्रीति को ही मुख्य मानता है (३।१।२५)। अतः उसका मत है कि वर-वधू में प्रीति उत्पन्न होने पर माता-पिता को उस सम्बन्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि माता-पिता मित्रों के आग्रह पर तैयार नहीं होते तो कपटपूर्ण उपायों को बरतने में कोई दोष नहीं है। वर के मित्र कन्या के माता-पिता को दूसरे वरों की बुराइयां बताकर उन्हें अन्य वरों के साथ ब्याहने से रोकें (३।१।६)। एक मित्र ज्योतिषी का रूप धारण कर कन्या के घर जाये और यह बताये कि ग्रह, लग्न और शकुन बताते हैं कि वर को भविष्य में सम्पत्ति या बड़ा पद मिलने वाला है (३।२।७)। उसके दूसरे मित्र कन्या की माता से आकर कहें कि उस प्रेमी या नायक को दूसरी अच्छी लड़की मिल रही है (३।१।८)। इस प्रकार कन्या के माता-पिता को नाना उपायों से प्रलोभित कर एक-दूसरे को चाहने वाले युवक-युवती का विवाह कराया जाय।

कई बार व्यक्ति के धनहीन या गुणहीन होने पर उसका विवाह नहीं हो सकता था। वात्स्यायन इस दशा में उसे यह सलाह देता है कि ऐसा युवक बचपन से किसी कन्या का अनुरंजन (Courtship) करे (३।३।२)। वह उस कन्या के साथ फूल चुने, माला गूंथे, गुड़ियाओं के खेल खेले, रसोई बनाये, तरह-तरह के जुए खेले, बीच की अंगुली बताने के तथा अन्य खेलों को, जो उस देश में प्रचलित हों तथा कन्या की आयु के अनुकूल हों, खेले। अपनी प्रेमिका के साथियों—नौकरों और दासियों के साथ भी ये खेल खेले (३।३।६)। इसके अतिरिक्त लड़की और उसकी सहेलियों के साथ, आंखमिचौनी, आरब्धिका, लवणवीथिका, गोधमपुंजिका आदि खेलों का अभ्यास करे। वह कन्या को रिझाने के लिए उसे ऐसे खिलौने और गुड़िया दे जो दूसरी लड़कियों के पास न हों, रसोई के बरतन, तोते, कोयल आदि के पिंजरे, तसवीरें, वीणा आदि का दान करता रहे। यह दान उसे एकान्त में छिपाकर करे। एकान्त में उसे दान देता हुआ यह बात कहे कि मैं तुम्हें ये वस्तुएं इसलिए दे रहा हूं कि खुले तौर पर देने से माता-पिता तथा गुरुजन नाराज होंगे और दूसरी लड़कियां भी ऐसी चीजें चाहेंगी। जब वह कन्या कुछ प्रेम दिखाने लगे तो मनोरंजक कथाएं सुनाकर उसके चित्त को प्रसन्न करे। यदि वह हैरान हो तो जादू के खेल दिखाकर उसे और अधिक आश्चर्य में डाले। यदि उसे कलाओं से प्रेम है तो उनमें अत्यन्त कौशल प्रकट करे। यदि उसे गाना सुनने का शौक है तो उसे गाना सुनाये। जब वह अष्टमी, पूर्णिमा आदि के मेले पर जाय तो युवक उसे गुलदस्ते, कान के आभूषण, कपड़े, अंगूठी, जेवर आदि भेंट करे। प्रेमी सेविका द्वारा कन्या को यह भी बतलाये कि वह रति कार्य में बहुत कुशल है। इस सारे समय में वह अपने कपड़े बहुत अच्छे रखे (बालोपक्रमप्रकरण ३।३)।

इस प्रकार पुरुष द्वारा प्रेम प्रदर्शित किये जाने के बाद कन्या भी उस पुरुष के प्रति अनुरक्त होती है। वात्स्यायन ने बड़े विस्तार से यह बताया है कि पुरुष लड़की की किन चेष्टाओं से यह जाने कि वह उसके प्रति अनुरक्त हो गयी है (इंगिताकार सूचन

प्रकरण ३।३)। पुरुष को जब यह निश्चय हो जाय कि कन्या उसे चाहती है तो वह उसे प्राप्त करने के और उपाय करे। जुआ तथा दूसरी खेलों में झगड़ा करता हुआ उसका हाथ इस प्रकार पकड़ ले जैसे उसने उस कन्या के साथ ब्याह किया हुआ हो। इसी तरह नायिकाओं के साथ आलिंगन आदि करे, जलक्रीड़ा में प्रेमिका से कुछ दूरी पर गोता लगाए, और उसके पास आकर उसे छूकर, फिर गोता लगाये। उसको ऐसे सपने सुनाये कि तुम जैसी स्त्रियों के साथ मेरा समागम हुआ है। गोष्ठियों और समाजों (Parties) में वह प्रेमिका के पास बैठे। किसी बहाने से उसका स्पर्श करे, उसका पैर अपने पैर से दबाता रहे। नायिका के प्रेम की परीक्षा करने के लिए वह झूठ मूठ बीमार पड़ने का बहाना करे। उससे सिर दबाने का तथा अन्य कार्य करवाये। तीन सायंकाल या तीन रात तक वह परीक्षा करे। यदि प्रेमी इन उपायों में सफल न हो तो वह अपने मित्रों की तथा नायिका की सहेलियों की सहायता ले। अपनी नौकरानियों को उसकी सहेलियाँ बनाये। इसके बाद वह पर्वों (धार्मिक त्योहारों), विवाहों, उत्सवों, यात्रा, नाटक आदि वाले स्थानों में नायिका के अकेली होने पर उसका अनुरंजन (Courtship) करे (वा० कामसूत्र ३।४।१–२४)।

वात्स्यायन ने कन्याओं को भी अपने प्रणय व्यवहार द्वारा प्रेमियों के हृदय जीतने के कुछ क्रियात्मक उपाय सुझाये हैं (प्रयोज्यावर्तन प्रकरण ३।४ २५–५१)। वह ऐसे पुरुष से प्रेम दिखाये जिसके विषय में उसे यह संभावना हो कि वह दुर्बलेन्द्रिय (अपनी वासनाओं को रोकने में असमर्थ) है और विवाह में माता-पिता की परवाह नहीं करेगा। प्रेमिका प्रेमी से एकान्त में मिले। उसे फूल, इत्र और पान आदि की भेंट करे। सिर दबाने आदि की अपनी कला के प्रदर्शन से, उसे प्रसन्न करे, किन्तु वात्स्यायन कन्या को यह चेतावनी देता है कि प्रणय के मामले में उसे बहुत अधिक पहल नहीं करनी चाहिए। प्रेमी द्वारा अंकपरिष्वक्ता होने पर भी, वह कोई उद्विग्नता न दिखाये। जब कन्या को निश्चय हो जाय कि प्रेमी मुझ पर अनुरक्त है तब वह प्रेमी द्वारा कौमार्य भंग के लिए जल्दी कराये। अपने आप तथा अपनी विश्वासपात्र सहेलियों द्वारा इस समाचार को अच्छी प्रकार प्रकट कर दे (३।४।५०)।

इस प्रकार अनुरंजित नायिका के अनुराग को और अधिक बढ़ाने के लिए, नायक उसके पास अपनी भाई की लड़की (धात्रेयी) को भेजे। वह उसके आगे नायक के गुणों का इस ढंग से बखान करे, कि नायिका को यह सन्देह न हो कि वह नायक (प्रेमी) द्वारा भेजी हुई है। वह दूसरे वरों की खूब निन्दा करे, यदि माता-पिता को यह वर पसन्द न हो तो उनके बारे में लड़की को यह कहे कि माता-पिता तो गुणों को न पहचानने वाले और धन के पीछे मरने वाले हैं, वे गुणवान् वर को छोड़कर तेरे लिये निकम्मे धनी वर को ढूंढ रहे हैं। अपनी बुद्धि और इच्छा से, पाणिग्रहण करके प्रसन्नता रहने वाली शकुन्तला आदि की कथाएँ उस नायिका को सुनायी जाय। प्रेमी के

प्रति अत्यन्त अनुरक्त होने पर दाई कन्या के दिल में से माता-पिता और गुरुजन का भय निकाल दे और वह लज्जा भी निकाल दे कि गान्धर्व विवाह कोई बुरा कार्य है। उसे यह समझा दे कि तेरा प्रेमी यदि तुझे बलपूर्वक और अचानक हर ले जाय तो इसमें तेरा दोष नहीं है (का० सा० सू० ३।३।१।१०)। ऐसी प्रेमिका को नायक एकान्त स्थान में ले जावें, वहां ब्राह्मण के घर से यज्ञ की अग्नि लावें, कुशा बिछावे और यथाविधि कन्या के साथ तीन बार अग्नि की परिक्रमा कर, विवाह कर ले, क्योंकि अग्नि को साक्षी बनाकर किये गये विवाह भंग नहीं किये जा सकते। इस विवाह की सूचना अपने-माता-पिता को दे दे। उस कन्या के कौमार्यहरण की खबर को भी फैला दे, इस प्रकार प्रेमी को ऐसी योजना बनानी चाहिए कि बदनामी के और राजा के दण्ड के भय से कन्या प्रेमी को देनी पड़े (का० कामसूत्र ३।५।११-१७)। यही गान्धर्व विवाह है।

कई बार कन्याएँ इतने साहसिक कार्य के लिए तैयार नहीं होती थी। माता-पिता अपनी इच्छानुसार अपनी कन्या का विवाह किसी दूसरे युवक से निश्चित कर देते थे। ऐसी अवस्था में वात्स्यायन ने नायक को यह सलाह दी है कि वह दाई आदि किसी स्त्री द्वारा अपनी प्रेमिका को किसी दूसरे बहाने से बुलाये और ब्राह्मण के घर से अग्नि लाकर विधिपूर्वक संस्कार करे और उस कन्या का पाणिग्रहण करे। प्रेमी को प्रेमिका के भाई को अपना मित्र बनाना चाहिए। उसका भाई उसकी उम्र का होने के कारण, उसे ऐसे मामलों में पर्याप्त सहायता देगा। वह उसके भाई को भेंट आदि से खूब खुश रखे और उसे यह बताये कि मैं तेरी बहन को चाहता हूं। युवक अपने समानशीलव्यसन वाले मित्रों के लिए प्राण तक छोड़ने के लिए तैयार तक हो जाते हैं, अतः अपने मित्र की इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए उसका भाई अवश्य तैयार होगा। प्रेमी प्रेमिका के भाई द्वारा प्रेमिका को किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दे और वहाँ उसके साथ विधि-पूर्वक विवाह कर ले।

वात्स्यायन के इन परामर्शों और आदेशों को प्रेमी-प्रेमिका गान्धर्व विवाहों में किस हद तक काम में लाते थे, यह जानने के लिए हमारे पास निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, किन्तु वात्स्यायन ने इस प्रकरण को इतने अधिक विस्तार से लिखा है और इतने क्रियात्मक सुझाव दिये हैं कि इनसे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि वात्स्यायन के समय में इस प्रकार के विवाह प्रचलित थे।

संस्कृत काव्यों में गान्धर्व विवाह

संस्कृत नाटकों और काव्यों में गान्धर्व विवाहों का बहुत वर्णन है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में कालिदास ने बताया है कि अनेक राजर्षिकन्याओं ने गान्धर्व विवाह किये

और माता-पिता द्वारा वे पसन्द किये गये।[४७] कालिदास के इस नाटक का विषय दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह है। छठी शती के मध्य में या अन्त में होने वाले सुबन्धु की वासवदत्ता में चिन्तामणि के पुत्र कन्दर्पकेतु और कुसुमपुर के राजा शृंगारशेखर की कन्या वासवदत्ता के प्रणय-विवाह का वर्णन है। सातवीं शती में बाण भट्ट ने कादम्बरी लिखी। इसमें कादम्बरी और चन्द्रापीड के तथा महाश्वेता और पुण्डरीक के गान्धर्व विवाह का वर्णन है। सायंकाल के समय कपिञ्जल पुण्डरीक की मनोव्यथा को प्रकट करने के लिए महाश्वेता के पास आता है और उसे पुण्डरीक का हाल सुनाता है, किन्तु महाश्वेता की माता को आती देख-देखकर जल्दी लौट जाता है। बाण के कुछ ही समय बाद होने वाले भवभूति ने वात्स्यायन के कामसूत्र का पूरा अनुसरण अपने मालतीमाधव नामक नाटक में किया है। पद्मावती राज्य के मंत्री भूरिवसु और वैदर्भराज के मंत्री देवरात ने गुरु के पास शिक्षा ग्रहण करते हुए यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अपनी सन्तानों का परस्पर विवाह करेंगे। अतः देवरात के पुत्र माधव का भूरिवसु की कन्या मालती से विवाह होना चाहिए था। माधव इस उद्देश्य से पद्मावती में आता है। किन्तु भूरिवसु राजा को प्रसन्न रखने के लिए अपनी कन्या का विवाह राजा के एक कृपापात्र नन्दन से करना चाहता है। कामन्दकी (एक बौद्ध भिक्षुणी जो इस नाटक में वात्स्यायनसम्मत दूती या धात्रेयी का कार्य बड़ी खूबी से पूरा करती है)[४८] को भूरिवसु का यह वचन-भंग बहुत बुरा प्रतीत होता है। वह माधव और मालती को कई बहानों से मिलाकर उनमें प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर देती है। भूरिवसु से जब लोगों ने कहा कि उसने मालती को नन्दन के साथ ब्याहने का निश्चय करके वचन भंग किया है, तो भूरिवसु ने कहा कि कन्या पर पिता का पूरा अधिकार होता है। परन्तु कामन्दकी इसका विरोध करती हुई कहती है—विवाह में सर्वोत्तम मंगल वर-वधू का पारस्परिक प्रेम है, जिसमें वर-वधू के मन और आँखें मिली रहती हैं, उसी में समृद्धि होती है।[४९] यह कथन अक्षरशः वात्स्यायन (३।१।१४) से मिलता है। वात्स्यायन ने यह सलाह दी थी कि प्रेमिका को शकुन्तला आदि की कथाएँ सुनाकर, प्रेमी के प्रति अधिक अनुरक्त बनाना चाहिए।

४७ अभिज्ञानशाकुन्तल, तृतीय अंक श्लोक २१

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥

४८ कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में ऐसा कार्य एक परिव्राजिका कौशिकी ने किया है। संन्यासिनी होने से सब लोगों का उन पर विश्वास होता था अतः वह यह कार्य दूसरी स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आसानी से कर सकती थी।

४९ मालतीमाधव, २ रा अंक—इतरेतरानुरागो हि दारकर्मणि परार्ध्यं मंगलम्।
गीतश्चायमर्थो अंगिरसा यस्यां मनश्चक्षुषो निबन्धस्तस्यामृद्धिरिति॥

कामन्दकी दूसरे अंक में इस सलाह का पूरा उपयोग करती हुई मालती को बताती है कि पुराने समय में शकुन्तला ने दुष्यन्त का तथा उर्वशी ने पुरूरवा का वरण किया था। वासवदत्ता को उसके पिता ने संजय नामक राजा को देना चाहा, किन्तु उसने उदयन के प्रति आत्मसमर्पण किया। मालती पिता द्वारा अपने को इस प्रकार उपहार दिये जाने पर आश्चर्य प्रकट करती हुई कहती है कि पिता के लिए राजा को प्रसन्न रखना बड़ा महत्त्व रखता है, किन्तु मालती की उसे परवाह नहीं है। कामन्दकी दूसरे अंक की समाप्ति पर कहती है कि मैंने मालती के दिल में दूसरे वर के प्रति द्वेष उत्पन्न कर दिया है और वह अपने पाणिग्रहण के विषय में पिता के अधिकार में सन्देह प्रकट करने लगी है, उसे ऐतिहासिक उदाहरण सुनाकर मैंने कर्तव्य का भी निर्देश कर दिया है। माधव के भाग्य, कुल और गुणों की बड़ाई की है और अब उनका सम्बन्ध (विवाह) भाग्य पर छोड़ दिया है।[५०] अपने पिता की इच्छा के प्रतिकूल होने पर भी मालती माधव से ही पाणिग्रहण करना चाहती है और मालती तथा माधव का विवाह सम्पन्न होने के साथ नाटक की समाप्ति होती है। इस नाटक से स्पष्ट है कि आठवीं शती तक हिन्दू समाज में गान्धर्व विवाह प्रचलित थे।

गान्धर्व विवाहों में संस्कार की आवश्यकता

गान्धर्व विवाहों में अग्निहोत्र एवं संस्कार आवश्यक है या नहीं, यह एक मनोरंजक प्रश्न है। वात्स्यायन के समय तक विवाह-संस्कारों का विचार बहुत प्रबल हो चुका था। एक बार संस्कार हो जाने पर विवाह अविच्छेद्य सम्बन्ध माना जाने लगा था। अतः वात्स्यायन ने गान्धर्व राक्षस और पैशाच विवाहों में इस बात पर बहुत बल दिया है कि कन्या को पितृगृह से हर लेने के बाद तुरन्त ब्राह्मण के घर से अग्नि लाकर विवाह संस्कार कर देना चाहिए, क्योंकि अग्निसाक्षिक विवाहों का भंग नहीं हो सकता।

ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमाने में संस्कार आवश्यक नहीं समझा जाता था। कण्व ने स्पष्ट रूप से महाभारत (१।७२।२७) में गान्धर्वविवाह को निर्मन्त्रविधि कहा है।[५१] इसी का अनुसरण करते हुए कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त

[५०] मालतीमाधव, २ रा अंक

वरेऽन्यस्मिन्द्वेषः पितरि विचिकित्सा च जनिता
पुरावृत्तोद्गारैरपि च कथिता कार्यपदवी।
ध्रुवं माहाभाग्यं यदभिजनतो यंच गुणतः।
प्रसंगाद्वत्सस्येत्यथ खलु विधेयः परिचयः॥

[५१] महाभा० १।७३।२६ क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि कृतः।

और शकुन्तला का विवाह संस्कार नहीं कराया। किन्तु धीरे-धीरे इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि ऐसे विवाहों को समाज द्वारा स्वीकृत कराने के लिए विवाह-संस्कार का होना उचित है, अन्यथा समाज में ऐसे विवाहों के बढ़ने की संभावना थी, जिसमें पहले कोई अपनी प्रेमिका से शादी कर ले और बाद में उसे छोड़ दे। इस प्रकार छोड़ी हुई स्त्रियां अनाथ और असहाय हो जाती होंगी और इन विवाहों के समाज द्वारा स्वीकृत न होने के कारण उन्हें पति से अपने निर्वाह के लिए किसी प्रकार की सहायता मांगने का कानूनी अधिकार भी नहीं होता होगा। इन असहाय स्त्रियों की रक्षा के लिए तथा इस प्रथा से बढ़ने वाले दुराचार को रोकने के लिए संभवत: इन विवाहों में संस्कार की आवश्यकता समझा गया, किन्तु फिर भी छठी शती के मध्य में सुबन्धु अपने नायक-नायिका के लिए विवाहमहोत्सव आवश्यक नहीं समझता। जब वर-वधू में अनुराग उत्पन्न हो गया तो उनके लिए विवाह की किसी दूसरी विधि की आवश्यकता नहीं है। सुबन्धु ने प्रेम के बन्धन को संस्कार के बन्धन से अधिक दृढ़ मानते हुए कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता का कोई संस्कार नहीं कराया और विवाह के बिना कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता के साथ अभिलषित सुरलोक के दुर्लभ सुखों का अनुभव करते हुए बहुत समय व्यतीत किया।[५३] किन्तु बाणभट्ट ने सुबन्धु के इस मत से असहमति प्रकट की है। कादम्बरी का पिता चित्ररथ चन्द्रापीड के पिता तारापीड से कहता है कि यद्यपि इन दोनों का परस्पर प्रेम होने के कारण धर्मानुसार विवाह हो चुका है, किन्तु विवाह विधि के लिए लोक-व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए (कादम्बरी, पृ० ७०८)।

धर्मशास्त्र तथा गान्धर्व विवाह

धर्मशास्त्रों ने सामान्य रूप से गान्धर्व विवाहों का समर्थन नहीं किया। वे कन्यादान को आदर्श मानते हैं, अतः अपनी इच्छा से किये जाने वाले विवाहों को वे कामवासना की सन्तुष्टि करने वाला समझते हैं,[५४] अतः धर्मशास्त्र गान्धर्व विवाहों को क्षत्रियों

यद्यपि म० भा० (११७३।२०) में कहा है—
'जग्राह विधिवत्पाणावुवास च तया सह।' किन्तु भण्डार कर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के संस्करण में इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझकर छोड़ दिया गया है।

५३ वासवदत्ता—अन्तिम कण्डिका।

५४ इसीलिये अधिकांश धर्मशास्त्रों-बौधायन १; ११।२०, नारद १२।३८, ३९) ने इसे चार धर्मानुकूल (धर्म्य) और प्रशस्त विवाहों के बाद पाँचवाँ स्थान दिया है। आपस्तम्ब (३।५।१२) और वसिष्ठ (१।२९) प्राजापत्य का उल्लेख न करने के कारण केवल ब्राह्म आर्ष और दैव विवाह को ही धर्मानुकूल मानते हैं, वे इनके बाद

के लिए ही उचित समझते हैं। महाभारत १।७३।२७ में स्पष्ट रूप से यह बात कही गयी है। मनु ३।२६ में इसका समर्थन करता है, किन्तु बौधायन ध० सू० (१।११।१३) वैश्य और शूद्र के लिए भी गान्धर्व और राक्षस विवाह को वैध मानता है, क्योंकि उनकी स्त्रियों की संख्या नियत नहीं होती और वे खेती और सेवा का कार्य करते हैं (१।११।१४।१५)। इसके बाद कुछ लोगों का मत उद्धृत करते हुए वह कहता है—"कुछ लोग सब जातियों के लिए गान्धर्व विवाह की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि यह पारस्परिक प्रेम से होता है" (बौ० ध० सू० १।११।१६)। वह चारों वर्णों के लिए इसे अच्छा मानता है। वा० का० सू० में दो विरोधी मत मिलते हैं। धर्मशास्त्र की मर्यादा का अनुसरण करते हुए पहले वह ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ बताता है (वा० का० सू० ३।५।२८) किन्तु इसके बाद अपनी सम्मति देता हुआ कहता है (३।५।२९-३०)—"विवाहों का फल अनुराग है, इसलिए मध्यम या छठे दर्जे का गान्धर्व विवाह अनुराग रूपी फल से युक्त होने के कारण सम्मान्य होता है। गान्धर्व विवाह सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें वर-वधू के ढूंढ़ने का झंझट नहीं, प्रत्येक को सुख होता है, अधिक क्लेश नहीं है और वर-वधू में परस्पर प्रेम भी पाया जाता है" (वा० कामसूत्र ३।५।२९-३०)।

गान्धर्व विवाह के दो भेद

मनुस्मृति (३।२६) में कहा गया है कि गान्धर्व और राक्षस नामक विवाह क्षत्रियों के लिए धर्मानुकूल (धर्म्य) हैं, भले ही वे पृथक्-पृथक् रूप से हों या मिश्रित रूप से। इस श्लोक के आधार पर स्टर्नबैक ने यह कल्पना की है कि उस समय गान्धर्व-विवाह के दो प्रकार प्रचलित थे। पहला राक्षस विवाह से मिश्रित गान्धर्व विवाह तथा दूसरा इससे अमिश्रित विवाह। मेधातिथि ने उपर्युक्त श्लोक की टीका में पहले प्रकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि कोई कन्या अपने पिता के घर में रहती हुई किसी लड़के को देखती है, उसकी प्रशंसा सुनती है, उससे प्रेम करती है, किन्तु माता-पिता के विरोध के कारण उससे न मिल सकने की दशा में प्रेमी के साथ गुप्त समझौता करती है, उसको किसी प्रकार से अपना अपहरण करने को कहती है, वर शूरवीर होने के कारण उसके सम्बन्धियों को मार कर तथा घायल करके उस कन्या का अपहरण करता है, तो इसमें वर-वधू के परस्पर प्रेम की गान्धर्व विवाह की शर्त पूरी होती है तथा वधू का अपहरण करने से राक्षस विवाह की शर्त भी पूरी होती है। अतः इसमें दोनों प्रकारों का समन्वय हुआ है। भागवतपुराण में वर्णित रुक्मिणी का

इसे चौथा स्थान देते हैं किन्तु मनु (३।२१) तथा याज्ञवल्क्य (१।५८-६१) ब्राह्म, दैव, आर्ष प्राजापत्य और आसुर के बाद छठा स्थान देते हैं।

विवाह इसी प्रकार का है। दूसरे प्रकार में अपहरण नहीं होता था, किन्तु वर-वधू माता-पिता की इच्छा के बिना परस्पर प्रीति होने पर विवाह कर लेते थे।

गान्धर्व विवाह का अर्थ है—गन्धर्वों की जाति में होने वाला विवाह। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि गन्धर्व स्वर्ग लोक में गायकों की एक विशेष देव योनि है। इस जाति के लोग संगीत, वाद्य और नाट्य कला में प्रवीण और अत्यन्त रूपवान् होते है। गन्धर्व शब्द का अर्थ ही गाने वाला है (गां वाचं धारयति मि० विष्णु पुराण १।५)। ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्वों को स्त्रीप्रेमी बताया गया है।[५४] गन्धर्वों के स्त्रीप्रेमी होने से उनमें प्रणय विवाह की प्रथा का होना स्वाभाविक है।

मध्यकाल में बालविवाह की प्रथा का प्रचलन होने तथा स्त्री-अधिकारों का पूर्णरूप से अपहरण कर लिये जाने के बाद गान्धर्व विवाह का रिवाज बहुत कम हो गया, किन्तु जिन जातियों में तरुण-विवाह प्रचलित था, उनमें मध्यकाल में प्रणय विवाह (गान्धर्व विवाह) चलता रहा और आजकल भी कुछ जातियों में गान्धर्व विवाह की पद्धति प्रचलित है।

वर्तमान काल में गान्धर्व विवाह

प्राचीन काल की तरह आजकल भी यह विवाह क्षत्रियों एवं राजाओं में अधिक प्रचलित है। टिपरा के राजपरिवार में प्रचलित **मुखचन्द्रिका** नामक विवाह गान्धर्व विवाह का एक भेद है, मुखचन्द्रिका में वर-वधू के बीच में परस्पर दर्शन से प्रेम उत्पन्न हो जाने पर शास्त्रीय विधि से उनका विवाह कर दिया जाता है।[५५] बंगाल की सदर अदालत ने १८१७ में ऐसे विवाहों को वैध माना था, फिर १८५० और १८५३ में भी इन की वैधता स्वीकार की गयी, परन्तु इलाहाबाद हाईकोर्ट ने भवानी बनाम महाराजसिंह के मामले में यह फैसला दिया था कि यह विवाह उपपत्नी या रखैल रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[५६] उत्तर प्रदेश में भले ही यह विवाह मान्य न हो किन्तु बंगाल में यह विवाह वैध है।

गान्धर्व विवाहों में शास्त्रीय विधियाँ आवश्यक है या नहीं, इस विषय में हाई-कोर्टों में मतभेद है। बंगाल के राजाओं में प्रचलित गान्धर्व विवाह में वर-वधू परस्पर मालाओं का आदान-प्रदान करते है, इसमें हवन करना आवश्यक नहीं समझा जाता। कलकत्ता हाईकोर्ट ने क्षत्रियों में इस प्रकार के विवाह वैध माने है, किन्तु मद्रास हाईकोर्ट ने ऐसे विवाहों में होम (हवन) को आवश्यक विधि माना गया है। मद्रास में उसके बिना ये विवाह अवैध समझे जाते है।[५७]

५४ तै० सं० ६।१।६।५ ऐ० ब्रा० ५।१ 'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः'।

५५ वीकली रिपोर्ट १२४ (१८६४) २५ वी रि० ४०४ (१८७६)

५६ भवानी बनाम महाराजसिंह ३ इलाहाबाद, ७३८

५७ किन्या वमन बनाम राधा मनि १२ मद्रास, ७२

गान्धर्व विवाहों में अपनी जाति में ही विवाह करने के नियम का भंग होने की संभावना बनी रहती है। यह आवश्यक नहीं कि जिस युवक और युवती में प्रेम उत्पन्न हो, वे एक ही वर्ण के हों। काम का वेग अन्धा है, जाति एवं धर्म के नियमों से ऊपर उठा रहता है। असवर्ण विवाहों के प्रकरण में इस प्रश्न पर विशेष विचार किया गया है। इस प्रकरण में केवल इतना ही उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि गान्धर्व विवाह जब अन्तर्जातीय होते हैं तो अदालतें कई बार उनकी वैधता स्वीकार करने से इन्कार कर देती है। बम्बई में एक राजपूत और ब्राह्मणी तथा शूद्रा के गान्धर्व विवाहों को अन्तर्जातीय होने से स्वीकार नहीं किया गया।[५८] किन्तु पंजाब में राजपूत और महाजन स्त्री की शादी को जायज ठहराया गया।[५९]

पाश्चिमी सभ्यता एवं शिक्षा के प्रसार तथा कालेजों और विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा के कारण कुछ समय से गान्धर्व विवाहों की संख्या बढ़ने लगी है। भविष्य में इन प्रकार विवाहों के बढ़ने की पूरी संभावना है।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह

इन चारों विवाहों में कन्या का दान किया जाता है। कन्या का दान करते समय माता-पिता या अभिभावक कन्या को आभूषणों एवं वस्त्रों से अलंकृत करके उसका दान करते हैं। ब्राह्मविवाह को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, इसमें कन्या का पिता वेदज्ञ सुशील वर को अपने घर पर बुलाता है और उसे अपनी कन्या को उत्तम वस्त्रों से आच्छादित कर दान कर देता है[६०] (मनु ३।२७)। ब्राह्म विवाह में कन्या पक्ष से धन आदि ग्रहण नहीं किया जाता। आर्ष विवाह में नाम मात्र के लिए गौओं का एक जोड़ा पिता को दिया जाता है।[६१] यज्ञ के बहुत लम्बा चलने पर, यज्ञ के समय में पुरोहित को जब अलंकृत कन्या का दान किया जाता है तब उसे दैवविवाह कहते हैं।[६२] जब कन्या अलंकृत करके, पति को इन वाक्यों के साथ सौंपी जाय कि तुम इसके साथ यावज्जीवन धर्म का पालन करो, उसको प्राजापत्य विवाह कहते हैं।[६३]

५८ लक्ष्मी बनाम कलियनसिंह, २, बम्बई ला० रि० १२८ बाई कासी बनाम जमनादास १४ ब० ला० रि० ५४७

५९ चैंद बनाम फकीरचन्द ५७ पं० रि० (१९०९)

६० मि० बौ० ध० सू० १।११।२, आप० ध० सू० २।५।११।१९

६१ बौ० ध० सू० १।११।४, आप० ध० सू० २।५।११।१८, गौ० ध० सू० १।४।६।

६२ व० ध० सू० १।३१, बौ० ध० सू० १।११।५,

६३ बौ० ध० सू० १।११।३, गौ० ध० सू० १।४।५। आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र इस विवाह का वर्णन नहीं करते।

ब्राह्म विवाह आसुर विवाह से बिल्कुल उल्टा है। पहले में कन्या का दान किया जाता है और दूसरे में कन्या खरीदी जाती है। आर्ष विवाह इन दोनों का मध्यवर्ती है। इसमें कन्या के पिता को गौ-बैल की एक जोड़ी दी जाती है। आर्ष विवाह में कन्या का पिता शुल्क नहीं माँगता, किन्तु उसे यह भेंट किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गौओं की जोड़ी प्राचीनकाल में दिये जाने वाले शुल्क का एक अवशेष या प्रतीक मात्र है। यह भी संभव है कि वर के माता-पिता यह अनुभव करते होंगे कि हमें कन्या पक्ष को कुछ देना चाहिए। इस भावना से या अपनी इच्छा से, वे कन्यापक्ष को यह भेंट देते होंगे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्ष विवाह में गोमिथुन के दान की परिपाटी प्राचीन काल के शुल्क का अवशेष है या स्वेच्छापूर्वक दिया जाने वाला दान। किन्तु प्राचीन भारत में आर्ष विवाह का पर्याप्त प्रचलन था। यूनानी यात्रियों ने ऐसे विवाहों का उल्लेख किया है। स्ट्रेबो ने मेगस्थनीज के इस कथन को उद्धृत किया है कि एक जोड़ी बैलों से पुरुष स्त्रियाँ खरीद लेते थे।[६४]

धर्मशास्त्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि आर्ष विवाह में दिया जाने वाला दान शुल्क नहीं है। हम यह देख चुके हैं कि धर्मशास्त्र कन्याशुल्क के विरोधी हैं। आप० ध० सू० २।६।१३।१० में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सन्तान का क्रय-विक्रय नहीं होता। यह सन्देह हो सकता था कि आर्ष विवाह में दिया जाने वाला यह दान एक प्रच्छन्न विक्रय है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।१३।११) इसका विरोध करते हुए कहता है—"आर्ष विवाह में लड़की वाले के लिए दान देना श्रुति द्वारा प्रतिपादित है। श्रुति में कहा गया है इसलिए लड़की वाले के लिए १०० गौएं और एक रथ देना चाहिए। यह भेंट उन दोनों की होती है। इसका उद्देश्य लड़की का दर्जा ऊंचा उठाने की मां-बाप की कामना और धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करना है। इस सम्बन्ध में 'क्रय' शब्द अलंकारिक है, क्योंकि पति-पत्नी का सम्बन्ध धर्म से होता है न कि विक्रय से (आप० २।६।१३।११)"। बौधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्द स्वामी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कन्या के पिता को गौ-बैल की जोड़ी देकर उससे उसे फिर वापिस ले लेना ही आर्ष कहलाता है। महाभारतकार इस भेंट को वापिस करने से सन्तुष्ट नहीं था। उसे इसमें कन्याशुल्क की गन्ध आती थी, अतः उसने आर्ष विवाह में इस दान की स्पष्ट रूप से निन्दा की है[६५]

६४ मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, पृ० ३४

६५ स्टर्नबैक ने इस वचन के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि महाभारत का उक्त संदर्भ यह सूचित करता है कि किस प्रकार असुर विवाह (Marriage by purchase) से प्रतीकात्मक धनराशि लेने वाले आर्षविवाह (Marriage shame purchase) की पद्धति विकसित हुई और इसके बाद कन्या का दहेज देने की परिपाटी का विकास हुआ (ज्यूरिडिकल स्टडीज, भाग १, पृ०, १६७)

(म० भा० १३।४५।२०–२१)। उसने यह भी कहा है कि "कन्या के पिता, भाइयों, श्वसुर आदि को कन्या के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाना चाहिए, यदि वे पुण्य प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें कन्या को आभूषणों से अलंकृत रखना चाहिए। इससे उनके सुख में वृद्धि होती है। हे राजन्! कुछ व्यक्ति आर्ष विवाह में गोमिथुन देने को शुल्क कहा करते हैं, यह भी मिथ्या वचन है, क्योंकि शुल्क थोड़ा हो या अधिक, उसके लेने से कन्या का विक्रय हो जाता है। यद्यपि कुछ लोग ऐसा करते हैं पर यह सनातन धर्म नहीं है।"[६६] अन्यत्र (३।५१–५४) महाभारत इस पद्धति को वधू को सम्मानित करने का ढंग समझता है और हिन्दू समाज में कई स्थानों पर आज तक यह रिवाज है कि विवाह संस्कार के समय वधू जो वस्त्र पहनती है वे वर के दिये हुए होते हैं। हिन्दुओं में विवाह के समय वर पक्ष से की जाने वाली गोदान की परिपाटी सम्भवतः वर की ओर से वधू को दिये जाने वाले इस गौ-बैल के जोड़े से शुरू हुई होगी। किन्तु अब इसका स्वरूप बिलकुल बदल गया है। वर द्वारा दिये जाने के स्थान पर अब गोदान कन्या के पिता द्वारा होता है और वह दहेज का एक अंग बन गया है। इस समय विवाह में दहेज का बहुत महत्त्व है, अतः यहाँ उसका वर्णन किया जायगा।

दहेज प्रथा

वैदिक युग के ब्राह्म विवाह में कन्या को अलंकृत करके देने की प्रथा का चरम विकास दहेज के रूप में हुआ। वेद में कन्या के विवाह-अवसर के योग्य अलंकारों और आभूषणों की स्पष्ट चर्चा है। उस समय दहेज के लिए 'वहतु' शब्द का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद (१०।८५।१३) तथा अथर्ववेद (१४।१।१३) में कहा गया है कि सूर्या को उसके पिता ने जो दहेज दिया था, वह वधू के श्वशुरालय पहुँचने से पहले ही वहाँ पहुँच गया।[६७]

उस समय पतिगृह को जाती हुई वधू के साथ कुछ आभूषण एवं वस्त्र भेजे जाते थे। अथर्व १४।१।६-७-८ में एक रूपक द्वारा वधू के दहेज (वहतु) का यह वर्णन किया गया

६६ म० भा० १३।४५।१९–२० आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहु मृषैव तत्। अल्पो वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव। सा यद्यप्याचरितं कैश्च नैष धर्मः सनातनः॥

६७ ऋ० १०।८५।१३, सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
सायण ने वहतु की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कन्या की प्रसन्नता के लिए विवाह के समय गौ आदि जो पदार्थ दिये जाते हैं, वे वहतु कहलाते हैं। अन्यत्र भी उसने लड़की को विवाह के समय प्रेमपूर्वक दिये जाने वाले वस्त्र, अलंकार आदि को वहतु कहा है।

है—"जब वधू पति के घर गयी तो उसके वस्त्र निश्चित रूप से अच्छे थे और मन्त्रों से परिष्कृत थे, उसके नौकर स्तोम थे और छन्द ही कुरीर और ओपश नाम के आभूषण थे।"

महाभारत व दहेज—महाभारत के अनुसार राजकन्याओं के विवाह में दहेज खूब दिया जाता था। राजा कुन्तिभोज ने पाण्डु के साथ अपनी पुत्री कुन्ती के विवाह के बाद, दामाद की नाना प्रकार के धनों से पूजा की (१।११२।१२) द्रुपद ने विवाह के समय अपनी कन्या को रत्नों से आच्छादित कर दिया (१।२००।६)। उसने पाण्डवों को दहेज में सोने की रास वाले चार घोड़ों से युक्त १०० रथ, सुनहरी झूल तथा हौदायुक्त १०० हाथी, मूल्यवान गहने, कपड़े मालादि से सजी हुई १०० दासियां, आभूषण और वस्त्र दिये (१।२००।१५-१७)। राजा सगर ने ब्राह्मणों को कन्यादान करके उनके लिए अलंकृत प्रासादों का तथा अन्य ऐश्वर्य सामग्री का भी दान (दहेज) दिया। इस दहेज में असंख्य गौएं, रेशमी वस्त्र, कपड़े, सजे हुए हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, सुन्दर दास-दासियां, सोना, मोती, मूंगा आदि वस्तुएं थीं (१।७४।३-५)। सुभद्रा के विवाह में भी श्रीकृष्ण और बलराम ने अर्जुन को बहुत अधिक दहेज दिया था (म० भा० १।२२१।४८)।

बौद्ध ग्रन्थ व दहेज—बौद्ध ग्रन्थों में दहेज का पर्याप्त वर्णन है। दहेज विवाह का अनिवार्य अंग नहीं था, किन्तु धनी लोग अपनी कन्याओं का विवाह करते समय बहुत अधिक दहेज दिया करते थे। इसका सब से प्रसिद्ध उदाहरण विशाखा की कथा में पाया जाता है। विशाखा के पिता धनंजय श्रेष्ठी ने अपने दामाद पूर्णवर्धन को अपनी कन्या नौ करोड़ आभूषणों से भूषित करके दी थी। इसके साथ ही सोने के बर्तनों की ५०० गाड़ियां, घी, साफ किये हुए चावलों और हल आदि कृषि के उपकरणों की भी पांच सौ गाड़ियां विशाखा के दहेज में थीं। ६० हजार शक्तिशाली बैल और ६० हजार गायें भी उक्त दहेज के साथ दी गयीं। धम्मपद की टीका खण्ड १ अनु० नि० अ० क० (१।७।२) में ५०० दासियों और ५०० उत्तम रथों के देने का वर्णन है।

संस्कृत काव्यों में भी दहेज का कुछ उल्लेख मिलता है। विदर्भराज भोज ने अपनी कन्या इन्दुमती को अज के साथ विवाह संस्कार के समय रत्नादि के साथ मधुपर्क और रेशमी दुशालों का एक जोड़ा दिया (रघुवंश ७।१८) और बाद में अज के चलने के समय अपने उत्साह के अनुसार वह जितनी संपत्ति दे सकता था उतनी संपत्ति दी (रघुवंश ७।३२)। शिवजी ने भी हिमालय द्वारा लाये हुए सरल अर्घ्य और नवीन दुकूल को ग्रहण किया (कु० सं ७।१२)। बाण ने राज्यश्री के विवाह से पहले के राजकुल का वर्णन करते हुए कहा है कि राजकुल के आंगन में यौतक (दहेज) में दिये जाने योग्य हाथियों और घोड़ों का चुनाव किया जा रहा था। उस चुनाव के लिए इतने हाथी-घोड़े लाये गये कि सारा आंगन उन से भरकर तरंगित हो गया (ह० च० पृ० १४२)।

दहेज प्रचलित होने के कारण

ऐसा जान पड़ता है कि बालविवाह की पद्धति समाज में सर्वमान्य होने से इस प्रथा को बहुत प्रोत्साहन मिला। कन्याओं को रजस्वला होने से पूर्व ब्याहने का नियम प्रचलित होने से माता-पिता अपनी कन्या की शादी जल्दी से जल्दी करना चाहते थे। उन्हें कन्या के ब्याहने की गरज थी, किन्तु लड़कों के माता-पिता को अपने लड़के ब्याहने की कोई गरज नहीं थी। कन्या के पिता गरजमन्द होकर लड़कों के पिताओं के पास पहुँचते थे। लड़के के अभिभावकों की दृष्टि में अपने लड़के के लिए अधिक से अधिक मूल्य पाने का यह अच्छा अवसर था। कुलीन विवाह ने तथा अपनी जाति में कन्या को ब्याहने की इच्छा ने भी दहेज को प्रभावित किया। बंगाल में कुलीन ब्राह्मणों की संख्या थोड़ी थी, अधिकांश कन्याओं के पिता रुपया देकर उनके साथ अपनी लड़कियों की शादी कर देते थे। राजपूतों में जो जितना कुलीन होता था वह उतने ही अधिक दहेज की माँग करता था।

हिन्दूसमाज के उच्चवर्ग में कन्या पिता एवं पति दोनों के घर में पालन-पोषण योग्य होने से भाररूप होती है। जिन समाजों में कन्या आर्थिक दृष्टि से लाभकर होती है, वहाँ कन्या का पिता उसे बेचता है और वर को वह खरीदनी पड़ती है। किन्तु जहाँ आर्थिक दृष्टि से स्त्री पति पर बोझ हो वहाँ कन्या के माता-पिता उसके बोझ को हलका करने में सहायता करते हैं और यह सहायता दहेज के रूप में दी जाती है। दहेज में प्रायः गृहस्थी को चलाने के लिए उपयोगी सामान, वस्त्र, बरतन, पलंग आदि उपकरण दिये जाते हैं। रोम में दहेज का स्पष्ट रूप से यही उद्देश्य था। अतः मेन उसके बारे में लिखता है—"दहेज पत्नी को उसके पितृ-परिवार द्वारा दिया जाने वाला ऐसा हिस्सा है जो पति को गृहस्थी का व्यय चलाने में सहायक हो"।[६८] भारत में इस प्रथा का प्रारंभ अपनी

६८ **दहेज की प्रथा अन्य देशों में भी इसी प्रकार के उद्देश्यों से प्रचलित हुई है। मिस्र में दहेज के रुपयों को वधू के लिए फर्नीचर, पोशाक और आभूषण खरीदने में व्यय किया जाता है। पुराने समय में दहेज का उद्देश्य आकस्मिक संकट में पत्नी की सहायता देना था। सीजर ने लिखा है कि पत्नी पिता के घर से जितना दहेज लाती थी उतना ही पति को अपनी ओर से उसमें जुटाना पड़ता था और यह संयुक्त राशि पति के मरने पर पत्नी को मिलती थी। एथेन्स में यूनानी स्त्रियां प्रायः दहेज लाती थीं और इस दहेज पर स्त्री का स्वामित्व समझा जाता था। शादी और गृहस्थी के खर्चे में यह पत्नी का हिस्सा समझा जाता था और इसके कारण पति अकारण या तुच्छ कारण से पत्नी को छोड़ नहीं सकता था। स्त्रियों के पास इस प्रकार की बहुत-सी सम्पत्ति रहती थी। अरस्तू के जमाने में स्पार्टा में २/५ सम्पत्ति दहेज के रूप में स्त्रियों के पास सुरक्षित थी। रोम दहेज के बारे में यूनान**

कन्याओं को अलंकृत करके दान करने से शुरू हुआ। बालविवाह, सजातीय विवाह और कुलीन विवाह से इसको बल मिला और मध्यकाल में यह प्रथा भारत में बहुत व्यापक हो गयी।

दहेज तथा ग्रामगीत—दहेज के कारण कन्या को जो कष्ट उठाना पड़ता है, उसकी कुछ झलक ग्रामगीतों में पायी जाती है। ऐसे ग्रामगीत हमारे सामाजिक जीवन का आदर्श प्रतिबिम्ब हैं, अतः उनमें इसका पाया जाना स्वाभाविक है। एक गीत में पिता कन्या के लिए वर की खूब तलाश करने के बाद कन्या से कहता है—मैंने पूरब ढूंढ़ा, पश्चिम ढूंढ़ा, दिल्ली और गुजरात भी ढूंढ़ लिया, किन्तु बेटी, तुम्हारे लिए कहीं वर नहीं पाया। तुम कुमारी रहो। बेटी ने कहा—हे पिता, तुमने पूरब भी ढूंढ़ डाला पश्चिम भी ढूंढ़ डाला, दिल्ली और गुजरात भी ढूंढ़ लिया, पर चार ही कदम पर अयोध्या नगरी है, जहाँ दो वर क्वांरे हैं। पिता ने (बड़े दुःख से) कहा—हे बेटी, वे घोड़ा, हाथी और पचास मोहरें तथा नौ लाख का दहेज मांगते हैं। मेरी हिम्मत तो इतना देने की नहीं है।[६९] एक दूसरे गीत में पिता गंगा में खड़ा होकर सूर्य से प्रार्थना करता है कि हे सूर्य, मेरे वंश पर कन्या न देना, कन्या का जन्म तभी हो जब घर में सम्पत्ति हो।[७०] एक अन्य गीत में कहा गया है—जब ब्याह हो गया, माँग में सिन्दूर पड़ गया और नौ लाख की सम्पत्ति भी थोड़ी समझी गयी, तब माँ ने भीतर का बरतन भांडा बाहर पटक दिया और कहा कि शत्रु के भी कन्या न हो।[७१]

से भी एक कदम आगे था। पिता से दहेज की मांग करना स्त्री का कानूनी अधिकार था, वह संयुक्त परिवार के खर्चे को चलाने के लिए आवश्यक हिस्सा समझा जाता था। इस पर पति का अधिकार माना जाता था। किन्तु जस्टीनियन के नियम से स्त्री द्वारा तलाक देने पर उसे यह दहेज वापिस देना पड़ता था, बशर्ते कि पत्नी को छोड़ने का कारण पति का दुर्व्यवहार न हो। जस्टीनियन ने यह नियम बनाया था कि दहेज उच्च वर्ग के लिए ही आवश्यक है, किन्तु उसके इस नियम पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। फ्रांस में नैपोलियन के आदेशानुसार माता-पिता के लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि कन्या उनसे कानूनी तौर से दहेज की मांग कर सके। इंगलैण्ड में दहेज एक विचित्र कारण से प्रचलित है। वहाँ स्त्रियों की संख्या अधिक है और एक विवाह का नियम प्रचलित है। अतः कुछ स्त्रियाँ अवश्यमेव अविवाहित रह जाती हैं। जो पिता अपनी कन्याओं को ब्याहना चाहते हैं उन्हें धन आदि देकर अपनी कन्याओं के लिए पति को खरीदना पड़ता है (वै० शा० हि० मै०, पृ० १७८-८३)।

६९ रामनरेश त्रिपाठी—ग्रामगीत, पृ० १४०

७० वही पृ० १४४—गंगा पैठि बाबा सूरज के बिनवई मोरे कूखे धीरिया जिनि होई, धीरिया जन्म तब दिहा विधुला जब घर सम्पति होई।

७१ वही, पृ० १५२

अपनी क्वांरी कन्या के विवाह और दहेज की चिन्ता में एक पिता इतना परेशान होता है कि रात को उसे नींद भी नहीं आती। विवाह की आड़ में बेटी कहती है—पिताजी, आपको नींद खूब आ रही है। पिता ने कहा—कुछ-कुछ सो रहा हूं, कुछ-कुछ जाग रहा हूं। जिसके घर में क्वांरी कन्या हो, भला उसे नींद कैसे आ सकती है।"[७२]

वर्तमान युग में दहेज प्रथा के बढ़ने का कारण

अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव—पिछली सदी में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से दहेज की प्रथा भारत की उच्च जातियों में बहुत अधिक बढ़ गयी है। इस सदी के आरंभ में गिरीन्द्रनाथ ने बंगाल के विषय में जो बात लिखी थी वह आजकल सारे भारत के सम्बन्ध में सत्य समझी जा सकती है। वस्तुतः वर के पिता के लिए बल्लालसेन द्वारा बनायी गयी कुलीन प्रथा की अपेक्षा विश्वविद्यालयों की शिक्षा अधिक लाभप्रद है। यदि एक बी० ए० (बैचलर आफ आर्ट्स) अविवाहित है, भले ही वह मित्रों की उदारता एवं सहायता पर जीवन बिता रहा हो, किन्तु बंगाली मुहावरे के अनुसार वह ऐसी परी चाहेगा जो सिर से पैर तक सोने के आभूषणों और रत्नों से लदी हुई हो और साथ में वह अपने लिए ४०००)रु० मांगेगा। पिता के दुर्भाग्य से यदि कन्या का रंग सांवला है या उसमें कोई दोष है तो यह मांग १५,०००)रु० तक जा पहुंचती है। प्रायः यह रुपया पहले ही ले लिया जाता है या कुछ वर नीचता की इस हद तक उतर आते हैं कि एक अदालती कागज पर पहले ही लिखवा लेते हैं कि कन्या का पिता वर को इतना सामान देगा ताकि बाद में यदि कन्या का पिता यह राशि न दे तो अदालत में मुकदमा चलाकर लिया जा सके। जस्टिस मित्र ने 'कायस्थ पत्रिका' में लड़के के पिता पर व्यंग्य करते हुए लिखा था कि एक लड़के का पिता, जिसके पास अपना घर नहीं और जो एक किराये के मकान में रहता है, वह अब लड़के की शादी करके दुमंजिले मकान का स्वामी बनना चाहता है। वह कर्ज में डूबा हुआ है किन्तु बेटे के ब्याह से अपना सारा कर्ज उतारना चाहता है, वह अपने बेटे को आई० सी० एस० बनाने के लिए इंग्लैण्ड भेजना चाहता है, उसके पास धन नहीं, इसलिए लड़के की शादी से उसे यह धन अवश्य प्राप्त करना चाहिए। भारतीय दण्ड विधान में चोरी-डकैती की सजाएं हैं किन्तु ऐसे बाप को दण्ड देने के लिए कोई विधान नहीं है, यद्यपि यह अपराध उपर्युक्त अपराधों जैसा ही बुरा है।"[७३] आजकल भारत के सभी प्रान्तों में दहेज की बुराई भीषण रूप से प्रचलित है। वर के लिए मांगे जाने वाले दहेज की मात्रा उसकी सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा के साथ बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ,

[७२] वही, पृ० १६२ कुछ रे सुतोला कुछ जागिला बेटी नीन्दो न आवे।
जाहि घर कन्या कुंवारी बेटी नींद कैसे आवै।

[७३] रिज़ली—पीपल आफ इंडिया, पृ० १६८-७० पर उद्धृत।

उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् में हुई बहस के अनुसार इस प्रदेश में विश्वविद्यालयों के प्रवक्ता के लिए चार से पाँच हजार रुपये तक के दहेज की मांग की जाती है. इंजीनियर तथा डाक्टर वर के लिए १० से १४ हजार की, प्रान्तीय सिविल सर्विस वाले के लिए २० से २५ हजार तथा आई० सी० एस० के लिए तीस चालीस हजार रुपये के दहेज की माँग होती है।[७४] दक्षिण भारत में मांगे जाने वाले दहेज के सम्बन्ध में श्रीनिवास ने इसी प्रकार के अनेक रोचक तथ्य दिये हैं।[७५]

दहेज की कुप्रथा ने हिन्दूसमाज में मध्ययुग में कन्यावध[७६] जैसे भीषण दुष्परिणाम उत्पन्न किये थे। इस समय इसके प्रधान दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं—

(१) **माता-पिता की चिन्ता तथा ऋणग्रस्त होना**—इस प्रथा के कारण कन्याओं के लिए वर ढूंढना एक जटिल समस्या हो जाती है। इसमें माता-पिता को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। साधारण स्थिति वाले माता-पिता कन्या की शादी के लिए माँगे जाने वाले दहेज को जुटाने के लिए साहूकारों से ऋण लेते हैं और कई बार इस ऋण को उतारते हुए उनका सारा जीवन चिन्ता, परेशानी और भुखमरी में बीतता है। कन्या के विवाह की चिन्ता से तो वे मुक्त हो जाते हैं, पर उस पर किये गये व्यय का भार उतारने के लिए आमरण एक नयी चिन्ता से ग्रस्त हो जाते हैं।

(२) **कन्याओं का अविवाहित रहना तथा आत्महत्याएँ**—जिन कन्याओं के माता-पिता दहेज जुटाने तथा वर प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, उनका विवाह नहीं होता है। माता-पिता को अपनी कन्या का विवाह न होने से भीषण मानसिक कष्ट होता है। कई बार बंगाल की स्नेहलता जैसी लड़कियां माता-पिता के कष्टों का अन्त करने के लिए मिट्टी का तेल छिड़क कर आत्महत्या कर लेती हैं।

(३) **अनैतिकता**—कन्याओं का विवाह न होने पर उनसे सदैव ब्रह्मचारिणी बने रहने की आशा करना दुराशामात्र है। स्वाभाविक मनोवेगों और वासनाओं पर नियंत्रण रखना सबके लिए संभव नहीं है। बड़ी संख्या में कन्याओं के अविवाहित रहने से समाज में अनाचार तथा अनैतिकता की वृद्धि होती है।

(४) **कन्याओं की उपेक्षा**—दहेज की कठिनाई के कारण कन्याएं परिवार में बुरी समझी जाती हैं, इसलिए पहले तो व्यापक रूप से उनके वध की कुप्रथा प्रचलित थी। अब यद्यपि कानून और लोकमत के कारण उनका वध बन्द हो गया है, किन्तु उन्हें माता-पिता की मुसीबतों की जड़ और विपत्तियों का मूलस्रोत समझा जाता है।

(५) **बेमेल तथा वृद्धविवाह**—कई बार जब माता-पिता अपनी कन्या के लिए

७४ दास—हिन्दू फैमिली इन इट्स् अर्बन सैटिंग, पृ० २६१

७५ श्री निवास—मैरिज एण्ड फैमिली इन माइसोर, पृ० ५७

७६ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १९७-२००

उपयुक्त वर द्वारा मांगा जाने वाला दहेज जुटाने में असमर्थ होते हैं तो वे उसका विवाह ऐसे अनुपयुक्त वरों से कर देते हैं जहां दहेज कम मांगा जाय। ये वर प्रायः धनी एवं कन्या की आयु से बहुत अधिक तथा कई बार उसके पिता की आयु रखने वाले बूढ़े व्यक्ति होते हैं। ये प्रायः किसी प्रकार के दहेज की मांग नहीं रखते हैं। कई बार ये अधिक बूढ़े होने पर कन्या को अपनी ओर से दहेज भी प्रस्तुत कर देते हैं। किन्तु ऐसे बेमेल विवाहों में कन्या का वैवाहिक आनन्द और मधुर कल्पनाएं नष्ट हो जाती हैं, उसका जीवन नारकीय बन जाता है, बूढ़े व्यक्ति के साथ दाम्पत्य जीवन दूभर हो जाता है, पति के बूढ़े होने के कारण पत्नी के विधवा होने की सम्भावना बढ़ जाती है। कई बार वह आत्महत्या करके ही उस नारकीय जीवन से छुटकारा पाती है।

(६) अन्य दुष्परिणाम—इसके अन्य दुष्प्रभावों का उल्लेख करते हुए एक लेखक ने लिखा है कि कम दहेज लाने वाली विधवाओं की ससुराल में बड़ी अप्रतिष्ठा होती है, उन्हें तरह-तरह के ताने मारे जाते हैं, मां-बाप से अधिकाधिक धन लाने के लिए विवश किया जाता है, ऐसा करने के लिए उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया जाता है। कई बार इस प्रश्न पर इतनी तनातनी बढ़ जाती है कि बहुओं की हत्या करने की नौबत आ जाती है।[७७] अधिक दहेज लाने वाली बहुओं की ससुराल में अधिक प्रतिष्ठा होती है, कम दहेज लाने वाली बहुओं का तथा उनके पतियों का हीन दृष्टि से देखा जाता है। इससे घरों में असन्तोष, अशान्ति, कलह और वैमनस्य में वृद्धि होती है। दहेज का एक बुरा पहलू यह है कि पहले इस विषय में सब बातें तय करने के बाद विवाह संस्कार के समय वर पक्ष वाले अपनी मांगें एकदम यह सोचकर बढ़ा देते हैं कि इस समय बारात का वापिस लौटना कन्यापक्ष के लिए घोर कलंक की बात होगी और उनसे मुंहमांगी वस्तुएं मिल जायेंगी।[७८] यह स्पष्टरूप से डकैती है। डाकू पिस्तौल सीने पर रख कर धन मांगता है, कन्यापक्ष बारात लौटाने की धमकी दिखा कर कन्या के माता-पिता से अधिकाधिक राशि वसूल करना चाहता है। इस विषय में एक भुक्तभोगी कन्या की माता का विवरण इस प्रकार है—

७७ दास—वही, पृ० ३६३

७८ इसका सर्वोत्तम उदाहरण लाहौर हाईकोर्ट का विपिनचन्द्रपाल का मामला है। विपिनचन्द्र पाल अपनी पत्नी दयावती को इस बात के लिए निरन्तर परेशान करता रहता था कि उसको बहुत कम दहेज दिया गया है, वह उससे एक रेडियो सैट के लिए ४००) रु. लाये। दयावती ने कहा कि उसके माता-पिता इतना धन नहीं दे सकते कि उसकी सब इच्छायें पूरी कर सकें। इस पर पति ने उसके साथ दुर्व्यवहार आरम्भ किया तथा १२ नवम्बर को हवाई जहाज दिखाने के बहाने उसे छत पर लेजाकर वहां की मुंडेर से धक्का देकर नीचे गिराकर उसकी हत्या का प्रयत्न किया। अदालत ने विपिनचन्द्र पाल को ७ वर्ष की कड़ी कैद का दण्ड दिया।

"मैं विधवा थी, मेरे पास पर्याप्त पैसा नहीं था, फिर भी मैंने अपनी लड़की के लिए दहेज की सब वस्तुएँ देने का प्रयत्न किया। शादी तय करते समय वर पक्ष के व्यक्ति हमारे घर आये और हमने दहेज में दी जाने वाली सब वस्तुओं की सूची तय की। किन्तु विवाह संस्कार के समय इस सूची में ऐसी बहुत सी चीजें बढ़ा दी गयी जिन्हें देने के लिए मैं तैयार नहीं थी। फिर भी मुझे इन वस्तुओं को देना पड़ा। लड़की की शादी हो जाने के बाद भी वर के माता-पिता प्रत्येक त्यौहार पर हीरे की अंगूठी, कलाई पर बांधने वाली घड़ी आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की मांग करते रहे। मैं अपनी लड़की की दयनीय दशा के लिए पांच छः वर्ष तक निरन्तर रोती रही।"[७६] एक अन्य लेखक ने लिखा है कि दहेज ने कन्याओं के माता-पिता को दिवालिया बना दिया है, उन्हें साहूकारों के चंगुल में फंसा दिया है, शादी को पवित्र धार्मिक संस्कार के स्थान पर व्यापार और सौदेबाजी बना दिया है और ससुराल में निर्दोष वधुओं का जीवन नारकीय बना दिया है।[८०]

हिन्दूसमाज में दहेज के भीषण दुष्प्रभावों के होते हुए भी, उससे समाज में कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में कई उपयोगी कार्य हो रहे हैं। (१) पहला कार्य शिक्षा के प्रसार का है। श्रीनिवास का विचार है कि दक्षिण में अनेक निर्धन विद्यार्थी दहेज न मिलने की दशा में अपनी उच्चशिक्षा को कभी पूरा नहीं कर सकते थे। (२) दूसरा महत्वपूर्ण कार्य बालविवाह की बुराई बन्द करना तथा विवाह की आयु को अधिक ऊंचा उठाना है क्योंकि इससे मध्यम तथा निम्न श्रेणी के माता-पिता को अपनी कन्या का ऐसा वर ढूंढने में काफी समय लगता है, जिसके लिए दहेज देना उनके लिए संभव हो। इसकी खोज में काफी समय लग जाता है और इस बीच में कन्या की आयु बढ़ती चली जाती है। (३) तीसरा कार्य यह है कि यह अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करता है। जब कन्या के माता-पिता को दहेज की कठिनाई के कारण अपनी जाति में वर नहीं मिलते तो वह इन्हें अपनी जाति से बाहर ढूंढने के लिए विवश होता है। (४) चौथा कार्य सांवले रंग वाली, भद्दी और बदसूरत कन्याओं का विवाह हो जाता है, इनके लिए दहेज अधिक दिया जाता है और दहेज के लालच में युवक इनसे विवाह के लिए तैयार हो जाते हैं। यदि दहेज की प्रथा बन्द कर दी जाय तो ऐसी कन्याओं के पिताओं के लिए बड़ी जटिल समस्या उत्पन्न हो जायगी। इस समय दहेज से निर्धन कन्याओं के माता-पिता परेशान हैं, इस प्रथा के बन्द होने पर बदसूरत कन्याओं के माता-पिता की परेशानी बढ़ जायगी। (५) पांचवां कार्य यह है कि दहेज में दी गयी सामग्री से नवदम्पती को अपनी नयी गृहस्थी तथा घर का साज-सामान जुटाने में बहुमूल्य सहायता मिलती है। दहेज का आरंभिक उद्देश्य

७६ रास—पू० पु०, पृ० २६२
८० आर्यन पाथ, नवम्बर १९५४, पृ० ५२३

भी यही था। वैदिक साहित्य में कन्या द्वारा वहतु में घरेलू सामान, वस्त्र तथा अलंकार ले जाने का वर्णन है। दहेज का आरंभ इसी भावना से हुआ था, माता-पिता कन्या को अपनी इच्छा से उसका नया घर बसाने के लिए आवश्यक सामग्री दिया करते थे। यह लड़की को पिता की सम्पत्ति में से प्राप्त होने वाला हिस्सा समझा जाता था, लड़कों को पिता की जमीन-जायदाद मिलती थी, लड़कियों को विवाह के समय दहेज के रूप में समुचित अंश दिया जाता था। यह उनका स्त्रीधन समझा जाता था।[८१]

वर्तमान दहेज में तथा इसके प्राचीन मूल रूप में दो बड़े भेद थे— (१) यह माता पिता द्वारा अपनी इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक दिया जाने वाला धन था, वर्तमान दहेज कन्या के माता-पिता से जबरदस्ती वसूल की जाने वाली धनराशि है। (२) दूसरा भेद यह है कि पुराने दहेज (वहतु) को स्त्रीधन समझा जाता था, अतः उस पर पत्नी का पूरा प्रभुत्व और स्वामित्व होता था, किन्तु वर्तमान दहेज प्रायः वर को न मिलकर उसके माता-पिता को मिलता है। कई बार पति को दहेज में से एक पाई भी नहीं मिलती है, यद्यपि यह उसके नाम से लिया जाता है। उसके पिता का इस पर पूरा अधिकार होता है और वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है; प्रायः वह इसे अपनी लड़कियों की शादी में व्यय करता है। इन दो महत्त्वपूर्ण भेदों के कारण कई उपयोगी कार्य करते हुए भी दहेज ने इस समय भीषण कुप्रथा का रूप धारण कर लिया है।

दहेज की कुप्रथा बन्द करने के उपाय

(१) इसका पहला उपाय अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना है। इस समय दहेज की बुराई बढ़ने का एक प्रधान कारण अपनी ही जाति में कन्या के लिए वर ढूंढने का नियम है, इससे वर के चुनाव का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। जब वर बहुत थोड़े होते हैं, तो वे दहेज की मांग बढ़ाने लग जाते हैं। यदि वरों को अपनी जाति से बाहर ढूंढा जाय, चुनाव का क्षेत्र विस्तीर्ण हो तो दहेज की बुराई स्वयमेव कम हो जायगी। (२) दूसरा उपाय दहेज विरोधी प्रचार और प्रबल लोकमत है। जब तक समाज में इस प्रथा के विरुद्ध प्रबल वातावरण नहीं तैयार हो जाता और इसे पाप एवं बुराई नहीं समझा जाता, तब तक इस कुप्रथा का उन्मूलन संभव नहीं है। नवयुवकों में ऐसी भावना भरी जानी चाहिए कि वे दहेज की मांग करना छोड़ दें। समाजसुधारक संस्थाओं को ऐसा प्रचार करना चाहिए। श्रीनिवास ने दक्षिण भारत के बारे में लिखा है कि कुछ आदर्शवादी नवयुवक वरदक्षिणा (दहेज) लेने से इन्कार करने लगे हैं। कलकत्ता में अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया था कि युवक-युवतियाँ इस बात की प्रतिज्ञा करें कि वे अपने विवाह में कोई दहेज नहीं लेंगे। इस प्रकार दहेज

[८१] श्रीनिवास—मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० ६०

विरोधी प्रबल आन्दोलन इस कुप्रथा का अन्त कर सकता है। (३) तीसरा उपाय कानून द्वारा इसका निषेध करना है। यह १९६० के दहेज निषेध कानून (Dowry Prohibition Act) से कर दिया गया है। किन्तु अभी तक दहेज विरोधी प्रबल लोकमत न होने के कारण इस कानून से हिन्दूसमाज मे दहेज की बुराई का उन्मूलन नही हुआ और यह पूर्ववत प्रचलित है तथा कन्या के माता-पिता को व्यथित और सतप्त कर रही है।

जिस ब्राह्म विवाह मे प्रारम्भ मे कन्या को इच्छापूर्वक अलकृत करके दान किया जाता था, आज उसमे जबर्दस्ती दहेज और रुपया मागा जाता है। यह बडा शोचनीय और दु खद परिवर्तन है। यदि प्राचीन काल मे स्मृतियो ने आसुर विवाहो की इसलिए निन्दा की थी कि उसमे कन्या का विक्रय किया जाता है, तो दहेज द्वारा होने वाले वर-विक्रय की कन्या शुल्क से भी अधिक निन्दा की जानी चाहिए।

दैव विवाह

यह विशेष परिस्थितियो मे किया जाता है। उत्तर वैदिक युग मे याज्ञिक कर्म-काण्ड का आडम्बर बहुत बढ गया, सप्ताहो, महीनो और वर्षों तक चलने वाले यज्ञ शुरू हुए। जिन पुरोहितो या ऋत्विजो को इन यज्ञो मे लगा रहना पडता था वे अपने विवाह आदि वैयक्तिक कर्तव्यो की ओर पर्याप्त ध्यान नही दे सकते थे। कई बार यज-मान ऐसे लम्बे यज्ञो को चलाने वाले पुरोहित को दक्षिणा रूप मे या वैसे ही अलकृत कन्या का दान किया करते थे। एक बडे यज्ञ मे बीसियो पुरोहित बुलाये जाते थे। इनमे कुछ अविवाहित भी होते होगे और कुछ यजमान अपनी कन्याओ का विवाह करना चाहते होगे। कन्याएँ भी इस अवसर पर अपने पतियो को जाच सकती थी। अत ऐसे अवसरो पर बहुत से विवाह होते थे। इस प्रकार के विवाह को दैव अर्थात् देवताओ की प्रसन्नता के लिए किये जाने वाले यज्ञो मे किया जाने वाला विवाह कहा जाता था।

इस दैव के अर्थ को विश्वरूप (याज्ञवल्क्य स्मृति १।५९–६०) ने कुछ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वह कहता है—"दैव ऋत्विज् को कहते है, जो विवाह ऋत्विजो अर्थात् देवो के योग्य हो उसे दैव विवाह कहते है।"[८२] दैव के बारे मे यह भी कल्पना की जाती है कि देवताओ के आराधन के लिए किये जाने वाले यज्ञो मे इन विवाहो के किये जाने से इनका नाम दैव विवाह हुआ।

बौधायन धर्मसूत्र (१।११।५) के टीकाकार ने इन विवाहो के स्वरूप को कुछ अधिक स्पष्ट किया है, वह कहता है—"यज्ञ मे ऋत्विजो के चुनने के समय वर की योग्यताओ से युक्त किसी व्यक्ति को पुरोहित रूप से वरण करे और दक्षिणा के समय उसके हिस्से के साथ कन्या का भी दान कर दे।" विश्वरूप ने भी इस मत की

८२ विश्वरूप या० १।५९–६० 'देवा ऋत्विजस्ते एवमर्हन्तीति दैवः।'

पुष्टि करते हुए कहा है कि (वधू का) यह दान दक्षिणा के अतिरिक्त होता है।

जब तक हिन्दू धर्म में दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञ होते थे, उस समय तक दैव विवाह का पर्याप्त प्रचलन था। बृहद्देवता (५।५०, ७९) में एक अन्तर्जातीय दैव विवाह का मनोरंजक उदाहरण दिया गया है। दार्भ्य ने रथवीति यज्ञ करने के लिए अर्चनानस आत्रेय को पुरोहित का पद दिया। अर्चनानस का पुत्र श्यावाश्व भी इस यज्ञ में पिता की सहायता कर रहा था। श्यावाश्व ने राजा की सुन्दरी कन्या को देखा और उस पर मुग्ध होकर उसके साथ विवाह करना चाहा। राजा ने रानी के आगे श्यावाश्व के साथ अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव रखा। राजा इस सम्बन्ध को पसन्द करता था, किन्तु रानी ने कहा कि श्यावाश्व पुरोहित है, लेकिन मंत्र द्रष्टा ऋषि नहीं है। यदि किसी ऋषि को कन्यादान किया जाय तो वह सहमति दे सकती है। श्यावाश्व निराश होकर अपने पितामह अत्रि के आश्रम में वापिस चला गया। जंगल में उसके सामने मरुद्गण आविर्भूत हुए और उसने 'य ईमं वहन्ते' नामक मन्त्र का दर्शन किया। ऋषि हो जाने के बाद श्यावाश्व योग्य वर समझा गया और राजकन्या के साथ उसका विवाह हो गया।

४ थी, ५ वीं शती ई० पू० के बाद वैदिक यज्ञों का प्रचलन बन्द हो गया। यद्यपि इन यज्ञों को पहले पुष्यमित्र और समुद्रगुप्त ने तथा बाद में कुमारिल ने पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया, तथापि ये यज्ञ हिन्दूसमाज के दैनिक धर्म का अंग न रहे। इन यज्ञों के अप्रचलन से दैव विवाह भी बन्द हो गये।

प्राजापत्य विवाह

जब कन्या अलंकृत करके पति को इन वचनों के साथ सौंपी जाय कि तुम इसके साथ यावज्जीवन धर्म का पालन करो, तो उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं। वास्तव में ब्राह्म विवाह से इसमें कोई भेद नहीं है, हिन्दू विवाह का उद्देश्य ही धर्मपालन है। आप० धर्मसूत्र (२।६।१३।१६–१८) कहता है कि पति-पत्नी में कोई पृथक्ता नहीं है, पाणिग्रहण करने से वे सब कामों में एक हो जाते हैं।[८३] जब पाणिग्रहण का यह उद्देश्य है तो प्राजापत्य में, ब्राह्म की अपेक्षा क्या विशेषता है? धर्मसूत्रकार इस विषय में मौन हैं, किन्तु टीकाकारों की सम्मति है—"जब यावज्जीवन एकविवाह (Monogamy) के आदर्श की रक्षा की जाय और संन्यास न लिया जाय तो वह प्राजापत्य विवाह होता है।" उनकी यह बात कुछ ठीक प्रतीत होती है। अन्यत्र हम देखेंगे कि बहुपत्नीविवाह का प्राचीन हिन्दू समाज में बहुत अधिक प्रचलन था। आपस्तम्ब

८३ आप० धर्मसूत्र २।६।१४।१६—जायापत्योर्न विभागो विद्यते पाणिग्रहणं हि सहत्वं कर्मसु ।

ही एकमात्र ऐसा सूत्रकार है जिसने स्पष्ट शब्दों में बहुभार्यता की निन्दा की है। विवाह को वह धर्म के लिए ही समझता है। अतः उसके मत में ब्राह्मविवाह के बाद कोई व्यक्ति दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था। यही कारण है कि उसे एक विवाह के बंधन को अनिवार्य बनाने वाले प्राजापत्य विवाह का अलग उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई, उसने केवल छः विवाह ही माने हैं। अन्य सूत्रकार ब्राह्म विवाह में एक-विवाह के बंधन को आवश्यक नहीं समझते थे, अतः एकविवाह के आदर्श के लिए उन्होंने प्राजापत्य नामक भेद की पृथक् कल्पना की।[८४]

हरदत्त गौतम धर्मसूत्र १।४।४ की व्याख्या करते हुए कहता है कि यद्यपि ब्राह्मादि विवाहों में पति-पत्नी एक साथ धर्माचरण करते हैं, किन्तु प्राजापत्य में जीवन पर्यन्त पत्नी के साथ धर्म का आचरण करने, दूसरे आश्रम में न प्रविष्ट होने और दूसरी स्त्री के पास न जाने के अर्थों का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों द्वारा प्रतिज्ञा की जाती है। ब्राह्मादि विवाहों से प्राजापत्य की यही विशेषता है। वीरमित्रोदय (पृ० ८५२) तथा संस्कार-कौस्तुभ (पृ० ७३२) भी हरदत्त के अर्थ का ही समर्थन करते हैं। संस्कारकौस्तुभ प्राजापत्य में, दूसरे आश्रम के अन्तर्गत जाने का निषेध मानता है तथा पहली पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह की अनुमति नहीं देता। इस प्रकार प्रजापत्य विवाह की विशेषता एकविवाह का बन्धन है। ब्राह्म विवाह में इस प्रकार की कोई विशेष शर्त या बन्धन नहीं है।

प्राजापत्य शब्द के अर्थ को विश्वरूप ने कुछ स्पष्ट किया है। उसके मत में प्रजापति स्नातक है, क्योंकि उसने प्रजा के उत्पादन की इच्छा की है। यह विवाह प्रजापति के योग्य होने से प्राजापत्य कहलाता है (याज्ञ० स्मृति १।२९-३०)।

हिन्दू विवाहों के आधुनिक रूप

विवाह के प्राचीन रूपों में इस समय केवल ब्राह्म और आसुर रूप ही अधिकतर प्रचलित है। किन्तु वर्तमान हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों, वर्णों, उपवर्णों, जातियों, कबीलों एवं समुदायों में विवाह की कुछ ऐसी पद्धतियाँ प्रचलित हैं जिनका शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है। ये विवाह इन जातियों में सैकड़ों वर्षों से होते चले आये हैं और अदालतें इनको रिवाजी कानून के रूप में स्वीकार करती हैं। इनमें किसी भी प्रकार की

८४ याज्ञवल्क्य स्मृति (१।६०) की बालम्भट्टी टीका में इस बात को स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राजापत्य विवाह एक-विवाह (Monogamy) का आदर्श पालन करने वाले दम्पती के लिए है, इस प्रकार से परिणय सूत्र में आबद्ध होने वालों के लिए एक-विवाह के नियम का पालन करना आवश्यक था। प्राजापत्य विधि से विवाह करने वाला पुरुष दूसरा विवाह नहीं कर सकता था।

शास्त्रीय विधि का पालन नहीं होता। इस प्रकार के विवाहों का यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जायगा।

दक्षिण भारत के विवाह

हिन्दू समाज ने विवाहों को इतने अधिक शास्त्रीय बन्धनों में जकड़ दिया है कि हम अब यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई ऐसा भी विवाह हो सकता है जिसमें कोई पुरोहित न बुलाया जाय, कोई मन्त्र न पढ़े जायं और कन्या का दान न किया जाय। दक्षिण के हिन्दू समाज में इस प्रकार के विवाह बहुत प्रचलित हैं। इतना ही नहीं, आज हिन्दू समाज जिस तलाक के नाम से चौंक उठता है, वह तलाक दक्षिण की कुछ उच्च समझी जाने वाली जातियों में प्रचलित है। अस्पृश्यता आदि विषयों में दक्षिण भारत बहुत ही कट्टर है, किन्तु विवाह के विषय में, उनके कुछ वर्गों में विलक्षण स्वाधीनता पायी जाती है।

मलाबार और कनारा की नायर और नम्बूदरी जातियों में विवाह के कई रूप प्रचलित हैं। उन्हें विवाह न कहकर स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध कहना अधिक उचित होगा। इन संबन्धों को कानून द्वारा स्वीकृत नहीं माना जाता है। ये सम्बन्ध अविच्छेद्य संस्कार नहीं हैं, इन्हें जब चाहे तब तोड़ा जा सकता है, इनमें कोई पुरोहित नहीं आता, कोई वैदिक मन्त्र या पौराणिक श्लोक नहीं पढ़ा जाता और कोई विशेष विधि भी नहीं की जाती।

इन विवाहों की एक और विशेषता यह है कि हिन्दू समाज के सभी विवाहों में पति पत्नी को अपने घर पर ले जाता है, किन्तु दक्षिण के इन विवाहों में पत्नी अपने पिता के घर में रहती है, पति उसके घर पर जाता है। पहले स्त्री अपनी इच्छा के अनुसार एक, दो या कई पुरुषों से सम्बन्ध रख सकती थी और इससे समाज में उसकी कोई अप्रतिष्ठा या बदनामी नहीं होती थी। इसलिए यह कहा जाता था कि कि मलाबार में कोई विवाह-नियम नहीं है। यहाँ संक्षेप से इन विवाहों की चर्चा की जायगी।

तालिकेट्टु तथा संबन्धम्—मलाबार के नायरों में यह एक विशेष एवं विचित्र प्रथा है कि प्रत्येक स्त्री को दो प्रकार का विवाह करना पड़ता है। पहले को तालिकेट्टु अर्थात् ताली का बाँधना और दूसरे को संबन्धम् कहते हैं। ताली अंजीर के पत्ते के आकार की सोने की बनी हुई एक वस्तु होती है। स्त्री का नाममात्र का पति ताली को उसके गले में बाँधता है। यह विधि बड़े ठाठ-बाठ और शान के साथ की जाती है और यदि यह न की जाय तो उस स्त्री का सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। एक ही आदमी, (प्रायः यह एक वृद्ध ब्राह्मण होता है,) बहुत सी कन्याओं का पति बनकर उनके गले में ताली बाँध देता है और उसके बाद दक्षिणा लेकर वह ब्राह्मण अपने घर चला जाता

है। इसके बाद उस व्यक्ति का उन कन्याओं से कोई कानूनी संबन्ध नहीं रहता; जिस कन्या के साथ ताली बाँधने के द्वारा उसने विवाह किया है, उसके साथ सहवास करने का उसे कोई अधिकार नहीं है।

युवावस्था प्राप्त कर लेने पर नायर कन्या का दूसरा विवाह होता है। इसे संबन्धम्, गुणदोषम्, पदवमुरी (कपड़ा देना) या कीटाकोरम (शय्या का विवाह) कहते हैं। इसकी विधि बहुत सादी होती है। वर, वधू के स्त्री-सम्बन्धियों के सामने रात को वधू-गृह में वधू को पान या वस्त्र देता है। उत्तरी मलाबार में सम्बन्धम् की पदवमुरी विधि अधिक प्रचलित है। इसमें पहले एक ज्योतिषी वर और वधू की जन्मपत्री मिलाता है। यदि दोनों की पत्री मेल खाती है तो विवाह का एक दिन निश्चित कर दिया जाता है, फिर ज्योतिषी और बरातियों को वधू के घर पर भोजन कराया जाता है, वर को बहुत सी भेंटे मिलती हैं। इस प्रारम्भिक विधि को परमुरि कुरक्कल कहा जाता है।

विवाह के नियत दिन से ३ या ४ दिन पहले परमुरि (Parmuri) विधि मनायी जाती है। इस अवसर पर वर अपने घर के बड़े-बूढ़ों को नारियल देता है और उनसे विवाह की आज्ञा प्राप्त करता है। विवाह के लिए नियत दिन पर सूर्यास्त के पश्चात् अपने मित्रों सहित वर वधू के घर पर जाता है। वहाँ उसका स्वागत होता है और वह घर के दक्षिणी भाग में बिठाया जाता है। वह ब्राह्मणों को दान देता है, एक सहभोज होता है, ज्योतिषी मंगलमुहूर्त की सूचना देता है। वर को फिर घर के मुख्य कमरे में या "पदिनहुट्ट" में लाया जाता है। बराती अपने साथ बहुत से कपड़े और नारियल लाते हैं। इन कपड़ों को पदिनहुट्ट में इकट्ठा किया जाता है। इसी कमरे में प्राय: घर के आवश्यक धार्मिक उत्सव किये जाते हैं। इसे सजाकर एक शयनकक्ष बना दिया जाता है। इसमें प्रदीप तथा विवाह के अवसर की आठ मांगलिक वस्तुएँ—चावल, अन्न, नारियल के पत्र, बांस, दर्पण, नवीन अग्नि और एक गोल लकड़ी का डब्बा (चप्पू) रखा जाता है। वर अपने एक मित्र के साथ पूर्वी द्वार से उस कमरे में प्रविष्ट होता है, पश्चिमी द्वार से उत्तम-उत्तम रत्नों और बहुमूल्य वस्त्रों से अलंकृत एवं सुसज्जित वधू अपनी चाची या किसी अन्य बड़ी स्त्री के साथ आती है। वर का मित्र वर को वधू के लिए कुछ कपड़े देता है। इसके बाद वृद्धा स्त्री उन दोनों के सिर और प्रदीपों पर चावल फेंकती है, वर इस समय दक्षिणी कमरे में अपने मित्रों को पान-सुपारी भेंट करता है, अतिथियों के जाने के बाद वर वधू के साथ शयनकक्ष में चला जाता है।[८४]

यह विवाह वर और वधू की इच्छा न रहने पर भंग किया जा सकता है। सामान्य कारणों पर प्राय: विवाह का विच्छेद नहीं होता है। लोकमत तथा मलाबार के संयुक्त परिवार या तरवाड़ का मुखिया प्राय: ऐसे विच्छेदों के विरुद्ध होते हैं। यदि पति

८४ मलाबार मैरेज कमीशन की रिपोर्ट

संपन्न होता है तो पत्नी उसके घर में रहती है, अन्यथा वह अपने तरवाड़ में ही रहती है और उसका पति श्वसुरालय में उसके पास आया करता है। मद्रास हाईकोर्ट ने एक निर्णय में इन विवाहों के विषय में यह लिखा था—'पति और पत्नी के बीच का यह सम्बन्ध वास्तव में विवाह नहीं है, अपितु एक प्रकार का रखैलपन है। स्त्री अपनी इच्छा से इस सम्बन्ध को बदल सकती है।' विवाह के इस रूप से यह स्पष्ट है कि स्त्री अपने परिवार में रहती है और उसका पति उसके पास जाता है। यद्यपि मलाबार में स्त्रियाँ कुछ अवस्थाओं में अपने पतियों के साथ रहती हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे अपनी इच्छा से वहाँ रहती हैं, वे जब चाहें अपने परिवार में लौट सकती हैं।[८६]

सम्बन्धम् की प्रथा के प्रचलित होने के मूल कारण

इस विचित्र विवाह का कारण यह बताया जाता है कि इस प्रथा के मूल में यह विश्वास था कि विवाह की प्रथम भेंट देवताओं या उनके प्रतिनिधि ब्राह्मणों को देनी चाहिए। कैप्टन हैमिल्टन ने यह लिखा था कि जब जमोरिन विवाह करता है तो वह अपनी पत्नी के साथ तब तक सहवास नहीं कर सकता जब तक कि मुख्य पुरोहित (नम्बूरी या नम्बूदरी) उसका उपभोग न कर ले। यदि वह पुरोहित चाहे तो उस स्त्री के साथ तीन रात्रि सहवास कर सकता है, क्योंकि विवाह का प्रथम फल उन देवताओं के लिए भेंट करना चाहिए जिनकी वधू पूजा करती है। कुछ धनिक लोग ब्राह्मणों के लिए इतने उदार होते हैं कि वे उन्हें यह कर लेने देते हैं, किन्तु सामान्य जनता उन्हें यह ऐसा नहीं करने दे सकती, अतः पुरोहित का स्थान वे स्वयं ले लेते हैं।[८७]

यह कारण ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यह प्रथा नीच जातियों में भी प्रचलित है और इन जातियों की स्त्रियों के साथ कोई ब्राह्मण कभी सहवास नहीं कर सकता। इन विवाहों के प्रारम्भिक वर्णनों में ब्राह्मण वरों का उल्लेख नहीं मिलता। इस विषय में गेट की यह कल्पना अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होती है कि पहला विवाह नायरों की बहुभर्तृता (Polyandry) प्रथा को ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत एवं शुद्ध करने का एक प्रयत्न मानना चाहिए। नायर लोगों की राजनीतिक प्रभुता होने पर भी ब्राह्मण उनके इस कार्य को पूरी तरह पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने यह व्यवस्था बनायी कि कन्या का विधिपूर्वक विवाह एक बार अवश्य हो जाना चाहिए, इसके बाद भले ही नायर अपनी प्रथा के अनुसार कुछ भी करते रहें।[८८]

८६ सै० रि० ई०, १९११, खण्ड १, भाग १, पृ० २४२
८७ रिजली—पीपल आफ दी इंडिया, पृ० २०९
८८ सै० रि० ई०, १९११, भाग १, खण्ड १, पृ० २४२

मलाबार विवाह कानून

पिछली शती के अन्त तक मलाबार में सम्बन्धम् विवाह होते थे, किन्तु वहाँ विवाह विषयक शिथिलता को दूर करने के लिए पिछली शती में घोर आन्दोलन हुआ। मद्रास सरकार ने १८६१ में इस विषय पर विशेष विचार करने के लिए मलाबार विवाह कमीशन की नियुक्ति की थी। इस कमीशन को दो कार्य सौंपे गये—(१) मरुमक्कथायम दाय भाग के नियम को मानने वाले व्यक्तियों की वैवाहिक प्रथाओं का निश्चय करना, (२) इस विषय पर अपनी सम्मति देना कि क्या इन विवाहों की किसी विधि को कानूनी तौर पर स्वीकृत करना आवश्यक है या नहीं। इसके छः सदस्यों में से पाँच का यह मत था कि निम्न कारणों से विवाहों के लिए एक अनुमति देने वाले कानून (Permissive Legislation) की आवश्यकता है—(१) अनुमति देने वाला कानून बन जाने पर जो चाहेंगे, वे कानूनी विवाह कर सकेंगे और शेष इसके लिए बाध्य नहीं किये जायेंगे, (२) राष्ट्रीय उन्नति एवं सदाचार के लिए विवाह के कानून का बनना आवश्यक है, (३) यदि कानून नहीं बनाया जायेगा तो प्रति वर्ष इसके लिए माँग दोहरायी जायगी। अदालतें उस समय तक इन विवाहों को अवैध मानती थीं। कमीशन के प्रधान ने इस बात पर बल दिया कि जब तक इस विषय का कोई कानून नहीं बनेगा, अदालतें ऐसे विवाहों को अवैध मानती रहेंगी। अतः इन्हें वैध बनाने के लिए एक कानून अवश्य बनाया जाना चाहिए। तब सन् १८९६ में इन विवाहों को अदालतों द्वारा वैध माने जाने के लिए मलाबार मैरेज एक्ट पास किया गया।

इस कानून में सम्बन्धम् विवाह का लक्षण यह किया गया है—सम्बन्धम् एक स्त्री और पुरुष के बीच का ऐसा सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध से वे अपनी जाति की प्रथा के अनुसार पति-पत्नी के रूप में सहवास करते हैं या सहवास करने का विचार रखते हैं। यह सम्बन्धम् निषिद्ध पीढ़ियों के अन्दर नहीं हो सकता। जिन समुदायों या वर्णों में विवाह निषिद्ध है, उनके साथ भी यह सम्बन्धम् नहीं होना चाहिए और नाबालिग को अपने अभिभावक की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है।

विवाह की सूचना विवाह के रजिस्ट्रार को देनी चाहिए, यदि इस पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जाती तो सूचना देने के एक मास पश्चात् विवाह हो सकता है। ऐसा विवाह कानून द्वारा वैध होगा और पति पत्नी तथा सन्तानों को पालने के लिए बाध्य होगा।

१९३३ के मद्रास मरुमक्कथायम एक्ट द्वारा इस कानून को और अधिक परिष्कृत एवं विस्तृत किया गया है। इस कानून द्वारा निम्न महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं—(१) संबन्धम् को कानूनी विवाह समझा गया है। (२) तलाक का पूर्ण अधिकार दिया गया है। तलाक के लिये कोई कारण बताने की आवश्यकता नहीं है, (३) एक-विवाह (Monogamy) के सिद्धान्त को लागू किया गया है।

नम्बूदरी विवाह

नम्बूदरी ब्राह्मणों में यह प्रथा थी कि उनमें केवल बड़े भाई को ही विवाह करने का अधिकार था, छोटे भाई सवन्धम् ही कर सकते थे और इनकी सन्तानें माता के परिवार में उसके साथ रहती थीं। इस नियम का उद्देश्य बड़े भाई को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार देकर भूसंपत्ति को विभक्त होने से बचाये रखना था, किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि नम्बूदरी जाति का विस्तार बिल्कुल रुक गया, क्योंकि छोटे भाइयों द्वारा उत्पन्न सभी बालक माता की जाति के समझे जाते थे। आजकल प्रजातंत्र के युग में संख्या का बहुत महत्त्व है। युवक नम्बूदरियों ने देखा कि यदि उनकी वर्तमान प्रथा के अनुसार बड़े भाई के पास ही विवाह का अधिकार बना रहा, तो उनकी संख्या अवश्यमेव कम हो जायगी, राजनीतिक जीवन में उनका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा। अतः १९३३ में मद्रास नम्बूदरी विवाह कानून पास हुआ। इस कानून की ६ वीं धारा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस धारा के अनुसार प्रत्येक नम्बूदरी को अपनी जाति में विवाह करने का पूरा अधिकार है और प्रत्येक कन्या के लिए विवाह में दहेज की मात्रा नियत कर दी गयी है। यह मात्रा कन्या के हिस्से में आने वाली सम्पत्ति के तिहाई भाग से अथवा १०,००० रुपयों से अधिक न होगी। नम्बूदरियों को एक-विवाह का नियम पालन करना पड़ेगा। केवल निम्न तीन अवस्थाओं में उन्हें एक पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने का अधिकार है—(१) जब पत्नी ५ वर्ष से किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो, (२) जब १० वर्ष तक पत्नी से कोई सन्तान न हुई हो, (३) जब स्त्री जाति से बहिष्कृत हो गयी हो। यह स्मरण रखना चाहिए कि नम्बूदरियों को तलाक का अधिकार नहीं दिया गया।

कराव—यह विवाह संयुक्त प्रान्त के जाट,[८९] गूजर और लोधियों[९०] में प्रचलित है। पंजाब में भी इसका प्रचार है। इस विवाह में बिना किसी विधि के मृत व्यक्ति की पत्नी को उसका भाई ले सकता है। इस विवाह को अदालतें वैध मानती हैं। कराव में कोई विशेष विधि नहीं होती है। इसमें मुख्य बात यह है दोनों पति-पत्नी सम्बन्ध के लिए सहमत हों अथवा कन्या के माता-पिता या अभिभावक अपनी कन्या को उसके साथ विवाह की इच्छा रखने वाले युवक को देने के लिए तैयार हों। ऐसे अवसर पर विधवा प्रायः लाल कपड़े पहनती है और पति उसे कंगन, नथ, बाली या वैवाहिक जीवन की प्रतीक कोई अन्य वस्तु देता है। कई स्थानों पर इस विवाह के लिए यह विधि की जाती है कि स्त्री-पुरुष इकट्ठे बैठ जाते हैं और कोई ब्राह्मण, साधु या बड़ा भाई उन दोनों पर एक सफेद चादर डालता है,

८९ रटिगेन—पंजाब कस्टमरी ला० ७ नं० संस्करण, पृ० १४१, पूर्णमल बनाम तुलसी ३ आगरा पृ० ३५०

९० ४ ला० बै० प्रोसि० हा० को०, रि० पृ० १२८

स्त्री को उपयुक्त भेंट या हाथ में एक रुपया दिया जाता है। वर-वधू पर चादर डालने के कारण इसे 'चादर अंदाजी' भी कहते हैं। करान प्रायः विधवाओं की चादर अंदाजी को कहते हैं। जब ऐसी वधू शुल्क देकर लायी जाती है उस समय कोई विधि आवश्यक नहीं समझी जाती। पति द्वारा पत्नी को खरीदना ही उन दोनों के वैवाहिक जीवन को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

खाण्डा विवाह—यह दक्षिण भारत के कुम्बला जमींदारों में प्रचलित है। जब वधू किसी नीची जाति की हो और वर कुलीन या जमींदार हो, तब यह विवाह होता है। इस विवाह में खाण्डा या खंजर का उपयोग आवश्यक है; इसलिए इसे खाण्डा विवाह कहते हैं। जमींदार विवाह के समय उपस्थित नहीं होता, उसके स्थान पर एक खंजर रख दिया जाता है। इस खंजर के सामने वधू को ताह (मंगल सूत्र) बाँध दिया जाता है। जमींदार के साथ इस प्रकार विवाहित स्त्रियों को भोग-स्त्रियाँ कहा जाता है और नियमपूर्वक विवाहित स्त्री महास्त्री कहलाती है।[६१] यह विवाह तंजोर के राजकुलों में प्रचलित था, प्रिवी कौन्सिल ने इस विवाह की निन्दा की है और ऐसी स्त्री की सन्तानें अवैध मानी हैं।[६२]

शान्ति गृहीत—टिपरा (बंगाल) में यह प्रथा प्रचलित है कि त्रिपुरा देवी की पूजा करने के बाद पुरोहित राजा-रानी को मालाएँ और चंदन घिसकर देता है, तत्पश्चात् उन्हें शांति-जल दिया जाता है। यह गान्धर्व विवाह का एक भेद माना जाता है।[६३]

आनन्द विवाह—सिक्खों के विवाह पहले हिन्दू विधि के अनुसार होते थे। उन्हें ब्राह्मण पुरोहित कराते थे। हिन्दू व सिक्ख विवाहों में केवल इतना अन्तर था कि स्त्रियाँ विवाह के समय हिन्दू गीतों के स्थान पर लावाँ गाया करती थीं। यह लावाँ सिक्खों के चौथे गुरु श्री रामदास ने अपने विवाह पर बनाये थे। बाद में सिक्खों में दोहरा संस्कार किया जाने लगा। पहले हिन्दू पद्धति से विवाह होता था, बाद में विवाहित दम्पती गुरुग्रन्थ साहिब की चार बार प्रदक्षिणा करते और ग्रन्थी उक्त लावाँ पढ़ता था। पारस्परिक प्रतिज्ञाएँ पंजाबी में होती थीं। लावाँ चार फेरों (अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा या पंजाबी परकमा=परिक्रमा) का ही प्रतिरूप है और विवाह की अनिवार्य विधि माना जाता है। लावाँ के बाद आनन्द-वाणी पढ़ी जाती है। यह हिन्दू शान्तिपाठ की तरह है। विवाह के साथ इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कोई भी मांगलिक विधि आनन्द-

६१ १७ मद्रास ४२२। रामशरणसिंह बनाम महावीर सेवकसिंह १६३४ प्रो० कौ० ७४ चकम्मल वीरचन्द्र १वीं रि० १६४, राजकुमार तहरीन बनाम वीरचन्द्र २५वीं० रि० ४०।

६२ महाराज कोल्हापुर बनाम सुन्दरम् अय्यर ४८ म १

६३ स्टील पृ० ३१

वाणी के बिना पूरी नहीं समझी जाती। इसके बाद सवा रुपया या अधिक का कड़ाह् प्रसाद (हलवा) बांटा जाता है। इस विधि को आनन्द विवाह् कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि आनन्द विधि में पवित्र अग्नि का स्थान गुरुग्रन्थ साहिब को दे दिया गया है और अग्नि की तरह् गुरुग्रन्थ साहिब की प्रदक्षिणा की जाने लगी है।

सिक्खों के विवाह् की तीसरी अवस्था यह हुई कि उन्होंने हिन्दू विवाह् पद्धति का सर्वथा त्याग कर दिया। उनमें केवल लावों और आनन्द-वाणी के साथ ही विवाह् होने लगे। पहले इन विवाहों की वैधता में सन्देह किया जाता था। १९०९ में आनन्द मैरेज एक्ट द्वारा इस प्रकार के सब विवाहों को वैध बना दिया गया है। आनन्द विवाह् सिक्ख धर्म स्वीकार करने वालों में ही वैध माना जाता है।[६४]

कण्ठी-बदल विवाह्—वैष्णवों में वर-वधू के कंठी बदलने पर विवाह् वैध माना जाता है।[६५]

कलियानम् विवाह्—कुछ लिंगायतों (वीरशैवों) में विवाह् की यह परिपाटी है कि वे भोज देते हैं, उनमें वर और वधू अतिथियों के सामने एक आसन पर बैठते हैं और पान खाते हैं। उनके कपड़े एक साथ बांध दिये जाते हैं। उसी रात्रि को सहवास किया जाता है। यही कलियानम् (कल्याणम्) कहा जाता है। विधवाओं के ऐसे विवाह् को 'उदवेणि' कहते हैं।

नातरा विवाह्—गुजरात की कुछ जातियों में पहली स्त्री को छोड़ कर कोई पुरुष जो दूसरा विवाह् करता है उसे नातरा (नाता या नया सम्बन्ध होना) कहते हैं। महाराष्ट्र में स्त्री या विधवा के दूसरे विवाह् को 'पाट' कहते हैं।

चादर अंदाजी विवाह्—पंजाब के सिक्ख और राजपूत इस विधि के अनुसार मुसलमान स्त्रियों के साथ विवाह् करते हैं। पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंह् ने चादर डालकर कई मुसलमान स्त्रियाँ ग्रहण की थीं, शेरसिंह् ने भी इस विषय में उनका अनुसरण किया था। एक मुसलमान वेश्या ने कुंवर देवरसिंह् की सम्पत्ति में इस आधार पर उत्तराधिकारी होना चाहा था कि देवरसिंह् ने चादर डालकर उसे ग्रहण किया था। अदालत ने सिक्ख सरदारों से इस विषय में पूछताछ करवायी। सरदारों ने कहा कि यद्यपि महाराज रणजीतसिंह् और शेरसिंह् ने ऐसे विवाह् किये हैं किन्तु वे राजा थे, उन्होंने इस विषय में आचार और प्रथा की परवाह् नहीं की, अतः उनका यह कार्य प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पंजाब के चीफ कोर्ट ने १८६८ में एक जाट जागीरदार के एक ब्राह्मणी के साथ चादर अन्दाजी द्वारा किये गये विवाह् को अवैध माना था। किन्तु बाद में अदा-

६४ सं० रि० पं० १९११ भा० १ खण्ड १ पृ० २३७
६५ विनोद बनाम शशिभूषण २४ कल० वी० लॉ० सं० ६५८

लतों ने पंजाब में ऐसे विवाहों को वैध माना है। पंजाब के हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों में ये विवाह प्रचलित हैं।

सर्वस्वधनम् विवाह—यह विवाह दक्षिण के नम्बूदरियों में प्रचलित है। इसका उद्देश्य अपने दोहते या लड़की के लड़के को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाना होता है। जब किसी व्यक्ति की कोई पुरुष सन्तान नहीं होती और लड़कियां ही होती हैं, उस समय यह विवाह किया जाता है। विवाह के समय पिता दामाद से कहता है—"मैं यह अलंकृत कन्या तुम्हें देता हूँ। इस कन्या का कोई भाई नहीं है। इससे जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र समझा जायगा।" कुर्ग में भी यह रिवाज पाया जाता है। जिस व्यक्ति की कोई पुरुष सन्तान नहीं होती, वह अपनी कन्या का विवाह इसी शर्त पर करता है कि उसका दोहता उसके घर में रहेगा। धारवाड़ के होलेयों, मद्रास के कुन्नवान और मादिगों और कांची के सिहलियों में भी इसका रिवाज है। आसाम और कश्मीर में भी इसका प्रचलन है। आसाम में ऐसा दामाद न केवल श्वसुर की सम्पत्ति का अधिकारी होता है, बल्कि उसका गोत्र भी वही माना जाता है, जो गोत्र उसके श्वसुरालय का होता है। छोटा नागपुर के संथालों और ओरांवों में ऐसी स्त्री का पति, जिसका कोई भाई नहीं है श्वसुरालय में रहकर काम करता है और श्वसुर के बाद उसकी सम्पत्ति का अधिकारी होता है। पंजाब में पुत्र न होने पर श्वसुर द्वारा दामाद को पुत्र बना लिया जाता है। यह श्वसुर के घर में रहता है, उसे घर जंवाई, घर-दामाद या खाना-दामाद कहते हैं।[६६]

सत परिवर्तन (सत्य परिवर्तन)—दो परिवारों में जब यह निश्चय हो जाता है कि एक परिवार द्वारा एक विवाह किये जाने पर, दूसरा परिवार उसके बदले में उस परिवार के साथ दूसरा विवाह करेगा तो दोनों कुल या परिवार आपस में कन्याओं का आदान-प्रदान या परिवर्तन करते हैं। बम्बई और बंगाल में इन विवाहों का विशेष रिवाज है। बंगाल में ये विवाह ब्राह्मणों में भी प्रचलित हैं। पंजाब में ऐसे विवाहों को बट्टा-सट्टा (अदल-बदल या परिवर्तन) कहते हैं। मथुरा के विशिष्ट वर्गों में भी बदला-विवाह पाये जाते हैं।

६६ सी० रि० ई०, १९११, खं० १, भा० १, पृ० २२६।

अध्याय ७

विवाह संस्कार

संस्कार का उद्देश्य

वर्तमान युग में हिन्दुओं का कोई भी विवाह, विवाह-संस्कार के बिना पूर्ण नहीं माना जाता। पुराने जमाने में गान्धर्व आदि विवाहों में वर और वधू की स्वीकृति को ही पर्याप्त समझा जाता था, किन्तु बाद में अपनी इच्छा से किये जाने वाले प्रणय-विवाहों में भी संस्कार को आवश्यक माना जाने लगा। विवाह-संस्कार का मुख्य उद्देश्य यह है कि विवाहित होने वाले स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को सार्वजनिक एवं वैध बना दिया जाय। संस्कार के बिना नर-नारी का जो सम्बन्ध होता है समाज उसे अवैध, नाजायज एवं अपने लिए हानिकर समझता है। ऐसा सम्बन्ध रखने वालों को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है; अतः न केवल हिन्दू समाज में अपितु मानव समाज के अधिकांश भागों में कुछ ऐसी विधियाँ आवश्यक समझी जाती हैं जिनको करने के बाद ही स्त्री-पुरुष पति-पत्नी बन कर रह सकते हैं। इस प्रकार समाज विवाह-संस्कार द्वारा विवाहों का नियन्त्रण करता है, यह नियन्त्रण कई प्रकार से हो सकता है। कुछ समाजों में यह विवाह-संस्कार पुरोहित द्वारा कराया जाता है। हिन्दू समाज, रोमन समाज और ईसाई जगत् के अधिकांश विवाहों में पुरोहित की उपस्थिति आवश्यक है। मुसलमानों में विवाह एक दीवानी मामला है, अतः वहाँ विवाह के समय में दो साक्षियाँ आवश्यक हैं। आजकल के दीवानी विवाहों (Civil marriages) में किसी मजिस्ट्रेट के सामने विवाह की घोषणा आवश्यक मानी जाती है। स्त्री-पुरुष में चाहे कितना ही सच्चा प्रेम हो, समाज उनके सम्बन्ध को तब तक वैध नहीं मानेगा जब तक उसके साथ समाज द्वारा स्वीकार की जाने वाली कुछ विशेष विधियाँ न की जायं और उसमें कोई पुरोहित या मजिस्ट्रेट साक्षी न हो।[1]

हिन्दू समाज के प्रत्येक वर्ग, समुदाय या जाति में विवाह-संस्कार की अलग-अलग विधियाँ हैं और अत्यन्त प्राचीन काल से इनकी विविधता इसी प्रकार चली आ रही है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि कोस-कोस पानी बदलता है और १२ कोस पर बानी

[1] मलाबार का सम्बन्धम् नामक विवाह इस विषय का अपवाद है।

बदल जाती है। विवाह की विधियों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि वे १२ कोस पर बदल जाती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र ने आज से ३००० वर्ष पूर्व यह कहा था कि विभिन्न शहरों और गांवों के रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न होते हैं। जिस तरह आजकल पुराने रिवाजों के बारे में बूढ़ी औरतें प्रामाणिक मानी जाती हैं, उसी तरह आपस्तम्ब के जमाने में भी इनके रीति-रिवाजों को परम प्रमाण माना जाता था (आप० गृ० सू० २।१५)। काठक गृह्यसूत्र (२५।७) ने भी विवाह में देशाचारों और कुलों के आचारों के पालन की अनुमति दी है। पारस्कर गृह्यसूत्र (१।८।११।१३) शास्त्रीय विधियों के बाद ग्राम की विशेष विधियाँ करने की अनुमति देता है। इन आचारों के कारण, हिन्दू विवाह की विधि बहुत विस्तृत, जटिल और पेचीदा हो गयी है, विवाह-संस्कार एक बहुत लम्बा-चौड़ा शुष्क कर्मकाण्ड हो गया है। इसमें बहुत सी विधियाँ रिवाज के तौर पर की जाती हैं और बहुत सी विधियाँ वैदिक मंत्रों के साथ पूर्ण की जाती हैं। यहाँ हम पहले वैदिक मन्त्रों के साथ की जाने वाली शास्त्रीय विधियों पर उल्लेख करेंगे और बाद में विवाह के सम्बन्ध में किये जाने वाले अन्य लोकाचारों या देशाचारों का संक्षिप्त वर्णन होगा।

वैदिक युग की विधियां

वैदिक युग की विधियों का विशेष ज्ञान ऋग्वेद के सूर्यासूक्त (१०।८५) से तथा अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड से होता है। इनमें विवाह की प्रायः सभी विधियों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें सबसे पहले आलंकारिक रूप से सोम का वर्णन है (ऋ० १०।८५।१–५; अथर्व० १४।१।१–५)। अगले मन्त्रों में कन्या के आलंकारिक दहेज को बतलाया गया है (ऋ० १०।८५।६, ८,१०–१३; अथर्व० १४।१।६–१०)। ऋग्वेद में पाणिग्रहण (१०।८५।३६), केशमोचन (१०।८५।२४), वधू की विदाई (१०।८५।२६–३२; ३३), श्वशुरालय प्रवेश (१०।८५।२७, ४१–४६) व कन्यादान (१०।८५।३८–४१) की विधियां हैं; किन्तु उसमें अश्मारोहण, सूर्यदर्शन, ध्रुवदर्शन आदि विधियाँ नहीं हैं। अथर्ववेद (१४।१।४८।५२) में पाणिग्रहण का अधिक विस्तार से वर्णन है, अश्मारोहण (१४।१।४७) का भी प्रतिपादन है। वधू के वस्त्रों (१४।१।४५), स्नान (१।२७), श्वशुरालय गमन (१।६०–६४) का उल्लेख है। किन्तु यहाँ भी ध्रुवदर्शन और लाजाहोम का वर्णन नहीं है।

गृह्यसूत्रों की विधियां

हिन्दू विवाह को गृह्यसूत्रों ने क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित किया। पुरानी विधियों में कुछ नयी विधियाँ जोड़ी गयीं। ध्रुवदर्शन और लाजाहोम इसी युग में विवाह के आवश्यक अंग बने। इन गृह्यसूत्रों में विधियों की संख्या और स्वरूप अनिश्चित रहा है तथा

उनके विषय में परस्पर मतभेद रहा है। वर्तमान समय में शास्त्रीय हिन्दू विवाहों में इन्हीं विधियों का अनुसरण किया जाता है। अतः इन विधियों का विस्तार से वर्णन किया जायगा। इस वर्णन में आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा पारस्कर गृह्यसूत्र की विधि को आधार बनाया गया है, किन्तु जहाँ अन्य गृह्यसूत्र विशेष विधियों का उल्लेख करते हैं, वहाँ उनका भी साथ में निर्देश कर दिया गया है। ये विधियाँ प्रायः सभी प्राचीन आर्यजातियों में पायी जाती थीं। पादटिप्पणियों में यथासम्भव इसका उल्लेख किया गया है।

विवाह की विधियों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—(१) विवाह की प्रारम्भिक विधियाँ। ये वधू के घर पर की जाने वाली विवाह की आवश्यक रस्में हैं, यथा पाणिग्रहण, लाजाहोम, अश्मारोहण आदि विधियाँ। (२) वधू को श्वशुरालय ले जाकर की जाने वाली विधियाँ। उदाहरणार्थ, ध्रुवदर्शन की विधि वधू के श्वशुरालय पहुँच जाने पर होती थी, किन्तु वर्तमान समय में दोनों विधियाँ प्रायः एक साथ ही वधू के घर पर पूरी की जाती हैं। इन विधियों के पौर्वापर्य में विभिन्न सूत्रकारों में बहुत मतभेद हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र सप्तपदी से पहले अग्निपरिक्रमण का निर्देश करता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र सप्तपदी को अग्निपरिक्रमण से पहले मानता है। पाणिग्रहण को अधिकांश सूत्रकार सप्तपदी से पहले मानते हैं, किन्तु गोभिल, खादिर, बौधायन इसे बाद में मानते हैं। यहाँ इन विधियों का वर्णन-क्रम पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों के अनुसार है। यह आश्चर्य की बात है कि आश्वलायन विवाह संस्कार को पाणिग्रहण की विधि से शुरू करता है, उससे पहले मधुपर्कादि की महत्वपूर्ण विधियों का वर्णन नहीं करता। यहाँ पहले इन विधियों का वर्णन उचित जान पड़ता है।

मधुपर्क—विवाह के लिए वर बरातियों के साथ वधू के घर पर पहुँचता है। कन्या के घर पर बरात ले जाने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक काल से चला आ रहा है। अथर्व० (११।८।१) में एक आलंकारिक विवाह का वर्णन करते हुए यह पूछा गया है कि उस विवाह में कौन बराती (जन्याः) थे और कौन दूल्हा था। बरात के साथ वर द्वारा वधू के घर पर पहुँचने पर उसका स्वागत किया जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र के मत में वर अर्घ देने योग्य (सत्कार करने योग्य) होता है, अतः जब वह द्वार पर आता है तो वधू पक्ष के लोग उससे कहते हैं कि "आप अच्छी तरह बैठिए, हम आपका सत्कार करेंगे" (१।३।४)। वधू पक्षवाले वर को बैठने के लिए आसन, पांव धोने और आचमन करने के लिए जल, (अर्घ) तथा मधुपर्क देते हैं।

मधुपर्क प्राचीन काल में सम्माननीय व्यक्तियों को दिया जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (१।३।१) में ऋत्विक्, वर, स्नातक, राजा और प्रिय व्यक्ति को मधुपर्क के सम्मान के योग्य समझा गया है। बौधायनगृह्यसूत्र (१।२।६५) अतिथियों को भी इस योग्य

समझता है।[२] मधुपर्क में क्या चीजें होती थीं, इस प्रश्न पर गृह्यसूत्रों में बड़ा मतभेद है। इस बात पर सब सहमत हैं कि उसमें मधु होना चाहिए। मधुपर्क का अर्थ यही है कि मधु से मिली हुई (संपृक्त) वस्तु। किन्तु मधु के साथ मिलायी जाने वाली अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में मतभेद है। आश्वलायन गृह्यसूत्र व आपस्तम्ब गृह्यसूत्र इसे मधु और दही या मक्खन का मिश्रण बताते हैं। आप० गृह्यसूत्र (१३।११।१२) कुछ लोगों की यह सम्मति उद्धृत करता है कि इसमें जौ भी मिलाना चाहिए। कौशिक सू० (६२) में ६ प्रकार के मधुपर्कों के मिश्रण का वर्णन है। मानव गृ० सू० (१।६।२२), हिरण्यकेशी गृ० सू० (१।१३।१४) तथा बौधायन गृ० सू० (१।२।५१–५४) में मधुपर्क में गौ या बकरी के मांस को भी देने का वर्णन है, बाद में इसे बुरा समझा जाने लगा। इस समय हिन्दू समाज में मधुपर्क का रिवाज बहुत कम हो गया है, केवल विवाह के समय दही और मधु मिलाकर मधुपर्क दिया जाता है।

गृह्यसूत्रों में मधुपर्क की बहुत विस्तृत विधियों का वर्णन है। कई मंत्रों को पढ़ते हुए वर मधुपर्क का ग्रहण करता है, उसको अनामिका और अंगूठे से विलोता है, फिर कुछ मन्त्र पढ़ता हुआ मधुपर्क का भक्षण करता है। मधुपर्क की विधि की समाप्ति गोदान से होती है। यजमान या श्वशुर अतिथि या वर को तीन बार गौ शब्द कहकर गौ का दान करता है। इस गोदान से दहेज का भ्रम होना स्वाभाविक है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। गोदान मधुपर्क की विधि का अंग है और मधुपर्क का विवाह से सम्बन्ध नहीं है, वह अतिथि, ऋत्विक्, वर, स्नातक, श्वशुर, मामा, आचार्य किसी भी प्रिय व्यक्ति के घर आने पर दिया जाता था। वह विवाह में ही होता हो, ऐसी बात नहीं। आश्वलायन गृह्यसूत्र विवाह के पहले किसी मधुपर्क का उल्लेख नहीं करता। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (३।८), बौधा० गृ० सू० (१।२।१), मानव गृ० सू० (१।९), काठक गृ० सू० (२४।१-२) में विवाह से पहले मधुपर्क का वर्णन है। शांखा० गृ० सू० (१।१२।१०) विवाह से पहले और वधू के घर में प्रवेश करने के समय मधुपर्क का उल्लेख करता है। काठक गृ० सू० (२४।१) पर टीका करते हुए आदित्यदर्शन लिखता है कि मधुपर्क विवाह के अन्त में देना चाहिए, परन्तु उसके बाद वह लिखता है कि सब प्रदेशों में मधुपर्क विवाह से पहले दिया जाता है।

गृह्यसूत्रों के समय में चाहे कैसी परिपाटियाँ रही हों, किन्तु इस समय सर्वत्र हिन्दू समाज में मधुपर्क विवाह से पहले ही दिया जाता है और उसका मुख्य उद्देश्य वर का स्वागत एवं सत्कार करना है।

२ गौ० ध० सू० ५।२५, आप० गृ० सू० १३।१९-२० आप० ध० सू० २।३।८।५-६ बौ० ध० सू० २।३।६३-६४, गौ० ध० सू० ४।१०।२३-२४, ध० गृ० सू० ४।४।२६, मनु, ३।११९ व अनु० तथा याज्ञ० स्मृति में मधुपर्क की विधि विस्तार से बतायी गयी है।

वस्त्रदान—मधुपर्क द्वारा स्वागत होने के बाद वर वधू को कुछ वस्त्र पहनाता है। उस समय 'जरां गच्छ' तथा "या अकृन्तन्नवयन्" (अथर्व १४।१।४५) के मन्त्रों का पाठ करता है। दोनों मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—"हे कन्या, तू वृद्धावस्था तक पहुँचने वाली हो, (मेरे दिये हुए) इस वस्त्र को तू पहन, कामादि से घिरे हुए व्यक्तियों के बीच में उनके अभिशाप से अपनी रक्षा करने वाली हो, १०० वर्ष तक जीवित रह, तेजस्विनी होकर धन और पुत्रों का संग्रह कर, हे आयुष्मति, इस वस्त्र को धारण कर।" दूसरे मंत्र में यह कहा गया है—"ये वस्त्र वर के घर की स्त्रियों द्वारा काते और बुने गये हैं, वे तुझे बुढ़ापे तक ऐसे वस्त्र पहनाती रहें। जिन देवियों ने इस वस्त्र के सूत को काता है, जिन्होंने इसके सूत को फैलाया है, जिन देवियों ने दोनों ओर से ताने बाने में इसे फैलाया है, वे देवियाँ तुझे वृद्धावस्था पर्यन्त ऐसे ही वस्त्र पहनाती रहें। हे आयुष्मति, इस वस्त्र को पहन" (अथर्व, १४।१।४५)। गृह्यसूत्र वर द्वारा वधू को इन वस्त्रों के पहनाये जाने का विधान करते हैं, किन्तु आजकल ये वस्त्र वधू को प्रदान किये जाते हैं और वह इन्हें स्वयं धारण करती है।

कन्यादान—पारस्कर (१।४।१३) ने इसका उल्लेख मात्र किया है, किन्तु मा० गृ० सू० (१।८।६।९) ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। कन्यादान करने वाला पिता या भाई तीन बार मंगल शब्द करता हुआ 'ददामि' (देता हूँ) कहे और वर तीन बार 'प्रतिगृह्णामि' (स्वीकार करता हूँ) कह कर कन्या को स्वीकार करे। कई बार वर कन्या को शुल्क देकर खरीदता था। उस परिस्थिति के लिए मा० गृ० सू० यह कहता है कि वर अपनी अंजलि में शुल्क का धन भर ले, कन्या को स्वीकार करते हुए वह धन कन्या के पिता को दे दे। पिता उस समय यह कहे कि मैं तुझे धन के लिए देता हूँ और वर यह कहे कि मैं पुत्रों के लिए तुझे स्वीकार करता हूं (धनाय त्वा ददामि, पुत्रेभ्यस्त्वा प्रतिगृह्णामि)। इसमें कन्या के और वर के गोत्रों का व प्रपितामह तक के नामों का उच्चारण किया जाता है और कहा जाता है—"किसने दिया, किसको दिया, काम ने काम को दिया। काम देने वाला है, काम लेने वाला है। काम समुद्र में तू प्रविष्ट हो, मैं तुझे काम से ग्रहण करता हूँ" (तै० ब्रा०)। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि वास्तव में विवाह परस्पर इच्छापूर्वक होता था, पिता कन्या का नाममात्र का दाता है, वास्तविक दाता काम ही है।

ऋग्वेद में कन्या के पिता (सविता या उत्पादक) द्वारा कन्या के दान का उल्लेख है और आलंकारिक रूप से अग्नि द्वारा कन्या को दिये जाने का वर्णन है (ऋ० १०।८५।३९–४१, अथर्व १४।२।३–४)। बाद में अलंकृत कन्या के दानवाले ब्राह्म विवाह को आठ विवाहों में सर्वश्रेष्ठ गिना गया है। आश्वलायन (१।२२) में बताया गया है कि वर कन्या को लेते समय कहे कि मैं तुझे धर्म और प्रजा की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ (धर्मप्रजासिद्ध्यर्थं त्वा प्रतिगृह्णामि)। सं० कौ० में इस अवसर

पर बोले जाने वाले विविध मन्त्र दिये गये हैं। इस समय कन्या का पिता वर से कहता है—"तू इस पत्नी के प्रति धर्म, अर्थ और काम के कर्तव्यों को पूरा करने में कोई उपेक्षा या ढील नहीं करना (धर्मे अर्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वया इयम्)। वर उसका उत्तर देते हुए यह कहता है कि मैं इन कर्तव्यों का पालन करने में कोई ढील नहीं करूँगा (नातिचरामि)।

परस्परसमीक्षण—पारस्कर गृह्य सूत्र कन्यादान के बाद वधू के परस्पर-समीक्षण की विधि का वर्णन करता है। कड़े पर्दे का पालन करने वाले हिन्दुओं को यह जानकर शायद आश्चर्य हो, किन्तु पुराने जमाने में वर-वधू को एक-दूसरे का दर्शन कराना एक महत्त्वपूर्ण विधि थी। पारस्कर इस समय ऋ० १०।८५।४४, ४०, ४१, ३७ मंत्रों को पढ़ने का वर्णन करता है। इन मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार है—"हे कन्या तू सौम्यदृष्टि या अपाप दृष्टि वाली होती हुई वृद्धि को प्राप्त कर, पति के प्रियजनों का घात करने वाली न हो, पशुओं के लिए मंगलकारिणी हो, उत्तम मनवाली व तेजस्विनी हो, वीरों को उत्पन्न करने वाली, विद्वानों को चाहने वाली, मनुष्यों और चौपायों के लिए सुखकर हो। सोम, गन्धर्व, अग्नि तेरे पहले पति थे, यह मनुष्य तेरा चौथा पति है। सोम ने तुझे गन्धर्व को, गन्धर्व ने अग्नि को और अग्नि ने मुझे दिया और इसके साथ पुत्र और धन को दिया। जो पूषा देवता है, वह इसे मंगलकारिणी बनाकर इसे हमारे प्रति प्रेरित करे (हमारे साथ अनुरक्त करें)।

आश्वलायन गृह्यसूत्र परिशिष्ट (१।२३) में परस्पर समीक्षण की विधि का बड़ा मनोरंजक वर्णन है। एक अलंकृत घर में जहाँ खूब मंगल गीत गाये जा रहे हों, वहाँ पर वर को पूर्वाभिमुख तथा वधू को पश्चिमाभिमुख करके दोनों के बीच में एक मांगलिक परदा (स्वस्तिका, तिरस्करिणी) डाल दे। इस समय ब्राह्मण सूर्या-सूक्त का पाठ करें, स्त्रियाँ मंगल गीत गायें और निश्चित समय पर ज्योतिर्विद् परदे को उठा दे, दोनों गुड़ जीरे को एक दूसरे पर फेंकते हुए तथा उपर्युक्त मंत्रों का पाठ करते हुए एक दूसरे का निरीक्षण करें। लघु आश्वलायन स्मृति (१५।२०) में भी इसी तरह वर-वधू द्वारा एक दूसरे का निरीक्षण करने का वर्णन है। इस विधि को आपस्तम्ब गृ० सू० (४।४), बौधायन गृ० सूत्र (१। २४-२५) में भी दिया गया है।

अग्नि स्थापन और होम—अग्नि स्थापन विवाह की आवश्यक विधियों में से है। अग्नि देवता को साक्षी बनाकर किये गये विवाह अविच्छेद्य समझे जाते थे। आगे चलकर हम देखेंगे कि वात्स्यायन ने अग्निसाक्षिक विवाहों पर बहुत बल दिया है। होम को इतना महत्त्व देते हुए भी, उसकी आहुतियों के स्वरूप और संख्या में मतभेद है। पारस्कर के मत में अग्निहोम की सामान्य आहुतियों के बाद राष्ट्रभृत् होम की १२ आहुतियाँ दी जाती है, फिर जयाहोम की १३ आहुतियाँ और अभ्यातान होम की १८ आहुतियाँ। राष्ट्रभृत् का अर्थ है राष्ट्र का पोषण करने वाला, अभ्यातान का अर्थ है बँध-

त्तिक सर्वांगीण विकास करने वाला। राष्ट्रभृत् परार्थ के लिए है, अभ्यातान स्वार्थ के लिए। इन दोनों के समन्वय से विजय होती है। यहाँ पहले सामूहिक प्रार्थना की गयी है और बाद में वैयक्तिक याचना। इससे यह सूचित किया जाता है कि हमें राष्ट्र के हित को वैयक्तिक हित से ऊँचा रखना चाहिए। यह भावना रखने का परिणाम यह होता है कि ऐसे व्यक्तियों वाले राष्ट्र को विजय प्राप्त होती है।

पाणिग्रहण—होम के बाद पाणिग्रहण होता है। पाणिग्रहण विवाह की इतनी आवश्यक विधि है कि पाणिग्रहण और विवाह एक दूसरे के पर्याय समझे जाते हैं। इस विधि में वर-वधू एक-दूसरे का हाथ पकड़ते हुए जीवन भर एक दूसरे के साथ इकट्ठे रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। पाणिग्रहण केवल हिन्दू विवाह की ही विशेषता नहीं है, अपितु रोमन तथा जर्मन जातियों में भी इस प्रथा का प्रचलन है। यह विधि वर-वधू के सम्बन्ध को दृढ़ बनाने वाली समझी जाती है।

पाणिग्रहण के सम्बन्ध में आश्वलायन गृह्यसूत्र की विधि सबसे अधिक संक्षिप्त है। उसका पहले वर्णन करके फिर गोभिल गृह्यसूत्र (२।२।१६) की विधि का वर्णन किया जायगा। आश्वलायन की विधि में यह बात मनोरंजक है कि वह पुत्र और पुत्री प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के पाणिग्रहणों का वर्णन करता है। वह कहता है कि अग्नि-प्रतिष्ठापन के बाद पत्थर को रखकर उत्तर पूर्व में पानी का घड़ा रखे, फिर वह आज्याहुति दे। वह पूर्व दिशा में मुख किये हुए, पश्चिम की ओर मुख करके बैठी हुई वधू के अंगूठे को 'गृह्णामि ते सौभगत्वाय' (१०।८५।३६) मंत्र के पाठ के साथ पकड़े। यदि वह यह चाहता है कि उसकी सन्तानें पुत्र ही पैदा हों तो वह वधू का अंगूठा पकड़े, यदि वह पुत्री चाहता है तो उसकी अंगुली पकड़े। यदि वह लड़का लड़की दोनों चाहता है तो बाल वाली तरफ से (हथेली की उल्टी ओर से) वधू के अंगूठे सहित हाथ को पकड़े। पाणिग्रहण के मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६) का पूरा अर्थ इस प्रकार है—"मैं तेरा हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ। तू मुझ पति के साथ बुढ़ापे तक पहुँचने वाली हो, अर्यमा, सविता और पुरंधि देवताओं ने गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करने के लिए मुझको तेरा दान किया है।" गोभिल गृह्यसूत्र (२।२।१६) में भी पाणिग्रहण की विधि में यह मंत्र पढ़ने का वर्णन है।

इन मंत्रों के अर्थ से स्पष्ट होता है कि हिन्दू विवाह के क्या उद्देश्य थे। इनमें पति पत्नी से कहता है कि मैं तुझे गार्हपत्य या सन्तानोत्पत्ति रूपी गृहस्थ के प्रधान कर्तव्य के लिए ग्रहण करता हूँ, तू धर्मपूर्वक मेरी पत्नी है। सन्तानोत्पत्ति धर्म है और उस धर्म के पालन के लिए तू मेरी पत्नी बनी है, भोगविलास या काम वासना की पूर्ति के लिए पत्नी नहीं बनी है। पति का दूसरा मुख्य कर्तव्य यह है कि वह पत्नी और बाल-बच्चों का पोषण करे। परिवार का पालन पति का एक आवश्यक कर्तव्य है, इसीलिए वह पत्नी को अपने द्वारा पोषित होने वाली (ममेयमस्तु पोष्या) कहता है। पति और

पत्नी मानसिक दृष्टि से एक और अभिन्न होते हैं और उनमें यह अभिन्नता इतनी अधिक होती है कि वर कहता है—किसी भी प्रकार का संकट उपस्थित होने पर मैं चोरी से या अलग कभी किसी वस्तु का उपभोग नहीं करूँगा।

अग्निपरिणयन (फेरे)—आश्वलायन के अनुसार४ वर अग्नि और जल के घड़े को अपनी दायीं तरफ रखता हुआ वधू से अग्नि की प्रदक्षिणा करवाता है। इन प्रदक्षिणाओं के समय वह "अमोऽहमस्मि" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।११) के मंत्र का पाठ करता है। इस मन्त्र का यह अर्थ है—मैं यह हूं, तू वह है; तू वह है मैं यह हूं। मैं द्युलोक हूं, तू पृथिवी लोक है, मैं सोम हूं तू ऋक् है, हम दोनों यहाँ विवाह करके सन्तान उत्पन्न करें, हम दोनों एक दूसरे के प्रति प्रेम रखते हुए उत्तम मनवाले होकर १०० वर्ष तक जीयें।" अग्नि की प्रदक्षिणा विवाह का आवश्यक अंग है। यह प्रदक्षिणा लाजाहोम के समय और उसके बाद भी की जाती है। इन परिक्रमाओं की संख्या चार है। अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करते समय कन्या का भाई जलकलश लेकर उनके पीछे चलता है। अग्निकाण्ड से रक्षा के अतिरिक्त इसका गम्भीर अर्थ यह है कि यदि कभी किसी आकस्मिक कारण से पति-पत्नी में कलहाग्नि प्रज्वलित होगी तो घर के आदमी इस शीतल जल की तरह ठंडे दिमाग से काम लेते हुए मधुर, सान्त्वनादायक एवं शीतल वचनों से उस अग्नि को बुझाने का यत्न करेंगे। परिक्रमा की प्रथा अन्य देशों में भी पायी जाती है।

अश्मारोहण—अग्नि प्रदक्षिणा करते हुए प्रत्येक फेरे में वर वधू को पत्थर पर चढ़ाता है और कहता है "कि इस पर चढ़, पत्थर की तरह स्थिर रह, शत्रुओं पर विजय पा, शत्रुओं को कुचल।" अश्मारोहण की विधि का आशय यह है कि "हे वधू तू पाषाण के समान दृढ़ हो, अपने पर आक्रमण करने वाले व्यक्ति का दृढ़तापूर्वक मुकाबला कर, उसे हरा और उसे इस पत्थर की तरह अपने पाँव के नीचे कुचल।" अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में तू पुरुष पर ही आश्रित मत रहना, अपने आप भी इस कार्य में समर्थ बनना और इस कार्य के लिए अपने शरीर को पत्थर के तुल्य मजबूत बनाना।

लाजाहोम तथा केशमोचन—आश्वलायन के मतानुसार वधू का भाई या भाई के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति खीलों को वधू की अंजलि में दो बार डालता है, यदि वर का गोत्र जमदग्नि है तो तीन बार वधू की अंजलि में खीलों को डालता है। इस समय वर यह मन्त्र पढ़ता है—"कन्या ने अर्यमा देवता का यज्ञ किया है। अर्यमा इस कन्या को यहाँ (पितृगृह) से मुक्त करे, वहाँ (पतिगृह) से मुक्त न करे। कन्याओं ने वरुण देवता का यज्ञ किया, वह इस कन्या को यहाँ से छुड़ा दे, वहाँ से न छुड़ाये, कन्याओं ने पूषा देवता का यज्ञ किया, वह इस कन्या को यहाँ से मुक्त करे, वहाँ से मुक्त न करे।" इन मंत्रों के साथ वधू की अंजलि को बिना खोले वर खीलों की हवि डालता है, अग्नि की प्रदक्षिणा किये बिना चौथी बार वह मौन भाव से खीलों की आहुति देता है। इसके बाद वह वधू के

बालों की दो लटों को यदि वे बँधी हैं तो खोलता है। दाहिनी लट को ऋ० १०।८५।२४ के मंत्र से तथा बायीं लट को 'प्रेतो मुञ्चामि' (ऋ० १०।८५।२५) के मन्त्र से खोलता है।[3]

पारस्कर गृह्यसूत्र में लाजाहोम के सम्बन्ध में यह बात विशेष बतायी गयी है कि लाजा में शमी के पत्ते भी मिला देने चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र के मंत्र के अतिरिक्त उसने दो मंत्रों का और विधान किया है। इनका यह अभिप्राय है कि मेरा पति आयुष्मान् हो और मेरे भाई-बन्धु बढ़ें। हे पति,मैं तेरी समृद्धि करने वाली इन खीलों को अग्नि में डालती हूँ। मेरा और तेरा जो अनुराग है, अग्नि देव उसकी अनुमति दे।[4]

3 खीलों की हवि के साथ जो मन्त्र पढ़ जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि खीलों की विधि को यहां विशेष उद्देश्य से किया जाता है। धान के पौधे जिस प्रकार एक स्थान से उखाड़े जाकर, दूसरी स्थान पर बोये जाते हैं, उसी प्रकार कन्या पितृगृह में बढ़ चुकने के बाद अब पतिकुल में वृद्धि के लिए लायी जा रही है, यह इसके लिए मंगलमय हो। लाजाहोम के एक मन्त्र ऋ० १०।८५।२४ में पुरोहित कहता है, हे वधू, सुखदाता तेरे पिता ने जिस धर्म-नियम के पाश से तुझे बांधा था, मैं उस पाश से तुझे मुक्त करता हूं। हे वधू, तुझे उपद्रवरहित कर पुण्य के स्थान (पति के घर) में पति के साथ रखता हूं। दूसरे मंत्र ऋ० १०।८५।२५ में वह कहता है कि हे वधू, मैं तुझे पितृगृह से मुक्त करता हूं, वहां (पतिगृह के साथ) तुझे स्थिर बनाता हूं ताकि यह वधू उत्तम पुत्रों और सौभाग्य वाली हो। लाजाहोम या इससे मिलते-जुलते रिवाज, जिनमें वर-वधू पर धान की खीलें या फल फेंके जाते हैं, अन्य अनेक आर्य जातियों में पाये जाते हैं। पुराने यूनान में वधू जब वर के घर में प्रविष्ट होती थी और अग्नि की प्रदक्षिणा करती थी तो उस पर खजूर, अंजीर आदि फल बरसाये जाते थे। रोम में तथा कई स्लाव देशों में भी यह रिवाज था। फ्रांस में दम्पती पर गेहूं बरसाया जाता था। इंग्लैण्ड में चावल के सिवा अन्य अन्नों का प्रक्षेपण होता था। चर्च से लौट कर आते ही वधू के सिर पर गेहूं के दाने डाले जाते थे।

समाजशास्त्रियों ने इस प्रथा का उद्देश्य समृद्धि प्राप्त करना, सन्तान प्राप्त करना, वधू के लिए पतिगृह को सुखमय बनाना, वधू को बुरी दृष्टि से बचाना आदि अनेक कारण बताये हैं। किन्तु वैदिक लाजाहोम का उद्देश्य तो उपर्युक्त मंत्रों से स्पष्ट है (वैं० शा० हि० मं०, पृ० १९३-९६)। यह वधू के लिए पति के नवीन गृह में निवास को समृद्धिपूर्ण और सुखमय बनाना है।

4 इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां मे ज्ञातयः। इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननम् तदग्निरनुमन्यतामियं स्वाहा। पहले मंत्र के लिए दे० अथर्व० १४।२।६३।

सप्तपदी—लाजाहोम के बाद विवाह की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सप्तपदी विधि प्रारम्भ होती है। वर वधू को पूर्वोत्तर दिशा (अपराजिता दिक्) में सात कदम ले जाता है और प्रत्येक कदम के साथ वह ये वचन कहता है[५]— (१) अन्न के लिए एक कदम उठाने वाली हो, (२) बल के लिए दूसरा कदम उठाने वाली हो, (३) सम्पत्ति के पोषण के लिए तीसरा कदम''', (४) आनन्दमय होने के लिए चौथा कदम'''; (५) सन्तान के लिए पाँचवाँ कदम''', (६) ऋतुओं (नियम पालन या दीर्घ जीवन) के लिए छठा''', (७) तू मेरी मित्र बनने के लिए सातवाँ कदम उठा। तू मेरे अनुकूल व्रत रखने वाली या मेरा अनुसरण करने वाली हो।[६] हम बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें, वे बुढ़ापे की आयु तक पहुँचें।

सप्तपदी विवाह का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें वर को गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्य बताये गये हैं। गृहस्थ में सबसे पहले अन्न की प्राप्ति के लिए यत्न करना पड़ता है, अन्न प्राप्ति के अभाव में धर्म कार्य तो क्या, जीवन यात्रा का निर्वाह कठिन हो जाता है। अतः सबसे पहले अन्न आवश्यक है किन्तु वह ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर को बल, पुष्टि और शक्ति मिले। इसके अतिरिक्त गृहस्थ को धन के लिए भी यत्नशील होना चाहिए और वह धन सुखमय बनाने वाला हो। ये बातें पहले चार मंत्रों में कही गयी हैं, पाँचवें पग में गृहस्थ के मुख्य लक्ष्य सन्तानोत्पादन की ओर संकेत किया गया है। छठे पग में सब कामों को नियमपूर्वक समय पर करने का संकल्प है और सातवीं प्रतिज्ञा सबसे महत्त्वपूर्ण है कि पत्नी पति की सखी या मित्र बनकर रहे।

मूर्धाभिषेक (वरवधू के सिर पर पानी छिड़कना तथा पूर्वविधि की समाप्ति—) सातवाँ पद पूर्ण होने पर दोनों के सिर मिलाकर आचार्य उनके सिर पर पानी के घड़े से पानी छिड़कता है। वधू को उस रात को ऐसी ब्राह्मणी के घर रहना चाहिए जिसका पति और पुत्र जीवित हो (आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।२०—२१)। यह नियम उसी दशा में लागू होता है जब वर दूसरे गाँव का हो और वधू को उसी रात अपने घर न ले जा सकता हो। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।८।५) व गोभिल गृह्यसूत्र में भी यह विधि पायी जाती है। पारस्कर 'आपः शिवाः, आपो हि ष्ठा' मन्त्रों के साथ इस विधि को करने

५ **सप्तपदी के पाँव उठाने के विषय में गो० गृ० सू० (२।२।१२-१३) में यह विशेष नियम दिया गया है कि वधू पग उठाती हुई पहले दायाँ पैर उठाये और बाद में बायाँ (दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामतु)। वर उसे यह कहे कि दायें पैर से पहले बायाँ पैर मत उठा (मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामेति ब्रूयात्)**

६ **'सा मामनुव्रता भव। पुत्रान्विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः' यह उपर्युक्त सातों वचनों की टेक है और उनमें से प्रत्येक के बाद पढ़ा जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र (१।८।२) इस वाक्य के बाद 'विष्णुस्त्वा नयतु' के वाक्य की वृद्धि करता है।**

का आदेश देता है। पार० के टीकाकार जयराम के अनुसार जल छिड़कने वाला वर, आश्वलायन गृह्यसूत्र के टीकाकार के अनुसार आचार्य और गोभिल गृह्यसूत्र के मत में पानी का घड़ा उठाने वाला होता है।

सूर्यदर्शन व हृदयस्पर्श—पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार जलसेचन और ध्रुव-दर्शन के बीच में सूर्यदर्शन और हृदयस्पर्श की दो विधियाँ और हैं। पारस्कर गृह्य-सूत्र (१।७।८) में कहा गया है—इसके बाद वर वधू को 'तच्चक्षुर्देवहितं' (ऋ० ७।६६। १६, यजु० ३६।२४) मंत्र के साथ सूर्य दर्शन कराये। सूर्य दर्शन के समय वर-वधू यह संकल्प करते हैं कि हम सौ वर्ष तक नेत्र शक्ति सम्पन्न रहें, १०० वर्ष तक जियें, १०० वर्ष तक श्रवण और वाणी की शक्ति से युक्त हों, सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें और १०० वर्ष से अधिक आयु तक ये सब कर्म करें।"

हृदयस्पर्श में (पा० गृ० सू० १।८।८) वर वधू के दायें कन्धे पर से अपना दायां हाथ ले जाते हुए उससे वधू के हृदय को स्पर्श करते हुए "मम व्रते ते हृदयं दधामि" मंत्र का पाठ करता है। पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'हे वधू, मैं तेरे हृदय को अपने व्रत के अनुकूल धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त रहे। तू एकाग्र मन से मेरी सेवा कर। प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा तुझे मेरे लिए नियुक्त करे।"

हृदय स्पर्श के बाद वर वधू के मस्तक पर हाथ रखकर लोगों से 'सुमंगलीरियं वधूः' के मन्त्र द्वारा यह कहता है कि इस कल्याणकारिणी वधू को आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर जाओ। आश्वलायन गृह्यसूत्र ने इस विधि को ध्रुवदर्शन के बाद लिखा है, वास्तव में यह पहले होनी चाहिए, क्योंकि हृदयस्पर्श के बाद पहली विधि समाप्त हो जाती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र जल सेचन के बाद पूर्वविधि को समाप्त कर देता है और कहता है कि वे दूसरे ग्राम को जाते हुए रात को ब्राह्मण के घर में ठहरें।

पारस्कर इसके बाद वधू को सुरक्षित घर में बिठाने तथा अपनी जाति में प्रचलित अन्य विधियों को करने का आदेश देता (१।८।११।१३)—वे गांव के लोगों, वृद्धों और स्त्रियों द्वारा कही गयी बातों का पालन करें, क्योंकि विवाह में और श्मशान में गांव वालों के वचन को प्रमाण मानना चाहिए, ऐसा श्रुति में कहा गया है। इसके बाद वर ब्राह्मण होने पर आचार्य को गौ का, क्षत्रिय होने पर ग्राम का, वैश्य होने पर घोड़े का दान करे।

ध्रुवदर्शन—जब वधू अरुन्धती और सप्तर्षि को देखे तो वह यह कहे कि मेरा पति जीवित रहे और मैं सन्तान प्राप्त करूँ। ध्रुवदर्शन विधि को आश्वलायन गृह्यसूत्र की अपेक्षा पारस्कर और गोभिल गृह्यसूत्र ने अधिक स्पष्ट किया है। पा० गृ० सू० (१।८।१९) के अनुसार वर सूर्यास्त होने पर वधू को ध्रुवदर्शन कराता है और वह कहता है कि "तू ध्रुव है, मैं तुझे निश्चल या स्थिर देखता हूँ। गृहस्थ धर्म में स्थिर रहने वाली

तेरा मैं पालन करूँगा। मुझसे तू वृद्धि को प्राप्त हो। इसीलिए ब्रह्मा ने मुझे तेरा दान किया है। अतः तू मुझ पति के साथ पुत्र-पौत्र युक्त होती हुई १०० वर्ष तक जीवन बिता।" गो० गृ० सू० (२।३।८–१२) के अनुसार पति-पत्नी को ध्रुव का दर्शन कराये। वधू उसे देखकर कहे—हे ध्रुव, जैसे तू निश्चल है, वैसे ही मैं पतिकुल में निश्चल (स्थिर) होऊँ। आश्व० तथा पारस्कर की अपेक्षा गोभिल ने ध्रुव के साथ अरुन्धती की वृद्धि की है। वर अरुन्धती को दिखाये, वधू यह कहे कि "अरुन्धती, जैसे तू (वसिष्ठ के पास) रुकी हुई है उसी तरह मैं भी (अपने पति के पास) बँध गयी हूँ।" शांखायन ब्राह्मण (१।३।७) में ध्रुवदर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे यह द्युलोक स्थिर है, पृथ्वी निश्चल है, यह सारा जगत् अविचल है, यह पर्वत अपनी स्थिति में स्थित है, वैसे ही यह स्त्री पति कुल में स्थिर हो।"*

इस विश्व में सबसे अधिक स्थिर वस्तु ध्रुव है और उसके आदर्श को दिखाते हुए वर-वधू से यह कहा गया है कि वे अपने गृहस्थ धर्म में स्थिर बने रहें।

वधू की विदाई और रथारोहण—आश्वलायन के मत में यदि (वर और वधू को दूसरे गाँव तक जाने के लिए) यात्रा करनी हो तो 'पूषा त्वेतो नयतु' (ऋ० १०।८५।२६) मन्त्र के साथ वधू को रथ पर बिठाये (आश्वलायन १।८।१)। पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है, "हे कन्या, पूषा हाथ पकड़कर तुझे यहाँ (पितृगृह) से ले जाये। अश्विनी तुझे रथ से अच्छी प्रकार ले जायें, तू अपने पति के घर को जा ताकि तू घर की स्वामिनी बने, पति को वश में करने वाली और यज्ञ, सभा आदि में अच्छी तरह बोलने वाली हो।" यदि मार्ग में नदी पड़ती हो तो 'अश्मन्वती रीयते' (ऋ० १० ५३।८) के पूर्वार्ध से वधू को नाव पर चढ़ाये और उत्तरार्ध से वधू को पार कराये। इस मन्त्र का आशय इस प्रकार है—"हे मित्रो, पथरीली नदी बह रही है। उत्साह युक्त होओ, उठो, नदी को अच्छी तरह पार कर जाओ। जो कुछ दुखदायक तथा अमंगल है, हम उन्हें यहीं नदी पर छोड़ते हैं, हम कल्याणकारी पदार्थों को प्राप्त करते हैं।" यदि वधू पितृगृह से विदा होने पर रोये तो 'जीवं रुदन्ति' (ऋ० १०।४०।१०) का पाठ करें। वे विवाह की अग्नि को निरन्तर आगे ले जाते हैं। सुन्दर प्रदेश, वृक्ष या चौराहा आने पर 'मा विदन्परिपन्थिनः' (ऋ० १०।८५।३२, चोर डाकू, बटमार प्राप्त न हों) के मन्त्र का पाठ वर-वधू करें। मार्ग में प्रत्येक बस्ती में दर्शकों को 'सुमंगलीरियं वधूः' (ऋ० १०।८५) के मंत्र के साथ वधू को दिखायें (आश्व० गृ० सू० १।८।२–७)।

वधू का श्वशुरालय प्रवेश—'इह प्रियं प्रजया' (ऋ० १०।८५।२०) मंत्र के साथ

* गोभिल गृ० सू० २।३।६ 'ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम्। अरुन्धत्यसि सहोऽहमस्मि, शा० ब्रा० १।३।७ ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुलेऽइयम्।

वर वधू को अपने साथ घर में प्रविष्ट कराये। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"(हे वधू) इस पति-कुल में सन्तान के साथ तेरा सुख खूब बढ़े। इस घर में तू गृहस्थी के कार्यों के लिए सदा जागरूक रह। तू इस पति के साथ अपने शरीर का संसर्ग कर, वृद्धावस्था को प्राप्त होते हुए, तुम दोनों पति-पत्नी ज्ञानगोष्ठियों में बोलने वाले होओ।" इसके बाद (समिधाओं से) विवाह की अग्नि को प्रदीप्त कर पश्चिम दिशा में बैल का चर्मासन बिछाये। उसके बालों वाले हिस्से को ऊपर रखे और उसकी गर्दन पूर्व की ओर रखे। वधू उस आसन पर बैठ जाय और वर के हाथ को पकड़ ले। वर चार ऋचाओं से चार आहुतियाँ दे। ये चार आहुतियाँ 'आ नः प्रजां जनयतु' (१०।८५।४३–४६) आदि चार मंत्रों से होती हैं। इनमें गृहस्थ का आदर्श और कर्तव्य भली-भाँति अभिव्यक्त हुए हैं। इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है, "हे वधू प्रजापति हमारी सन्तान को उत्पन्न करे। अर्यमा देवता जरावस्था तक जीने के लिए हमें समर्थ बनाये। हम मंगल प्राप्त करें। मनुष्य और चौपायों के लिए सुखकर हों। पति का हनन न करने वाली तथा प्रायः प्रिय दृष्टि वाली, तू वृद्धि को प्राप्त हो, सब पशुओं के लिए मंगल करने वाली उत्तम मन और तेज वाली, वीरों को उत्पन्न करने वाली, देवर की कामना करती हुई, सुख वाली हे वधू, तू हम मनुष्यों व हमारे चौपायों के लिए मंगलकारिणी हो। हे ऐश्वर्ययुक्त वर्षक वर, तू इस वधू को उत्तम पुत्र युक्त और सुन्दर सौभाग्य वाली बना। इस वधू में दस पुत्रों को उत्पन्न कर (अधिक नहीं)। हे वधू, पति को ही ११ वाँ पुत्र समझ। हे वधू, तू श्वसुर के लिए सम्यक् प्रकाशमान या रानी हो, सास, ननद और देवरों के साथ रानी बनकर रह।"

फिर वर 'विश्वेदेवाः' (१०।८५।४७) मन्त्र के साथ कुछ दही खाये और बाकी दही वधू को दे दे अथवा यज्ञ से बचे हुए घी को वह अपने तथा वधू के हृदय पर लगाये। 'विश्वेदेवाः' मन्त्र का अर्थ यह है—सब देवता हमारे हृदयों को मिलायें, उन्हें संगत करें, वायु देवता तथा उत्तम उपदेश करने वाला धाता हम दोनों का जीवन सम्यक् प्रकार से धारण कराये।" यह विधि वर-वधू के अभिन्न या एक होने को सूचित करती है।

त्रिरात्रव्रत या विवाहोत्तर संयम—आश्वलायन (१।८।१०।१५) के अनुसार इसके बाद पति-पत्नी क्षार[८] और लवण न खायें, ब्रह्मचारी रहें, आभूषण न धारण करें और जमीन पर सोयें। विवाह के बाद ३ या २ रात तक इस नियम का पालन करें अथवा कुछ आचार्य एक वर्ष तक इस नियम के पालन का उपदेश करते हैं। वे आचार्य

८ क्षार का अर्थ आश्वलायन के टीकाकार नारायण ने राजमाष, मूंग, मसूर आदि दालें लिखा है। मातृदत्त (हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।८।१) पकने द्वारा बने गुड़ आदि को क्षार कहता है। हरदत्त आप० ध० सू० (२।६।१५।१२) में मुंह में पानी ला देने वाली वस्तु गुड़ आदि को क्षार समझता है।

कहते हैं कि इस प्रकार एक ऋषि जैसा पुत्र उत्पन्न होगा। इस प्रकार व्रत पूरा करने पर वर सूर्या सूक्त (१०।८५) को जानने वाले को वधू के वस्त्र का दान करे, ब्राह्मणों को दान दे तथा उनसे स्वस्तिवाचन का पाठ करावे। आश्व० गृ० सू० की अन्तिम विधि का पारस्कर गृह्यसूत्र (१।८।२१) में भी समर्थन किया गया है।[१]

अन्य विधियां

आश्वलायन और पारस्कर की इन विधियों के अतिरिक्त अन्य सूत्र ग्रन्थों में कुछ और विधियां भी पायी जाती हैं। इन विधियों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वर प्रेषण—इस विधि के अनुसार लड़के के माता-पिता अपने लड़के के लिए उपयुक्त वधू ढूंढने के लिए कुछ व्यक्तियों या मित्रों को भेजा करते थे। ऋग्वेद में सोम के लिए अश्विनी देवताओं ने वधू ढूंढने का काम किया था (ऋ० १०।८५।६)।

१ यहां विवाहोत्तर संयम की व्यवस्था का उपदेश किया गया है। इस विषय में गृह्यसूत्र इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहते कि इससे ऋषि का गुण रखने वाली सन्तान होगी। वात्स्या० का० सू० और आजकल के पश्चिमी डाक्टर भी गृह्यसूत्र की इस विधि का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि विवाह में संभोग से पहले पति-पत्नी को पूर्ण रूप से मानसिक अनुकूलता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस अनुकूलता को प्राप्त किये बिना यह कार्य पशुता है, इसका सन्तान पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वात्स्यायन कामसूत्र ३।२।६ कहता है कि स्त्रियां कुसुम की तरह सुकुमार होती हैं, उनमें उपक्रम बहुत सुकुमार होना चाहिए। जबर्दस्ती सम्भोग से कई बार उन्हें जिन्दगी भर के लिए यौन सम्बन्ध से घृणा हो जाती है, अतः वात्स्यायन १० दिन तक ब्रह्मचर्य को भंग न करने की सलाह देता हुआ कहता है कि इस समय वह कन्या के पास जाये, उसे विश्वास दिलाये, किन्तु व्रत भंग न करे। मालतीमाधव (७ म अंक) में बुद्धरक्षित ने इस नियम का भंग करने के लिए नन्दन की भर्त्सना की है। आधुनिक विवाहशास्त्री वैज्ञानिक वान डिवेल्ड ने Ideal marriage नामक ग्रन्थ में मानसिक अनुकूलता पर बल दिया है (अध्याय ८)। आजकल कई जातियों में विवाहोत्तर संयम कई विचित्र कारणों से किया जाता है। मद्रास के कनवा, कनेबा, कुछ कुरुबा जातियां तीन महीने तक संभोग नहीं करतीं। उनमें एक साल में एक परिवार में तीन शादियां अशुभ समझी जाती हैं। वे इस दुर्भाग्य को हटाने के लिए, संयम आवश्यक समझते हैं। आगरिया एक महीने तक यह देखने के लिए संयम रखते हैं कि कहीं पत्नी गर्भवती तो नहीं है (सें० रि० इं० १९११, खण्ड १, भाग १, पृ० २६१)।

शांखा० गृ० सू० (१।६।१–४), बौ० गृ० सू० (१।१।१४–१५), आप० गृ० सू० (२।१६।४।१–२,७) में इस विधि का वर्णन है। लड़के का पिता वरान्वेषण के लिए व्यक्तियों को घर में भेजता हुआ, ऋ० १०।८५।२३ का पाठ करता था, जिसका अर्थ है—"हे देवो, वे मार्ग निष्कण्टक और सरल हों, जिन मार्गों से हमारे मित्र कन्या के पिता के घर जाते हैं। अर्यमा और भग हमारा अच्छी तरह नेतृत्व करें।"

आजकल हमें भले ही यह परिपाटी विचित्र प्रतीत हो, किन्तु प्राचीन काल में वर पक्ष पहल करता था। कालिदास ने कुमारसंभव (६।२८–२६) में इसी तथ्य को दिखाया है। शिव और पार्वती एक-दूसरे के साथ प्रेम करते हैं किन्तु पार्वती कहती है कि मुझे प्राप्त करने के लिए मेरे पिता हिमालय से प्रार्थना करो। शिवजी सप्तर्षियों तथा अरुन्धती को अपना दूत बनाकर हिमालय के पास भेजते हैं, उनकी प्रार्थना पर हिमालय शिवजी के साथ अपनी कन्या को ब्याहने के लिए तैयार हो जाते हैं (कुमारसम्भव ६ठा सर्ग)। बाण ने ७वीं शती में, इसी परम्परा का उल्लेख किया है। ग्रहवर्मा के दूत प्रभाकरवर्धन के पास इस उद्देश्य से आते हैं कि राजा अपनी कन्या राज्यश्री का ग्रहवर्मा से विवाह कर दे।[१०]

बौद्ध साहित्य में वर-प्रेषण के कई मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं। श्रावस्ती के सेठ मृगार को अपने पुत्र पूर्णवर्धन के युवा होने पर उसके लिए उपर्युक्त वधू खोजने को आदमी भेजने पड़े। ये व्यक्ति अन्त में साकेत पहुँचे। उस समय साकेत की बहुत-सी कन्याएँ नगर से बाहर उत्सव मनाने गयी हुई थी, इसी समय वर्षा होने लगी। कन्याएँ अपने कीमती वस्त्रों को भीगने से बचाने के लिए दौड़-कर शहर में आने लगीं। किंतु एक कन्या सबसे अन्त में बड़ी मन्दगति से चली आ रही थी। नगर के द्वार पर खड़े हुए मृगार के व्यक्तियों ने उससे यह मजाक किया—"क्या तुम अभी से बूढ़ी हो गयी हो कि धीरे-धीरे चल रही हो"? कन्या ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया कि "मुझे साड़ियों के भीगने की चिन्ता नहीं, मेरे घर में बहुत-सी साड़ियाँ हैं, किन्तु यदि वर्षा में फिसलकर मेरा कोई अंग खराब हो गया तो विवाह में दिक्कत होगी।" मृगार के आदमियों ने उसे ही अपने स्वामी के पुत्र के लिए उपयुक्त वधू समझा (देखिये विशाखाचरित, अगुत्तर नि० अ० क० १।७।२)। किन्तु इससे भी अधिक मनोरंजक कथा पिप्पली माणवक की है। पिप्पली की जिद थी वह विवाह नही करेगा। किन्तु माता-पिता ने उसे विवाह के लिए बहुत परेशान किया। अन्त में उसने इस परेशानी से बचने के लिए सोने की एक सुन्दर स्त्रीमूर्ति बनवायी और यह कहा कि यदि इस मूर्ति जैसी कोई सुन्दरी मिले, तभी मैं ब्याह करूँगा। माता-पिता

[१०] हर्षचरित—शोभने च दिवसे ग्रहवर्मणः कन्यां प्रार्थयितुं प्रेषितस्य पूर्वागतस्यैव प्रधानदूतपुरुषस्य सर्वराजकुलसमक्षं दुहितृदानजलम् अग्राहत।

ने वधू को ढूंढने के लिए अपने आदमी भेजे। अन्त में वे आदमी सुन्दर स्त्रियों की खान मद्रदेश (स्यालकोट) में पहुँचे और नदी के घाट पर मूर्ति रखकर स्नान करने लगे। इतने में वहाँ एक दासी आयी और उसने मूर्ति को थप्पड़ मारते हुए कहा "तू कितनी बेशर्म है जो यहाँ खड़ी है।" वास्तव में उसे इस मूर्ति से अपनी मालकिन की लड़की का भ्रम हुआ था। पिप्पली के आदमियों ने यह देखा और वे समझ गये कि जिसकी तलाश में वे निकले हुए हैं, वह उन्हें मिल गयी। स्वर्णमूर्ति सदृश सुन्दरी भद्रा कापिलायनी से अन्त में पिप्पली माणवक की शादी हुई (संयुक्त निकाय अ० क० १५।१।११, अं. नि. अ. क. १।१।४)।

वाग्दान या वाङ् निश्चय—आजकल इस विधि का पर्याप्त महत्त्व है, किन्तु गृह्यसूत्रों में से केवल शां० गृ० सू० (१।६।५-६) इसका वर्णन करता है। बाल-विवाह का प्रचार बढ़ने के साथ-साथ वाग्दान का महत्त्व बढ़ता गया। जिस प्रकार आजकल कई जातियों में सन्तान उत्पन्न होने से पहले ही दो व्यक्ति अपनी सन्तानों का वाग्दान करते हैं उसके एक दो उदाहरण पूर्व मध्ययुग में भी मिलते हैं। मालतीमाधव (१ म अंक) में मालती और माधव के पिता भूरिवसु और देवरात ने बचपन में अपनी सन्तानों के वाग्दान का निश्चय कर लिया था। सं० र० मा० ने वाग्दान की शास्त्रीय विधि का बड़े विस्तार से उल्लेख किया है, किन्तु आजकल भारत के अधिकांश भाग में यह विधि रिवाज के तौर पर होती है।

विवाह का मुहूर्त—विवाह एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य है और उसे विशेष अवसर पर किया जाना चाहिए। यह विचार बहुत पुराना है, ऋ० (१०।८५।१३) में फाल्गुन मास में ब्याह का वर्णन है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।४।१-२) विवाह के काल के विषय में अपनी सम्मति देता हुआ कहता है कि उत्तरायण, शुक्ल पक्ष और कल्याणकारक नक्षत्र में, चौल, उपनयन, मुण्डन और विवाह संस्कार कराये। इसके बाद यह कुछ लोगों का मत उद्धृत करता है कि विवाह हर समय हो सकता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय शुभ नक्षत्रों का विचार बहुत अधिक दृढ़ नहीं हुआ था, किन्तु धीरे-धीरे हिन्दू समाज में यह विश्वास जड़ पकड़ने लगा। गोभिल गृह्यसूत्र कहता है कि पुष्य नक्षत्र में विवाह करना चाहिए।[११] किन्तु दूसरे सूत्रकार इस काल का निश्चित निर्देश करते हैं (बौधा० गृ० सू० १।१।१८-२१, आप० गृ० सू० २।१२।१३)। आपस्तम्ब (३।३) की तो यह सलाह है कि जो यह चाहता है कि उसकी लड़की पति की प्रियतमा बने, उसे स्वाति नक्षत्र में विवाह करना चाहिए। वह रोहिणी, मृगशिरा, उत्तराफाल्गुनी भी उत्तम समझता है (मि० मा० गृह्य सूत्र १।७।५)। श्री रामचन्द्र का विवाह भगदेवता वाले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुआ था (वा० रामा० १।७२।१३, १।७१।२४)। महाभारत (१।८।१६) में रुरु

११ गो० गृ० सू० २।१।१ 'पुष्यनक्षत्रेण दारान् कुर्वीत।'

का प्रमद्वरा के साथ विवाह भगदेवता के नक्षत्र में हुआ, किन्तु द्रौपदी के विवाह के विषय में महाभारत ने इतना ही बताया है कि वह पुण्य दिवस था (१।१९७।२०)।

अन्य विधियाँ—गृह्यसूत्रों में विवाह के लिए मण्डप बनाना (पारस्कर गृह्यसूत्र १।४), नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन (बौधायन गृह्य सूत्र १।१।२४), वधू को नहलाने, कपड़े पहनाने (आप० गृ० ४।८ काठक गृ० २५।४, पारस्कर गृह्० १।४), मंगलसूत्र बाँधने (प्रतिसरबंधन, शांखा० १।१२।६-८, कौ० गृ० ७६।८) की विधियाँ पायी जाती हैं। इन विधियों का उस समय विशेष महत्व नहीं था, किन्तु मध्यकाल के निबन्धकारों ने इनमें से अनेक विधियों को बहुत महत्व दिया है।

गृह्यसूत्रों में वर्णित उपर्युक्त विधियाँ लगभग इसी रूप में आज तक चली आती हैं, प्रत्येक धार्मिक विवाह में होम और सप्तपदी आवश्यक होती है। वैवाहिक कर्त्तव्यों और आदर्शों की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हिन्दू विवाह में हुई है, उतनी शायद ही किसी दूसरे समाज के विवाह में हुई हो। प्रत्येक विधि एक निश्चित उद्देश्य से की जाती है और उस विधि के साथ पढ़े जाने वाले मंत्र से उस विधि के उद्देश्य एवं प्रयोजन का ज्ञान हो जाता है। विवाह की विधियों में कुछ तो वर वधू की अभिन्नता के सूचक हैं और कुछ विवाह के उद्देश्य एवं महत्त्व को बताती है। पहली का उदाहरण हृदयस्पर्श और दूसरी का पाणि-ग्रहण, सप्तपदी और ध्रुवदर्शन है।

रामायण व महाभारत की वैवाहिक विधियां

रामायण व महाभारत में विवाह-विधि के सम्बन्ध में किसी नई बात का उल्लेख नहीं है। श्री रामचन्द्र के विवाह में मुख्य विधियाँ कन्यादान, पाणिग्रहण, मूर्धाभिषेक तथा अग्निपरिणयन थीं। महाभारत में द्रौपदी के विवाह में उपर्युक्त विधियों का पालन करते हुए द्रुपद ने बहुत-सा दहेज दिया है। महाभारत में विवाह की विधि का सबसे मधुरतम स्थल कुन्ती का अपनी बहू को दिया गया वह आशीर्वाद है—"हे कल्याणि, जिस प्रकार इन्द्राणी महेन्द्र की, स्वाहा विभावसु की, दमयन्ती नल की, भद्रा कुबेर की, अरुन्धती वसिष्ठ की, लक्ष्मी नारायण की पत्नी है, वैसे ही तुम अपने पति की पत्नी बनो। भद्रे, तू दीर्घ जीवन वाले पुत्र उत्पन्न कर। बहुत सुख और सौभाग्य से युक्त हो, पतिव्रता बन, अतिथि, बाल, वृद्ध, गुरुओं की सेवा करते हुए तेरा समय बीते। हे गुणवति, पृथ्वी पर जो अच्छे रत्न हैं, तू उनको प्राप्त कर। हे कल्याणि, तू १०० वर्ष तक जीती रह।" (१।२०१।४-११), वर्तमान समय में विवाह की समाप्ति पर बोले जाने वाले मांगलिक श्लोकों में कुन्ती के उपर्युक्त आशीर्वादात्मक छन्दों का स्पष्ट प्रभाव है।

वैवाहिक आशीर्वाद, उप दा—कुन्ती के आशीर्वाद और वैवाहिक आशीर्वाद में बड़ा अन्तर है। वैदिक आदर्श में पत्नी को श्वसुरालय में रानी बनने का आदेश दिया था, कुन्ती ने पत्नी के लिए पति के अनुकूल रहते हुए जीवन बिताने का उपदेश दिया है।

किन्तु कालिदास के समय तक यह आदर्श बिलकुल बदल गया था। वैदिक युग की स्वाधीनता और तेजस्विता कालिदास के समय तक पतिव्रता पत्नी के पूर्ण आत्मसमर्पण के रूप में परिवर्तित हो गयी थी। कालिदास ने शकुन्तला के तपोवन से विदा होने पर कण्व के मुंह से उसे यह आशीर्वाद कहलवाया था—'गुरुओं की सेवा करो। सौतों को सहेली समझो, पति द्वारा अपमानित होने पर भी क्रोध से उसके प्रतिकूल आचरण मत करो, सेवकों पर अधिक उदार हो। अपने भाग्य पर बहुत अभिमान करने वाली न हो। इस प्रकार युवतियाँ गृहिणी पद की प्रतिष्ठा को प्राप्त करती है। इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्रियाँ कुल को पीड़ा देने वाली व्याधियों की तरह होती हैं'।[१२] बौद्ध साहित्य के सुप्रसिद्ध विशाखाचरित (अ० नि० अ० क० १।७।२) से वधू को दी जाने वाली शिक्षा पर बड़ा मनोरञ्जक प्रकाश पड़ता है। विशाखा के पिता धनञ्जय सेठ ने अपनी कन्या को यह उपदेश दिया था—"श्वशुरालय में निवास करते हुए (१) भीतर की आग बाहर नहीं ले जानी चाहिए, (२) बाहर की आग भीतर नहीं लानी चाहिए, (३) देते हुए को देना चाहिए, (४) न देते हुए को देना चाहिए, (५) देते हुए तथा न देते हुए को देना चाहिए, (६) सुख से बैठना चाहिए, (७) सुख से खाना चाहिए, (८) सुख से लेटना चाहिए, (९) अग्नि परिचरण करना चाहिए, (१०) भीतर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिए।" पहले दो उपदेशों का अर्थ था कि घर के भीतर सास आदि से जो गुप्त बात, झगड़ा आदि पैदा होता है वह दास-दासियों से नहीं कहनी चाहिए। अपने घर से बाहर की बातें और झगड़े घर में नहीं लाने चाहिए। तीसरे-चौथे उपदेश का अर्थ यह था कि जो मंगनी की चीजें ले जाकर लौटाते हैं या नहीं लौटाते, उन सबको समान रूप से दान करना चाहिए। छठे से दसवें तक के उपदेश वधू के गृह कार्यों को बताते हैं। सुख से खाना चाहिए का अर्थ है कि सास, ससुर, स्वामी को भोजन परोसकर उन्हें खिलापिलाकर स्वयं सबसे पीछे भोजन करना चाहिए।

कालिदास द्वारा वर्णित विवाह विधि

संस्कृत काव्यों से और विशेषकर कालिदास[१३] के ग्रन्थों से निम्न प्रकार के विवाह

[१२] अभि० शा० ४।१८ शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने, पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः। भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी, यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

[१३] कालिदास (रघुवंश ७।२३) ने विवाह के समय वर-वधू के एक दूसरे को अन्य व्यक्तियों से दृष्टि बचाकर चोरी से देखने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

तयोरपांगप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥ (रघुवंश ७।२३)

की विधि ज्ञात होती है। वर के दूत कन्या के पिता के पास जाते थे, यदि कन्या का पिता विवाह के लिए तैयार हो जाता था तो विवाह के लिए एक शुभ दिवस नियत किया जाता था। वधू के घर को तथा वर के मार्ग को रेशमी वस्त्रों से बनी हुई पताकाओं ('चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्' कु० सं० ६।३) तथा तोरणों से खूब सजाया जाता था। पति और पुत्र वाली स्त्रियाँ वधू का दूर्वा के साथ तथा रेशमी वस्त्र से शृंगार करती थीं। वधू को स्नान कराया जाता था और वेदी में पूर्वाभिमुख बिठा दिया जाता था। वहाँ उसके केशों को दूर्वा से युक्त सफेद मधूक पुष्पों से बांधा जाता था, उसके अंग को गोरोचना से चित्रित किया जाता था, पैरों को महावर से रंगा जाता था, नेत्रों में अंजन लगाया जाता था और अंगों में आभूषण धारण कराये जाते थे। माता हरताल और मनः शिला द्वारा आर्द्र हाथों से कन्या का तिलक करती (७।२४) और उसके हाथ में मंगल हस्तसूत्र बाँधती थी (७।२५)। वधू कुल देवताओं को प्रणाम कर पतिव्रता स्त्रियों की चरणवन्दना कर, उनसे आशीर्वाद प्राप्त करती थी। दूल्हे को भी इसी तरह सजाया जाता था। शरीर में आभूषण पहनाये जाते थे और मस्तक पर हरिताल तिलक लगाया जाता था (७।३२-३३)। दुकूल पहनकर दूल्हा बरातियों के साथ वधू के घर पर आता था। बरात के साथ मांगलिक बाजे बजते रहते थे (७।४०)। चलते हुए वर के ऊपर आतपत्र और चामर लगाया जाता था (बाण० ह० च०, र० व० ७।१७)। वधू का पिता उसकी अगवानी करता था। शहर की स्त्रियाँ दूल्हे को देखते हुए उस पर अक्षत आदि की वर्षा करती थीं। वर को महार्घ आसन पर बिठाकर रत्नयुक्त मधुपर्क और कपड़े (दुकूल युग्म) दिये जाते थे। अग्नि का होम करके पुरोहित वर-वधू की पाणिग्रहण विधि कराता था (र० व० ७/२०-२१) पाणिग्रहण के बाद अग्नि की प्रदक्षिणा शमीपल्लवमिश्रित लाजाहोम (र० व० ७।२५-२६) के बाद होती थी और पुरोहित कहता था (कु० ७।८३) "हे वत्स, अग्नि तुम्हारे विवाह कर्म में साक्षी है। तुम्हें पति के साथ धर्मपूर्वक आचरण करना चाहिए।" उसके बाद पति-पत्नी को ध्रुव दर्शन कराता था और पत्नी ध्रुव को देखने के बाद कहती थी—"मैंने ध्रुव दर्शन कर लिया है"। पति-पत्नी के आसन पर बैठ जाने पर स्नातक उन पर आर्द्राक्षतारोपण (चावल का तिलक) करते थे। (कु० सं० ७।८८, र० ७।२८)। विवाह-विधि समाप्त होने पर वर-वधू को नाटक आदि दिखाकर उनका मनोरंजन किया जाता था (कु०सं० ७।९१) और बाद में पति-पत्नी सजे हुए शयनकक्ष में प्रविष्ट होते थे। बाण ने 'राज्यश्री के विवाह का हर्षचरित के चतुर्थ उच्छ्वास में बड़े विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु उसके तथा कालिदास के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है।

मध्यकालिक विधियाँ

मध्यकाल के निबन्धकारों ने लौकिक आचारों की रक्षा करते हुए कई नई विधियों का विवाह में विधान किया। इनमें कुछ विधियाँ नीचे दी जाती हैं। ये विधियाँ

वीरमित्रोदय, धर्मसिन्धु, संस्काररत्नमाला आदि ग्रन्थों में पायी जाती है। इनमें से अधिकांश महाराष्ट्र में विशेष रूप से प्रचलित हैं।

आर्द्राक्षतारोपण—अक्षत बिना टूटे हुए चावल को कहते हैं। इस विधि में चावल को घी या दूध में आर्द्र करके वर वधू के ऊपर फेंका जाता है अथवा उनका तिलक लगाया जाता है, अतः इसे आर्द्राक्षतारोपण कहते हैं। रघुवंश तथा कुमार संभव में कालिदास इसे विवाह की अंतिम विधि कहता है। किन्तु आजकल महाराष्ट्र में यह विधि विवाह होने से पहले की जाती है। एक तैजस (चांदी आदि के) पात्र में सफेद चावल लेकर उन पर थोड़ा दूध या घी डाला जाता है। वर, वधू की अञ्जलि में घी या दूध लगाकर उस अञ्जलि में अक्षत चावल भर कर घी या दूध छिड़क देता है। वर की अञ्जलि को कोई भी व्यक्ति इस प्रकार भर देता है, फिर कन्या का पिता उसमें सोना रखकर कन्या की अंजलि को वर की अञ्जलि पर रखता हुआ 'कन्या तारयतु दक्षिणाः पान्तु बहुदेयं चास्तु पुण्यं वर्धताम् शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु' का पाठ करता हुआ वधू की अंजलि को उठाकर 'उसमें 'भगों मे कामः समृध्यताम्' का पाठ करता हुआ चावल या अक्षत वर के सिर पर रखवाता है। वर 'कामः समृध्यताम्' का मंत्र पढ़ता हुआ अपनी अंजलि के अक्षत वधू के सिर पर डालता है। इस प्रकार वर-वधू तीन-तीन बार क्रमशः ,यश, धर्म, यश और भग, श्री तथा प्रजा की समृद्धि की प्रार्थना करते हुए अक्षतारोपण करते हैं, अन्त में वर अपने सिर का एक पुष्प लेकर उसे दूध या घी में आप्लावित करके वधू के मस्तक में तिलक लगाता है। वधू भी इसी प्रकार वर का तिलक करके उसके गले में एक पुष्पमाला डालती है। फिर वर कन्या के गले में माला डालता है। वर वधू को एक मंगलसूत्र बांधता है और ब्राह्मण पुरोहित द्वारा पूजी गयी सुपारियों को दोनों के कपड़ों के एक छोर में बांधता है। विवाह की विधि की समाप्ति तक यह गांठ नहीं खोली जाती।

ऐरणी दान—ऐरणी बांस की बनी टोकरी को कहते हैं। जब कन्या विवाह के चौथे दिन पिता के घर से अपनी सुसराल जाने लगती है, उस समय कन्या का पिता ऐरणी को बहुमूल्य वस्त्र तथा अन्य भेंटों से भर कर वर की माता को इस टोकरी या ऐरणी का दान करता है। पहले वह कन्यादान की सिद्धि के लिए इस वंशपात्र के दान का संकल्प करता है। इसमें उसका उद्देश्य यह है कि पति-पत्नी की प्रीति उमा-महेश्वर जैसी हो। इसे देते हुए अन्त में वह कहता है—"इतने वर्ष तक इस कन्या को मैंने पुत्रवत् पाला है, अब आपके पुत्र के लिए देता हूँ। अब आप इसे स्नेहपूर्वक पालें।"

मंगलसूत्रबन्धन—वधू के गले में मांगलिक स्वर्णहार डालने का प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में कहीं वर्णन नहीं है। पारस्कर (१।१) का टीकाकार गदाधर स्पष्ट रूप से कहता है कि सूत्रों में इस विधि के न पाये जाने पर भी वधू-वर मंगलसूत्र और गले में माला धारण करें। शौनक, सध्याश्वलायन (१५।३३) यह कहते हैं कि मंगलसूत्र धारण करना चाहिए। पुराना रिवाज चाहे कुछ रहा हो, लेकिन आजकल हार और मंगल

सूत्र विवाह का एक आवश्यक अंग बन गया है।

प्रारम्भिक पूजाएं—संयुक्त प्रान्त में विवाह के पहले गणपति तथा अन्य देवताओं की पूजा की जाती है। संस्कार कौस्तुभ (पृ० ७६६), संस्काररत्नमाला (पृ० ५२४) तथा धर्मसिन्धु (पृ० ६१) गौरी तथा हर की पूजा का विधान करते हैं। इसी तरह सं० कौ० (पृ० ७५६) में तथा सं० र० मा० (पृ० ५४५) में इन्द्राणी की पूजा का विधान है। सं० कौ० (पृ० ७६८) में कहा गया है कि कन्या का पिता ग्राम की सीमा पर जाकर [illegible] का स्वागत करे (सीमान्त पूजन)। ये सब विधियाँ मध्यकाल में प्रचलित हुई हैं, और [illegible] ग्रन्थों में कोई उल्लेख [illegible] है।

[illegible] विवाह—[illegible] विवाह की व्यवस्था की जाती थी। वीरमित्रोदय (पृ० ८६८) ने मार्कण्डेय का एक वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि यदि जन्मपत्री में बाल वैधव्य का [illegible] अश्व प्रतिमादि से एकान्त में विवाह करके बाद में [illegible] कन्या का विवाह करना चाहिए।[१४] इस विवाह में घड़े में विष्णु की स्वर्णमूर्ति डाल दी जाती है और कन्या को मंगलसूत्रों से आवेष्ठित किया जाता है, एकान्त मन्दिर में विधिपूर्वक विवाह करके घड़े को एक तालाब में जाकर फोड़ देते हैं। उस समय कुम्भ से पिता यह प्रार्थना करता है—"हे कुंभ, तू कन्या के पति और पुत्रों को देर तक जीवित रख।" विवाह की समाप्ति पर ब्राह्मणों को दान दिया जाता है। इस विवाह का निर्णयसिन्धु (पृ० ३१०), संस्कारकौस्तुभ (पृ० ७४६) संस्काररत्नमाला (पृ० ५२८) ने भी वर्णन किया है।

अश्वत्थ व प्रतिमा विवाह—वीरमित्रोदय (पृ० ८६८) ने बाल वैधव्य के परिहार के लिए इन विवाहों का वर्णन किया है। इनकी विधि कुम्भविवाह से मिलती है। पिता रम्य भूमि में मण्डप सजाये, गौरी, गणपति, भवानी की पूजा करके यह कहे कि मैं सौभाग्य और सुख के लिए इस सुन्दर कन्या की अश्वत्थ के साथ विधिपूर्वक शादी करूँगा। इसके बाद वह कुम्भ विवाह की तरह अपनी कन्या का अश्वत्थ (पीपल) से विवाह करे। इसी प्रकार सोने की विष्णुमूर्ति बनाकर, अपनी कन्या का उसके साथ विवाह करे। विष्णु की यह मूर्ति शुद्ध स्वर्ण की अथवा अपनी शक्ति के अनुसार रुचिर, शंख, चक्र, गदा से युक्त और पीताम्बर धारण किये हुए होनी चाहिए। उसको देते समय कन्या एक मन्त्र पढ़ती है जिसका यह अभिप्राय है कि "महाघोर वैधव्य के दुःख समूह का नाश करने के लिए और बहुत सौभाग्य की प्राप्ति के लिए मैं महाविष्णु की अपनी शक्ति से बनायी हुई इस मूर्ति को तुझे देती हुई आज मैं इस दान से निष्पाप हो गयी हूँ"। ब्राह्मण इस पर उसे 'एवमस्तु' का उपदेश कहे और बाद में पिता उसका विवाह करे।

१४ वी० मि०, पृ० ८६८।
बालवैधव्ययोगेऽपि कुंभद्रुमप्रतिमादिभिः।

अर्क विवाह—शास्त्रों में तीसरी स्त्री से विवाह करना निषिद्ध है, क्योंकि इसे अमंगल माना जाता था। वीरमित्रोदय (पृ० ८७६) ने मत्स्यपुराण व कश्यप का यह वचन उद्धृत किया था कि "रतिसिद्धि के लिए कभी भी तीसरी स्त्री से शादी न करे। मोह से या अज्ञान से यदि कोई ऐसी शादी करता है तो गार्ग्य के वचन के अनुसार वह नष्ट हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि तृतीय पत्नी से यदि वह शादी करता है तो वह स्त्री विधवा हो जाती है, अतः चौथा विवाह करने के लिए तीसरी बार अर्क (आक के पेड़) से शादी करनी चाहिए"।[१५]

ब्रह्मपुराण तथा व्यास ने अर्कविवाह की यह विधि दी है—नहाकर, उत्तम वस्त्र और अलंकार धारण कर उत्तम पुष्प और शाखा वाले अर्क के पेड़ के पास आये। वहाँ नान्दी श्राद्ध, मधुपर्क आदि विवाह की विधियों को पूरा करे और यह प्रार्थना करे कि "हे त्रिलोकवासी, सात घोड़ों वाले, छाया सहित सूर्य, तीसरे विवाह से उत्पन्न होने वाले दुःख का निवारण करो और सुख दो (वीरमित्रोदय पृ० ८७७)। यह विवाह ब्राह्मण द्वारा अर्क या सूर्य की पुत्री के साथ किया गया समझा जाता है, उसके बाद चौथा विवाह करने में कोई दोष नहीं माना जाता। निर्णयसिन्धु (पृ० ३२८), सं० कौ० (पृ० ८१६) तथा बौधायनशेषसूत्र ५।५ में भी इसका वर्णन है।

इस समय पंजाब में ऐसे विवाहों का प्रचलन है। एक विधुर जब तीसरी या पंजाब के पहाड़ों में चौथी स्त्री से शादी करना चाहता है, तो ये स्त्रियाँ उसके लिए अशुभ मानी जाती है। अतः वह पहले (अर्क) आक से या किसी दूसरे पेड़ से शादी कर लेता है ताकि तीसरी या चौथी शादी से उत्पन्न होने वाले दुर्भाग्य या दोष से बच सके।

पश्चिमी पंजाब में ऐसी दशा में पुरुष की भेड़ से, मध्य पंजाब में बेर या पीपल, से और पूर्वी पंजाब में आक के साथ तीसरी शादी की जाती है। यह प्रथा बनियों, अरोड़ों और खत्रियों में विशेष रूप से प्रचलित है। तीन की संख्या को बुरा समझा जाता है और यह विचार किया जाता है कि यह विध्वंस या नाश का चिह्न है। वैसे पहली पत्नी के मरने पर यह सोचा जाता है कि दूसरे विवाह से उसकी आत्मा को क्लेश पहुँचेगा, वह भूत या प्रेत बनकर इस विवाह को खराब करने का यत्न करेगी। पहली पत्नी के भूत को खुश करने तथा धोखा देने के लिये दो उपाय किये जाते है:—(१) दूसरी पत्नी के गले में विवाह के समय मृत पत्नी का, सोने या चाँदी के पत्रे में उत्कीर्ण चित्र बाँधा जाता है, ताकि यह समझा जाय कि यह विवाह पहली पत्नी से हो रहा है। (२) दूसरी पत्नी को गूजरी, मालिन या महरी का वेश पहनाया जाता है और यह कहा जाता है कि यह शादी वास्तविक पत्नी से नहीं अपितु गूजरी, मालिन आदि किसी दासी से हो रही है। इतनी

१५ वी० मि० (पृ० ८७६) तृतीयां यदि चोद्वहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्।
चतुर्थादिविवाहाय तृतीयेऽर्कं समुद्वहेत्॥

सावधानी रखने के बाद भी यदि दूसरी पत्नी मर जाती है तो यह समझा जाता है कि पहली पत्नी की प्रेतात्मा ही उसकी मृत्यु का कारण है। उस प्रेतात्मा के प्रकोप से बचने के लिए तीसरी बार तीसरी स्त्री से शादी करने के बजाय किसी पेड़ या पशु के साथ शादी की जाती है। आक या बेर के पेड़ को कपड़ों और बहुमूल्य रत्न आदि से खूब सजाया जाता है और वर उसकी प्रदक्षिणा (लावां या फेरे) करके उसके साथ विवाह करता है और बाद में चौथी बार किसी मानवीय पत्नी का पाणिग्रहण करता है। पश्चिमी पंजाब में भेड़ को खूब सजाया जाता है और वर विवाह में पहले भेड़ के साथ फेरे लगाता है तब विवाह की अन्य विधियाँ दोहराता है, तीसरी शादी में ही ये विधियाँ आवश्यक समझी जाती है, चौथी में नहीं।

इसका कारण यह माना जाता है कि पहली पत्नी की प्रेतात्मा का दुष्प्रभाव अगली दो पत्नियों तक ही प्रभाव डाल सकता है, उसके बाद नहीं। कई बार काले कुत्ते या किसी दूसरे काले जानवर को चौथे विवाह में पहली प्रेतात्मा का दुष्प्रभाव रोकने के लिए वेदी पर लाया जाता है और उससे अग्नि की परिक्रमा करायी जाती है[१६]।

पंजाब में उपर्युक्त विवाहों से मिलती-जुलती एक प्रथा यह है कि यदि यह ज्ञात हो कि किसी स्त्री को विधवा हो जाना है, तो इस दोष को दूर करने के लिए कुम्भी-विवाह किया जाता है। पानी से भरे एक घड़े को लड़के की तरह सजाया जाता है और लड़की का इस नकली दूल्हे के साथ विवाह पूरा संस्कार किया जाता है। बाद में असली दूल्हे को बगैर पूरी विवाह विधि किये लड़की दे दी जाती है। इस सम्बन्ध के विषय में यह सोचा जाता है कि कन्या का असली विवाह तो घड़े से हुआ है और यदि पति पर कोई दुर्भाग्य या आफत पड़ती है तो वह घड़े पर पड़ेगी, असली पति पर नहीं। करनाल जिले के निवासियों में यह रिवाज पाया जाता है (पं० सैं० रि० १९११ खं० १ भाग १ पृ० २८४)। इस प्रकार के विवाह को कृत्रिम विवाह (Mock Marriage) कहा जाता है। यह विवाह अन्य प्रांतों में नहीं पाया जाता है।[१७]

१६ पंजाब व सेंन्सस रिपोर्ट १९११, खं० १, भाग १, पृ० २८४।

१७ हिन्दू समाज में कृत्रिम विवाहों (Mock Marriages) के कई अन्य विचित्र उदाहरण निम्नलिखित है—उत्तरी कनारा में बहुपत्नीप्रथा बिलकुल नहीं है, वहाँ दूसरी शादी बुरी समझी जाती है। अतः जब कोई ज्योतिषी किसी व्यक्ति के बारे में यह भविष्यवाणी करता है कि इस व्यक्ति की दो स्त्रियाँ होंगी, तो इसका अर्थ यह समझा जाता है कि पहली पत्नी मर जायगी। यदि उसकी पत्नी बीमार पड़ती है तो वह एक केले के पेड़ के साथ शादी करता है और बाद में उस पेड़ को काट डालता है। वह यह मानता है कि दूसरे विवाह की पत्नी के मर जाने से उसकी वास्तविक पत्नी जीवित रहेगी (सैं० रि० ई० १९११, पृ० ३६०-६१)।

वाग्दान का विचार

वाग्दान विवाह को आवश्यक तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध बना देता है या नहीं, इस प्रश्न पर शास्त्रकारों में मतभेद है; किन्तु अधिकांश धर्मशास्त्रियों का झुकाव इस ओर है कि वाग्दान होने के बाद विवाह सम्बन्ध उचित है, किन्तु आवश्यक नहीं। मनुस्मृति (९।६९-७०) ने यह व्यवस्था दी है कि जिस कन्या का वाग्दान किये जाने पर, उसका पति मर जाय तो वह कन्या देवर के साथ शादी करे। मनु (९।७१) यह भी कहता है कि किसी व्यक्ति के साथ वाग्दान करके बुद्धिमान् व्यक्ति वह कन्या को किसी दूसरे को न दे, दूसरे व्यक्ति को कन्या देता हुआ वह अनृत दोष को प्राप्त करता है। मनु ने यद्यपि वाग्दान को अविच्छेद्य सम्बन्ध उत्पन्न करने वाला नहीं माना, फिर भी उसने वाग्दान करके दूसरे व्यक्ति के साथ अपनी कन्या का विवाह करने वाले की बहुत निन्दा की है। व्यास स्मृति (२।८) ने यह विधान किया है कि "मैं तुझे कन्या दूँगा, मैं तेरी कन्या लूँगा। ऐसा निश्चय हो जाने पर जो इसका पालन नहीं करता, वह दण्ड का भागी होता है।" रघुनन्दन ने 'शुद्धितत्त्व' में वाग्दत्ता कन्या के मरने पर उसके पिता और पति दोनों के घर में तीन दिन का अशौच माना है (खण्ड २, पृ० १४७)। बम्बई की सदर दीवानी अदालत ने भी इस विषय में यह फैसला दिया था कि वाग्दान एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है।[१८]

किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं जान पड़ता। यद्यपि अकारण दूसरी जगह विवाह करना बुरा है, तथापि माता-पिता कन्या का वाग्दान करने से बिलकुल इस प्रकार नहीं बँध जाते कि वे अपनी कन्या का विवाह किसी दूसरी जगह न कर सकें और वाग्दान किये हुए पति के मरने पर उनकी लड़की हमेशा विधवा ही रहे। वसिष्ठ धर्मसूत्र ने कहा है कि जब एक कन्या का वाग्दान जल के साथ या वाणी द्वारा पुष्ट हो चुका हो और उसका पति मर जाय और विवाह के मन्त्र न पढ़े गये हों तो वह कुमारी पिता की ही रहती है, पिता उसकी दूसरे व्यक्ति से शादी कर सकता है।[१९] मनु (८।२२७) सप्तपदी से विवाह की पूर्णता समझता है। नारद (१२।२-३) का भी यही मत है, अतः यह स्पष्ट है कि विवाह को अविच्छेद्य बनाने के लिए वाग्दान पर्याप्त नहीं है। याज्ञवल्क्य (१।६५) तो यहाँ तक कहता है कि कन्या यदि एक बार किसी को दी जा चुकी है और उसके बाद उससे योग्य वर मिल जाता है तो पहले वर को दी हुई कन्या को वापिस ले ले। यह व्यवस्था मनु (९।६९-७१) के सर्वथा प्रतिकूल है; किन्तु यह स्पष्ट है कि वाग्दान को प्राचीन धर्मशास्त्रों ने विवाह का अविच्छेद्य सम्बन्ध उत्पन्न करने वाला नहीं माना।

[१८] मेन—हिन्दू लॉ, पृ० ८९।

[१९] स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत पृ० २१९। अद्भिर्वाचा प्रदत्ता या म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा॥

कई बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि वाग्दान भंग करने वाले को क्या अदालत द्वारा अपनी कन्या का विवाह करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस विषय में पहले अदालतों के निर्णय स्पष्ट नहीं थे, किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि वाग्दान भंग करने वाले को अदालत विवाह करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। १८७७ के स्पेसिफिक रिलीफ एक्ट (Specific Relief Act) के भाग २१ की धारा ब के अनुसार वाग्दान का समझौता या संविद् (Contract) अदालत द्वारा जबर्दस्ती लागू नहीं कराया जा सकता। यदि कोई पक्ष यह समझता है कि विवाह न होने से उसे कोई नुकसान उठाना पड़ा है, तो वह दूसरे पक्ष पर हर्जाने का दावा कर सकता है।[२०] इस प्रकार के हर्जाने के दावे छोटी अदालतों में पेश नहीं हो सकते।

वाग्दान का लौकिक रूप

वाग्दान की प्रथा का शास्त्रीय व कानूनी रूप देखने के बाद उसका रिवाजी रूप देखना उचित प्रतीत होता है। पंजाब में वाग्दान को सगाई या कुडमाई कहते हैं। पश्चिमी पंजाब में लड़के के सम्बन्धी कन्या के घर पर अपने लड़के के विवाह के लिए प्रार्थना करने जाते हैं, कन्या का पिता उनका मिठाई फल आदि से स्वागत करता है, गणेश पूजन तथा मालाचार के पाठ के बाद लड़के के सम्बन्धी उपहारों के साथ लौट आते हैं। मध्य पंजाब में पहले लड़के के घर से लड़की के घर पर सगुन (मिठाई वस्त्र आदि का उपहार) भेजा जाता है और बाद में लड़की के घर से भी इसके बदले में सगुन आता है और इसे ले जाने वाला पुरोहित लड़के के माथे पर तिलक लगाता है, और इस सम्बन्ध की घोषणा करता है। उत्तर प्रदेश, बिहार में वाग्दान तिलक की प्रथा के रूप में प्रचलित है।

एक बार वाग्दान हो जाने पर उसे विशेष कारणों के न होने पर भंग नहीं किया जा सकता। ये विशेष कारण लड़के का कोई असाध्य रोग या अंग विकार होता है। कई बार सगाई का दूसरा रिश्ता करने के पहले कुछ ऐसी क्रियाएँ की जाती हैं जिनसे पहले रिश्ते का रद्द समझा जाय। श्री रोज ने ऐसी कुछ विधियों का १९०१ की पंजाब जनगणना रिपोर्ट (पृ० २१७) में मनोरंजक वर्णन लिखा है—"वाग्दान भंग करने पर जबरदस्ती शादी नहीं करायी जा सकती। पश्चिमी पंजाब के किराड़ों (अरोड़ों) में यह नियम है कि वे विवाह दो शर्तों पर करते हैं. (१) विनिमय से— अपने कुल की लड़की दूसरे कुल में इस शर्त पर ब्याहते हैं कि वह कुल भी अपनी किसी लड़की को हमारे कुल में देगा। इसको वट्टा-सट्टा (विनिमय) कहते हैं। वहाँ सट्टा के तीन भेद हैं—(क) आमों साम—इसमें एक पक्ष अपनी लड़की को दूसरे पक्ष की एक

२० पुरुषोत्तम दास बनाम पुरुषोत्तम दास पृ० २१ बम्बई २२।

लड़की लेकर ब्याहता है, (ख) त्रेभंज—इसमें परस्पर तीन वाग्दान एक साथ इकट्ठे किये जाते हैं। तीन लड़कियों के आदान-प्रदान का निश्चय होता है, (ग) चौभंज—इसमें एक दूसरे के साथ चार वाग्दान एक साथ इकट्ठे किये जाते हैं। इन वाग्दानों को करने के लिए सब सम्बन्धी एक नियत स्थान पर इकट्ठे होते हैं। एक-दूसरे को लड़कियाँ देने का वायदा करते हैं। इसके बाद लड़की का पिता लड़के के पिता को गुड़ तथा दूसरी मिठाई देता है, जो घर में जाकर बाँट दी जाती है।

(२) वाग्दान का दूसरा प्रकार रुपये लेकर वाग्दान करना है। जब बट्टा-सट्टा नहीं होता और न रुपये लिये जाते हैं तो उस वाग्दान को 'धर्मनाता' कहते हैं। रुपये वाली सगाई रद्द करने पर रुपये वापिस देने पड़ते हैं।[२१]

विवाह की आवश्यक विधियाँ

विवाह संस्कार के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वैध विवाह के लिए कौन-सी विधियाँ आवश्यक हैं। हम यह देख चुके हैं कि गृह्यसूत्रों तथा निबन्धकारों की विधियों में बहुत से भेद हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र तो स्पष्ट रूप से यह कहता है कि वह केवल सामान्य विधियों का उल्लेख करेगा, ऐसी दशा में किन विधियों को प्रामाणिक समझा जाय ?

मनु ५।१५२ कहता है कि विवाहों में यज्ञ और होम तो केवल मंगल के लिए है वास्तव में कन्या के दान से ही पति का उस पर अधिकार हो जाता है। ३।३५ में भी उसने यही बात दुहरायी है। किन्तु कुल्लूक की यह व्याख्या ठीक जान पड़ती है कि मनु को वास्तव में यहाँ केवल कन्या के स्वामित्व को बताना ही अभीष्ट है। कन्यादान से उसके पिता का स्वामित्व हट जाता है और पति का स्वामित्व स्थापित होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह उसकी स्त्री हो गयी। स्त्री, पति की पत्नी तो सप्तपदी पूरी होने पर ही बनती है।

मनु ने अन्यत्र विवाहों की आवश्यक विधियों पर अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से प्रकट की है और अधिकांश स्मृतिकार उससे सहमत हैं कि सप्तपदी होने पर विवाह को पूर्ण समझना चाहिए। "विद्वानों को यह जानना चाहिए कि पाणिग्रहण के मन्त्रों के साथ कन्या का पाणिग्रहण हो जाना भार्यात्व का कारण है, सप्तपदी विधि पूरी होने पर भार्यात्व की पूर्णता हो जाती है"।[२२]

नारद विवाह के लिए पाणिग्रहण के मंत्रों को आवश्यक समझता है (१२।३)

[२१] पं० सैं० रि० १६११, खण्ड १, भाग १।

[२२] मनु० ८।२२७, पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ॥
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥

किन्तु किसी विशेष विधि का निर्देश नहीं करता। लघु आश्वलायन स्मृति (१५।६०) कहती है कि विवाह के समय जब तक सप्तपदी नहीं होती तब तक विवाह पूरा हुआ नहीं समझा जाता। यमस्मृति में कहा गया है कि जल द्वारा, दान से या वाग्दान से कोई कन्या का पति नहीं होता, बल्कि पाणिग्रहण संस्कार से सप्तपदी के बाद ही वह उसका पति होता है।[२३] स्मृतिचन्द्रिका तो यहाँ तक कहती है कि सप्तपदी से पहले पति के मरने पर भी पत्नी विधवा नहीं होती।[२४] वात्स्यायन ने सप्तपदी को इतना महत्व नहीं दिया, वह अग्निहोम या अग्नि की साक्षी को ही विवाह के अविच्छेद्य होने का प्रमाण मानता है।[२५]

वर्तमान समय में अदालतों ने प्राचीन धर्मशास्त्रों का अनुसरण करते हुए विवाह में यज्ञ (होम) और सप्तपदी को ही आवश्यक विधियाँ स्वीकार किया है।[२६] १९५५ के हिन्दू कानून में धार्मिक विवाहों में इन दोनों विधियों को या आचार को विवाह को वैध सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समझा गया है।

असवर्ण कन्याओं के विवाह की विधि

यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त सब संस्कार और विधियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अपने वर्णों में ही विवाह करने के लिए हैं। मनु अपने वर्ण की कन्या से ही पाणिग्रहण संस्कार की व्यवस्था करता है, अन्य वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह के लिए वहाँ विशेष व्यवस्था बतलायी गयी है। श्रेष्ठ जाति (ब्राह्मण वर्ण) के पुरुषों के साथ विवाह होने के समय क्षत्रिया कन्या वर के हाथ के बांये छोर को ग्रहण करे, वैश्या कन्या वर के हाथ में स्थित पैने (प्रतोद) का छोर पकड़े और शूद्रा कन्या वर के वस्त्र का छोर पकड़े। मनु (३।४३–४४) याज्ञ० स्मृ० (१।६२), शंख स्मृति (४।१४) में भी यही व्यवस्था दोहरायी गयी है। शूद्रों को वेद मन्त्रों का अधिकार नहीं है, अतः उनकी शादी में आचार या रूढ़ि को ही परम प्रमाण माना जाता है। गृहस्थ-

२३ नोदकेन वाचा वा कन्यायाः पतिरिष्यते। पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे ॥
मि० द्रोणपर्व ५५।१५-१६ मनोवाग्बुद्धिसंभाव्या दत्ता चोदकपूर्वकम्।
पाणिग्रहणमन्त्राश्च प्रथितं वरलक्षणम् ॥ नत्वेषा निश्चिता निष्ठा निष्ठा-सप्तपदी स्मृता ॥

२४ एवं च सप्तमपदादर्वाक् परिणेतुर्मरणेऽपि न विधवात्वमित्युक्तं भवति।

२५ वा० का० सू० ३।५।१३ अग्निसाक्षिका हि विवाहा न निवर्तन्त इत्याचार्यसमयः।

२६ कुशालचन्द्र बनाम बाईमनी ११ बं० २४३, वैकंट वरपुलु बनाम रंगाचार पुलु १४ म० ३१८

रत्नाकर (पृ० ५७) में कहा गया है कि शूद्र का विवाह उस समय पूर्ण समझना चाहिए जब कन्या वर के कपड़े के छोर को पकड़ ले।

विवाह संस्कार से स्त्रियों के संबन्ध की अविच्छेद्यता

हिन्दू समाज में विवाह संस्कार पत्नी के लिए पति के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध उत्पन्न करने वाला समझा जाता है। पुरुष को कुछ अवस्थाओं में पुनर्विवाह (अधिवेदन) का अधिकार प्राप्त है।[27] किन्तु स्त्री को पाणिग्रहण के बाद इस जन्म में दूसरा विवाह करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं है। मनु ने इस स्थिति के समर्थन में दो युक्तियाँ दी हैं—(१) कन्या दान देने जाने योग्य वस्तु है, किसी वस्तु का दान एक बार ही दिया जाता है, इसके बाद उस पर दूसरे का स्वामित्व हो जाता है। विवाह के बाद स्त्री कन्या नहीं रहती है। अतः ब्याही गयी कन्या के लिए मन्त्र नहीं पढ़े जा सकते हैं।[28] मनु (८।२२६) की इस व्यवस्था का दुष्परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज में विधवाओं का विवाह बिलकुल बन्द हो गया। मनु ने नियोग तथा वैवाहिक सम्बन्धों की शिथिलता का अन्त करने के उद्देश्य से विवाह संस्कार को अविच्छेद्य माना था, किन्तु बाद में विधवा विवाह निषेध के रूप में इस व्यवस्था के कुफल हिन्दू समाज को भोगने पड़े। वर्तमान हिन्दू समाज किस प्रकार इससे भीषण क्षति उठा रहा है, इसका उल्लेख आगे विधवा विवाह वाले अध्याय पृ० ३३६-५२ में किया जायगा।

अविच्छेद्य हिन्दू विवाहों की अविच्छेद्य ईसाई विवाहों से भ्रामक तुलना

बहुधा हिन्दू विवाहों की इस अविच्छेद्यता की तुलना रोमन कैथोलिक विवाहों की अविच्छेद्यता से की जाती है, किन्तु इस तुलना में यह बात भुला दी जाती है कि रोमन कैथोलिक विवाहों में यह प्रतिबन्ध स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होता है। दोनों के लिये विवाह अविच्छेद्य समझा जाता है, स्त्री एवं पुरुष दोनों किसी दूसरे पुरुष या स्त्री से शादी नहीं कर सकते। हिन्दू विवाह का बन्धन विचित्र है। वह पुरुष के लिए बिल्कुल नहीं है। पुरुष पहली पत्नी के रहते हुए यथेच्छ विवाह कर सकता है किन्तु स्त्री से आशा रखी जाती है कि वह उसके मरने पर भी दूसरे पति का नाम न ले।[29]

वास्तव में विवाह का आदर्श नियम तो यह होना चाहिए कि उसमें पति-पत्नी के अधिकार तुल्य होने चाहिए। यदि विवाह संस्कार हो जाने पर पत्नी को यह अधिकार

२७ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ६१

२८ मनु० ८।२२६ पाणिग्रहणिका मन्त्रा कन्यास्वेव प्रतिष्ठिता।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥

२९ ईसाई धर्म ने विवाह को बहुत देर बाद अर्थात् १२वीं सदी से संस्कार (Sacra-

नहीं है कि वह दूसरी शादी कर सके तो पति को भी पुनर्विवाह का अधिकार नहीं होना चाहिए। १९५५ के हिन्दू विवाह कानून में ऐसी ही व्यवस्था कर दी गयी है।

वर्तमान समय में अदालतें भी धार्मिक विधि से सम्पन्न हुए हिन्दू विवाह को अविच्छेद्य सम्बन्ध मानती हैं। विवाह के अविच्छेद्य सम्बन्ध को स्वीकार करने के दो मुख्य परिणाम हुए हैं—(१) पति के मरने पर स्त्री से पुनर्विवाह का अधिकार छीन लिया गया। विवाह दो आत्माओं का मिलन है, अतः पति की मृत्यु के बाद पत्नी को यह स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त होती कि वह कोई दूसरा पति कर सके। (२) पति के जीवित रहते हुए पत्नी अपने पति को किसी भी कारण से तलाक नहीं दे सकती।[30] बशर्ते कि उस जाति में तलाक की प्रथा न हो। पत्नी व्यभिचारिणी हो,[31] वेश्या हो,[32] इस्लाम

ment) बनाया। प्रारम्भ में विवाह बिलकुल ऐहिक या सांसारिक (Secular) कार्य समझा जाता था। पुरोहित विवाह को आशीर्वाद से पवित्र बनाता था। किन्तु इस आशीर्वाद के न होने पर भी विवाह वैध समझा जाता था। इसके बाद यह रिवाज चला कि विवाह की लौकिक विधियाँ पूरी करके चर्च में जाकर उसे सेक्रामेण्ट (धार्मिक संस्कार) का रूप दिया जाय। १२वीं सदी तक विवाह की प्रारम्भिक विधियाँ चर्च से बाहर होती थीं और उसका अन्त चर्च में प्रार्थना (Mass) के साथ होता था। १३वीं शती में सारी विधि पुरोहित द्वारा ही होने लगी। यह प्रथा यहाँ तक बढ़ी कि ट्रेण्ट की परिषद् (Council of Trent) ने १६ वीं शती में होने वाले वैयक्तिक विवाहों को पाप और अपराध बना दिया। इसके बाद विवाह को चर्च की विधियों के साथ करना आवश्यक हो गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उस परिषद में कुछ व्यक्तियों ने उपर्युक्त प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिये थे। इस सम्बन्ध को अविच्छेद्य बनाने में चर्च को कई बातों से प्रेरणा मिली। बाइबिल में आदम और हव्वा को एक ही शरीर (One flesh) वाला बताया गया है, फिर चर्च और ईसा का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य समझा जाता था। विवाह इसी सम्बन्ध का लौकिक प्रतीक था, अतः यह अविच्छेद्य होना चाहिए। जब ईसाई सन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेते थे तो पुरुषों के लिए अखण्ड एवं अविच्छेद्य विवाह की व्यवस्था क्यों न हो। अतः १५६४ में विवाह अविच्छेद्य संस्कार स्वीकार किया गया और १६वीं सदी में वैयक्तिक विवाहों को गैर कानूनी व अवैध ठहरा दिया गया।

३० कुबीमी बनाम ओतीराम ३ कल २ (२०८), तलकल बनाम बसता २८ कल० ७५१ (७५८), नारायण बनाम त्रिलोक २६ अला ४ (६)

३१ मुक्काया बनाम रामस्वामी २३ म० १७१ (१७६, १७८)

३२ वही, सुन्दरी बनाम पीताम्बरी ३२ कल ८७१, बम्बई सरकार बनाम गंगा, ४, ३३

या किसी दूसरे धर्म को स्वीकार कर चुकी हो, तो भी पति के साथ उसका विवाह-बन्धन यथापूर्व कायम रहता है और पति अपनी पत्नी को या पत्नी अपने पति को दुराचार या धर्मपरिवर्तन के कारण नही छोड़ सकती।

पहले परिणाम का ११वें अध्याय में विस्तार से प्रतिपादन होगा। यहाँ केवल दूसरे परिणाम पर विचार किया जायगा। पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर भी पति उसे नहीं छोड़ सकता है।[33] कुछ मुकदमों में अदालतों ने यह स्वीकार किया है कि दुराचार से विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है।[34] किन्तु दाम्पत्य अधिकारों के प्रकरण में हम यह देखेंगे कि शास्त्रकारों ने यह विधान किया है कि स्त्री के व्यभिचारिणी होने पर भी पति का यह कर्तव्य है कि वह उसका भरण-पोषण करे और यदि वह कुमार्ग से विरत नहीं होती तो पति केवल यही कर सकता है कि भरण-पोषण की मात्रा को कम कर दे, किन्तु उसे पत्नी के साथ विवाहसम्बन्ध विच्छिन्न करने का कोई अधिकार नहीं।

धर्म परिवर्तन और विवाह की अविच्छेद्यता

हिन्दू विवाह एक धार्मिक सम्बन्ध है, अतः पति-पत्नी में किसी एक के धर्म-परिवर्तन से या जाति से अधः पतित होने के बाद भी यह सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता है। बम्बई में एक हिन्दू स्त्री गंगा मुसलमान हुई और उसने पहले हिन्दू पति के जीवित रहते हुए एक मुसलमान से शादी की। सरकार की ओर से उस पर मुकदमा चलाया गया और पहले पति के जीवित रहने पर, दूसरे व्यक्ति के साथ विवाह करने के अपराध में उस स्त्री को सजा दी गयी।

बंगाल में हिन्दू स्त्रियों ने अपने अत्याचारी पतियों से परित्राण पाने के लिए धर्म परिवर्तन के उपाय का बहुत अधिक अवलम्बन किया। वहाँ यह रिवाज चल पड़ा था कि जो स्त्री अपने पति द्वारा छोड़ दी जाती थी या बहुत सतायी जाती थी, वह मुसलमान हो जाती थी और अदालत में अपने पति के विरुद्ध यह दावा कर देती थी कि वह अपने गैर मुस्लिम पति के साथ नहीं रह सकती, इसलिए या तो पति मुसलमान हो जाय, ताकि वह उसके साथ रह सके, या अदालत उसे अपने पहले पति को तलाक देने की स्वीकृति प्रदान करे। ऐसी दशा में प्रायः पति अदालत में उपस्थित नहीं होते थे; क्योंकि वे इस्लाम नहीं स्वीकार करना चाहते थे। अदालत प्रतिवादी की अनुपस्थिति में

[33] विश्वेश्वर बनाम मातागुलाम २ नार्थ वैस्टर्न प्रोविन्सज हा० को० रि० ३००, मञ्चाड बनाम मारियमुत्ती ४ म० २४३। एडमिनिस्ट्रेटर जनरल बनाम आनन्दाचारी ६ म० ४६६, स्वर्णमयी बनाम भारत मज्जी १५ कल० २५४।

[34] रामप्रसाद बनाम मुमुबाई ४ ता० ला० वि० ३१ (४१, ४२) शिवसिंह बनाम मिलाल १२ म० २७७, नरसम्मा बनाम गंगू १३ म० १३३॥

पत्नी को हिन्दू पति से तलाक की स्वीकृति दे देती थी। इस प्रकार अपने पति को तलाक देने के बाद वह स्त्री आर्यसामाजिक विधि से शुद्ध होकर फिर हिन्दू बनती थी और अपनी पसन्द के दूसरे पति से अपनी शादी कर लेती थी। पतियों को इस उपाय की शरण लेने की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि १९५५ तक प्रचलित हिन्दू कानून के अनुसार वे यथेच्छ स्त्रियों से शादी कर सकते थे।

मुसलमान बनकर अपने पहले हिन्दू पति से मुक्ति पाने का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण श्रीमती सीतादेवी का है। वह पीठापुरम् (मद्रास) के महाराज की तृतीय कन्या है। ६ अगस्त १९३३ को एक प्रतिष्ठित हिन्दू से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। १० अक्टूबर १९४३ को बम्बई में उसने एक काजी बुलाया, कलमा पढ़ा और मुसलमान हो गयी। उसने अपने पति को यह लिखा कि मैं मुसलमान हो गयी हूँ, तुम भी मुसलमान हो जाओ। पति ने मुसलमान होने से इन्कार कर दिया। इस पर मद्रास सिटी सिविल कोर्ट में सीता देवी ने यह प्रार्थनापत्र दिया कि "६ अगस्त १९३३ को हिन्दू विधि के अनुसार हुए मेरे विवाह को रद्द समझा जाय, क्योंकि मैं १० अक्टूबर १९४३ को मुसलमान हो गयी हूँ। मैंने पति को मुसलमान होने के लिए लिखा किन्तु उसने ऐसा करने से इन्कार किया है"। २३ दिस० १९४३ को यह मुकदमा श्री सय्यद इमामुद्दीन के सामने पेश हुआ। जज ने अपने फैसले में लिखा कि "चूंकि प्रतिवादी अदालत में उपस्थित नहीं हुआ और वादी बम्बई के काजी के सामने मुसलमान हो चुकी है, वह कहती है कि इस्लाम के सिद्धान्तों से आकृष्ट होकर वह मुसलमान बनी है। काजी की गवाही ले ली गयी है। उसका पति मुसलमान बनना स्वीकार नहीं करता। विल्सन ने एंग्लो मुहम्मदन लॉ (पैरा ७४ ए०) में कहा है कि वर वधू में से यदि कोई मुसलमान हो जाता है तो विवाह पर कोई असर नहीं पड़ता, किन्तु यदि वह मुसलमान नहीं होता तो दूसरा पक्ष तलाक दे सकता है। यह विधि दारुलइस्लाम या मुस्लिम देशों के लिए है, अतः अदालत द्वारा यह विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न घोषित किया जाता है।" इस निर्णय के आठ दिन बाद १ जून १९४४ को सीता-देवी का विवाह बम्बई में बड़ौदा के महाराज श्री प्रतापसिंह से हो गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सीतादेवी दूसरे विवाह से पहले शुद्ध होकर हिन्दू बन चुकी थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत के विभिन्न हाई कोर्टों में इस सम्बन्ध में मतभेद है कि वर-वधू में से किसी एक के मुसलमान होने पर भी विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न होता है या नहीं, किन्तु अधिकांश कोर्टों का झुकाव इस ओर है कि यह विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता है। ऊपर हम बम्बई हाईकोर्ट के गंगा वाले मामले का उल्लेख कर चुके हैं। कल-कत्ता हाई कोर्ट ने १८९१ में राजकुमारी के मामले में भी ऐसा ही फैसला दिया था (इ. ला. रि. १८ कल. २६४)। मामला इस प्रकार था कि एक हिन्दू स्त्री मुसलमान हुई और उसने एक मुसलमान से शादी कर ली। अदालत ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि स्त्री के मुसलमान हो जाने पर भी वह हिन्दू कानून की परिधि से बाहर नहीं चली जाती। १९४१

में कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस एगले (Edgley) ने एक दूसरे मामले में ऐसी पद्धति की भर्त्सना की। इस मामले में इंगलैण्ड की एक रूसी स्त्री ने दीवानी पद्धति से एक रूसी पुरुष से बर्लिन में शादी की, पति ग्लासगो चला गया और पत्नी भारत में आयी, वह मुसलमान हो गयी। उसने अपना नाम नूरजहां रखा और पति को तार भेजा कि वह मुसलमान हो जाय। पति ने मुसलमान होने से इन्कार कर दिया। इस पर नूरजहां ने कलकत्ता हाईकोर्ट में पति से तलाक पाना चाहा। न्यायाधीश श्री एगले ने यह फैसला किया कि मुसलमान न बनने वाले पर विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद का इस्लामी कानून ब्रिटिश भारत में लागू नहीं हो सकता। १८६६ में कलकत्ता हाईकोर्ट ने यह कहा था कि इस्लामी कानून भारत का कानून नहीं है और यह बात न्याय (Equity) और उत्तम अन्तःकरण (Good conscience) के सर्वथा प्रतिकूल है कि किसी हिन्दू को इस्लामी कानून से किसी प्रकार बाधित किया जाय। एगले के मत में, इसी तरह किसी व्यक्ति के मुसलमान बनने पर दूसरे व्यक्ति को मुसलमान बनने या विवाह-सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, यदि ऐसा मान लिया जाय तो राज्य धर्म-परिवर्तन में सहायक बन जायगा।

इस विषय में स्किनर बनाम आर्डे (१८७१-१४ मूर की इंडियन अपील्स ३०६) के मामले का उल्लेख उपयोगी है। इस मामले में एक ईसाई विधवा ने जान थामस के साथ अपना सम्बन्ध जताया। जान थामस की पत्नी जीवित थी और ईसाई कानून के अनुसार उसका एक विधवा के साथ दूसरा विवाह दण्डनीय अपराध था। उससे बचने के लिए दोनों मुसलमान हो गये, क्योंकि इस्लाम में चार शादियाँ जायज होती हैं। इलाहाबाद हाईकोर्ट और प्रिवी कौंसिल दोनों ने इस विवाह की निन्दा की और इसे वैध नहीं माना।

अतः उपर्युक्त फैसलों से यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य से किये गये धर्मपरिवर्तन को अदालत जायज नहीं मानती और न ही अदालतों को ऐसा मानना चाहिए। यदि ऐसा मान लिया जाय तो धर्म एक मजाक और खिलवाड़ की चीज हो जायगी। यह प्रवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है कि बहुविवाह का आनन्द लेने या अभीष्ट व्यक्ति से विवाह करने के लिए धर्म परिवर्तन के गर्हणीय मार्ग का अवलम्बन किया जाय।

हिन्दूदम्पती में यदि कोई ईसाई हो जाता है तो भी उन पर विवाह की अविच्छेद्यता का बन्धन लगा रहता है। मननिया बनाम प्रेमसिंह (८ बं. ला. रि. ८४६) के मामले में मननिया ने भारतीय तलाक कानून (१८६६ का ४ था कानून) के अनुसार अपने पति से तलाक पाना चाहा। अदालत को यह पता लगा कि उनकी शादी हिन्दू विधि से हुई थी और उसके बाद वे ईसाई हुए। अदालत ने यह फैसला दिया कि भारतीय तलाक कानन में एकविवाही (Monogamous) विवाहों का विधान है, वादी-प्रतिवादी की शादी हिन्दू कानून के अनुसार हुई, इसमें बहुविवाह जायज है,

अतः हिन्दू कानून लागू होने की वजह से भारतीय तलाक कानून उन पर नहीं लागू हो सकता ।

यद्यपि हिन्दू विवाह सम्बन्ध अविच्छेद्य है, किन्तु ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दू कुछ विशेष अवस्थाओं में **देशी ईसाई विवाह भंग कानून** (Native Converts Marriage Dissolution Act, १८६६ का २१ वाँ कानून) के अनुसार कुछ शर्तों का पालन करते हुए तलाक प्राप्त कर सकते हैं। यदि पति-पत्नी में से किसी एक के ईसाई बन जाने पर दूसरा निरन्तर छः मास तक जान-बूझकर उसका सहवास परित्याग करता है तो पहला व्यक्ति दाम्पत्य अधिकारों (Conjugal rights) के लिए दावा कर सकता है। यदि प्रतिवादी इस दावे के बाद कोर्ट द्वारा स्वीकृत एक वर्ष की अवधि तक उसे पुनः दाम्पत्य सुख देने से इन्कार करता है तो अदालत उस विवाह को भंग कर सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस कानून का उद्देश्य तलाक को सुगम बनाना या प्रोत्साहित करना नहीं, अपितु यह है कि दम्पती में से किसी एक व्यक्ति के ईसाई हो जाने पर, यदि दूसरा धर्म परिवर्तन के कारण पहले का त्याग करता है तो परित्यक्त व्यक्ति को दूसरी शादी का अवसर मिल सके। इसी कानून के २५ वें भाग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सहवास-परित्याग (Desertion) धर्मपरिवर्तन के कारण होना चाहिए। यदि यह परित्याग क्रूरता या दुराचरण के कारण होगा, तो उस अवस्था में यह कानून लागू न होगा।

प्राचीन भारत में सामयिक या सशर्त विवाह (Contractual Marriages)

आजकल इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद है कि विवाह अविच्छेद्य धार्मिक सम्बन्ध (Sacrament) है या दो पक्षों द्वारा आपस में तय किया हुआ एक समझौता, समय या ठेका (Contract) मात्र। पिछले दो हजार वर्षों में विवाह संस्कार की धार्मिकता एवं अविच्छेद्यता पर इतना अधिक बल दिया गया है कि हम यह भूल गये हैं कि अत्यन्त पुराने जमाने में ऐसे अनेक विवाह होते थे जिनमें विवाह सम्बन्ध सामयिक या साविधिक (Contractual) होता था, वर-वधू कुछ शर्तों पर विवाह करते थे। तै० ब्रा० (२।३।१०) में प्रेमिका अपने प्रेमी सोम से यह कहती है कि वह उसके साथ तब तक विवाह नहीं करेगी, जब तक कि वह उसकी कुछ शर्तों को स्वीकार नहीं करेगा। महाभारत में शर्त वाले विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जरत्कारु को जब अपने पितरों की रक्षा के लिए लाचार होकर विवाह करने का निश्चय करना पड़ा तो उसने अपने पितरों से कहा कि मैं इन शर्तों पर विवाह करूँगा—

१—मुझे अपने नाम वाली पत्नी मिले।

२—मुझे वह भिक्षा में मिले।

३—मुझे अपनी पत्नी का भरण-पोषण न करना पड़े। किन्तु उस बूढ़े आदमी

को, जिसने तपस्या से अपने शरीर को बिलकुल क्षीण कर डाला था, कौन अपनी कन्या देता ? अन्त में उस ऋषि ने जंगल में जाकर तीन बार धीरे-धीरे कहा कि "सब जंगलवासी सुनें, मेरे पितर संकट में है, और उन्होंने मुझे विवाह के लिए आज्ञा दी है। मैं कन्या चाहता हूँ।" इसके बाद ऋषि ने अपनी शर्तों की भी घोषणा की। नागराज वासुकि के अनुचरों ने यह समाचार अपने स्वामी के पास पहुँचाया। वासुकि जरत्कारु के विवाह की इच्छा सुनते ही अपनी सजी-सजायी बहिन को लेकर वन में उस ऋषि के निकट आया और उस महात्मा से उसने यह कहा कि "यह कन्या मेरी बहिन है, तुम्हारे नामवाली है, तुम इसे पत्नी रूप से स्वीकार करो। मैं ही इसे पालूँगा।"[34] ऋषि ने कहा—"मेरी यह शर्त है कि मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा और यह कन्या कभी मेरा अप्रिय कार्य नहीं करेगी। अप्रिय कार्य करने पर मैं इस कन्या को छोड़ दूँगा।"[35] वासुकि ने यह शर्त मंजूर कर ली। वासुकि के घर ऋषि गये। यथाविधि विवाह के बाद वह भार्या सहित वासगृह में प्रविष्ट हुआ और वहाँ अपनी पत्नी के सामने भी उसने यह शर्त पेश की "मेरा अप्रिय कार्य न करना और मुझे अप्रिय लगने वाला वचन न बोलना। ऐसा करने पर मैं तुझे छोड़ दूँगा।"[36] वासुकि की बहिन ने बड़े दुःख से 'एवमस्तु' कहकर ऋषि की शर्त स्वीकार की और बहुत सावधानी के साथ ऋषि की सेवा करने लगी।

एक दिन जरत्कारु अपनी पत्नी की गोद में सिर रख कर सो रहे थे। सूर्य अस्त हो गया, किन्तु ऋषि की नींद नहीं टूटी। पत्नी उस समय बड़ी चिन्ता में पड़ गयी। यदि वह अपने पति को नहीं जगाती तो ऋषि के संध्या समय के धार्मिक कार्य में विघ्न पड़ता है, उससे धर्मलोप या पाप लगने की संभावना है और यदि वह जगाती है तो पति की निद्रा भंग करने का अपराध करती है। पत्नी ने धर्मलोप और पति की निद्राभंग में से धर्मलोप को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा और यह कहते हुए पति को जगाया—"हे व्रतशील, भगवान सूर्यदेव डूब रहे हैं, उठकर जल स्पर्श कर संध्योपासना कीजिए। देखिए अग्निहोत्र का समय आ गया है।

पत्नी की यह बात सुन कर ऋषि बड़े क्रुद्ध हुए। वे बोले—"तूने इस प्रकार से मेरा अपमान किया है, मैं तेरे साथ अब न रहूँगा। मैं यह बात निश्चित रूप से जानता हूँ कि मेरे सोये रहने से सूर्यदेव कभी उचित समय पर अस्त नहीं हो सकता। अपमानित होकर कोई पुरुष नहीं रहना चाहता। मुझ-जैसा धार्मिक व्यक्ति तो ऐसी हालत में कभी नहीं रह

[35] म० भा० १।४७।४। न भरिष्येऽहमेतां वा एष मे समयः कृतः।
अप्रियवचनं न कर्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥

[36] वही १।४७।६-१० विप्रियं मे न कर्तव्यं न च वाच्यं कदाचन।
त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासं च ते गृहे ॥

सकता।" पत्नी ने बड़ी सफाई पेश की, हाथ-पैर जोड़े, किन्तु ऋषि नहीं पिघले। उन्होंने अपने वचन का स्मरण कराया और पत्नी को छोड़कर अन्यत्र चल दिये (महाभा० १।४७।२५-४४)।

इस कथा से स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू समाज में विवाह कई बार शर्तों पर होता था और उन शर्तों के भंग होने पर विवाह संबंध विच्छिन्न हो जाता था। इस संबंध में उर्वशी-पुरूरवा और देवयानी-ययाति की कथायें भी स्मरणीय हैं।

दीवानी विवाह

इस अध्याय के आरंभ में यह कहा जा चुका है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को समाज द्वारा स्वीकृत करवाने के लिए कोई न कोई विधि आवश्यक होती है, चाहे वह पुरोहितों द्वारा पूरी की जाय या मजिस्ट्रेट के आगे सम्पन्न की जाये। पहली विधि से होने वाले विवाह को धार्मिक विवाह (Sacramental marriages) और दूसरे को दीवानी विवाह (Civil marriages) कहते हैं। हिन्दू समाज में पुरोहितों द्वारा अग्नि के सम्मुख पाणि-ग्रहण संस्कार की वैवाहिक विधि सदियों से आवश्यक मानी जाती रही है। गान्धर्व विवाह के प्रकरण में हमने यह देखा था कि परस्पर प्रेम उत्पन्न होने पर विवाह के लिए, पहले संस्कार की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। शकुन्तला और दुष्यन्त के विवाह में कोई संस्कार नहीं किया गया था। किन्तु वात्स्यायन के समय तक ऐसे विवाहों को नियमबद्ध करने तथा प्रेम के नाम पर होने वाले व्यभिचार को रोकने के लिए संस्कार की शर्त अनिवार्य बना दी गयी। उसके बाद पिछली शताब्दी के मध्य तक हिन्दू विवाह को वैध बनाने का एक मात्र उपाय पाणिग्रहण संस्कार था।[३७] किन्तु १८७२ के विशेष विवाह कानून से कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए मजिस्ट्रेट या रजिस्ट्रार के सामने कानून द्वारा नियत शर्तों

३७ आजकल अधिकांश पश्चिमी देशों में दीवानी विवाह की प्रथा प्रचलित है। पहले (पृ० २६२-३ टि०) यह बताया जा चुका है कि यूरोप में १२ वीं शती तक विवाह चर्च का विषय नहीं समझा जाता था। चर्च ने इसे अपने अधिकार में लेने का यत्न किया, किन्तु लूथर तथा अन्य सुधारकों ने कहा कि विवाह दीवानी अदालतों का विषय है। ट्रैण्ट की परिषद् ने सुधारकों की इस सम्मति को कुफ्र (Heresy) घोषित किया किन्तु इसके बावजूद योरोप के अनेक कैथोलिक देशों में दीवानी विवाह ही एक मात्र कानूनी विवाह माना जाता है, जर्मनी में केवल दीवानी विवाह को वैध माना जाता है। उत्तरी अमेरिका की रियासतों में विवाह एक समय (Contract) मात्र है। यूरोप के अधिकांश देशों में दीवानी विवाह के बाद चर्च में बिशप या-पुरोहित के सामने धार्मिक विधि से दुबारा विवाह किया जाता है (इंसा० ब्रिटा०, खण्ड १४, पृ० ९५१-५५)

के अनुसार किये जाने वाले दीवानी विवाहों (Civil marriages) को भी वैध समझा गया। भारत में इन विवाहों को वैध बनाने का मनोरंजक इतिहास है।

दीवानी विवाह के कानून का इतिहास

ब्रह्मसमाज १९वीं शताब्दी में भारत का सबसे पहला और एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधार आन्दोलन था। ब्रह्मसमाज ने हिन्दू समाज में कई शताब्दियों से चले आने वाले अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करना चाहा। ब्रह्मसमाजी मूर्ति पूजा को नहीं मानते थे, क्योंकि उस समय हिन्दुओं का कोई भी संस्कार किसी न किसी देवता की मूर्तिपूजा के बिना पूरा नहीं हो सकता, अतः ब्रह्मसमाजी ऐसी सब विधियों से अलग रहते थे। जिस समय महर्षि देवेन्द्र बाबू के घर में कोई धार्मिक उत्सव होता, उस समय वे मूर्ति पूजा से बचने के लिए जंगल में चले जाते थे। १८५७ में ब्रह्मसमाज में एक प्रतिभासम्पन्न मेधावी और तेजस्वी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ और उन्होंने ब्रह्मसमाज को बड़ी तेजी से सुधारवाद के नाम पर ईसाइयत का जामा पहनाना शुरू किया। प्रगतिशील ब्रह्मसमाजी विवाह के हिन्दू आदर्श एवं विधि दोनों को हेय एवं त्याज्य समझते थे, उनका कहना था कि विवाह स्त्री और पुरुष के बीच में एक समझौता (contract) मात्र है, कन्यादान बिल्कुल बेकार है और विवाह की पौराणिक विधि त्याज्य है। प्रगतिशील ब्रह्मसमाजियों ने मूर्तिपूजा के प्रभावों को सर्वथा दूर करते हुए विवाह की एक नयी विधि बनायी।

किन्तु शीघ्र ही यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस विधि के अनुसार किये गये विवाह क्या वैध होंगे? प्रगतिशील ब्रह्मसमाजियों ने उस समय के एडवोकेट जनरल श्री कोवी से इन विवाहों की वैधता के सम्बन्ध में सम्मति ली। श्री कोवी की सम्मति थी कि ये विवाह वैध नहीं माने जा सकते। इस पर ब्रह्मसमाजियों का एक प्रतिनिधि मण्डल उस समय के वायसराय लार्ड लैन्सडाउन से मिला और उन्होंने ब्रह्मसमाजियों के विवाहों को वैध बनाने के लिए एक कानून पास करने की माँग की। उस समय स्थिति यह थी कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यूरोपियन और पारसी जातियों के लिए विवाह के कानून बने हुए थे किन्तु ब्रह्मसमाजी अपने को न हिन्दू मानते थे न मुसलमान, न ईसाई, न पारसी। अतः उनके लिए कानून द्वारा विवाह करने का कोई तरीका नहीं था। इसका मतलब यह था कि कानूनी दृष्टि से ब्रह्मसमाजी विवाह कर ही नहीं सकते थे। इस दोष को दूर करने की दृष्टि से ब्रह्मसमाजियों के विवाह के लिए एक कानून बनाना आवश्यक था। किन्तु इसमें सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि ब्रह्मसमाज का कोई निश्चित रूप नहीं था। ३० वर्ष के अन्दर ही इसमें दो दल पैदा हो गये थे और दोनों विवाह के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रखते थे। सरकार किस दल की सम्मति और विधि को प्रामाणिक माने? दूसरी आपत्ति यह थी कि यदि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के लिए अलग कानून बनाये जाने

लगें तो बीसियों विवाह कानून बनाने पड़ेंगे। हर एक सम्प्रदाय अपने लिए अलग-अलग कानून की माँग करेगा। साम्प्रदायिक विवाह कानून (Denominational Marriage Acts) बनाने में एक यह भी बाधा थी कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच में होने वाले विवाह का नियमन किस प्रकार किया जायगा ?

भारत सरकार के तत्कालीन कानून सदस्य सर हेनरी मेन ने इस समस्या का यह हल निकाला कि ईसाई धर्म को न मानने वाले तथा हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, पारसी या यहूदी धार्मिक विधि से शादी न करने वालों के लिए एक कानून बनाया जाय। १८ नव० १८६८ को उन्होंने इस प्रकार के कानून का मसविदा पेश किया और सम्मति के लिए, यह मसविदा प्रान्तीय सरकारों के पास भेजा गया। प्रान्तीय सरकारों ने इसका इस आधार पर घोर विरोध किया कि यह हिन्दू-मुस्लिम कानूनों में क्रांतिकारी परिवर्तन करने वाला है। विवाह के विषय में, हिन्दू कानून और हिन्दू धर्म एक है, जो हिन्दू विवाह को नहीं मानता, वह हिन्दू कानून को भी नहीं मानता, उसे हिन्दू धर्म में रहने का कोई हक नहीं। व्यवस्थापिका परिषद् को यह अधिकार नहीं कि वह हिन्दू मुस्लिम कानूनों को मनमाने ढंग से बदलती रहे। कानून सदस्य सर स्टीफन ने इस बिल को १८७१ में व्यवस्थापिका परिषद में पेश करते हुए उक्त आपत्ति को बड़े सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया था। उनका कहना था कि हम व्यवस्थापिका परिषद् के कानूनों द्वारा न तो हिन्दुओं को अंग्रेज और न अंग्रेजों को हिन्दू बनाने का अधिकार रखते हैं।

मेन के मसविदे में से उपर्युक्त आपत्ति हटाने के लिए इस कानून में एक प्रस्तावना जोड़ी गयी और यह प्रस्तावना ही इस बिल का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसमें यह कहा गया है कि जो लोग हिन्दू धर्म, ईसाइयत, इस्लाम, पारसी, बौद्ध, सिक्ख या जैन धर्म नहीं स्वीकार करते, उनके लिए यह कानून बनाया जाता है। इस कानून के अनुसार विवाह करने वाले को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि वह हिन्दू धर्म को नहीं मानता है।

दीवानी विवाह का स्वरूप

इस कानून के अनुसार, विवाह शुद्धरूप से एक दीवानी मामला समझा गया और इसमें किसी धार्मिक विधि का पालन आवश्यक नहीं है। यह विवाह विवाहों के रजिस्ट्रार के सामने कुछ शर्तें पूरी करने पर नियत विधि के अनुसार हो सकता है। ये शर्तें इस प्रकार हैं—वर वधू क्रमशः कम से कम १८ और १४ वर्ष के हों, यदि वे २१ वर्ष से कम आयु के हैं तो उनके अभिभावक की सहमति होनी चाहिए। उनमें सपिण्डता या कृत्रिम सपिण्डता (Affinity) नहीं होनी चाहिए और उनमें किसी की पत्नी या पति नहीं जीवित होना चाहिए (धारा २)। विवाह से पूर्व वर या वधू को अपने निवास स्थान के रजिस्ट्रार को विवाह की सूचना देनी पड़ती है। निवास स्थान उसे माना गया है जहाँ उक्त सूचना देने से कम से कम १४ दिन पहले से वर या वधू में से कोई रहता हो (धारा ४)।

सूचना देने से १४ दिन बाद तक यदि उस विवाह संबंध पर कोई आपत्ति न उठायी जाय तो वह विवाह तीन साक्षियों की उपस्थिति में रजिस्ट्रार के सामने हो सकता है। यह विवाह किसी भी विधि से किया जा सकता है बशर्ते कि पति-पत्नी एक-दूसरे को रजिस्ट्रार तथा साक्षियों को श्रवण कराते हुए क्रमशः ये शब्द कहें कि मैं तुझे पति के रूप में स्वीकार करती हूँ। और मैं तुझे पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ (धारा १५)। ऐसे विवाहों में तलाक दिया जा सकता है (धारा २५)।

नये कानूनों का निर्माण—१८७२ का कानून हिन्दुओं को सन्तुष्ट न कर सका, क्योंकि भारत में उस समय तक कोई ऐसा कानून नहीं था, जिस कानून के अनुसार हिन्दुओं में दीवानी विवाह हो सकें, इस कानून में वर-वधू को यह घोषणा करना आवश्यक था कि हम हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिक्ख या पारसी धर्म नहीं स्वीकार करते। बहुत से हिन्दू ऐसे थे जो अपने धर्म में ही रहते हुए दीवानी विवाह करना चाहते थे। इस मामले में देशी राज्यों ने पथ प्रदर्शन किया। १९०८ में बड़ौदा राज्य में तथा १९१६ में इन्दौर राज्य में दीवानी विवाहों को वैध बनाने के कानून बने। कोल्हापुर में भी इसी तरह का कानून बना। भारत सरकार ने स्वयं इस दिशा में कदम नहीं उठाया। श्री हरि सिंह गौड़ ने १९२१ में हिन्दू-समाज में दीवानी विवाहों को वैध बनाने का मस्विदा केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में उपस्थित किया। उनकी इच्छा थी कि भारत की सभी जातियों के लिए दीवानी विवाह का कानून बनाया जाय, किन्तु मुसलमानों और पारसियों ने इसका घोर विरोध किया। अतः अन्त में यह मस्विदा केवल हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख और जैन धर्मों तक के लिए मर्यादित किया गया और १८७२ के ऐक्ट को १९२३ के कानून के अनुसार संशोधित किया गया। इस संशोधन के पश्चात् अब एक हिन्दू को यह घोषणा करने की आवश्यकता नहीं रही कि वह हिन्दू नहीं है। वह हिन्दू होते हुए भी दीवानी विवाह कर सकता था। १९५४ के विशेष विवाह कानून (Special Marriage Act) द्वारा इसमें अनेक आवश्यक और समयानुकूल संशोधन किये गये हैं। इसकी सबसे अधिक क्रांतिकारी व्यवस्था पारस्परिक सहमति (Mutual consent) द्वारा विवाह विच्छेद का विधान है। अब हिन्दू इस कानून के अनुसार दीवानी विवाह कर सकते हैं।

अध्याय ८

दाम्पत्य कर्तव्य व अधिकार

विवाह संस्कार द्वारा पति-पत्नी एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। पत्नी पति के घर में चली जाती है और पति के साथ मिलकर गृहकार्यों का संचालन करती है।[1] इस अवस्था में दोनों के एक-दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्य और अधिकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में हिन्दूसमाज में कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया था और आजकल अधिकारों की जोरदार मांग की जाती है, अतः प्राचीन धर्मशास्त्रों में पति-पत्नी के और विशेषतः पत्नी के कर्तव्यों की चर्चा अधिक है और अधिकारों की कम। हिन्दू स्त्रियों की स्थिति गिरने से पूर्व वैदिक युग में पति-पत्नी के अधिकार तुल्य थे, विवाह के बाद नववधू घर की रानी हो जाती थी।[2] किन्तु दूसरी से पांचवीं सदी के बीच में बनने वाली व्यासस्मृति ने उसे नौकरानी का दर्जा दिया।[3] नारी की स्थिति में यह परिवर्तन गुप्त युग तक पूर्ण हो चुका था।[4] इस परिवर्तन के कई कारण थे।

(१) पहला कारण यज्ञीय कर्मकाण्ड में अत्यधिक शुद्धि के विचार की वृद्धि से शनैः-शनैः स्त्रियों का यज्ञीय कार्यों से पृथक् किया जाना था। मासिक धर्म अथवा रजरूपी मल के कारण स्त्रियां अपवित्र मानी जाने लगी थीं। धीरे-धीरे इस विचार को सब लोग मानने लगे और यज्ञ विषयक कार्यों में पत्नी का अधिकार कम होने लगा। यज्ञ में स्त्री का अधिकार न रहने से वह शूद्र की तरह हीन मानी जाने लगी, क्योंकि शूद्रों का भी यज्ञ में कोई अधिकार न था।

१ दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों में पत्नी अपने घर में रहती है, पति उसके घर में आता है। इसके वर्णन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० २७०-७२।

२ ऋ० १०।८५।४६—सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु। मि० अथर्व० १४।१।४३।

३ व्यासस्मृ० २।२७—दासीवद्दिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत्।

४ इसके विशद प्रतिपादन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १०८-१७

(२) पुत्र पिता के वंश को चलाने वाला और पितरों को पिण्ड दान करने वाला होता था। योद्धा जातियों के जीवनसंघर्ष में कन्या की अपेक्षा पुत्र पिता को अधिक सहायता दे सकता है, अतः ऐसे समाज में कन्याओं की उपेक्षा स्वाभाविक थी।

(३) स्त्री शिक्षा का अभाव व बाल विवाह—वैदिक काल में कन्या ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करके ही युवती होने पर विवाह करती थी। बाद में स्त्रीशिक्षा की उपेक्षा एवं बाल विवाह के प्रचलन से जब बहुत ही छोटी आयु में कन्याओं के विवाह होने लगे, उस समय स्त्रियों के अधिकारों की उपेक्षा स्वाभाविक थी।

(४) इस स्थिति में यह विचार उत्पन्न हुआ कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं रह सकती, उसका कोई न कोई रक्षक होना चाहिए[५]। इन सब कारणों से हिन्दू समाज में नारी की स्थिति में बड़ा अन्तर आने लगा।

वैदिक युग में दाम्पत्य अधिकार

वैदिक युग में उपर्युक्त कारणों में से कोई कारण विद्यमान नहीं था, अपितु कुछ ऐसे कारण थे जिनसे स्त्रियों को अधिक महत्ता मिली। उस समय अनार्यों के साथ संघर्ष था, अतः राजनीतिक दृष्टि से सन्तानों की बहुत अधिक कामना की जाती थी। ऋग्वेद में १० पुत्रों को पैदा करने की भावना प्रकट की गयी है (१०।८५।४५)। स्त्रियां पुरुषों के प्रत्येक काम में सहायक होने से समाज का अत्यन्त उपयोगी अंग थी और संन्यास तथा त्यागवाद के विचारों के प्रबल न होने से विवाह एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। स्त्रियों के शिक्षित एवं सुसंस्कृत होने के कारण विवाह में उनकी इच्छा तथा अधिकारों का पूरा ध्यान रखा जाता था।

इन कारणों से पति-पत्नी के अधिकारों में उस समय बड़ा वैषम्य नहीं था। पत्नी घर की रानी थी और पति का कोई यज्ञ या धार्मिक कार्य पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर (१।७२।५,५।३।२) पति-पत्नी द्वारा इकट्ठे होकर घरेलू कार्य व यज्ञ करने का वर्णन है। तै० ब्रा० (३।७५) उन्हें यज्ञरूपी रथ में जुड़े हुए दो बैल कहता है। तै० ब्रा० (३।७।१) यह बताता है कि उस यज्ञकर्ता का आधा फल नष्ट हो जाता है, जिसे यज्ञ के दिन (ऋतुकाल के कारण) स्त्री नहीं प्राप्त होती है। अश्वमेध यज्ञ में पत्नी घोड़े का अभ्यंजन करती है, अतः उसका इस यज्ञ में उपस्थित रहना अनिवार्य होता है। सीता के न होने पर राम को उनकी सुवर्णमयी प्रतिमा बनवानी पड़ी थी (रा० ७।९१।२५)। यज्ञ में पति के साथ बैठने तथा यज्ञ की क्रियाएँ करने की दृष्टि से स्त्री को

[५] स्त्री की स्वतन्त्रता के विचार के लिए देखिये हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ११७-८, पृ० ४३९-४०

'पत्नी' कहा जाता है (शत० ब्रा० १।१६।२।१४, पाणिनि ४।१।३) तथा उसके दाम्पत्य सम्बन्ध को बताने के लिए जाया शब्द का प्रयोग होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से पति की पत्नी का आधा अंग कहा जाने लगा था (शतपथ ब्रा० ५।१।६।१०)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।१४, १६, २०) तो पति-पत्नी में अभेद स्वीकार करके यह कहता है कि दोनों को सब कार्य इकट्ठे करने चाहिए।

बाद में यज्ञों में जाया की दृष्टि से स्त्री का महत्त्व घटने लगा। शत० (१। १।४।१३) से ज्ञात होता है कि एक यज्ञ में पहले जाया ही आहुति डाला करती थी, किन्तु बाद में इस कार्य को पुरोहित भी करने लगा। मनु के समय तक स्त्रियों को धार्मिक यज्ञों में पति के साथ सम्मिलित होने का पूरा अधिकार था, किन्तु उनसे मन्त्रोच्चारण का अधिकार छीन लिया गया था। मनु (३।१२१) यह कहता है कि सायंकाल के पके अन्न की बलि को पत्नी मन्त्रोच्चारण के बिना ही दे। इससे पहले गौतम धर्मसूत्र (५।६।८) और गोभिल गृह्यसूत्र (१।४।१६, १९) ने बलि का वर्णन किया था, किन्तु वे ऐसे किसी प्रतिबन्ध का उल्लेख नहीं करते।

यज्ञीय अधिकारों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि पत्नी को ये अधिकार संयुक्त रूप में ही प्राप्त थे। पृथक् रूप से तो मनु के शब्दों के अनुसार (५।१५५) स्त्रियों के लिए कोई यज्ञ, व्रत या उपवास नहीं है (मिलाइये विष्णुस्मृति २५।१५, मार्क० पुराण १६।६१, महाभारत १।१५८।२६, १३।८।२०)।

यज्ञों में अधिकार कम होने से ब्राह्मणग्रन्थों के समय पत्नी रानी के दर्जे से भिन्न के दर्जे तक उतर आयी (हिन्दू परिवार, पृ० ७२)। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्रियों की निन्दा के अनेक वचन मिलते हैं, उनका अन्यत्र उल्लेख हुआ है (हिन्दू परिवार, पृ० ११६)। शत० ब्रा० (१।६।२।१२।) में कहा गया है कि पत्नी को पति के बाद भोजन करना चाहिए क्योंकि एक साथ बैठकर भोजन करने से दुर्बल संतान पैदा होती है। वशिष्ठ धर्मसूत्र (१२।३१) में शतपथ का अनुमोदन किया गया है। बौधायन ने (१।१।१९) स्त्री के साथ बैठकर भोजन करने को गर्हित आचरण गिना है। ऐत० (३।२४।७) व गोपथ (२।३।२२) ब्राह्मणों में जवाब न देने वाली (अप्रतिवादिनी) स्त्री की प्रशंसा की गयी है। इसी समय से स्त्रियों को वशवर्ती बनाने की यह प्रक्रिया शुरू हुई, जिसका चरम विकास हमें व्यास जैसी स्मृतियों में दिखायी पड़ता है।

बौद्ध साहित्य में श्वशुर-वधू संघर्ष

बौद्ध साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि उस समय सास और बहू में घर में अधिकार के लिए बड़े जबर्दस्त झगड़े होते थे। इनमें कभी-कभी सास के हाथ बाजी रहती और कभी बहू के। वैदिक युग में सास पर शासन करने वाली बहू इस काल में कभी-कभी सास के अत्याचारों से इतनी अधिक परेशान हो जाती थी कि वह उसके अत्याचारों से बचने के

लिए मठों में शरण ढूंढ़ती थी (थेरीगाथा ४५, अल्टे० पो० वु०, पृ० १०७)। सास गुस्से में बहू को मूसल से पीटकर जान से मार डालती थी। किन्तु इसके विपरीत कुछ बहुओं ने पुराना शासन और रौब कायम रखा, ऐसे घरों में सासों को भिक्षुणी बनना पड़ता था (धम्मपद अ० क० ११५)। चार बहुएँ जब एक बार अपने श्वसुर से बहुत तंग आ गयीं तो उन्होंने उसे अपने घर से बाहर निकाल दिया। (धम्मपद अ० कथा ३२४)। जातक सं० ३२४ में सास-बहू के झगड़े की एक मनोरंजक कथा दी गयी है। इस में बहू ने सास को मारने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रही। वाराणसी में मगरमच्छों और घड़ियालों से भरी एक नदी के किनारे एक व्यक्ति रहता था। उसके पिता के मरने पर माता ही उसकी देखभाल करती थी और उसके न चाहते हुए भी माता ने अपने लड़के का ब्याह कर दिया। बहू ने पहले तो सास के प्रति प्रेम दिखाया, किन्तु बाद में लड़के-लड़कियाँ होने पर वह सास से छुटकारा चाहने लगी, बहू की माँ भी उसी घर में आकर रहने लगी। बहू ने पति पर यह दबाव डाला कि मैं तुम्हारी माता को नहीं पाल सकती, तुम उसे मार दो। लड़के ने पूछा—कैसे? बहू ने जवाब दिया कि जब वह सो जाय तो हम उसे बिस्तर समेत घड़ियालों वाली नदी में डाल देंगे। सास और बहू की माता एक ही कमरे में सोती थीं। बहू ने सास की पहचान के लिए एक निशान बना दिया, किन्तु रात के अंधेरे में सास वाली खाट को उठाकर नदी में डाल दिया गया। अगले दिन बहू को यह पता चला कि रात को धोखे से उसने अपनी माँ को नदी में डाल दिया है। वह बहुत दुःखी हुई। सास से छुटकारा पाने की दूसरी योजना यह बनी कि उस बुढ़िया को श्मशान में जला दिया जाय। एक रात पति-पत्नी रात को सोती हुई सास को श्मशान में ले गये, किन्तु वहाँ आग न मिली। पति आग लेने के लिए जाने लगा, किन्तु पत्नी वहाँ अकेले में डर लगने के कारण उसके साथ चली गई। उधर श्मशान की ठण्डी हवा में बुढ़िया की नींद खुल गयी। आस-पास का हाल देखकर उसे सारी स्थिति समझ में आ गयी। उसने जल्दी से उठकर पास ही पड़ी एक लाश को उस बिस्तर में बाँध दिया और स्वयं एक गुफा में छिप गयी। पति-पत्नी ने लौटकर चिता को आग लगा दी। उधर बुढ़िया को गुफा में हीरे, मोती, व आभूषणों की एक पोटली मिली। सवेरे जब वह उस पोटली के साथ घर पहुँची तो बहू के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सास के पास हीरे-मोती देख कर उसके मुँह में पानी भर आया। उसने पूछा कि आपने ये कहाँ पाये। चालाक बुढ़िया ने जवाब दिया कि इस श्मशान की चिता पर जलने वाले सभी व्यक्तियों को जीवन के दान के साथ यह पोटली भेंट मिलती है। बहू बुढ़िया के झाँसे में आ गयी और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने लालच में वह चिता पर जल मरी और सास को बहू से मुक्ति मिली। अंगुत्तर निकाय की अ० क० (१।७।२) में विशाखा के अपने श्वसुर के साथ बड़े मनोरंजक झगड़े का वर्णन है। इस झगड़े का निर्णय करने के लिए पंच इकट्ठे होते हैं। वे विशाखा को निर्दोष पाते हैं और अन्त में श्वसुर विशाखा से क्षमा माँगता है। किन्तु बौद्ध

ग्रन्थों में सामान्य रूप से बहुओं में अपने सास-श्वशुर के प्रति आदर भाव पाया जाता है।[६]

महाभारत में दाम्पत्य कर्तव्य

महाभारत में हमें पति-पत्नी के कर्तव्यों के सम्बन्ध की बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि हिन्दू शास्त्रों में पति की अपेक्षा पत्नी के कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु महाभारत इसका अपवाद है। महाभारत में हमें पति-पत्नी के सम्बन्धों के संधिकाल का धुंधला-सा चित्र मिलता है। इसमें यदि पति द्वारा पत्नी से कुछ कर्तव्यों की आशा की जाती है, तो पत्नी पति से भी उसके कर्तव्यों के पालन की माँग करती है। यद्यपि सामान्य रूप से महाभारत पत्नी के लिए पति को देवता मानने के विचार पर बल देती है, किन्तु उसमें प्राचीन संघर्ष की कुछ झलक अवश्य है। इसमें नारी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रयत्न कर रही दृष्टिगोचर होती है।

शकुन्तला ने दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत होने पर पति-पत्नी धर्म की विस्तृत मीमांसा की है (महाभा० १।७४।३७)। उसके सारे भाषण में बड़ा ओज और उग्रता है। हमें इसमें संदेह है कि आजकल स्त्री की स्वतंत्रता तथा समानाधिकार के लिए उग्र आन्दोलन करने वाले नारीवादी (Feminist) इतनी तीव्रता से नारियों के महत्त्व का प्रतिपादन करते होंगे। उसके मतानुसार "स्त्री मनुष्यों का आधा अंग है, स्त्री पुरुषों का श्रेष्ठतम मित्र है, त्रिवर्ग का मूल है, एकान्त में प्रिय बोलने वाला सखा है, धर्म-कार्य में हितैषी पिता के समान है, पीड़ा की दशा में माता के समान है। वह पति के लिए बियाबान रास्ते में पथिक को आराम देने वाले स्थान की भाँति है, अतः अति क्रुद्ध होने पर भी पति को पत्नी का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि रति, प्रीति और धर्म सब भार्या के हाथ में है।"[७] शकुन्तला की सारी युक्तियों का सारांश है कि पति पत्नी के बिना न धर्म को पूरा कर सकता है और न सुखी रह सकता है, अतः उसे क्रोध के आवेश में भी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए।" निःसंदेह शकुन्तला का यह बहुत बड़ा दावा था और वैदिक युग की भावना के सर्वथा अनुकूल था। किन्तु शास्त्रकारों ने इस अधिकार को नहीं माना, और भार्या के अप्रियवादिनी होने के दोष पर ही, एक पत्नी को छोड़ कर दूसरी पत्नी को ग्रहण करने का आदेश दिया (बौधायन धर्मसूत्र तथा मनु)। भारतीय आदर्शों का चिन्तन करने वाले कालिदास ने शकुन्तला को कण्व के मुंह से यही उपदेश दिलवाया था कि पति द्वारा अपमानित होने पर भी पति के प्रतिकूल आचरण मत करना (अभि० शा० ४।१८)।

६ थेरी गाथा, श्री अल्तेकर द्वारा उद्धृत, देखिए पोजीशन आफ वूमैन

७ महाभा० १।७४।५२ सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि॥

पति का मुख्य कर्तव्य—पत्नी का पालन

महाभारत में पति का प्रधान कर्तव्य पत्नी का भरण-पोषण करना बताया गया है। पत्नी भरण करने योग्य होने से भार्या कहलाती है, इसका भरण करने वाले व्यक्ति को भर्ता कहा गया है और उसका पालन करने से वह पति कहलाता है। जो पति अपनी पत्नी का पालन न कर सके तो क्या उसे छोड़ कर पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है; यह प्रश्न कुछ विवादास्पद है। दीर्घतमा की पत्नी प्रद्वेषी अपने पति को उपर्युक्त कर्तव्य का स्मरण कराती हुई कहती है (१।१०४।३१) कि "मैं तुम्हारी जन्मान्धता के कारण तुम्हारा और तुम्हारे पुत्रों का भरण-पोषण करती करती थक गयी हूँ, अब और भरण नहीं कर सकूँगी"। इसके बाद झगड़े में वह अपने पति को पुत्रों द्वारा गंगा में फिकवा देती है। महाभारत (१२।२६६।३६-३७) में यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य स्त्री के भरण से भर्ता और पालन से पति कहलाता है, यदि वह इस कर्तव्य का पालन नहीं करता तो वह न भर्ता है और न पति।[६] पति को हर हालत में पत्नी का पोषण करना चाहिए, यह विचार स्मृतिकारों ने बहुत बल के साथ रखा है। मनु ८।३८९ में कहता है कि माता-पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं हैं, उनकी सेवा और भरण-पोषण को नहीं छोड़ा जा सकता। इन को छोड़ने वाले को राजा की ओर से ६०० पण का दण्ड होना चाहिए।[७] याज्ञवल्क्य (१।७४) एक पुरुष द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर पहली स्त्री के भरण-पोषण को आवश्यक कर्तव्य मानता है। यदि पुरुष आज्ञा पालन करने वाली, दक्ष पुत्र पैदा करने वाली, मधुर बोलने वाली स्त्री को छोड़ देता था तो याज्ञवल्क्य के अनुसार उसे अपनी सम्पत्ति का तीसरा हिस्सा पत्नी को देना पड़ता था। यदि पति निर्धन हो तो उसे पत्नी का भरण-पोषण तो अवश्य करना पड़ता था (याज्ञ० १।७६, नारद स्त्रीपुंस० ९५)। दक्षस्मृति (२।३६) पोष्य वर्ग में अर्थात् पालन-पोषण करने योग्य व्यक्तियों में पत्नी की गणना करती है। हम आगे यह देखेंगे कि वर्तमान अदालतें भी पति के भरण के कर्तव्य पर बल देती हैं।

स्त्री की पराधीनता

धर्मसूत्रों के समय से बालविवाह के प्रचलन तथा कन्या की शिक्षा के बन्द होने से

६ महाभारत १।१०४।३१, भार्याया भरणाद्भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः। मि० १२।२६६।३६ भरणाद्धि स्त्रिया भर्ता पालनाच्च स्त्रियाः पतिः। गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः।

७ मनु ८।३८९, न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति। त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ यह श्लोक धर्मशास्त्रकारों को बहुत प्रिय है, दे० मनु० ९।३, गौ० ध० सू० १८।१, वसिष्ठ ध० सू० ५।१।२, याज्ञ० १।८५, नारद १३।२८।३१, विष्णु २५।१२।१३, महानिर्वाणतन्त्र ८।१०६, बौधा० २।२।५२, भा० १३।२०।२१।

स्त्री की स्थिति गिरने लगी और उसके अधिकारों का ह्रास होने लगा। उसी समय यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है, बचपन में पिता उसकी रक्षा करता है। यौवन में पति और बुढ़ापे में पुत्र, स्त्री कभी स्वतंत्र होने योग्य नहीं है (मनु० ९/३)। बौधायन धर्मसूत्र इसी वाक्य के साथ यह कहता है कि पति की आज्ञा का पालन करके पत्नी स्वर्गलोक प्राप्त करती है। स्त्रियों की इस शास्त्रीय परतंत्रता से क्षुब्ध होकर एक आधुनिक स्त्री ने यह लिखा है कि हिन्दू स्त्री पति से केवल एक ही स्थान पर स्वतंत्र हो सकती है और वह स्थान है नरक।[१०]

वास्तव में इस सम्बन्ध में हमें बहुत अधिक भावुक न बनते हुए, उस समय के, समाज की स्थिति को देखना चाहिए। जब कन्याओं की छोटी आयु में शादी हो और वे बिलकुल ज्ञानशून्य हों, तब उन्हें स्वतंत्रता कैसे दी जा सकती थी? न केवल भारत के किन्तु उस समय दूसरे सभ्य समाजों की भी यही दशा थी। टकर ने प्राचीन यूनानी समाज के विषय में लिखा है कि प्राचीन यूनान में कोई स्त्री अपने जीवन के किसी भी समय में संरक्षकहीन नहीं हो सकती थी। यदि उसका पति जीवित न हो तो उसका निकटतम पुरुष सम्बन्धी उसका अभिभावक होता था और उसका ब्याह होने के बाद भी वह अभिभावक बना रहता था। पति के शिक्षित, सभ्य और पालक-पोषक होने के कारण पत्नी पर उसका प्रभाव रहना आवश्यक था।

मनु का आदर्श—मनु ने विवाह के विषय में जितना अच्छा आदर्श हमारे सामने रखा है, वह संभवतः किसी अन्य स्मृतिकार ने नहीं रखा। उसके मतानुसार पति-पत्नी आमरण एक-दूसरे के प्रति सच्चाई (अव्यभिचार) का व्यवहार करें, संक्षेप में यही स्त्री-पुरुषों का सर्वोच्च धर्म है। विवाह करके स्त्री-पुरुष ऐसा यत्न करें कि (धर्मार्थकाम के विषय में) एक दूसरे से अलग होकर आपस में प्रतिज्ञा भंग या व्यभिचार न करें।[११]

स्त्री के अन्य कर्तव्य—स्मृतिकारों ने स्त्री का परम धर्म पति की सेवा और घर का काम करना बताया है। पतिसेवा उसके लिए गुरुकुल में निवास के तथा घर का काम अग्निहोत्र करने के तुल्य है (मनु २।६७)। उसके पारिवारिक कार्यों का वर्णन करते हुए मनु कहता है (५।१५०, ५१-५६) "स्त्री का धर्म है कि वह सदा प्रसन्न रहे, घर के कामों में चतुर हो, घर की सामग्री को साफ रखे, खर्च कम करे, पिता ने अथवा पिता की अनुमति से भाई ने स्त्री को जिस पति को सौंप दिया, वह उस पति के जीने तक उसकी सेवा

१० रमाबाई—दी हाई कास्ट हिन्दू वुमैन, पृ० ४१। इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये हरिदत्त—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ११८

११ मनु ९।१०१-२ अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ। यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्।

करे, उसके मरने पर भी उसका उल्लंघन न करे। पति के लोक में जाने की इच्छा वाली पतिव्रता स्त्री को उचित है कि वह अपना पाणिग्रहण करने वाले पति के जीवन काल में अथवा उसके मरने पर भी उसका कोई अप्रिय कार्य न करे।" ये बातें तो ठीक थीं, किन्तु इनके अतिरिक्त मनु ने ५।१५४ में अपने उपर्युक्त वैवाहिक आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल यह कहा कि पतिव्रता स्त्री को उचित है कि पति यदि शीलरहित, परस्त्रीगामी अथवा गुणों से हीन हो तो भी वह देवता के समान उसकी सेवा करे।

पातिव्रत्य का आदर्श तथा माहात्म्य

मनु स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य धर्म का पालन, परलोक के उत्तम फलों के प्रलोभन से तथा नरक के दुष्फलों की भीति द्वारा आवश्यक बना देना चाहता है। "जो स्त्री मन, वचन और देह से भी परपुरुष के साथ व्यभिचार नहीं करती है, वह मरने पर पति के साथ स्वर्ग में निवास करती है और श्रेष्ठ लोगों द्वारा पतिव्रता कही जाती है। जो स्त्री पति के साथ व्यभिचार करती है, वह इस लोक में निन्दित होती है, मरने पर सियारिन बनती है और अनेक रोगों से पीड़ित होती है" (मनु ९।२९-३०, ५।१६४)। महाभारत तथा पुराणों में पतिव्रता का महत्त्व को बताने के लिए अनेक विलक्षण कहानियाँ और चमत्कार बताये गये हैं। कृष्ण ने पतिव्रता गान्धारी से कहा है कि तुम अपने क्रोध से दीप्त नेत्र द्वारा सारी पृथ्वी को जलाने में समर्थ हो (९।३।२१)। सावित्री ने यम से अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से मृत पति को पुनः प्राप्त किया था (महाभारत ३।२९३-२९९)। शायद इसी आधार पर स्कन्दपुराण (३ ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य ७।५४, ५५) कहता है कि "जैसे सपेरा बिल से सांप को निकालता है, वैसे ही पतिव्रता अपने पति के जीवन को मृत्यु के दूतों से छीन लेती है, पति के साथ स्वर्गलोक को पहुँचती है, पतिव्रता को देखकर यमदूत भाग जाते हैं।" पतिव्रता के माहात्म्य की पराकाष्ठा हिन्दूसमाज में सतीप्रथा के रूप में हुई।

पतिव्रता के कर्तव्य—स्मृतियों में पतिव्रता स्त्रियों के अनेक कर्तव्य बताये गये हैं। व्यासस्मृति (२।२१ प्र०) स्त्री के दैनिक कर्तव्यों का वर्णन करती हुई कहती है कि "वह पति से पहले उठे, शरीर की शुद्धि करे, शय्या को उठाये, झाड़ू आदि से घर को साफ करे, अग्निशाला व आंगन को लीप कर शुद्ध करे। (चौके से) बाहर रसोई के सब पात्रों को धोये, मिट्टी के चूल्हे को लीप कर उसमें आग रखे। दासी के समान सदा पति की आज्ञा का पालन करे, रसोई बनाकर बलिवैश्वदेव दिये हुए अन्न को पुत्रादि को और पति को खिलाये और पति की आज्ञा होने पर बचे हुए अन्न से स्वयं भोजन करे। भोजन करके शेष दिन को आमदनी और खर्च की चिन्ता में बिताये।" पतिव्रता स्त्री नित्य ही उत्तम स्वादिष्ट पक्वान्न बनाकर प्रीतिपूर्वक पति को खिलाये, फिर स्वयं भोजन करके भली प्रकार शय्या को बिछाकर पति की सेवा करे, पति के सो जाने पर मन में पति का ध्यान करती हुई उसके निकट सो जावे।

स्त्री के लिए निषिद्ध कार्य—अनेक स्मृतियों में पत्नी के लिए निषिद्ध कार्यों का विस्तार से परिगणन किया गया है। उदाहरणार्थ, मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर याज्ञ० १।८७ की टीका में स्त्रियों के शोभन आचार के विषय में शंख द्वारा निर्दिष्ट निम्न निषेधों का उल्लेख करता है—"वह घर से बिना कहे बाहर न जाये, उत्तरीय ओढ़े बगैर न जाये, जल्दी न चले; बनिये, संन्यासी, वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी परपुरुष से बात न करे, अपनी नाभि खुली न रखे, एड़ी तक कपड़ा पहने, स्तनों पर से कपड़ा न हटाये, वह मुँह ढके बिना न हंसे, पति या संबंधियों से घृणा न करे। वह वेश्या, धूर्त, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू-टोना तथा गुप्त विधियाँ करने वाली कुशील स्त्रियों की संगति न करे। इनकी संगति से कुलस्त्रियों का चरित्र खराब हो जाता है।"

पति के विदेश जाने पर, प्रोषितपतिका पत्नी को सब प्रकार के आनन्दों से बचे रहने का परामर्श दिया गया है। याज्ञवल्क्य कहता है (१।८४)—"प्रोषितपतिका गेंद आदि के खेल, शरीर को सजाना, समाज और उत्सव देखना, हँसना और दूसरे के घर में जाना छोड़ दे"। व्यासस्मृति (२।५२) तो इस दशा में पत्नी को पेट भर कर पूरा भोजन करने से भी मना करती है। शंख-लिखित ने प्रोषितपतिका के करणीय कर्तव्यों की एक लम्बी सूची दी है। उसे सूखे और नाच से बचे रहना चाहिए। चित्र नहीं देखने चाहिए, उपवनों में नहीं घूमना चाहिए, खुले स्थानों में अनावृत होकर नहीं सोना चाहिए, उत्तम भोजन और पेय से बचना चाहिए, गेंद से खेलना, सुगंधित द्रव्य, फूल और आभूषण, दन्त मंजन और आँख का अंजन उसके लिए वर्जित है।

पतिव्रता बनाम पत्नीव्रत—स्त्री के धर्म संक्षेप में कहने हों तो वे ये हैं—"मन, वचन, शरीर से शुद्ध रहती हुई वह हमेशा छाया की तरह पति का अनुसरण करे, सखी के समान पति का हित करे, दासी के समान पति की आज्ञा का पालन करे।" एक शब्द में कहें तो पति, पत्नी का देवता है। महाभारत के शब्दों में "स्त्रियों के लिए पति देव है"। पति अच्छा हो या बुरा, उचित आज्ञा दे या अनुचित, पतिव्रता पत्नी का तो एक ही कर्तव्य है कि वह उसे आँख मूँद कर माने और उसकी इच्छा पूरी करे क्योंकि पति देवता है, देवता की आज्ञा का पालन होना चाहिए। हिन्दू नारियों का आदर्श पतिव्रता सीता है। उनके आदर्श वचन ये हैं—"स्त्री के लिए पति देवता है, वही उसका गुरु और बन्धु है, अतः पत्नी को प्राणों द्वारा (अपने प्राण देकर भी) पति के लिए प्रिय कार्य करना चाहिए।"

सीता के इस आदर्श पर चलती हुई करोड़ों हिन्दू स्त्रियों ने पतिव्रता के कठोर धर्म का पालन किया है।

अब वैवाहिक अधिकारों के सम्बन्ध में निम्न प्रश्नों पर विचार किया जायगा।

१– पत्नी को दण्ड देने का अधिकार,

२– दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति,

३– व्यभिचार विषयक नियम।

दण्ड का अधिकार

पति अपनी पत्नी को दो प्रकार से दण्ड दे सकता है—पीट कर या जुर्माना करके। वर्तमान युग में भले ही हम पीटने के अधिकार पर नाक-भौं सिकोड़ें, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पुराने जमाने में यह अधिकार सब देशों के पतियों को प्राप्त था और सभ्यता के अभिमानी इग्लैण्ड में १८९१ तक पति पत्नी को पीट सकता था। पुराने जमाने में भारत में जब स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति जागरूक थीं, पति अपनी पत्नी को एक नियत मर्यादा के भीतर ही पीट सकता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (३।३।९-११) में यह व्यवस्था की थी कि "यदि स्त्री पति की आज्ञा न मानती हो तो पति उसे 'नंगी', 'अधनंगी', 'बापमरी', 'मांमरी' आदि गालियां न देकर नम्रतापूर्वक रहने की शिक्षा दे। यदि इस प्रकार शिक्षा देने पर भी पत्नी उसकी बात पर ध्यान न दे तो बांस की पतली खपची, रस्सी या हाथ से उसे तीन बार मारा जा सकता है। यदि यह फिर भी वह न माने तो (अदालत द्वारा) उसे वाग्दण्ड या पौरुष्य दण्ड का आधा दण्ड दिया जा सकता है"। इससे यह स्पष्ट है कि पति अपनी पत्नी को तीन से अधिक थप्पड़ नहीं मार सकता था। मनु (८।२९९-३००) अपराध करने पर स्त्री, पुत्र, दास, नौकर और भाई को रस्सी या बांस की खपची (वेणुदल) से पीटने का विधान करता है, किन्तु इस शर्त के साथ कि इन्हें सदैव पीठ पर मारा जाय, सिर पर नहीं। इस नियम का उल्लंघन करने वालों को चोर का दण्ड दिया जाना चाहिए। शंखस्मृति (४।१६) के अनुसार भार्या को सदैव प्यार करना चाहिए और मारना भी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह स्त्री शोभनीय होती है, अन्यथा नहीं। इन अवतरणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में पति को शुभ उद्देश्य से तथा कुछ मर्यादाओं के भीतर रहते हुए पत्नी को पीटने का अधिकार था।

पत्नी को दण्ड देने का दूसरा उपाय उस पर जुर्माना करना या उसकी सम्पत्ति छीनना था। मनु (९।८४) के अनुसार जो स्त्री रोके जाने पर भी शराब पीती थी या घर से बाहर नाच-तमाशा देखने जाती थी उसे अर्थदण्ड दिया जाता था। मनु (९।७७) के अनुसार पति अपने से द्वेष रखने वाली स्त्री को एक वर्ष तक देखता रहे, एक वर्ष के बाद भी यदि वह द्वेष करे तो पति उसकी सम्पत्ति छीन ले और उसको सहवास के सुख से वंचित कर दे।

दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति

विवाह हो जाने पर पति-पत्नी का यह अधिकार है कि वह परस्पर सहवास के सुख का उपभोग करें। यदि उन दोनों में कोई एक दूसरे को इस अधिकार से वंचित करता है तो वह निःसंदेह अधर्म करता है। बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१९।२०-२२ ने इस विषय पर बहुत स्पष्ट व्यवस्था दी है कि "यदि पति तीन वर्ष तक ऋतुमती स्त्री के पास नहीं जाता है तो उसे भ्रूणहत्या का पाप लगता है; जो स्त्री पति को अपने पास आने से रोके, उसे पति

गाँव में भ्रूणहत्यारी प्रसिद्ध करके घर से बाहर निकाल दे"। समाज में संन्यास एवं त्यागवाद की प्रवृत्ति बढ़ने पर बहुत से लोग संन्यास लेने लगे थे। यह पत्नियों के साथ अन्याय था। महाभारत से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। राजा जनक ने राज्य छोड़ कर काषाय वस्त्र ग्रहण कर लिये और भिक्षावृत्ति का निश्चय किया। उस समय उनकी पत्नी ने इस अकरणीय कार्य के लिए पति को बहुत कुछ कहा (महाभा० १२।१८। १५)। उसके शब्दों में—"तुम धर्मपत्नियों का परित्याग करके अब जीना चाहते हो। इस कार्य में तुम्हें पाप लगेगा, इहलोक और परलोक दोनों का लाभ नहीं मिलेगा"। इससे स्पष्ट है कि अपनी विवाहित स्त्री का परित्याग कर संन्यासी होना पाप था, क्योंकि इससे वह स्त्री दाम्पत्य सुख से वंचित होती थी। किन्तु उस समय स्त्री इस अधिकार की प्राप्ति के लिए या भरण-पोषण के किसी अधिकार की प्राप्ति के लिए अदालत में दावा दायर कर नहीं सकती थी। नारद ने (५।८६) पति-पत्नी के झगड़े को संबंधियों या राजा के पास ले जाने का निषेध किया है। मिताक्षरा (२।२।६४) अवश्य यह कहती है कि पति-पत्नी के झगड़े राजा के पास नहीं ले जाने चाहिए, किन्तु यदि राजा को प्रत्यक्ष रूप से या कर्णपरम्परा द्वारा किसी झगड़े का ज्ञान होता है तो उसे अवश्य पति-पत्नी को ठीक रास्ते पर लाना चाहिए। स्त्री की स्थिति गिर जाने से शायद ऐसे झगड़ों को राजा के सामने लाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी।

व्यभिचार के विषय में हिन्दू कानून अन्य देशों के कानूनों की अपेक्षा स्त्री के प्रति अधिक उदार है यद्यपि पुरुष के इस अपराध के लिए कठोर दण्ड बताया गया है। मनु के मत में परस्त्रीगमन गोवध आदि के समान उपपातक है (११।६०), और इस पाप की शुद्धि चान्द्रायणव्रत से हो सकती है (११।६८)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।१०।२६। १८-२१) ने किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करने वाले पुरुष को शिश्नछेद का भयंकर दण्ड दिया है और यदि वह स्त्री कुमारी हो तो व्यक्ति की सारी सम्पत्ति जब्त करके उसके देश-निर्वासन का विधान किया गया है। विष्णु स्मृति (५।१८६) में परस्त्रीगामी को आततायी माना गया है और आततायी को मारने का पूरा अधिकार है (मि०व०ध०सू० ३।१६-१७)। महानिर्वाणतन्त्र (११।५३) में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यदि कोई अपनी पत्नी को किसी दूसरे की भुजाओं में देखता है और वह दोनों को मारता है तो राजा उसे दण्ड न दे। टाड द्वारा वर्णित (एनल्स, ख० २, पृ० ५२३) बूंदी के युवराज गोपीनाथ की कथा से उपर्युक्त वचन की पुष्टि होती है। गोपीनाथ एक रात को ब्राह्मण की पत्नी के पास जाता है, ब्राह्मणी का पति राजा से आज्ञा प्राप्त करके युवराज को मार देता है। राइट ने गोरखों के कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं (हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ० ३२)। मनु ने ८।३५६-३५६ में परस्त्रियों के साथ नदी, तीर्थ, उद्यान में बात करने, मालाओं व सुगंधित वस्तुओं आदि का उपहार भेजने, क्रीड़ा करने, स्त्री के कपड़ों व आभूषणों को छूने, एक खाट पर बैठने, अदेश (अस्थान) में स्त्री को स्पर्श करने पर ब्राह्मणेतर पुरुष

के लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था की है। अपनी जाति और गुणों के अभिमान से परपुरुष के साथ संग करने वाली स्त्री के दण्ड का आगे उल्लेख होगा। किन्तु ऐसा अपराध करने वाले पुरुष को मनु ने लोहे के गरम बिस्तर पर आग में जला देने का विधान किया है (८।३७२)। नारद ने (१६।२) व्यभिचार को, महापाप बताते हुए पुरुष पर १००० पण के दण्ड की, सम्पत्ति की जब्ती की, निष्कासन की, लिंगच्छेदन की और मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की है।

व्यभिचारी होने पर पुरुषों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करते हुए, शास्त्रकारों ने व्यभिचारिणी स्त्री को दण्ड देने में नरमी दिखायी है। मनु (८।३७१), गौतम (२३।१४) और महाभा० (१२।१६५।६१-६४) ने यद्यपि इस विषय में उग्रता दिखायी है और व्यभिचारिणी स्त्री को सार्वजनिक स्थान में कुत्तों द्वारा नुचवाये जाने का विधान किया है, किन्तु अधिकांश स्मृतिकार हल्के दण्ड तथा नरम प्रायश्चित्त को पर्याप्त समझते हैं। कुछ स्मृतिकार यहाँ तक कहते हैं कि उसे शुद्धि की आवश्यकता भी नहीं, वह रजःस्राव से ही शुद्ध हो जाती है। व्यभिचारिणी होने पर भी उसे पति से भरण-पोषण पाने का पूरा अधिकार है। मनु ने स्वयं ११।१७७-७८ में व्यभिचारिणी होने पर स्त्री को घर में रोक रखने तथा रोकी जाने पर व्यभिचारिणी होने पर भी चान्द्रायण व्रत से उसकी शुद्धि मानी है। याज्ञ० (१।७०) कहता है कि व्यभिचारिणी स्त्री से घर के सब अधिकार छीन कर, मैले वस्त्र पहिना कर उसे केवल जीवित रहने के लिए निर्वाह योग्य भोजन देकर, अनादर के साथ सदा भूमि पर सुलाना चाहिए। नारद (१२।९१-९२) ने ऐसा विधान किया है, किन्तु पुराने सूत्रकार इस हद तक नहीं गये थे। बौधायन २।२।५० में सामान्य व्यभिचार में कृच्छ्र व्रत से और शूद्र के साथ समागम करने पर चान्द्रायण व्रत से स्त्री का शुद्ध होना मानता है। वसिष्ठ (२१।८-१०) व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि की बड़ी विस्तृत विधि देता है। अनेक शास्त्रकारों का मत है कि स्त्री व्यभिचार से दूषित नहीं होती है। याज्ञ० (१।७१) ने कहा है कि स्त्रियों को चन्द्रमा ने शौच, गन्धर्व ने उत्तम वाणी और पवित्रता दी है, इसलिए स्त्रियाँ सब प्रकार से पवित्र हैं। बौधायन (२।२।५७) ने स्त्रियों की सर्वथा शुद्ध होने की दूसरी युक्ति यह दी है कि प्रतिमास का रजःस्राव इनके पापों और मलों को दूर करता है[१२]। यह युक्ति अत्रि ३।१९५ में भी पायी जाती है। याज्ञवल्क्य ने परपुरुष से प्राप्त गर्भ को त्यागने पर व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि मानी है। अत्रि (३।१९१-३, मि० देवल ५०-५५) ने विस्तारपूर्वक यह बताया है कि पतियों को अपनी व्यभिचारिणी स्त्रियों का परित्याग नहीं करना चाहिए, स्त्रियाँ किसी भी सम्बन्ध से दूषित नहीं होतीं, क्योंकि प्रति मास रजःस्राव उनकी अशुद्धि को

[१२] बौधायनधर्मसूत्र २।२।५७, स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्। मासि मासि रजो ह्यासां दुरितान्यपकर्षति ॥

धो देना है। केवल गर्भ होने पर ही वह शल्य (सन्तान) की प्रतीक्षा करे उसके निकल आने पर रजःस्राव के बाद वे शुद्ध हो जाती है।

शास्त्रकारों द्वारा स्त्री के व्यभिचार को इतने हलकेपन से देखे जाने का विशेष कारण है। वे स्त्री को सर्वदा परतन्त्र समझते थे, अतः स्त्री यदि ऐसा कार्य करती है तो इस पाप के लिए उसका पति दोषी है, जो उस पर ठीक तरह नियन्त्रण नहीं रखता है। इसी लिए वशिष्ठ धर्मसूत्र (१६।४४) में तथा मनु ८।३१७ में कहा गया है कि स्त्री के व्यभिचारिणी होने पर उसके पति को उसके व्यभिचार का पाप लगता है।

स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने पर, केवल पुराने शास्त्रकारों ने ही उन्हें हलका दण्ड नहीं दिया, बल्कि वर्तमान विधान-निर्माताओं ने भी भारतीय दण्ड विधान में व्यभिचार को दण्डनीय अपराध बताते हुए स्त्री को इस अपराध के दण्ड से मुक्त किया है। स्त्री को ऐसी छूट देने का कारण ला कमीशन ने इस प्रकार स्पष्ट किया था—"इस देश की स्त्रियों की स्थिति दुर्भाग्यवश इंगलैण्ड और फ्रांस की स्त्रियों से सर्वथा भिन्न है। उनका बचपन में विवाह हो जाता है। पति दूसरी युवती पत्नियों के कारण उनकी उपेक्षा करता है। अपनी कई सौतों के साथ ही वे पति का ध्यान अपनी ओर खींच सकती हैं। जब तक पति का अपना अन्तःपुर स्त्रियों से भरने की कानून द्वारा पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई है, तब तक पत्नी के व्यभिचार को दण्डनीय अपराध बनाने के कानून को हम वाञ्छनीय नहीं समझते"।

पुनर्विवाह के विषय में स्त्रियों के साथ वास्तव में अन्याय हुआ है, किन्तु इस विषय को हम अगले अध्याय में विस्तार से देखेंगे।

अध्याय ६

विवाह्-विच्छेद या तलाक

हिन्दू समाज में यह विश्वास पाया जाता है कि विवाह् एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है, पति-पत्नी के जीवनकाल में विवाह विच्छेद नहीं हो सकता, मृत्यु भी इस सम्बन्ध को भंग नहीं कर सकती, सती स्त्रियाँ जन्म-जन्मान्तरों में भी अपने पति को प्राप्त करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विश्वास पिछले काल के धर्मशास्त्रों से तथा पुराणों से प्राप्त होता है, किन्तु यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि दूसरी शताब्दी ई० पू० से मनुस्मृति तथा इसके बाद की अन्य स्मृतियों ने विवाह् को अविच्छेद्य सम्बन्ध के रूप में प्रतिपादित किया। । इससे पहले सभी विवाहों को यह पवित्रता नही मिली थी। स्त्रियों का एक विवाह् हो जाने के बाद उन्हें कुछ विशेष अवस्थाओं में दूसरा विवाह् करने का अधिकार था। मनुस्मृति के बाद की कुछ स्मृतियों ने भी स्त्रियों का यह अधिकार स्वीकृत किया, किन्तु बाद में हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा गिरती गयी और उनसे यह अधिकार छिन गया।

वैदिक काल में स्त्री का पुनर्विवाह्

वैदिक युग में पति के मर जाने पर पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार निश्चित रूप से था।[1] यदि पति-पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है, तो पत्नी को दूसरे विवाह् का अधिकार नही होना चाहिए। उसे आमरण वैधव्य का जीवन बिताते हुए अपने मृत पति की भक्ति करनी चाहिए। हम आगे चल कर यह् देखेंगे कि जिस समय से हिन्दू समाज में विवाह् को अविच्छेद्य सम्बन्ध मानने का सिद्धान्त पूर्ण रूप से माना जाने लगा, उसी समय से स्त्रियों का दूसरा विवाह् बन्द हो गया। किन्तु वैदिक साहित्य में स्त्रियों के पुनर्विवाह् के कुछ संकेत मिलते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्त्री के पुनर्विवाह् की चर्चा है—"जो पहले पति को प्राप्त करने के पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त करती है, वे दोनों, 'पंचौदन अज' को देते हैं और पृथक् नहीं होते। जो दूसरा पति 'पंचौदन अज' और दक्षिणा तेज से युक्त अज को देता है, वह पुनर्विवाहित स्त्री के साथ समान तेज वाला होता

[1] को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्। (ऋक्० १०।४०।२)
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ (ऋक्० १०।१८।८)

है।[२] हमें यहाँ "पंचौदन अज" के पचड़े में पड़ने की जरूरत नहीं है, यह तो विषयान्तर है, किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को कुछ विशेष दशाओं में पुनर्विवाह का अधिकार था। वेदों से पुनर्विवाह की विशेष दशाओं पर कुछ अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

धर्मसूत्र और पुनर्विवाह

वैदिक युग के बाद मनुष्यों के आचार को वेदानुकूल एवं उत्तम बनाने के लिए धर्मसूत्रों की रचना हुई। इन धर्मसूत्रों में विवाह सम्बन्धी आचारों का भी प्रतिपादन है। वेदों में स्त्रियों के पुनर्विवाह की विशेष दशाओं पर अधिकार का पर्दा पड़ा हुआ है, धर्मसूत्रकारों ने उस पर्दे को थोड़ा सा उठा दिया है। स्त्रियों के पुनर्विवाह की अवस्थाओं में प्रवास मुख्य है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन है और वह इस प्रकार है—"प्रोषित-पत्नी (जिसका पति विदेश चला गया हो) पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करके, उसके बाद पति के पास जाय। यदि धार्मिक व आर्थिक कारणों से उसके पास न जा सके तो उसे इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए कि उसका पति मर चुका है। सन्तानवती ब्राह्मणी पाँच वर्ष तथा निःसन्तान चार वर्ष, सन्तानवती क्षत्रिया पाँच वर्ष तथा निःसन्तान तीन वर्ष, सन्तानवती वैश्या चार वर्ष और निःसन्तान दो वर्ष तथा सन्तानवती शूद्रा दो वर्ष और निःसन्तान एक वर्ष पति की विदेश से लौटने की प्रतीक्षा करे। इसके बाद वह पति के समान ग्वार्य, जाति, पिण्ड, उदक व गोत्र वाले व्यक्ति से विवाह करे। इनमें पहला व्यक्ति पिछलों से अधिक गौरव वाला है।[३] वसिष्ठ की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि प्रोषित पति का पत्नी को ब्राह्मण वर्ण की होने पर पाँच वर्ष बाद दूसरा पति वरण करने का अधिकार था। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान युग में यातायात एवं पत्र-व्यवहार के साधन वसिष्ठ धर्मसूत्र के समय की अपेक्षा बहुत उन्नत हो गये हैं, तो भी इंग्लैण्ड के १९३६ के 'दि मैट्रिमोनियल काजेज एक्ट'

२ या पूर्वं पतिं हित्वा अथान्यं विन्दते पतिम्।
पंचौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः॥
समानलोको न भवति पुनर्भुवा परः पतिः।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति॥ (अथर्व० ९।५।२६-२७)
अथर्व ५।१७।८-९ में अनेक पतियों का संकेत है किन्तु यह वर्णन आलंकारिक प्रतीत होता है।

३ प्रोषितपत्नी पंचवर्षाण्युपासीत्। ऊर्ध्वं पंचेभ्यो वर्षेभ्यो भर्तुसकाशं गच्छेत्। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवासे प्रत्यनुकामा न स्यात्यथा प्रेत एव वर्तितव्यं स्यात्। एवं ब्राह्मणी पंच प्रजातामजाता चत्वारि···। अत ऊर्ध्वं समानार्षे जन्मपिण्डोदकगोत्राणां पूर्वः पूर्वो गरीयान् (वसिष्ठ धर्मसूत्र अध्याय १७, सूत्र ७५-८०)।

(The Matrimonial Causes Act) में यह अवधि सात वर्ष रखी गयी है। १९५५ के हिन्दू विवाह कानून में भी यह अवधि सात वर्ष है। किन्तु वसिष्ठ ने इसे अधिक से अधिक ब्राह्मणी के लिए पांच वर्ष तथा शूद्रा के लिए कम से कम दो वर्ष रखा है। वसिष्ठ धर्मसूत्र ने पांच अन्य अवस्थाओं में भी पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है—ये पति का नपुंसक होना, जातिच्युत होना, मर जाना आदि है। "जो अपनी कुमारावस्था के भर्ता को छोड़ कर दूसरे व्यक्तियों में विचरण करके उस परिवार में आ जाती है वह 'पुनर्भू' है। जो नपुंसक, जाति से भ्रष्ट या उन्मत्त पति को छोड़ कर अथवा पति के मरने पर दूसरे पति को प्राप्त करती है, वह भी 'पुनर्भू' होती है"।* बौधायन धर्मसूत्र (८।२।२६) केवल नपुंसकता और जातिभ्रंश को ही स्त्री के पुनर्विवाह का कारण समझता है। इस प्रसंग में यह भी कह देना उचित है कि विवाह संस्कार के समय यदि पति मर जाता है तो ऐसी अक्षतयोनि कन्या के पुनः संस्कार का दोनों धर्मसूत्रों में विधान है (बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१८, वसिष्ठ १७।६२, ६४)।

महाभारत व बौद्ध साहित्य में तलाक

प्राचीन इतिहास में विवाह विच्छेद के ऐतिहासिक प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। दीर्घतमा की पत्नी प्रद्वेषी ने अपने पति से तंग आकर उसे पुत्रों द्वारा गंगा में फिकवा दिया था (महाभा० आदि पर्व)। किन्तु महाभारत इस विषय में मौन है कि प्रद्वेषी ने दूसरा विवाह किया या नहीं। बौद्ध वाङ्मय में अवश्य इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि स्त्रियों का पुनर्विवाह होता था। उच्छंग जातक (सं० ६७) से हमें ज्ञात होता है कि एक बार एक स्त्री का पति, भाई और पुत्र पकड़े गये। उसने अपने सम्बन्धियों के लिए उच्चस्वर से विलाप शुरू किया। उस स्त्री के विलाप भरे आर्तनाद ने राजा के हृदय को द्रवित कर दिया। राजा ने उससे कहा—मैं इन तीन में से एक को छोड़ सकता हूं। तुम इनमें से किसे छुड़वाना चाहती हो? स्त्री ने उत्तर दिया—"महाराज! यदि मैं जीवित रहूं तो मैं दूसरा पति और दूसरा पुत्र प्राप्त कर सकती हूं, किन्तु मेरे माता-पिता मर चुके हैं, अतः मैं दूसरा भाई प्राप्त नहीं कर सकती, इसलिए मुझे मेरा भाई देने की कृपा करें।" स्त्री का यह उत्तर स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि उस समय स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी। थेरी गाथा अ० क० (पृ० २६०) में इसी नामक दासी का वर्णन है। इसीदासी का विवाह पहले अयोध्या के एक व्यापारी से हुआ था। उस व्यापारी ने उसे एक महीने में ही छोड़ दिया। इसके बाद उसके पिता ने एक अन्य व्यक्ति से इसीदासी की शादी की, किन्तु यहां

* वसिष्ठ धर्मसूत्र १६।१९-२०, या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भू भवति। या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भू भवति।

भी यह पति को पसन्द नही आयी और एक महीने बाद माता-पिता के पास लौट आयी। फिर उसका एक तीसरे व्यक्ति से विवाह हुआ, किन्तु यह विवाह १५ दिन भी नही टिका। उसे यह पता लगा कि उसके पति ने उसकी अनुपस्थिति मे दूसरा विवाह कर लिया है तो उसने पति के पास लौटने मे इन्कार किया। बुद्ध के कहने से एक राजा ने उसे गोद ले लिया और उसका विवाह सम्भ्रान्त कुल के एक व्यक्ति से कर दिया। मज्झिम निकाय (पा० टे० सो० खण्ड २, पृ० १०६) मे एक ऐसे परिवार का वर्णन है, जिस के व्यक्ति एक तलाक दी हुई स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध एक नये पति से ब्याहना चाहते थे। किन्तु बौद्ध काल मे स्त्रियों के पुनर्विवाह को बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा था। कण्हदीपायन (कृष्ण द्वैपायन) जातक (४४४) मे माण्डव्य अपनी पत्नी से यह प्रश्न करता है कि "मै तेरे घर से तुझे अविकसित बुद्धि वाली जवानी की दशा मे अपनी स्त्री के रूप मे यहाँ ले आया था, तू बिना प्रेम के मेरे साथ अपने सारे जीवन मे किस प्रकार रही ?" माण्डव्य की स्त्री उत्तर देती है कि "इस कुल मे यह रिवाज नही है कि विवाहित स्त्री कोई नया पति करे, न कभी ऐसा हुआ है। मैंने इस रिवाज का पालन किया ताकि मुझे कोई नीच न कहे। ऐसे अपवाद के भय ने मुझे यहाँ ठहरने तथा तेरे साथ प्रेमशून्य होकर रहने को बाध्य किया।" उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य मे विवाह विच्छेद के अनेक उदाहरण मिलते है, किन्तु उस समय इस प्रथा को अच्छा नही समझा जाता था।

कौटिल्य तथा पुनर्विवाह

धर्मसूत्रो के बाद कौटिलीय अर्थशास्त्र मे इस विषय की विस्तार से चर्चा है कि पति के प्रवास एव विदेश गमन से उत्पन्न परिस्थितियो तथा विवाह विच्छेद के सम्बन्ध मे कौटिल्य ने बहुत सुन्दर तथा न्यायपूर्ण विधान बनाया है। कौटिल्य यह अच्छी तरह समझता था कि स्त्रियों को कुछ अवस्थाओ मे जबकि वे अपने पति से विमुक्त हो जाती है, यदि पुनर्विवाह का अधिकार न दिया गया तो समाज मे अधर्म, व्यभिचार एव अनाचार बहुत बढ जायगा। प्राणियो के लिए प्रकृति से प्राप्त सहज यौन प्रेरणा के आवेग को यदि उचित मार्ग नही मिलेगा तो वह अनुचित मार्गों से उस आवेग को शान्त करेगी। इसलिए कौटिल्य (३।३।४२) ने स्पष्ट शब्दों मे यह घोषणा की कि "स्त्री के ऋतुकाल का उपरोध (ऋतुकाल मे पुरुष के सगम का न होना) धर्म का वध है।"[४] इस मूल सिद्धात को दृष्टि मे रखते हुए कौटिल्य ने आठो प्रकार के विवाहो मे, चाहे वे प्रशस्त हो या अप्रशस्त, कुछ विशेष परिस्थितियो मे दूसरे विवाह का विधान किया है। आजकल हिन्दूसमाज मे धर्मविवाहो को महत्त्व दिया जाता है और उन्हे अविच्छेद्य माना जाता है, अतः इन विवाहो के विषय मे कौटिल्य की व्यवस्था जानना अधिक उपयुक्त है।

४ तीर्थोपरोधो हि धर्मवध इति कौटिल्यः। (अर्थशास्त्र ३।३।४२)

उसके मतानुसार (३।४।३३-४१) धर्मविवाह से परिगृहीत कुमारी यदि आपत्तिग्रस्त हो और पति उससे बिना कहे विदेश चला गया हो, तो स्त्री सात तीर्थों (मासिक धर्मों) तक प्रतीक्षा करे, कहकर गया हो तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे, पति के विदेश जाने पर कोई समाचार न मिले तो पाँच तीर्थों तक प्रतीक्षा करे और मिलने पर दस तीर्थों तक। इसके बाद धर्माधिकारी की आज्ञा पाकर वह अपनी इच्छानुसार विवाह कर सकती है। थोड़े समय के लिए बाहर जाने वाले (ह्रस्वप्रवासी) पतियों की पुत्रहीन स्त्रियाँ एक वर्ष तक प्रतीक्षा करें और पुत्रवती इससे अधिक। यदि पति उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गये हों तो दुगने काल तक। पढ़ने के उद्देश्य से गये ब्राह्मणों की स्त्रियाँ दस वर्ष तक प्रतीक्षा करें और राज्य कार्य पर गये पुरुषों की स्त्रियाँ आयु पर्यन्त (अर्थशास्त्र ३।४।२६-३०)। आयु पर्यन्त प्रतीक्षा की अवधि बहुत लम्बी होती है। कौटिल्य ने इस अवधि के लिए विशेष छूट दी है। इस तरह आयु पर्यन्त प्रतीक्षा करने वाली स्त्री का यदि समान वर्ण के किसी पुरुष से बच्चा पैदा हो जाय तो वह निन्दनीय नहीं है (अर्थशास्त्र ३।४।३१)। तीर्थोपरोध को धर्म वध मानने वाले कौटिल्य के लिए ऐसी व्यवस्था करना स्वाभाविक ही है। इसीलिए कौटिल्य (३।४।४३) ने पति के दीर्घप्रवासी एवं संन्यासी होने अथवा मर जाने पर सात महीने की प्रतीक्षा के बाद स्त्री को पुनर्विवाह की आज्ञा दी है।

तलाक के सम्बन्ध में कौटिल्य (३।२।५६) का स्पष्ट मत है कि नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक (जाति अथवा धर्म के आचार से) पतित, नपुंसक पति स्त्री के लिए त्याज्य है।[६] यह नियम पहले चार प्रकार के ब्राह्मादि धर्मविवाहों के लिए है। दूसरे विवाहों के लिए कौटिल्य बहुत उदार है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। इन में पहले चार धर्मविवाह कहलाते थे। इनमें उपर्युक्त कारणों से तलाक सम्भव था। पिछले चार प्रकार के विवाहों में यह एक दूसरे से द्वेष होने की अवस्था में तलाक की अनुमति देता है। विवाहों में कई बार ऐसी स्थिति आ जाती है कि पति-पत्नी में द्वेष उत्पन्न हो जाता है। कई बार यह द्वेष इकतरफा होता है और कई बार दोनों ओर से। यह द्वेष उत्पन्न हो जाने पर विवाह एक भार मालूम होने लगता है और पति-पत्नी वैवाहिक बन्धन से मुक्त होना चाहते है। कौटिल्य परस्पर द्वेष के आधार पर पिछले चार प्रकार के गान्धर्व, राक्षस, आसुर, पैशाच नामक विवाहों में स्त्री-पुरुष को मोक्ष अर्थात् तलाक का अधिकार देता है। कौटिल्य (३।३।१७-१९) ने इस विषय में स्त्री-पुरुष के अधिकार तुल्य ही रखे हैं। "पति की इच्छा न होने पर उसके साथ द्वेष रखती हुई स्त्री उसका त्याग नहीं कर सकती। ऐसी अवस्था में पति भी अपनी पत्नी का परित्याग नहीं कर सकता। दोनों का एक दूसरे के साथ द्वेष

[६] नीचत्वं परदेशं च प्रस्थितो राजकिल्बिषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः॥

होने से परित्याग संभव है"। ऊपरी दृष्टि से परस्पर द्वेष की शर्त कुछ विचित्र सी जान पड़ती है। किन्तु आगे हम देखेंगे कि वर्तमान काल में पश्चिमी जगत् के बर्टेण्ड रसेल जैसे उच्च कोटि के विचारक यह आवश्यक समझते हैं और स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क, बेल्जियम और स्विटजरलैण्ड के नये तलाक कानूनों में यह शर्त रखी गयी है। १९५४ के भारत के विशेष विवाह कानून में इस कारण के आधार पर विवाह विच्छेद की अनुमति दी गयी है।

कौटिल्य धर्मसूत्रकारों की तरह विवाह को संस्कार नहीं मानता। उसकी सम्मति में यह एक अनुबन्ध (Contract) या ठेका है, जैसा आजकल पश्चिमी देशों में माना जाता है। वर-वधू या उसके अभिभावक इसे करते हैं और अन्य अनुबन्धों की भाँति शर्तें पूरी न होने पर यह तोड़ा भी जा सकता है। कौटिल्य (३।१६।१७) ने वस्तुओं के क्रय-विक्रय प्रकरण में विवाह का उल्लेख किया है और यह विधान बनाया है कि प्रथम तीन वर्णों में पाणिग्रहण हो जाने पर भी यदि स्त्री-पुरुष के प्रथम शयनकाल में किसी में (स्त्री या पुरुष में) कोई दोष मालूम पड़े तो विवाह सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है। कन्या के किसी गुप्त दोष को छिपा कर यदि कोई उस का विवाह करता है तो उसे ९६ पण के दण्ड का विधान है और जो वर के दोषों को छिपाता है तो उसे ११२ पण दण्ड का। दोनों अवस्थाओं में स्त्री-धन व शुल्क जब्त कर लिया जाता था।

मौर्यवंश की समाप्ति के साथ भारत में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। महाराज पुष्यमित्र के नेतृत्व में ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हुआ और इसी समय वर्तमान काल में उपलब्ध मनुस्मृति के अधिकांश भाग का सम्पादन हुआ। अर्थशास्त्र के नियमों के विरुद्ध धर्मसूत्रकारों ने आवाज उठायी और कौटिल्य के नियमों में बहुत परिवर्तन किया। स्मृतिकार अर्थशास्त्रकारों की भांति विवाह को ठेका या अनुबन्ध (Contract) मात्र नहीं मानते थे, अपितु एक पवित्र धार्मिक बन्धन समझते थे। स्मृतिकारों की समूची वैवाहिक व्यवस्थाएँ इस मूल सिद्धान्त से प्रभावित थीं। इसलिए कौटिल्य ने स्त्री को जिन हालतों में मोक्ष का अधिकार दिया था, मनुस्मृतिकार ने उस अधिकार को, उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार, सीमित कर दिया। हमने ऊपर कौटिल्य के प्रोषितपतिका के नियम देखे हैं। यदि पत्नी पुत्रवती हो, तो वह पति के लौटने की अधिक से अधिक ८ वर्ष तक प्रतीक्षा करे और निःसंतान हो तो चार वर्ष तक। इसके बाद वह धर्मविवाह में इच्छानुसार पति का वरण कर सकती थी। यदि वह कुमारी हो, तो कुछ मास प्रतीक्षा करके पुनर्विवाह का अधिकार पा लेती थी। मनु ने अर्थशास्त्र की इन व्यवस्थाओं के स्थान पर अपनी यह व्यवस्था दी कि प्रोषितपतिका को यदि पति उसके निर्वाह के लिए वृत्ति दे गया हो, तो वह उससे निर्वाह करे। यदि वृत्ति नहीं दे गया है तो समाज में निन्दनीय न समझे जाने वाले शिल्पों से अपना निर्वाह करे। इस प्रकार निर्वाह करती हुई पत्नी धर्म कार्य से पति के विदेश जाने पर, ८ वर्ष विद्या के लिए जाने पर, ६ वर्ष, अन्य काम के लिए जाने पर ३ वर्ष प्रतीक्षा करे (मनु ९।७५-६)। इस प्रतीक्षा के बाद भी यदि उसका

का पति न लौटे तो पत्नी क्या करे, इस विषय में मनु सर्वथा मौन है। वसिष्ठ ने प्रतीक्षा की अवधि व्यतीत होने पर पति के पास जाने या पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी थी और कौटिल्य ने इच्छानुसार वरण का अधिकार दिया था। किन्तु मनु इस विषय में कुछ भी व्यवस्था नहीं करता। मनुस्मृति के टीकाकारों में मनु के इस मौन पर बहुत मतभेद है। नन्दन ने लिखा है कि स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार है, किन्तु मेधातिथि ने उसका विरोध किया है। दूसरे टीकाकार कहते है कि पत्नी को पति की खोज के लिए जाना चाहिए। मनु के समय से स्त्रियों से पुनर्विवाह व तलाक का अधिकार छिन गया और पुरुषों ने एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री से साथ विवाह करने के नियम अथवा अधिवेदन के अधिकार का उपयोग किया।

कौटिल्य तथा मनु की तुलना

कौटिल्य ने विवाह के बाद पति-पत्नी मे कोई दोष प्रकट होने पर दोनों को तलाक या मोक्ष का अधिकार दिया, किन्तु मनु यह अधिकार पुरुषों तक ही सीमित कर देता है। विवाह के बाद पत्नी के दोष ज्ञात होने पर वह उसे छोड़ सकता है, किन्तु पत्नी पति के दोष प्रकट होने पर उसे नही छोड़ सकती है (मनु ९।७२)।

पति के नपुंसक व राजद्रोही होने की दशा मे कौटिल्य पत्नी के पुनर्विवाह के अधिकार को स्वीकृत करता है, किन्तु मनु (९।७९) पति के उन्मत्त या क्लीब होने पर भी पत्नी से यह आशा करता है कि वह पति की सेवा करेगी। यदि वह पति की सेवा नही करती, तो उस के साथ यही रियायत की गयी है कि पति को उसका त्याग नही करना चाहिए। मौर्य कालीन भारत मे पत्नी को अधिकार था कि वह ऐसे पति को मोक्ष (तलाक) देकर दूसरा पति स्वीकार करे। शुंग वंश के समय पत्नी पर यह अनुग्रह किया गया कि ऐसे पति की सेवा न करने वाली स्त्री का पति त्याग न करे। मनुस्मृति में पति के साथ एक बड़ी उदारता दिखायी गयी है कि उसके उन्मत्त, पतित या क्लीब होने पर भी पत्नी उसे छोड़ नहीं सकती, किन्तु यदि पत्नी पति के साथ एक वर्ष से अधिक द्वेष रखे तो पति को उसका अलंकारादि दाय छीन कर उसका त्याग कर देना चाहिए (९।७७)। जो स्त्री द्यूतादि व्यसनग्रस्त, मदिरोन्मत्त या रुग्ण पति की सेवा न करके उसका अपमान करती है, पति उससे अलंकार छीन कर उसका तीन महीने के लिए त्याग करे (मनु ९।७८)। पत्नी के मद्यप, दुःशील, प्रतिकूल, रुग्ण, हिंस्र तथा अपव्ययी होने पर पति को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। स्त्री बन्ध्या हो तो आठवें वर्ष, उस की सन्तानें पैदा होकर मर जाती हों तो १०वें वर्ष, लड़कियाँ ही उत्पन्न होती हों तो ११वें वर्ष तथा अप्रियवादिनी होने पर पति को एकदम दूसरा विवाह कर लेना चाहिए (मनु ९।८०-८१)।

पुरुषों को अधिवेदन या दूसरे विवाह की इतनी सरल छूट देने का, स्त्रियों की स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। कौटिल्य के समय तक दोनों के अधिकारों में कोई

विशेष अन्तर नहीं था। स्त्री नपुंसक और पतित पति को छोड़ सकती थी। मनुस्मृति में पत्नी से यह अधिकार छीन लिया गया और साथ ही पति को दूसरा विवाह करने की खुली छूट दे दी गयी। प्रायः यह कहा जाता है कि दूसरे विवाह का अधिकार स्मृतिकारों ने पुत्र न होने की दशा में ही दिया है, किन्तु मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट है कि अन्य अनेक अवस्थाओं में, स्त्री के अप्रियवादी होने की दशा तक में, पति को पुनर्विवाह का अधिकार है। इस का परिणाम पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों के लिए घातक हुआ। पुरुष एकपत्नीव्रत के उच्च आदर्श को भूलने लगे और स्त्रियों की दशा जो उस समय से गिरनी शुरू हुई, वह मध्यकाल में निरन्तर गिरती गयी।

गुप्त युग में स्त्रियों का पुनर्विवाह, पुनर्भू का स्वरूप :

प्राचीन काल से चले आने वाले स्त्रियों के अधिकारों के उपर्युक्त अपहरण को बाद के अनेक स्मृतिकारों ने स्वीकार नहीं किया। गुप्त युग के स्मृतिकार नारद ने पति के नपुंसक होने की दशा में पत्नी को दूसरे विवाह का अधिकार दिया।[७] गुप्तकाल में स्त्रियाँ अपने पतियों को छोड़ सकती थीं। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त की पत्नी ध्रुवस्वामिनी ने अपने पति को छोड़ कर चन्द्रगुप्त के साथ विवाह किया।[८] मध्यकाल में कलियुग के लिए प्रामाणिक मानी जाने वाली पराशरस्मृति (४।३०) ने भी पति के लापता, मृत, क्लीब, पतित और संन्यासी होने पर पहले पति को छोड़कर दूसरे पति के साथ विवाह की अनुमति दी।[९] किन्तु हिन्दू स्त्रियों की स्थिति इतनी गिर चुकी थी कि वे अपने अधिकारों का उपयोग करने में असमर्थ हो गयीं। स्त्रियों के पुनर्विवाह के विरुद्ध हिन्दूसमाज में प्रबल लोकमत उत्पन्न हो गया। इस लोकमत की प्रबलता का अनुमान इसी एक तथ्य से हो सकता है कि विधवा विवाह कानून को पास हुए एक शताब्दी से अधिक समय हो गया है, किन्तु हिन्दू समाज में विधवाओं की संख्या अभी तक यथापूर्व है और इनका पुनर्विवाह बहुत कम होता है।

गुप्त युग तक स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर सकती थीं, इसका प्रबल प्रमाण नारद का पुनर्भू स्त्रियों का विस्तृत वर्णन है। पुनर्भू या अन्यपूर्वा स्त्री उसे कहते हैं जो एक पति से

७ अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्रीक्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति॥ (नारद)

८ विशेष विस्तार के लिए देखिए—वासुदेव उपाध्याय का गुप्त साम्राज्य का इतिहास।

९ परा० स्मृ० ४।३०, नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
यह श्लोक नारद ५।९७ व अग्निपुराण १२।६७।१०।१५४।५६ में पाया जाता है।

शादी करने के बाद, उसके मर जाने पर या किसी अन्य कारण से दुबारा (पुनः) विवाह करके दूसरे पति को प्राप्त करती है। पुनर्भू शब्द का अर्थ है जो दुबारा किसी व्यक्ति के साथ पत्नीत्व प्राप्त करे और अन्यपूर्वा का मतलब है पहले पति से भिन्न भर्ता से विवाह करने वाली स्त्री।[१०] नारद के मतानुसार (स्त्रीपुंस ५।४५) सात प्रकार की ऐसी (परपूर्वा) स्त्रियाँ हैं जिनकी एक पुरुष से शादी होने के बाद दूसरे पुरुष से शादी होती है। इनमें तीन प्रकार की पुनर्भू हैं और चार प्रकार की स्वैरिणी। तीन प्रकार की पुनर्भू स्त्रियों में पहली वह है जो अक्षतयोनि है, किन्तु विवाह संस्कार से दूषित है। इनको दुबारा संस्कार हो सकने के कारण पुनर्भू कहते हैं (मि० मनु० ९।१७६, वि० १५।८)। देश धर्म का विचार करके पुरुषों द्वारा जो कन्या किसी को दी जाती है, किन्तु वह (अपनी इच्छा से) नियम भंग करके (व्यभिचार द्वारा) दूसरे पति के पास चली जाती है, उसे दूसरे प्रकार की पुनर्भू कहते हैं। तीसरी पुनर्भू वह है जो (पति के मरने पर) देवरों के न होने पर मृत व्यक्ति के सवर्ण और सपिण्ड पुरुष को दी जाय। चार प्रकार की स्वैरिणियां ये हैं—(१) पति के जीवित होने पर, उसकी चाहे सन्तान हो या न हो, वह कामवश दूसरे के पास जाती है। (२) जो अपने विवाहित पति को छोड़कर दूसरे के घर चली जाय और फिर पति के घर में वापस आ जाय। (३) पति के मरने पर देवर आदि के साथ पत्नी रूप में रहने वाली स्त्री। (४) रक्षा की इच्छा से आयी हुई, पैसे से खरीदी हुई या भूख-प्यास से सतायी हुई जो स्त्री "मैं तेरी हूँ" यह कहते हुए किसी पुरुष के पास आये (स्त्रीपुंस ५।४५)। नारद के मत में पहली पुनर्भू क्रमशः बाद की पुनर्भू स्त्रियों की अपेक्षा अधिक अच्छी है। नारद की इस विस्तृत भेदशृंखला को विश्वरूप (याज्ञ० १।६७) बिलकुल बेकार समझता है क्योंकि उसके समय तक पुनर्भू के विवाह की प्रथा बिल्कुल बन्द हो चुकी थी। पूर्व मध्ययुग के स्मृतिकारों ने पुनर्भू स्त्रियों का उल्लेख बड़ी निन्दा और तिरस्कार के साथ किया है। स्मृतिचन्द्रिका (खण्ड १ पृ० ७५) में कश्यप तथा बौधायन द्वारा गिनाई गई पुनर्भू स्त्रियों का उल्लेख है। इनमें अधिकांश अक्षतयोनि से सम्बन्ध रखती हैं। बौधायन तो इनके विषय में इतना ही कहता है कि इन्हें ग्रहण न करे, किन्तु कश्यप कहता है कि ग्रहण किये जाने पर ये कुल को आग की तरह से जला देती हैं।

पुनर्भू से उत्पन्न होने वाले पुत्र को पौनर्भव पुत्र कहते थे और उसके पति को पौनर्भव पति कहा जाता था। स्त्रियों के पुनर्विवाह होते थे, इसका प्रबल प्रमाण यह है कि अनेक स्मृतियों में दायभाग में पौनर्भव पुत्रों की चर्चा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका दर्जा नीचा है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१९-२०), गौतम धर्मसूत्र (१८।२), बौधायन (२।२।३१),

१० वाचस्पत्य कोश पृ० ४३६३—

पुनर्भू स्त्री, पुनर्भवति जायात्वेन।

एकेन व्यूढायां पुनरन्यगृहीतायाम् भार्यायाम्।

महाभारत (१।१२०।३५-३६), मनु (६।१६०), याज्ञवल्क्य (२।१३।४), और नारद १३।४५) इन पुत्रों का उल्लेख करते हैं तथा इन्हें हीन दृष्टि से देखते हैं।

पुनर्भू के सम्बन्ध में उपर्युक्त स्थलों को ध्यानपूर्वक देखने से यह ज्ञात होगा कि वैदिक युग में तथा धर्म सूत्रों के समय में दूसरी शती ई० पू० तक स्त्रियाँ पति के विदेश जाने पर, जातिभ्रष्ट होने, भयंकर अपराधी होने, नपुंसक, संन्यासी और मृत होने की दशा में दूसरा विवाह कर सकती थी। मनु के समय से स्त्रियों का पुनर्विवाह निन्दित समझा गया। किन्तु नारद के समय तक स्त्रियों के पुनर्विवाह बुरे समझे जाने पर भी प्रचलित थे। स्त्रियों का पुनर्विवाह बन्द होने के वही कारण थे, जिन कारणों से विधवा विवाह का निषेध हुआ। इनकी अन्यत्र विवेचना की गयी है। इस समय स्त्रियों की स्थिति किस हद तक गिर गयी थी यह इस बात से जाना जा सकता है कि कौटिल्य के समय (४थी शताब्दी ई० पू० के अन्त में) पति पत्नी को तीन बार से अधिक बांस की खपची या रस्सी से प्रहार करता था या थप्पड़ मारता था, तो पत्नी पति के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा चला सकती थी। आज यदि यह अधिकार हिन्दू पत्नियों को प्राप्त हो जाय तो न जाने कितने पतियों को न्यायालय में उपस्थित होना पड़े। याज्ञवल्क्य के समय से स्त्री का परम धर्म पति के वचन का पालन हो गया है।[११]

पुरुषों को पुनर्विवाह तथा बहुविवाह की सुविधा देने से स्त्रियों के लिए भीषण दुःखों और अत्याचारों का सूत्रपात हुआ। दूसरी स्त्री के आ जाने पर पहली स्त्री की क्या दशा होती है, इसे शब्दों में पूर्णरूप से प्रकट करना असंभव है। सौतिया डाह पहली स्त्री के जीवन को नरक बना देता है। अधिकांश घरों में पहली स्त्रियाँ बाद की स्त्रियों की दासियाँ बनकर ही अपना जीवनयापन कर सकती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिए, चाहे उनके पति मर गये हों या जीवित हों, याज्ञवल्क्य ने इहलोक तथा परलोक में कीर्ति प्राप्त करने का साधन यही बतलाया है कि उन्हें किसी दूसरे व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहिए, किन्तु वही याज्ञवल्क्य पतियों के लिए सर्वथा भिन्न व्यवस्था करते हैं। पत्नी को तो पति के मरने पर भी उसका ध्यान करना चाहिए किन्तु पति को पत्नी के मरते ही दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। स्त्री के अधिकारों का यह कितना क्रूर उपहास है।[१२]

मध्यकाल में स्त्री की अवस्था मनुप्रतिपादित उत्तम साथी के उच्च धरातल से गिर कर दासी तक पहुँच गयी।[१३] मनु ने पत्नी को यह आदेश दिया था कि चाहे उसका पति दुःशील, परस्त्रीगामी, गुणहीन क्यों न हो, पत्नी को उसकी देवता के समान

[११] याज्ञ० १।७७—स्त्रीभिः भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः।

[१२] याज्ञ०१।८९—दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद् विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥

[१३] व्यास स्मृति २।२७—दासीवदिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत् ॥

पूजा करनी चाहिए।[१४] किन्तु पराशरस्मृति ने यहाँ तक व्यवस्था दे डाली कि जो पत्नी दरिद्र, रोगी या धूर्त पति का अपमान करती है वह बार-बार कुत्ती तथा सूअरी होती है।[१५] स्त्रियों के लिए पति के साथ सती होने के आदर्श का गौरव बढ़ने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पत्नी को न तो पति की जीवितावस्था में और न उसके मरने के बाद ही द्वितीय विवाह का अधिकार रहा। सती प्रथा ने पति के मरने के बाद अधिकतर अवस्थाओं में पत्नी को जबरदस्ती सती होने पर बाध्य किया। अकबर ने इस कुरीति को दूर करना चाहा, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका। स्त्रियाँ जबरदस्ती चितारोहण से बचने के लिए मुसलमान हो जाती थीं। ऐसी सामाजिक स्थिति में तलाक की कल्पना भी सर्वथा विस्मृत हो गयी और यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया कि हिन्दूधर्म में विवाह एक पवित्र बन्धन है और उसमें तलाक संभव नहीं है।

हिन्दू समाज के उच्चवर्गों में शास्त्रों द्वारा तलाक की प्रथा का सर्वथा निषेध होने पर भी नीची जातियों में रिवाज के तौर पर तलाक पुराने जमाने से चला आता है। १९११ की भारत की जन गणना रिपोर्ट में तलाक के सम्बन्ध में आधुनिक स्थिति का यह चित्र खींचा गया है—"कट्टर हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानते हैं और इस सम्बन्ध का भंग नहीं किया जा सकता। एक व्यभिचारिणी स्त्री से उसका दर्जा छीना जा सकता है, उसे जाति से बाहर किया जा सकता है, लेकिन तलाक असंभव है। किन्तु उत्तर भारत की नीची जातियों में तथा दक्षिण भारत की ऊंची एवं नीची जातियों दोनों जातियों में, विशेषत: जहाँ 'सम्बन्धम्' विवाह प्रचलित है, तलाक पाया जाता है। उत्तरी मलाबार में, जहाँ विवाह का बन्धन बहुत पक्का है, कुछ व्यक्ति अपने वैवाहिक साथी का दो-तीन बार परिवर्तन करते हैं। कोरवा जाति में सात पति करने वाली स्त्री की बड़ी प्रतिष्ठा होती है। विवाहों और धार्मिक संस्कारों में वह अगुआ बनती है। बडगा स्त्री अपनी इच्छानुसार जितनी बार चाहे तलाक की बड़ी सरल विधि से पति बदल सकती है। कादर, कलैयन और पानारी जातियों में भी यही दशा है। मध्य प्रान्त के सम्बन्ध में मार्टिन ने सूचना दी है "जहाँ स्त्रियों की अधिक माँग है वहाँ उन्हें अपना पति चुनने की पर्याप्त स्वतंत्रता है और होशंगाबाद के जदमों जैसी उच्च जाति (जो अन्तर्विवाही राजपूतों की एक शाखा है) के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कई बार एक स्त्री के ९ या १० तक पति होते हैं। छत्तीसगढ़ में स्त्रियों को प्रायः पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह एक पति के

[१४] मनु ५।१५४—विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥

[१५] पराशर स्मृति ४।१६—
दरिद्रं व्याधितं धूर्तं भर्तारं यावमन्येत।
सा शुनी जायते मृत्वा सूकरी च पुनः पुनः॥

बाद दूसरे पति बदल लें। बहुत सी अवस्थाओं में पहले विवाह के विच्छेद के लिए पति की स्वीकृति या अनुमति आवश्यक समझी जाती है। इन जातियों में पुनर्विवाह का नियम तलाक के रिवाज को स्वीकार करता है। पुराने पति को विवाह का खर्च लौटा दिया जाता है और नया पति इस अवसर पर जाति को एक भोज देता है। इस भोज को "मरती-जीती" का भोज कहते हैं। इसका यह मतलब है कि पत्नी पहले पति के लिए मर गयी और नये पति के लिए जिन्दा हो गयी है। कई बार पत्नी को दूसरा विवाह करने के लिए 'छोड़-चिट्ठी' (अपने साथ सम्बन्ध को छोड़ कर दूसरे के साथ विवाह करने का लिखित अनुमति-पत्र) दी जाती है। पत्नी इस चिट्ठी से पहले पति को छोड़ सकती है। कुछ जातियों में पतियों द्वारा सहवास त्याग (Desertion) पर पत्नी को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जाती है।

"बड़ौदा प्रदेश में सभी जातियों में तलाक की अनुमति है, किन्तु इस का प्रचलन प्रायः नीची जातियों में ही है। आसाम के खासियों में तलाक बहुत ही सामान्य बात है। नेपाल में एक नेवार औरत अपने पति से असन्तुष्ट होने पर उसे किसी भी समय तलाक दे सकती है। अपने प्रस्थान की सूचना के चिह्न के रूप में वह अपने बिस्तर पर दो सुपारियाँ छोड़ जाती है। किन्तु वह स्त्री जब चाहे अपने पहले पति के पास लौट सकती है और परिवार का भार संभाल लेती है। नेपाल की गुरुंग जाति में तलाक की खुली अनुमति है और तलाक दी हुई स्त्री दुबारा पूरी विधि के साथ शादी कर सकती है। विधवाएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। जहाँ तलाक आसानी से प्राप्त हो जाता है वहाँ स्त्रियों को प्रायः पुनर्विवाह से नहीं रोका जाता, किन्तु संभलपुर की ओर गोंडों में पहले यह नियम था कि स्त्री मुखियों को कुछ धन देकर दूसरा विवाह कर सकती थी। पंजाब के कई ज़िलों में स्त्रियों की कमी है, वहाँ स्त्रियाँ बाहर से खरीदी जाती हैं और नाममात्र की विधि के साथ ब्याह दी जाती हैं। कई बार इस तरह स्त्री खरीदने वाले को अपना सौदा पसन्द नहीं आता, वह उस स्त्री को कुछ कम दाम पर किसी और को दे देता है। जम्मू के पहाड़ों में, कुछ जातियाँ स्त्री को अपनी इच्छानुसार पति बदलने की आज्ञा देती हैं बशर्ते कि नया पति पहले पति को उचित धनराशि प्रदान करे।[१६]

वर्तमान समाज में तलाक

अदालतों ने, विशेष रूप से बम्बई व कलकत्ता हाईकोर्टों ने, विभिन्न जातियों में रिवाज द्वारा होने वाले इन पुनर्विवाहों की वैधता स्वीकार की है।[१७] उन के फैसलों के अनुसार शूद्रों में इसका अधिक रिवाज है।[१८] किन्तु उच्च जातियों में इनका रिवाज कम

१६ भारत की जनगणना रिपोर्ट १९११, खण्ड १, भाग १, पृ० २४५

१७ सब्द सिंगम् बनाम मुख्बन १७ ब. ४७६; जानकी बनाम सखाजी १६ कल ६२७

१८ रैवम्बर बनाम उमेशंकर १० बं हा० को० रि० ३८१

नहीं है।[१९] अहमदाबाद के सांभपुरा ब्राह्मणों में तलाक प्रचलित है। उ० प्र० के धोबियों और दक्षिण के लिंगायत बनियों में तलाक दिये जाते हैं।[२०]

बम्बई प्रान्त में ऐसे विवाहों का विशेष प्रचलन है। स्त्रियाँ पहला पति जीवित होते हुए अथवा विधवा होने पर दूसरा विवाह कर सकती हैं। महाराष्ट्र में इन विवाह को 'पाट' कहते हैं। पाट निम्न कारणों से किया जाता है—

(१) **जाति की विभिन्नता या गोत्र की समानता**—यदि कन्या के युवती होने या बच्चा होने से पहले विजातीयता या सगोत्रता का पता चल जाए तो पति, पत्नी को छोड़ चिट्ठी दे देता है और पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है। (२) **नपुंसकता**—पति की नपुंसकता का ज्ञान होने पर पंचायत की अनुमति से पत्नी की दूसरी शादी हो जाती है। (३) **पारस्परिक सहमति**—जब तलाक पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है, उस समय पति पत्नी के गले की माला या आभूषण के दो टुकड़े करता हुआ उसे छोड़-चिट्ठी दे देता है।[२१] (४) **दुर्व्यवहार**—तलाक देने का कारण कई बार यह भी होता है कि पति-पत्नी के साथ बुरा बर्ताव करता है और उसे कष्ट देता है। स्त्री के पुनर्विवाह को विधवा विवाह की अपेक्षा अधिक बुरा समझा जाता है। इस विवाह से उनकी सामाजिक स्थिति नीची हो जाती है। ऐसी स्त्रियों को किसी के विवाह के समय उपस्थित नहीं होने दिया जाता तथा पर्वों पर वे भोजन आदि नहीं बनातीं।[२२] पहले पति की सम्पत्ति पर उनका अधिकार जाता रहता है और पहले पति से उत्पन्न बच्चे भी उनसे छिन जाते हैं।[२३] किन्तु पुनर्विवाह से उत्पन्न बच्चे जायज माने जाते हैं और सम्पत्ति में उन्हें विवाह द्वारा परिणीत स्त्रियों के बच्चों के तुल्य अधिकार मिलता है।[२४]

विवाह विच्छेद की कानूनी व्यवस्था की मांग

१९५५ का हिन्दू विवाह कानून पास होने से पहले वर्तमान समय में हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार एवं अविच्छेद्य बन्धन था। हिन्दूसमाज के निम्न वर्ग में ऊपर बताई जातियों में ही रिवाज के आधार पर तलाक की व्यवस्था थी, किन्तु उच्च वर्ग में तलाक की कोई व्यवस्था नहीं थी। बीसवीं शताब्दी में भारत में समाज सुधार के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप जो अभूतपूर्व नारी-जागरण तथा नवीन सामाजिक चेतना

१९ केसरी बनाम सारधन ५ ना० बं० प्रा० हा० को० रि० ९४
२० वीरसंगप्पा बनाम रुद्रप्पा।
२१ स्टील—ला आफ कास्ट्स, पृ० १६६
२२ मार्ले का डाइजेस्ट, पृ० २८९, श्री बैनर्जी द्वारा उद्धृत पृ० २४६
२३ स्टील—वही, १६६ व ३६४-६५
२४ वही, पृ० १७६-३७७

उत्पन्न हुई, उसके परिणामस्वरूप हिन्दू विवाह में तलाक की माँग कई कारणों से की जाने लगी। पहला कारण स्त्री जाति के साथ समान व्यवहार की आकांक्षा थी। हिन्दू नर-नारियों के वैवाहिक अधिकारों में विषमता स्त्रियों के प्रति अन्यायमूलक थी। उपर्युक्त कानून पास होने से पहले हिन्दू समाज में पुरुषों को यथेच्छ विवाह (अधिवेदन) करने का अधिकार था, अतः यदि किसी पुरुष को पहली पत्नी में कोई दोष प्रतीत होता था, उससे वह किसी कारण सन्तुष्ट नहीं था, तो वह दूसरा विवाह कर सकता था। इस प्रकार, विवाह उसके लिए अविच्छेद्य बन्धन नहीं था। किन्तु नारी एक बार विवाहित होने पर किसी भी प्रकार दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं रखती थी, वह अपने घोर दुःखमय विवाहों से मुक्ति किसी भी दशा में नहीं पा सकती थी। इस प्रकार दोनों के वैवाहिक अधिकारों में उग्र वैषम्य था। इसे दूर करने के लिए नर-नारी पर समान रूप से एक-विवाह (Monogamy) का बंधन लगाने तथा दुःखमय विवाहों से मुक्ति पाने के लिए हिन्दूसमाज में तलाक की व्यवस्था की प्रबल माँग की जाने लगी। यह माँग देश के जागृत महिला वर्ग की ओर से विशेष रूप से की गयी। इसका दूसरा कारण विवाह को सुखमय बनाना तथा उसके मूल उद्देश्यों को पूरा करना था। पहले यह बताया जा चुका है कि विवाह का प्रधान उद्देश्य सन्तानोत्पादन करना तथा जीवन को सुखमय बनाना है। यदि पति नपुंसक हो, सन्तान उत्पन्न न कर सकता हो, लापता हो जाय, और क्रूरता और दुर्व्यवहार के कारण पत्नी के प्राणों को संकट में डाल दे, तो इस दशा में विवाह के प्रधान प्रयोजन पूरे नहीं होते, पत्नी के लिए दाम्पत्यजीवन नरकतुल्य हो जाता है। इस विषम स्थिति में उसका उद्धार करने के लिए तथा वैवाहिक जीवन के प्रधान प्रयोजनों को पूरा करने की दृष्टि से तलाक की माँग की जाने लगी। इसके परिणामस्वरूप १६५५ के हिन्दू विवाह कानून द्वारा इसकी व्यवस्था की गयी है।

हिन्दू विवाह कानून की तलाक सम्बन्धी व्यवस्था

इस कानून के खण्ड (Section) १३ में वर्तमान हिन्दू समाज में पहली बार तलाक की व्यवस्था की गयी है। इससे पहले कानूनी स्थिति यह थी कि एक बार संपन्न हुए हिन्दू विवाह को किसी प्रकार भंग नहीं किया जा सकता था, धर्म के परिवर्तन से, जाति से च्युत और बहिष्कृत होने से, किसी एक पक्ष के व्यभिचाररत होने से, पति द्वारा पत्नी को छोड़ देने या पत्नी के वेश्या बन जाने पर भी हिन्दू विवाह भंग नहीं हो सकता था।[२५] इस कानून ने यह स्थिति बदल दी है। अब धारा १३ के अनुसार कोई भी विवाह, चाहे वह इस अधिनियम के पास होने से पहले हुआ हो या बाद में हुआ हो, पति या पत्नी में से

२५ एडमिनिस्ट्रेटर जनरल आफ मद्रास का मामला (१८८६) ६ मद्रास ४६६, १८ कलकत्ता २६४, नारायण ब० त्रिलोक (१६०७) २६ इलाहाबाद ४

किसी भी अदालत में प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने पर निम्नलिखित कारणों से भंग किया जा सकता है—

(१) **व्यभिचार**—यदि दोनों में से कोई एक पक्ष व्यभिचाररत रहते हुए जीवन व्यतीत करता है (Lives in adultory) (धारा १)। इसका यह अभिप्राय है कि यदि पति या पत्नी में से कोई एक बार ऐसा कार्य करता है तो दूसरा पक्ष इस आधार पर तलाक की माँग नहीं कर सकता, ऐसी दशा में वह केवल दूसरे पक्ष से न्यायिक पार्थक्य (Judicial Seperation) की ही माँग कर सकता है।[२६] तलाक की माँग के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि दूसरा पक्ष निरन्तर व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रहा है। पुराने हिन्दू कानून के अनुसार व्यभिचार के कारण पत्नी के वेश्या बन जाने पर भी विवाह सम्बन्ध भंग नहीं होता था, ऐसी दशा में विवाह का प्रयोजन विफल हो जाता था। अतः इस कानून में किसी एक पक्ष के कुछ समय तक निरन्तर व्यभिचारपूर्ण जीवन बिताने की दशा में दूसरे पक्ष को तलाक का अधिकार दिया गया है। व्यभिचार का आशय पति-पत्नी में से एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से यौन सम्बन्ध स्थापित करना है। न्यायालय में व्यभिचार विषयक प्रत्यक्ष साक्षी उपस्थित करना प्रायः संभव नहीं होता, अतः इस विषय में न्यायालय ऐसे प्रमाण (Circumstancial evidence) को भी स्वीकार कर लेते हैं, जो इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हों कि कोई पक्ष व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रहा है। उदाहरणार्थ, यदि कोई विवाहित स्त्री अपने घर से चार-छः दिन तक निरन्तर गायब रहती है, किसी अन्य तथा पति के कुल से सर्वथा अपरिचित पुरुष के साथ देखी जाती है, वह इसके साथ विभिन्न स्थानों में अपने देखे जाने का कोई समुचित कारण नहीं दे सकती है, तो यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसका उस पुरुष के साथ अवैध सम्बन्ध है और वह उसके साथ व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रही है।[२७]

(२) **धर्मपरिवर्तन**—यदि दोनों पक्षों में कोई एक हिन्दू धर्म को छोड़ कर इस्लाम, ईसाइयत, पारसी, यहूदी आदि किसी अन्य धर्म को ग्रहण करता है तो दूसरे पक्ष को विवाहविच्छेद पाने का अधिकार है। बौद्ध, जैन तथा सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के ही अंग समझे जाते हैं, अतः किसी हिन्दू के बौद्ध बन जाने पर दूसरे पक्ष को विवाह विच्छेद की माँग करने का अधिकार नहीं है। इस कानून से पहले धर्मपरिवर्तन से भी हिन्दूविवाह का विच्छेद संभव नहीं था। इस कानून में यह व्यवस्था इस आधार पर की गयी है कि दाम्पत्य प्रेम को बनाये रखने के लिए धर्मपरिवर्तन करना

२६ त्रिलोकसिंह व मुसम्मात विमला देवी, आ० ई० रि० १९५९, जम्मू तथा कश्मीर ७२।

२७ काशीप्रसाद सक्सेना—हिन्दू मैरिज एक्ट, २४७

ठीक नहीं है, यदि कोई पक्ष धर्मपरिवर्तन कर लेता है तो हिन्दू बने रहने वाले दूसरे पक्ष को तलाक की माँग का अधिकार होना चाहिए। १८६७ के **विवाह विच्छेद कानून** के अनुसार हिन्दू या मुसलमान को ईसाई बनाने पर यह अधिकार दिया गया था कि धर्म परिवर्तन के बाद यदि दूसरा पक्ष उसे छोड़ देता है तो वह दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति के लिए उसके विरुद्ध अभियोग चला सकता है। इसके बाद भी यदि वह उसका परित्याग करता है तो न्यायालय इस विवाह के भंग होने की घोषणा कर सकता है। यही अधिकार हिन्दुओं को इस कानून द्वारा किसी एक पक्ष द्वारा धर्म परिवर्तन की दशा में दूसरे पक्ष को प्रदान किया गया है।

(३) **पागलपन**—यदि पति-पत्नी में से कोई एक निरन्तर तीन वर्ष से ऐसे मानसिक पागलपन से पीड़ित है जिसकी चिकित्सा करना संभव नहीं है, तो दूसरा पक्ष उसे तलाक दे सकता है। यदि पागलपन चिकित्सा से ठीक हो सकता है तो तलाक नहीं दिया जायगा। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि कोई पक्ष विवाह के समय ही पागल हो तो यह विवाह इस कानून के खण्ड १२ बी० के अनुसार शून्यकरणीय या खण्डित (Voidable) घोषित किया जा सकता है। इसका यह अभिप्राय है कि इस विवाह को न हुआ समझा जायगा। यदि ऐसा पागलपन दो वर्ष से हो तो इसके लिए न्यायिक पार्थक्य (Judicial Separation) का आवेदन-पत्र दिया जा सकता है।

(४) **कोढ़ की बीमारी**—यदि कोई पक्ष तीन वर्ष से असाध्य एवं उग्र (Incurable and virulent) कोढ़ से पीड़ित हो तो दूसरा पक्ष तलाक के लिए आवेदन-पत्र दे सकता है।

(५) **संक्रामक यौन रोग**—विवाहविच्छेद की माँग एक पक्ष इस आधार पर भी प्रस्तुत कर सकता है कि दूसरे पक्ष को ऐसा यौन रोग है, जिसकी छूत उसे भी लग सकती है तथा उसे ऐसा रोग आवेदन-पत्र देने से तीन वर्ष पहले से था। इस दशा में न केवल दाम्पत्य सम्बन्ध संभव नहीं है, अपितु दूसरे पक्ष के इस रोग से पीड़ित होने की आशंका है, अतः इस दशा में तलाक की व्यवस्था की गयी है।

(६) **संन्यासी होना**—यदि कोई पक्ष सांसारिक जीवन का त्याग करके संन्यासी हो जाता है तो दूसरा पक्ष तलाक पाने का अधिकार रखता है। इसका यह कारण है कि संन्यास का अर्थ सांसारिक कर्तव्यों की दृष्टि से व्यक्ति का समाप्त हो जाना या उसकी दीवानी मृत्यु (Civil Death) है। इससे दूसरे पक्ष के साथ वैवाहिक संबंध वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे मृत्यु से समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में नारद, पराशर आदि प्राचीन शास्त्रकारों ने स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार दिया था। इस कानून में इसी का अनुसरण किया गया है। संन्यासी होने का अभिप्राय केवल भगवे वस्त्र धारण करना नहीं है, किन्तु इस आश्रम में प्रवेश के लिए आवश्यक सभी शास्त्रीय

विधि-विधानों का पालन करना है।[२७] शूद्र को संन्यासी होने का अधिकार नहीं है, अतः वह इस आधार पर तलाक नहीं ले सकता। वैरागी संन्यासी होते हुए भी विवाह कर सकते हैं।[२८] अतः इस बात में सन्देह है कि कोई व्यक्ति वैरागी सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाय तो दूसरा पक्ष उससे इस आधार पर तलाक ले सकता है।

(७) **लापता होना**—यदि दोनों में से किसी पक्ष का कोई व्यक्ति सात वर्ष तक दूसरे पक्ष को या उसके ऐसे सम्बन्धियों को नहीं मिलता, जिन्हें यह समाचार मिलना चाहिए था, तो इस दशा में यह मान लिया जाता है कि लापता व्यक्ति की मृत्यु हो चुकी है। इस दशा में दूसरे पक्ष को तलाक पाने का अधिकार दिया गया है। यह व्यवस्था प्राचीन काल में पराशर ने की थी, हिन्दू विवाह के कानून की यह धारा इंग्लैण्ड के १६५० के विवाह कानून (Matrimonial Causes Act) से ग्रहण की गयी है।

(८) **पृथक् होने के बाद सहवास न करना**—पति-पत्नी में से जब कोई पक्ष अदालत से पृथक् रहने की आज्ञा प्राप्त कर लेता है तो इससे उनका वैवाहिक सम्बन्ध भंग नहीं होता है। यदि इसके बाद उनमें पुनः समझौता हो जाता है और वे इकट्ठा रहने लगते हैं तो उनके पार्थक्य की अदालती आज्ञा रद्द की जा सकती है (१०वीं धारा)। यदि ऐसी आज्ञा बिना रद्द करवाये पति-पत्नी इकट्ठे रहने लगते हैं तो ऐसी आज्ञा तलाक का कारण नहीं बन सकती है। किन्तु यदि ऐसी आज्ञा प्राप्त करने के दो वर्ष बाद तक भी वे सहवास नहीं करते हैं तो इस आधार पर तलाक की माँग की जा सकती है। इसमें वादी को तीन बातें सिद्ध करनी पड़ती हैं—(क) उसने प्रतिवादी के विरुद्ध कानूनी अलहदगी की आज्ञा अदालत से प्राप्त की है। (ख) ऐसी आज्ञा प्राप्त किये हुए दो वर्ष बीत चुके हैं। (ग) आज्ञा प्राप्त होने के बाद दोनों ने सहवास आरम्भ नहीं किया, सहवास का अर्थ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए पति-पत्नी का एक साथ रहना है।

(६) **दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति की आज्ञा का पालन न करना**—यदि दोनों पक्षों में से कोई पक्ष दूसरे पक्ष को दाम्पत्य सम्बन्ध से वंचित करता है और दूसरा पक्ष पहले पक्ष के विरुद्ध इस विषय में अदालत से दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति (Restitution of Conjugal Rights) की आज्ञा प्राप्त कर लेता है, किन्तु इस आज्ञा के बावजूद यदि दो वर्ष तक पहला पक्ष इसका पालन नहीं करता, तो दूसरा पक्ष इस आधार पर तलाक के लिए आवेदन पत्र दे सकता है। इसका कारण स्पष्ट है, पति-पत्नी दाम्पत्य जीवन बिताने के लिए विवाह-सूत्र में आबद्ध होते हैं, यदि इन दोनों में से कोई एक दूसरे को जान बूझकर दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने से वंचित करता है तो दूसरे को न्यायालय द्वारा इसे पाने का अधिकार है। यदि वह इस विषय में न्यायालय

२८ बलदेवप्रसाद ब० आर्य प्रतिनिधि सभा (१६३०) ५२ इला० ७८६

२६ श्री राघवदास ब० माइनर सरजू बम्मा १६४२ म० ४१२

की आज्ञा की अवहेलना करता है तो इसका यह अभिप्राय है कि वह दूसरे पक्ष के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं रखना चाहता है। इस दशा में वैवाहिक सम्बन्ध को बनाये रखने में कोई लाभ नहीं है, अतः इस कारण के आधार पर इस कानून में तलाक की व्यवस्था की गयी है।

पत्नी द्वारा तलाक प्राप्त करने के दो अन्य कारण—उपर्युक्त नौ कारणों के आधार पर पति-पत्नी समान रूप से अदालत में तलाक के लिए आवेदन-पत्र दे सकते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त दो कारण ऐसे हैं जिनके आधार पर केवल पत्नी विवाह-विच्छेद की माँग कर सकती है। **पहला** कारण एक से अधिक पत्नियों का जीवित होना है। इस कानून द्वारा एक-विवाह की व्यवस्था को हिन्दू समाज में कठोरतापूर्वक लागू किया गया है और एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह को दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। किन्तु इससे पहले के हिन्दू कानून में पुरुषों को बहुविवाह की खुली छूट थी, किसी कानून से ऐसे विवाहों को रद्द नहीं किया जा सकता था, अतः इन विवाहों के कारण कष्टमय जीवन बिताने वाली स्त्रियों को इस व्यवस्था से तलाक पाने का अधिकार दिया गया है। इसका सम्बन्ध इस कानून के पास होने से पहले किये गये बहुविवाहों से है, क्योंकि इस कानून के पास हो जाने के बाद कोई पक्ष दूसरे पक्ष के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। इस व्यवस्था के अनुसार तलाक पाने के लिए वादी को निम्नलिखित बातें सिद्ध करनी पड़ती हैं—(क) प्रतिवादी ने इस कानून के पास होने से पहले उसके साथ तथा किसी अन्य स्त्री या स्त्रियों के साथ विवाह किया है। (ख) आवेदन-पत्र देने के समय उसकी अन्य पत्नियाँ जीवित हैं। पत्नी द्वारा पति से तलाक लेने का **दूसरा** विशेष कारण पति द्वारा बलात्कार (Rape), गुदामैथुन (Sodomy) या पशुमैथुन (Bestiatity) का अपराधी होना है।

तलाक का आवेदन-पत्र देने की अवधि

हिन्दू विवाह कानून के खण्ड १४ के अनुसार कोई भी न्यायालय तलाक के किसी आवेदन-पत्र पर तब तक विचार नहीं कर सकता, जब तक कि आवेदन-पत्र देने के समय विवाह सम्पन्न हुए तीन वर्ष न व्यतीत हो चुके हों। यह व्यवस्था १९५४ के विशेष विवाह कानून की तथा इंगलैण्ड के १९५० के विवाह कानून की व्यवस्था से मिलती है। इसके अनुसार विवाह के आरम्भिक तीन वर्षों में तलाक का कोई आवेदन-पत्र नहीं दिया जा सकता। इसका उद्देश्य यह है कि पति-पत्नी विवाह के बाद फौरन तलाक न दें, तीन वर्ष तक एक-दूसरे के साथ मिलजुल कर रहने का और निभाव करने का प्रयत्न करें, तीन वर्ष ऐसा निभाव करने के बाद उनमें स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रीतिपूर्ण सम्बन्ध हो जायगा कि तलाक की संभावना बहुत कम हो जायगी।

विवाह के पहले तीन वर्षों में सामान्य रूप से तलाक का अधिकार न देते हुए

भी दो विशेष दशाओं में इसका आवेदन-पत्र देने का अधिकार इस कानून में स्वीकार किया गया है। पहली दशा असाधारण दुश्चरित्रता (Exceptional Depravity) की तथा दूसरी असाधारण कष्ट (Exceptional Hardship) की है। इन दोनों की कानून में कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी। सामान्य रूप से असाधारण कष्ट का यह अभिप्राय है कि नव वधू के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया जाय, इसके साथ पति व्यभिचारी अथवा पत्नी को छोड़ देने वाला हो। पत्नी का व्यभिचारपूर्ण सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न करना भी इसी प्रकार का कष्ट है। कष्ट का अभिप्राय शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक आदि सभी प्रकार के ऐसे कष्टों से है, जिनके आधार पर तलाक की माँग की जाती है। असाधारण दुश्चरित्रता का अभिप्राय प्रतिवादी द्वारा वादी के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध ऐसी दशा में यौन सम्बन्ध स्थापित करना है, जब वह यौन रोग तथा कोढ़ से पीड़ित हो। बोमैन ब. बोमैन के एक ब्रिटिश मामले में असाधारण कष्ट और दुश्चरित्रता के बारे में निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किए गये हैं—(१) पत्नी के लिए असाधारण कष्ट उस दशा में होता है जब पति व्यभिचाररत होने के साथ-साथ पत्नी का दूसरी स्त्री के लिए परित्याग करे अथवा उसके साथ क्रूर व्यवहार करे, केवल व्यभिचार असाधारण कष्ट नहीं है। (२) व्यभिचार के साथ इसका परिणाम अर्थात् पत्नी द्वारा अवैध सम्बन्ध से सन्तानोत्पादन भी असाधारण कष्ट है। (३) यदि पति विवाह के कुछ समय बाद ही साली से या घर की नौकरानी से अनुचित अवैध सम्बन्ध स्थापित करता है तो यह असाधारण दुश्चरित्रता है। मद्रास के मेघनाथ बनाम सुशीला (आ. इं. रि १९५७ म. ४२३) नामक मामले में उपर्युक्त ब्रिटिश मामले का अनुसरण किया गया है। उपर्युक्त दोनों कारणों के आधार पर किये जाने वाले तलाक के मामलों पर विचार करते हुए न्यायालय दो बातों का ध्यान रखेगा, पहली बात बच्चों की सुरक्षा और व्यवस्था की है। यदि इनके हितों को कोई आंच आती है तो तलाक के आवेदन-पत्र पर विचार नहीं हो सकता। दूसरी बात इसकी युक्तियुक्त संभावना है कि तीन वर्ष की अवधि समाप्त होने से पहले ही उनमें समझौता हो जायगा। न्यायालय को इस बात का प्रयास करना चाहिए। यदि इस बात की संभावना हो तो तलाक की प्रार्थना अस्वीकार कर दी जानी चाहिए।

पुनर्विवाह करने की प्रक्रिया

तलाक का आवेदन-पत्र स्वीकार होते ही दोनों पक्षों को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता है, इसके बाद एक वर्ष तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है (खण्ड १५)। इस अवधि के बीत जाने पर ही दोनों का विवाह-सम्बन्ध पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो जाता है और वे नया विवाह कर सकते हैं। एक वर्ष की यह अवधि जानबूझ कर रखी गयी है। इसका उद्देश्य लोगों को तलाक के लिए निरुत्साहित करना और नयी

शादी के लिए ही तलाक पाने की प्रवृत्ति को रोकना है।

जब हिन्दू विवाह कानून में तलाक की व्यवस्था का प्रस्ताव रखा गया था, उस समय रूढ़िवादी हिन्दुओं ने इसका इस आधार पर घोर विरोध किया था कि इससे समाज में तलाक की बाढ़ आ जायगी तथा अनैतिकता में घोर वृद्धि होगी। किन्तु हिन्दू विवाह कानून में इसकी व्यवस्थाएँ इतनी कठोर बनायी गयी है कि इसे कोई आसानी से प्राप्त नहीं कर सकता है। सामान्य रूप से विवाह के पहले तीन वर्षों में तलाक का कोई आवेदन-पत्र नहीं दिया जा सकता, तीन साल बाद आवेदन-पत्र देने पर विवाह के दीवानी मामले का फैसला होने में दो तीन वर्ष लगना मामूली बात है। इसके बाद पुनर्विवाह के लिए दोनों पक्षों को एक वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रकार तलाक प्राप्त करने में पाँच-छः वर्ष लग जाते हैं और भारी व्यय करना पड़ता है, अतः इस उपाय का अवलम्बन केवल वही लोग करते है, जो वास्तव में अत्यन्त दुःख में है। वस्तुतः तलाक की व्यवस्था ऐसे ही लोगों के लिए है, अतः अब तक हिन्दू समाज में तलाक की व्यवस्था का दुरुपयोग नहीं हुआ, इससे अनैतिकता में कोई वृद्धि नहीं हुई और भविष्य में इसकी कोई संभावना नहीं प्रतीत होती है।

अध्याय १०

बालविवाह

वैदिक युग में बालविवाह की पद्धति का अभाव

मध्ययुग से बीसवीं शताब्दी आरम्भ होने तक हिन्दू समाज में बालविवाह की प्रथा सार्वभौम थी। किन्तु प्राचीन वैदिक युग में इस पद्धति का प्रचलन नहीं था। उस समय के विवाहसम्बन्धी वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों से यह बात भली-भाँति पुष्ट होती है। बाद में आठ और दस बरस के और बहुत बार इससे भी कम आयु के और अनेक जातियों में गर्भस्थ बालक-बालिकाओं के विवाहों का प्रचलन हुआ तथा विवाह को गुड्डे-गुड़ियाओं का खेल बना दिया गया, किन्तु वेदों में इसकी कोई गन्ध तक नहीं है। प्राचीन वैदिक युग के लिए तो यह एक कल्पनातीत वस्तु थी। इस युग में विवाह तभी होता था जब वर (सोम) वधू की कामना करता था और वधू पति की इच्छा करती थी।[1] उस समय वर के माता-पिता वधू की तलाश करते थे और कन्या के माता-पिता वर को अपनी कन्या देते थे। युवक-युवती में प्रेम का उदय युवावस्था प्राप्त करने पर ही हो सकता है, बाल्यावस्था में नहीं। वेद में बार-बार वर-वधू द्वारा एक-दूसरे का चिन्तन करने तथा अपने मनों को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने और प्रेम प्राप्त करने का वर्णन है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१।६।१) में एक स्थान पर वधू वर से कहती है—"मैंने इस बात को जान लिया है कि तुम मेरा ध्यान करते हो और सन्तानोत्पत्ति के कार्य के लिए मुझे अपना सहयोग देने को प्रस्तुत हो"। वर वधू को इसका उत्तर देते हुए कहता है—"मैंने यह जान लिया है कि तुम मन से मुझे चाहती हो। सन्तान चाहती हो। हे युवती स्त्री, तुम मेरे पास आओ और हे पुत्र की कामना करने वाली, तुम सन्तान उत्पन्न करो (तैत्ति० उप० १।६।२)। अथर्ववेद के प्रीतिसंजनन (६।८६), अनुराधन (६।१०२।२), स्मर (६।१३१।१) सूक्तों से तरुण विवाह की प्रथा सूचित होती है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अश्विनी देवताओं (वर के माता-पिता) द्वारा विवाहों के संपन्न होने का उल्लेख है।

1. ऋ० १०।८५।६ 'सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्'। सायणाचार्य का भाष्य पत्ये शंसन्तीम्, पतिं कामयमानाम्, प्राप्तयौवनामित्यर्थः।

एक युवती कहती है—हे अश्विनौ ! युवा पति युवती के साथ गृह में निवास करता है (ऋ० १०।४४।११)। ऋ० २।३५।४ में जल की भाँति अत्यन्त निर्मल, सदाचारिणी, प्रसन्नवदना युवतियों को युवा पुरुष प्राप्त होने का वर्णन है।

वैदिक विवाह में दम्पती के जिन कर्त्तव्यों, दायित्वों एवं आदर्शों पर बल दिया गया है वे तरुण विवाह में ही पूरे हो सकते हैं। विवाह के मन्त्रों में दम्पती पाणिग्रहण, सप्तपदी तथा अन्य विधियाँ करते हुए जो मन्त्र पढ़ते हैं उनमें परस्पर प्रेम, सहयोग और यावज्जीवन एक दूसरे के अनुकूल रहने की प्रतिज्ञाएँ की गयी हैं। उनका आशय यदि वे न समझते हों तो सारी विवाह विधि एकदम ढोंग मात्र रह जाती है। विवाह के समय वधू को यह आशीर्वाद दिया जाता है कि तू श्वशुरालय में सास और ससुर पर रानी बनकर रह (ऋ० १०।८५।४३)। यह आशीर्वाद आठ दस बरस की ऐसी बालिका को नहीं दिया जा सकता, जो अपने आप को कठिनता से संभाल सकती है। यह अबोध बालिका श्वशुरालय को संभालने और शासन करने के दायित्व को किस प्रकार पूर्ण कर सकती है। यह कार्य केवल योग्य और शिक्षित युवती द्वारा ही संभव है। ऋग्वेद में विवाह के बाद के सहवास या सम्भोग के मन्त्र भी हैं (१०।८५।२७—२६, ३७)। बाल-विवाह के समर्थक कहते हैं कि सूर्या सूक्त विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का संकलन मात्र है, वस्तुतः सहवासविधि विवाह होने के कई वर्ष बाद होती थी और उस समय के मन्त्र इस सूक्त में जोड़ दिये गये हैं। किन्तु विवाह के समय पढ़े जाने वाले मन्त्र इस स्थापना का खण्डन करते हैं। अग्नि के सम्मुख वर, वधू को अविलम्ब सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपने पास बुलाता है (जैमिनीय गृह्यसूत्र २१।८)। विवाह के तीसरे दिन गर्भाधान का विधान है। यह कर्त्तव्य वर-वधू के युवा होने पर ही हो सकता है। विवाह होते ही वधू वर के घर आती है और घर के सारे काम-यज्ञादि को संभाल लेती है। पत्नी को पति के घर में प्रविष्ट होते हुए कहा जाता है कि तू इस घर में गृहस्थ के कार्य के लिए सदा जागरूक रह (ऋ० १०।८५।४६)।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों से वैदिक युग में बाल-विवाह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है। इन स्थलों में अर्भग तथा अर्भा शब्द का प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि अर्भा और अर्भग का अर्थ बालिका एवं बालक है। ऋ० १।११६।१ में अश्विनियों द्वारा अर्भग विमद को अर्थात् बालक विमद को पत्नी दिये जाने का वर्णन है। ऋ० १।५१।१३ में यह उल्लेख है कि इन्द्र ने कक्षीवान् को अर्भा अर्थात् बालिका वृच्या दी। किन्तु इन दोनों स्थलों पर अर्भग और अर्भा का अर्थ बालक और बालिका नहीं है। विमद को अर्भग कहने का आशय केवल इतना ही है कि वह अपने अन्य प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की अपेक्षा कम आयु का था। सायणाचार्य द्वारा वर्णित पौराणिक गाथा के अनुसार उसने युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को हरा कर वधू प्राप्त की थी। दूसरे स्थल में वृच्या को अर्भा का जो विशेषण दिया गया है, उसका कारण यह है कि कक्षीवान् की बड़ी आयु की

तुलना में कन्या की आयु बहुत छोटी थी।

वैदिक युग में बाल-विवाह न होने का एक प्रबल कारण यह था कि बालकों तथा बालिकाओं को शिक्षा के लिए कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था, उपनयन एवं विद्याध्ययन के बिना व्यक्ति शूद्र समझा जाता था। उपनयन संस्कार के साथ गुरु के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करने के बाद ही व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो सकता था। वेद का अध्ययन करने के लिए कम से कम १२ वर्ष का समय लगाना पड़ता था। उपनयन संस्कार प्रायः ८ वें वर्ष में होता था। इस हिसाब से २० वर्ष से कम आयु के पुरुष का विवाह असंभव था। अतः वैदिक व्यवस्था के अनुसार गृहस्थ आश्रम के लिए उपयुक्त वही व्यक्ति था जो युवा हो। "जो पुरुष यशोदायीन और ब्रह्मचर्य सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्यायुक्त, सुन्दर वस्त्रों वाला पूर्ण युवा होकर गृहस्थाश्रम में आता है वही मंगलकारी होता है" (ऋ० ३।८।४)। पुरुषों के ब्रह्मचारी रहकर वेदाध्ययन करने में किसी को संशय नहीं है, किन्तु कुछ लोग स्त्रियों के ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करने में सन्देह करते हैं। किन्तु अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य द्वारा कन्या युवा पति को प्राप्त करती है (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्)। वैदिक काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करती थीं। विश्ववारा (ऋ० ५।२८), अपाला (ऋ० ८।९१) तथा घोषा कक्षीवती (ऋ० १०।३९) विविध सूक्तों के मन्त्रों का दर्शन करने वाली हुई हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष का विवाह ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ही पूर्ण युवावस्था में होता था। बाद में स्त्रियों और पुरुषों के ब्रह्मचर्य व्रत एवं शिक्षा की उपेक्षा होने से ही बाल-विवाह आरम्भ हुआ।

गृह्यसूत्रों के आरम्भिक काल में हिन्दू समाज में तरुण विवाह प्रचलित रहा, किन्तु बाद में बाल-विवाह का थोड़ा बहुत प्रचलन होने लग गया। आश्वलायन, आपस्तम्ब तथा अन्य गृह्यसूत्रों में विवाह की विधियों का विस्तार से वर्णन है, किन्तु वर तथा वधू की आयु का कोई निश्चित निर्देश नहीं है। गृह्यसूत्रों में विवाह के बाद अविलम्ब गर्भाधान का वर्णन है। शांखायन (१।१७।४–५), पारस्कर और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में विवाह के बाद ही गर्भाधान की व्यवस्था है, इससे यह स्पष्ट है कि कन्या विवाह के समय युवती होती थी, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि पति-पत्नी घर आने पर तीन दिन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर चौथे दिन गर्भाधान करें, किन्तु लौगाक्षि (काठक) गृह्यसूत्र कुमारियों का ब्रह्मचर्य १० या १२ वर्ष ही बताता है और ११ वें या १३ वें वर्ष को विवाह की अवस्था बताता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इससे पहले के वैदिक साहित्य में आयु का कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता। यदि कन्याओं का उपनयन ८ या १० वर्ष में माना जाय तो कन्याओं का विवाह काल १८ या २० वर्ष होगा। किन्तु हिरण्यकेशी (१।१९।२) और गोभिल गृह्यसूत्र (३।४।६) में कहा गया है कि विवाह

के लिए नग्निका कन्या श्रेष्ठ होती है।[२] नग्निका शब्द की व्याख्या करते हुए गोभिल के आधुनिक भाष्यकार ने 'गृह्यसंग्रह' का यह मत उद्धृत किया है कि नग्निका उस कन्या को कहते हैं, जो ऋतुमती न हो। इसी टीकाकार ने एक दूसरे श्लोक में ऐसी कन्या को नग्निका बताया है जो पुरुषों के आगे भी लज्जा से अपने अंगों को न ढापती हो। अतः टीकाकारों के मत में नग्निका उस कन्या को कहते हैं जिसमें अभी तक लज्जा की वृद्धि उत्पन्न नहीं हुई। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र का टीकाकार मातृदत्त मैथुनार्ह को ही नग्निका समझता है।[३] वीरमित्रोदय में महाभारत का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें १६ वर्ष की कन्या को नग्निका बताया गया है। डा० भण्डारकर ने बताया है कि हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र को मौखिक परम्परा द्वारा सुरक्षित रखने वाले अनेक वैदिक ब्राह्मणों में तथा इस गृह्यसूत्र की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में "सजातां नग्निकां" के स्थान पर "सजातानग्निकां" पाठ है, अर्थात् 'अनग्निका' कन्या से ही शादी करनी चाहिए।[४] यदि इस कल्पना को छोड़ कर हिरण्यकेशी में नग्निका का ही पाठ माना जाय और उसका अर्थ छोटी-सी बालिका किया जाय तो इसके आगे ब्रह्मचारिणी

२ नग्निकान्तु वहेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्। ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्तु नग्निकाम्। अप्राप्तरजसा गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी। अव्यञ्जिता भवेत् कन्या कुचहीना च नग्निका॥

३ गोभिल गृ० सू० ३।४।६ में उद्धृत—यावन्न लज्जयांगानि कन्या पुरुषसन्निधौ योन्यादीन्यवगूहेत तावद्भवति नग्निका। मि० हिरण्य० गृ० सू० १।१९।२ नग्निकामासन्नार्तवाम्। तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका मैथुनार्हेत्यर्थः।

४ उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि नग्निका के अर्थ के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रियों में दो मत थे। पहले मत में नग्निका ऐसी कन्या को कहते थे जिसे नंगी रहने में लज्जा का अनुभव नहीं होता था, जिसने यौवन नहीं प्राप्त किया था, जिसको रजोदर्शन नहीं हुआ था, जिसमें यौवन के चिह्न—कुचादि प्रकट नहीं हुए थे। भविष्यपुराण के मतानुसार यह १० वर्ष की लड़की थी। दूसरा मत इसे प्राप्तयौवनावस्था तथा मैथुनयोग्य कन्या मानता था। १० वर्ष से अधिक आयु की तथा यौवन न प्राप्त करने वाली लड़की गन्धारी कहलाती थी। पारस्कर और संवर्त १० वर्ष की तथा भविष्यपुराण १२ वर्ष की लड़की को कन्या कहते हैं, इसके कुच अविकसित होते थे। इसी को श्यामा भी कहते हैं। कुमारी यौवन प्राप्त करने वाली १२ वर्ष से अधिक आयु की लड़की होती थी। रजस्वला १० या १२ वर्ष से अधिक आयु की कन्या होती थी। रोहिणी युवावस्था में आरोहण करने वाली तथा रजोदर्शन आरम्भ करने वाली लड़की होती थी (एल० स्टर्नबेक—ज्यूरिडिकल स्टडीज इन एंशेन्ट इंडियन लॉ, भाग २, दिल्ली १९६७, पृ० ३६)।

का विशेषण व्यर्थ जान पड़ता है। नग्निका शब्द की इस परस्पर विरोधी व्याख्या का यही समन्वय हो सकता है कि पहले 'नग्निका' का अर्थ 'युवती' ही था, किन्तु जब बालविवाह की पद्धति प्रचलित हो गयी तो टीकाकारों ने इसका अर्थ जबरदस्ती 'बालिका' कर दिया। इस प्रकार का एक और सुन्दर उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् की (१।१०।१) उषस्ति-चाक्रायण की कथा का प्रथम भाग है। निर्धनावस्था में फसल खराब होने के कारण कुरुदेश में, भ्रमण करनेवाली उषस्तिचाक्रायण की पत्नी के लिए मूल में "आटिकी" शब्द है। शंकर ने यहाँ आटिकी शब्द का अर्थ ऐसी बालिका किया है जिसमें यौवन के चिह्न अभी नहीं प्रकट हुए हैं।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय बालविवाह की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी थी। प्रारम्भ में जब विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था तो वेद तथा गृह्य-सूत्रों में विवाह की आयु का निश्चित संकेत देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी, किन्तु जब बाल विवाह होने लगा तो गोभिल और हिरण्यकेशी को वधू की आयु का नग्निका के रूप में निर्देश करना पड़ा। सुश्रुत ने भी (हार्नले के मत में इनका समय ८ वीं शती ई० पू० है) बाल-विवाह की प्रवृत्ति को रोकने का यत्न किया और लिखा कि सोलह वर्ष से न्यून आयु वाली स्त्री और पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष यदि गर्भस्थापन करते हैं तो वह गर्भ ठीक नहीं बनता, उत्पन्न होने पर वह देर तक जीवित नहीं रहता और यदि जीवित रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय हो जाता है, इसलिए अत्यन्त बाला में गर्भ स्थापन न करे।[६] सोलह वर्ष से कम आयु वाली कन्या को सुश्रुत अत्यन्त बाला समझता था।[७] किन्तु यह एक विचित्र बात है कि अन्यत्र (शरीर स्थान १०।१३) में सुश्रुत ने कन्या की विवाह योग्य आयु १२ वर्ष लिखी है।[८] संभवतः सुश्रुत को उसी

५ छान्दो० १।१०।१ मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्य ग्रामे प्रद्राणक उवास, शंकर—आटिक्या अनुपजात व्यंजनया पयोधरादि। सैक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सीरीज के इस उपनिषद् के अनुवाद में यही अर्थ किया गया है, किन्तु अट गतौ धातु का अर्थ ही यहाँ ठीक जान पड़ता है।

६ सुश्रुत शा० स्था० (१०।५४-५५) ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः, तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।

७ बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश। सु० शा० स्था. १०।५३

८ अथास्मै पंचविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' "धर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति। सुश्रुत की १६ वर्ष की आयु का समर्थन आजकल के पश्चिमी डाक्टर भी करते हैं। उनका कहना है कि भारत में कन्याओं का विवाह १६ वर्ष से कम आयु में कदापि नहीं होना चाहिए। डा० लैंकास्टर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एमूबर-

समय यह चेतावनी देने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी जब यह बुराई प्रचलित हो चुकी होगी ।

धर्मसूत्र व बालविवाह

पिछले गृह्यसूत्रों की अपेक्षा धर्मसूत्रों में बालविवाह की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। धीरे-धीरे यह विचार प्रचलित होने लगा कि ऋतुकाल के समय तक कन्या का प्रदान कर देना चाहिए, यदि उस समय के बाद भी पिता कन्या का विवाह नहीं करता तो कन्या को कुछ प्रतीक्षा करके अपना विवाह स्वयं कर लेना चाहिए। गौतम (१८।२०–२३) के मत में यदि तीन ऋतुकाल बीत जाने के बाद भी पिता कन्या की शादी नहीं करता तो कन्या अनिन्दित पुरुष के साथ विवाह कर ले और पिता के दिये हुए गहनों को छोड़ दे। पिता को ऋतुकाल से पहले ही कन्या दान कर देना चाहिए (प्रदानं प्रागृतोः)। कुछ आचार्यों के मत में तो कन्या के वस्त्र पहनने के योग्य होने से पहले ही उसका दान कर देना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि गौतम से पहले ऐसी कन्याओं का भी विवाह प्रारम्भ हो चुका था जो वस्त्र पहनना न जानती हों। किन्तु गौतम उनसे असहमत होता हुआ ऋतुकाल से पहले कन्या के दान का विधान करता है। बौधायन (४।१।१२–१४) और वसिष्ठ (१०।७०–७१) उपर्युक्त विधान का अनुसरण करते हैं और यह बात और बढ़ा देते हैं कि जब तक कन्या अविवाहित है उस समय तक प्रति ऋतुकाल में भ्रूणहत्या का दोष उसके माता-पिता को लगता है। योग्य वर न मिलने पर कन्या विवाह करे या नहीं, इस पर कुछ सम्मति-भेद है। मनु (९।८८–८९) उत्कृष्ट, अभिरूप एवं सदृश वर पर बल देता है और यह कहता है कि ऋतुमती होने तथा जन्मपर्यन्त कुमारी रहने पर भी कन्या का विवाह गुणहीन वर के साथ न करे। यदि माता-पिता कन्या का विवाह न करें तो कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करके योग्य वर से स्वयं विवाह कर ले, इसमें उसे कोई पाप नहीं लगता (९।९०–९१)। मनु ने गौतम की तीन ऋतुओं की अवधि को ३ वर्षों तक पहुँचा दिया तथा उपयुक्त वर न मिलने पर कुमारी रहने का विधान किया। किन्तु बौधायन धर्मसूत्र (४।१।१२–१५) कहता है कि पिता कन्या को गुणवान् वर के लिए दे, गुणवान् वर नहीं मिलता तो गुणहीन को ही दे,

क्लोसिस इन इंडिया (भारत में क्षयरोग, पृ० १४७) में लिखा है—यह कहा जाता है कि उष्ण प्रदेशों में स्त्रियों के यौवन का परिपाक शीघ्र होता है और समशीतोष्ण कटिबंध के प्रदेशों की अपेक्षा भारत की कन्याएं शीघ्र तारुण्य प्राप्त करती हैं। इस शीघ्र विकास के लिए दो वर्ष कम किये जा सकते हैं। पश्चिम में विवाह की न्यूनतम आयु १८ वर्ष समझी जा सकती है, इस देश (भारत) में यह आयु १६ वर्ष होनी चाहिए।

किन्तु रजस्वला कन्या को घर में रोक कर न रखे।[१०] ऋतुमती होने के बाद ही तीन वर्ष तक यदि कन्या का विवाह नहीं होता तो कन्या स्वयमेव योग्य पति प्राप्त करे और यदि योग्य पति नहीं मिलता तो गुणहीन का ही आश्रय ग्रहण करे। याज्ञवल्क्य (१।६४) ने भी रजस्वला कन्या के विवाह न करने पर माता-पिता को भ्रूणहत्या का दोषी ठहराया है और कन्या को स्वयं विवाह करने की आज्ञा दी है।

रजस्वला होने से पहले कन्या का विवाह कर देने के लिए इन ग्रन्थों ने जो आतुरता दिखायी है उसके दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला कारण धार्मिक है और दूसरा राजनीतिक। धर्मशास्त्रों ने भ्रूणहत्या एक भयंकर पाप माना गया है और ब्रह्महत्या की तरह इसके लिए १२ वर्ष तक प्रायश्चित्त करने का विधान है (मनु ११।८७, याज्ञ० ३।२५६)। प्रत्येक ऋतुकाल में स्त्री गर्भ धारण करने योग्य होती है। उस समय यदि गर्भाधान न हो तो वह रज व्यर्थ जायगा। इस रज को शास्त्रकारों ने भ्रूण के तुल्य समझा है और जो पिता कन्या के रजस्वला होने पर भी उसका विवाह नहीं करता उसे भ्रूणहत्या के पाप का भागी कहा गया है। इस भ्रूणहत्या के पातक से बचने का एक ही उपाय था कि कन्या की शादी रजस्वला होने से पहले कर दी जाय ताकि भ्रूणहत्या की संभावना ही न रहे।

दूसरा कारण राजनीतिक था। जनसंख्या की आवश्यकता के कारण स्त्रियों से उत्तम पुत्र प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक से अधिक पुत्र उत्पन्न करना अधिक अच्छा समझा जाता था। कौटिल्य ने १२ वर्ष की ही स्त्री को बालिग समझा।[११] मनु ने भी कन्या को इसी अवस्था में विवाह के योग्य समझा है। कौटिल्य ने अपने नियमों में इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि स्त्री के ऋतुकाल का उपरोध नहीं होना चाहिए। इसको वह धर्मवध के तुल्य समझता है। कौटिल्य की यह चिन्ता संभवतः जनसंख्या को बढ़ाने की दृष्टि से थी। योद्धा जातियों को जीवन संघर्ष में विजय पाने के लिए सदा वीर पुरुषों की आवश्यकता रहती है और वे अधिक से अधिक सन्तानों को उत्पन्न करने पर बल देते हैं।[१२]

१० बौधायन ४।१।१२, 'दद्याद्गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे। अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्।'

११ कौटिलीय अर्थशास्त्र—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति।

१२ इसके आधुनिक उदाहरण जर्मनी और इटली हैं जहां आर्थिक सहायता, भत्ते, कर्ज तथा अन्य अनेक सुविधाएं देकर जनसंख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। हिटलर के जर्मनी में १ ली अगस्त १९३३ से लेकर ३० सितम्बर १९३७ तक ८,२२,००० दम्पतियों को आर्थिक सहायता दी गई। इन सहायताओं का यह परिणाम हुआ कि जहां १९३२ में जर्मनी में ५,१७,००० विवाह हुए थे वहाँ

भारत पर ईरानी एवं यूनानी हमलों के समय मनुष्यों की संख्या का वैसा ही महत्व बढ़ गया होगा, जैसा १९३०-४० में जर्मनी, इटली आदि देशों में था। उस समय के इतिहास में नन्दों की विशाल सेना का उल्लेख पाया जाता है। यूनानी सैनिक इस सेना की चर्चा सुनकर डर गये थे और सिकन्दर को व्यास नदी के तट से यूनान की ओर वापिस लौटना पड़ा था। कौटिल्य ने संभवतः इस राजनीतिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए ही "तीर्थोपरोध" न होने (ऋतुकाल व्यर्थ न जाने) की तथा १२ वर्ष की कन्या के विवाह की व्यवस्था की।[१३]

बालविवाह् का मुख्य कारण—स्त्रीशिक्षा का अप्रचलन

भ्रूणहत्या का भय तथा जनसंख्या की आतुरता के कारण तो ब्राह्मणग्रन्थों एवं-गृह्यसूत्रों के समय भी रहे होंगे, उस समय क्यों तरुण विवाह् होता रहा, यह एक जटिल

१९३४ में यह संख्या ७,४०,००० हो गयी अर्थात् दो वर्ष में अढ़ाई लाख विवाहों की वृद्धि हुई। १९३६ में यह ६,१०,००० हो गई। यह १९३२ की अपेक्षा १ लाख ज्यादा थी। इटली ने १९३७ में उन श्रमजीवी दम्पतियों को जो निश्चित दिनों पर शादी करते थे कुछ धन राशि या प्रीमियम देना शुरू किया। १९३६ में इटली में २,२७,५२४ विवाह् हुए थे। किन्तु प्रीमियम देने के बाद १९३७ में यह संख्या २,९९,२६६ हो गई। इस प्रकार इटली ने एक ही वर्ष में पौन लाख के लगभग विवाहों की संख्या बढ़ा ली (ऍसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की यीअर बुक, १९३८, पृ० ४०१)।

१३ संख्या बढ़ाने की दृष्टि से बाल विवाह् तथा कन्या का १२ वर्ष में विवाह् करना हिन्दू समाज के लिए ही विशेष बात नहीं थी। यहूदियों में २० वर्ष की आयु के के बाद भी यदि कोई विवाह् नहीं करता था तो उसे अदालत द्वारा विवाह् करने पर मजबूर किया जाता था। पुरुष के विवाह् की आयु १८ तथा स्त्री के विवाह् की आयु १२ वर्ष थी। बालिग होने के भी यही वर्ष समझे जाते थे। किन्तु हिन्दुओं की भांति बाद में यहूदियों ने विवाह् की आयु को बहुत घटा दिया और १८ वर्ष से पहले जो लड़का विवाह् नहीं करता था वह पापी समझा जाता था। क्योंकि वह परमात्मा के "बढ़ो और द्विगुणित होओ" (Increase and multiply race) के आदेश को भंग करने का अपराधी था। १३ वर्ष का होते ही उसे विवाह् का अधिकार हो जाता था। १३वीं शती में यहूदी कन्याएं नाबालिग अवस्था में ही ब्याह् दी जाती थीं। १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में वर प्रायः १० वर्ष से अधिक का नहीं होता था और वधू इस से भी कम आयु की होती थी (वेस्टर मार्क—शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज, पृ० ४०)

समस्या है। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों कारण बालविवाह की प्रवृत्ति में सहायक एवं उत्तेजक हो सकते हैं, किन्तु मूल कारण नहीं हो सकते। बालविवाह का मूलकारण स्त्रियों की शिक्षा की उपेक्षा एवं अब्रह्मचर्य थे। हम देख चुके हैं वैदिक युग में स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर ज्ञान प्राप्त करती थीं। उनमें से अनेक इतनी विदुषी होती थीं कि उन्होंने वैदिक सूक्तों के गूढ़ अर्थों को स्पष्ट किया और मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि कहलायीं। गार्गी जैसी कुछ ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह कर अपना सारा समय दर्शन शास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाने में बिताया करती थीं। किन्तु शनैः-शनैः स्त्रियों की स्थिति गिरने लगी। पुत्रों की अधिक उपयोगिता, स्त्रियों के रज को अपवित्र समझ कर रजस्वलाओं को अशुद्ध एवं दूषित समझना, शूद्र स्त्रियों के साथ विवाह के बाद उन्हें यज्ञ के अधिकार से वंचित रखने की प्रवृत्ति, स्त्रियों को शूद्र समझना, कर्मकाण्ड की वृद्धि के साथ-साथ ब्राह्मणों के प्रभाव की वृद्धि तथा ब्राह्मणों द्वारा स्त्रियों की निन्दा आदि अनेक कारणों से स्त्रियों की स्थिति गिरने लगी।[१४] जब रज की अपवित्रता के कारण उन्हें शूद्र समझा जाने लगा तो शूद्रों की तरह उनके उपनयन, शिक्षा एवं वेदाध्ययन की उपेक्षा स्वाभाविक ही थी। हारीत ने इस प्रवृत्ति का विरोध करना चाहा। उसने जिस उग्रता से यह विरोध किया है उससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को शूद्र समझने तथा उनका उपनयन संस्कार न करने और शिक्षा न देने की बुराई काफी बढ़ चुकी थी। वह कहता है कि "स्त्रियाँ शूद्रों के समान नहीं हैं क्योंकि शूद्र की योनि में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं पैदा होते। इसलिए स्त्रियों के सब संस्कार वैदिक मन्त्रों के साथ ही करने चाहिए"।[१५] स्त्रियों के दो भेद हैं—(१) वेद का अध्ययन करने वाली ब्रह्मवादिनी तथा (२) शीघ्र विवाह करने वाली स्त्रियाँ। वेद का अध्ययन करने वाली स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता है। वे पवित्र अग्नि प्रज्वलित रखती हैं, अपने घर में अध्ययन करती हैं तथा भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन पर निर्वाह करती हैं। रजोदर्शन के समय उनका समावर्तन होता है। दूसरी स्त्रियों के लिए ये बातें गौण हैं और उनकी प्रतिज्ञाएँ शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं"। यह बड़े दुःख की बात है कि हमें हारीत का ग्रन्थ उद्धरणों के रूप में मध्यकालीन लेखकों के ग्रन्थों में ही मिलता है,[१६] संभवतः उसने अपना ग्रन्थ तब लिखा

१४ इसके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १०६–११७

१५ हारीत २१।२०-२३ 'न शूद्रसमाः स्त्रियः। न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः। तासां द्विविधो विकल्पः ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्चेति ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्निसंस्कारः स्वगृहेऽध्ययनं भैक्ष्यचर्या च प्राप्तौ रजसः समावर्तनम्। अतिरिक्तेऽप्रधानम् सद्योऽपध्वंसनम्।

१६ हारीत का धर्मसूत्र पूर्ण रूप से उपलब्ध न होने से उसका समय निर्धारण बहुत

जब बालविवाह की प्रथा बहुत अधिक चल पड़ी थी। उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हारीत ने स्त्रियों से छीने जाते हुए अध्ययन के अधिकार के विरुद्ध अपनी आवाज उठायी थी।

किन्तु हारीत की यह व्यवस्था अरण्यरोदन मात्र सिद्ध हुई। किसी धर्मसूत्रकार ने हारीत के इस मत का समर्थन नहीं किया। समय के प्रभाव से हारीत की इतनी बात तो माननी पड़ी कि स्त्रियाँ दो तरह की होती हैं और वेदाध्ययन करने वाली स्त्री का शिक्षाकाल रजोदर्शन से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। अधिकांश स्त्रियों का उपनयन विवाह मात्र ही रह गया। मनु (२०० ई० पू०) के समय यह कहा गया कि स्त्रियों के उपनयन में वैदिक मन्त्रों के पाठ की आवश्यकता नहीं है (२।६६)। इसके साथ ही मनु ने कन्या के लिए विवाह संस्कार को ही उपनयन संस्कार माना, क्योंकि कन्या के लिए पति की सेवा ही गुरुकुल वास के तुल्य है और घर के कार्य ही प्रातः सायंकाल के अग्निहोत्र है (मनु २।६७)।

कन्याओं की शिक्षा की समाप्ति ने बालविवाह को दो तरह से प्रोत्साहित किया। पहला तो यह था कि यदि कन्याओं को शिक्षा नहीं दी जाती तो घर पर वे बिलकुल खाली रहेंगी। "खाली दिमाग शैतान का घर होता है" और खासकर कुमारी अवस्था में खाली रहना बहुत भयंकर है। वैदिक काल से यह विश्वास प्रचलित था (ऋ० १०।८५। ४०-४१) कि कन्या के विवाह से पहले सोम, गान्धर्व, और अग्नि उसका उपभोग करते हैं। गो० गृ० (३।४।६) में उद्धृत गृह्यसंग्रह कन्या में यौवन के लक्षण प्रगट होने पर इन तीनों देवताओं द्वारा उसके उपभोग की चर्चा करता है, और उसका मत है कि इन लक्षणों के प्रगट होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाय। यह विश्वास सत्य हो या न हो, कन्या के माता-पिता अपनी कन्या के सम्बन्ध में कोई प्रवाद खड़ा होने से पूर्व ही उसका विवाह कर देना अच्छा समझने लगे और प्रवाद से बचना तभी संभव हो सकता था जब कन्या की शादी बहुत जल्दी कर दी जाय। कथासरित्सागर (स. सा. ३४।२२६) में एक पिता स्पष्ट रूप से अपनी कन्या से कहता है कि यदि तू इस नयी जवानी में मुझे दुःख देना चाहती तो इच्छापूर्वक देर तक कुमारी मत रह, क्योंकि इसमें बदनामी बहुत आसानी से हो जाती है।

कन्याओं की शिक्षा के अप्रचलन ने वैवाहिक आयु को एक दूसरे रूप में इस प्रकार प्रभावित किया कि जब संस्कार की दृष्टि से विवाह को उपनयन समझ लिया गया तो यह स्वाभाविक था कि विवाह उपनयन की अर्थात् आठ वर्ष की आयु में ही किया

कठिन है। किन्तु बौधायन (२।१।५०) आपस्तम्ब १४।१३।११, १।६।१८।२, १।६।१६।१२, १।१०।२८।१, ५, १६, १।१०।२६।१२, १६, वसिष्ठ (२।६) ने हारीत का मत उद्धृत किया गया है। अतः इसका काल बौधायन के काल ५००-२०० ई० पू० से पहले ही होना चाहिए।

जाय। यम ने कहा है कि जब विवाह को उपनयन कहा गया है तो गर्भ से या जन्म से आठवें वर्ष विवाह करना श्रेष्ठ है। स्मृतिकौस्तुभ में कहा गया है कि चूंकि स्त्रियों का विवाह उपनयन का स्थानापन्न है, अतः उपनयन की अवस्था में ही विवाह करना चाहिए।

इस समय जाति, पिण्ड, गोत्रादि के वैवाहिक प्रतिबन्ध क्रमशः दृढ़ हो रहे थे। इनकी दृढ़ता ने भी छोटी आयु में विवाह को अनिवार्य बना दिया। यदि कन्याओं और बालकों के विवाह में जल्दी नहीं की जायगी तो यौवन के विकास के साथ-साथ जब उनमें प्रेम का स्रोत बहने लगेगा तो यह आवश्यक नहीं कि वह गोत्र पिण्ड, जाति और गांव की मर्यादाओं में रहता हुआ ही बहे, वह मर्यादाओं का अतिक्रमण करके भी बह सकता है। इसलिए उपर्युक्त मर्यादाओं की रक्षा करने के लिए यह अच्छा समझा गया कि प्रेम की धारा को समय पर ही बाँध दिया जाय, जिससे वह धारा बाढ़ में उद्दाम होकर मर्यादा के कूलों का अतिक्रमण न कर सके। इस धारा के बाँध के रूप में बालविवाह की उपयोगिता स्वतः सिद्ध थी।

बालविवाह के अन्य कारणों की आलोचना

नेस्फील्ड की कल्पना—बालविवाह के उद्गम के सम्बन्ध में नेस्फील्ड ने १८८५ में यह विलक्षण कल्पना की थी कि पहले पुरुष अपनी इच्छानुसार किसी भी स्त्री के साथ सम्बन्ध कर सकते थे, स्त्रियाँ सारे समाज या वर्ग की साझी सम्पत्ति थीं। इन पर किसी का वैयक्तिक अधिकार नहीं था। समाज में सामूहिक विवाहों (Communal Marriage) का प्रचलन था और कई बार दूसरी जाति की स्त्रियाँ पकड़ कर लायी जाती थीं। ये स्त्रियाँ भी सामूहिक सम्पत्ति का अंश होती थीं। किन्तु बहुत से मनुष्यों को यह बात पसन्द न थी, वे स्त्री पर अपना पूर्ण वैयक्तिक अधिकार चाहते थे। उन्हें यह असह्य जान पड़ता था कि कोई दूसरा व्यक्ति उनकी स्त्री का उपभोग करे। अतः उन्होंने बचपन से ही पराची कन्या को अपने पास रखना शुरू किया ताकि वह उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जाय। बालविवाह की प्रथा स्वच्छन्द विवाहों की प्राथमिक रूढ़ियों (Primitive morges) के विरुद्ध जबरदस्त नैतिक विद्रोह था। इस प्रकार हिन्दू समाज में प्राचीन काल में बालविवाह की प्रथा का अभ्युदय हुआ।[१७]

इसमें कोई शक नहीं कि यह एक विलक्षण सूझ है, किन्तु यह लालबुझक्कड़ जैसी सूझ है। इसमें भारत के पुराने इतिहास पर कुछ भी विचार नहीं किया गया, न ही अपनी कल्पना के समर्थन में कोई प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। हम पहले अध्याय में यह देख चुके हैं कि वैदिक साहित्य में कामचार (Promiscuity) या सामूहिक विवाहों का कोई उल्लेख नहीं है। वैदिक युग में वैयक्तिक विवाह होते थे। विवाह से

[१७] रिज़ली—पीपल आफ इंडिया, पृ० १८८

पहले युवक युवतियों का काफी अनुरंजन, अभ्यर्थन और प्रसादन (Courtship) करते थे और युवतियां इच्छानुसार अपने पतियों का वरण किया करती थीं। यदि बालविवाह प्राथमिक युग के जंगली रिवाजों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी तो वैदिक साहित्य में हमें उसका कोई प्रमाण क्यों नहीं मिलता? वेदों में तरुण युवकों और युवतियों के विवाह की क्यों चर्चा है? वैदिक युग तक यदि आर्य जंगलीपन छोड़ चुके थे तो उनमें बालविवाह की प्रथा होनी चाहिए और यदि उनमें जंगलीपन था तो वेद में कामचार (Promiscuity) या सामूहिक विवाह (Communal Marriage) का उल्लेख होना चाहिए। किन्तु इन दोनों में से एक भी बात ऋग्वेद या अथर्ववेद में नहीं पायी जाती। इस दशा में नेस्फील्ड की कल्पना मनोरंजक होने पर भी प्रमाण के अभाव में निराधार और अमान्य है।

बालविवाह के उद्गम के सम्बन्ध में सर्वसाधारण जनता में एक अन्य भ्रान्तिमूलक विश्वास यह प्रचलित है कि मुसलमानों के हमले होने पर स्त्रियों की रक्षा के लिए उनका छोटी आयु में विवाह किया जाने लगा। किन्तु यह कारण भी पूरी तरह सत्य नहीं प्रतीत होता है। इस्लाम का आविर्भाव ७ वीं शती में हुआ और मुसलमान ८ वीं शती के प्रारम्भ में भारत की सीमा पर पहुँचे। यदि यह कारण सही हो तो भारत में ८ वीं शती से पहले बालविवाह की प्रथा बिलकुल नहीं होनी चाहिए। लेकिन ऊपर हम देख चुके हैं कि बालविवाह की प्रथा गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों के समय से शुरू हो चुकी थी। कम से कम गौतमधर्मसूत्र के समय—६ठी शती ई० पू० से बालविवाह का रिवाज अच्छी तरह से प्रचलित हो चला था। मुसलमान इसके १२०० वर्ष बाद भारत में प्रकट हुए। अतः उन्हें बालविवाह के उद्गम का कारण नहीं माना जा सकता। इस कल्पना में इतना सत्य अवश्य है कि इसने पहले से चली आने वाली प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया होगा।

अनेक विद्वानों की यह कल्पना है कि बालविवाह की प्रथा को हिन्दुओं ने द्रविड़ जातियों से ग्रहण किया।[१८] किन्तु यह भी कोरी कल्पना है और बिलकुल स्पष्ट तथ्यों के विरुद्ध मानी जाने वाली है। सैकड़ों वर्षों से बालविवाह करने वाले हिन्दुओं के साथ रहते हुए अब भी अधिकांश द्रविड़ जातियों में तरुण विवाह होते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर उनमें बालविवाह की प्रथा प्रचलित नहीं है। श्री रिज़ली ने लिखा है कि छोटा नागपुर, मध्य प्रान्त और मद्रास की पहाड़ियों में रहने वाली द्रविड़ जातियों में तथा हिमालय, आसाम और बर्मा की मंगोल जातियों में अब तक तरुण युवक-युवतियों में अनुरंजन (Court ship) और विवाह की परिपाटी प्रचलित है।[१९] जो जातियाँ अभी तक तरुण विवाहों की प्रथाओं को अपनाये हुए हैं उनसे अतीत काल में हिन्दुओं ने बाल-

१८ सं० रि० इं० १९११, भाग १, खण्ड १, पृ० २५०
१९ रिज़ली—पीपल ऑफ इंडिया, पृ० १८७

विवाह की प्रथा ग्रहण की होगी, यह बात विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती है।

श्री गेट की यह कल्पना है कि बालविवाह आर्य-द्रविड़ संघर्ष का परिणाम है।[२०] द्रविड़ लोगों में आर्यों के साथ सम्पर्क में आने से पहले तरुण विवाह की प्रथा प्रचलित थी। इसके साथ ही उनमें युवक-युवती को विवाह से पहले पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता व स्वच्छन्दता प्राप्त थी। आर्यों के साथ संपर्क में आने से वे इस स्वच्छन्दता को बुरा मानने लगे और उनमें अक्षतयोनि कुमारी कन्याओं के साथ विवाह अच्छा माना जाने लगा। ऐसी कन्याएँ तभी मिल सकती हैं जब कन्याओं का विवाह बचपन में कर दिया जाय, अतः उन जातियों में बालविवाह का रिवाज चल पड़ा। बाद में आर्यों ने उनसे यह रिवाज ग्रहण किया। यह कल्पना भी पिछली कल्पना की तरह अमान्य है, क्योंकि जिन द्रविड़ जातियों में आज भी बालविवाह प्रचलित नहीं है उन जातियों से आर्यों ने बालविवाह को ग्रहण किया होगा, यह संभव नहीं प्रतीत होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से बालविवाह की प्रथा जो वैदिक काल में बिल्कुल नहीं थी, ईसा से ८वीं शती पूर्व से भारत में फैलने लगी और दूसरी शती ईसवी तक लगभग १००० वर्ष में उसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि सब धर्मशास्त्रकारों ने रजो-दर्शन से पूर्व ही कन्या के विवाह को श्रेष्ठ समझा। किन्तु धर्मशास्त्रकारों की व्यवस्था के बावजूद इस सारे समय में तथा १००० वर्ष बाद तक विशेषतः क्षत्रियों में तरुण विवाहों का प्रचलन रहा और कुछ स्थानों पर मध्यकाल में भी तरुण विवाह की पद्धति प्रचलित रही।

अब ऐतिहासिक दृष्टि से बालविवाह के विकास पर विचार किया जायगा।

बालविवाह तथा रामायण—राम और सीता के विवाह की आयु का ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है, क्योंकि इस विषय में अनेक परस्पर विरोधी श्लोक मिलते हैं। इस सारे प्रकरण में एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए और वह यह है कि जनक-पुरी से विवाह करके चारों भाइयों के अयोध्या सपत्नीक लौटने पर कहा गया है कि सब स्त्रियों ने पतियों के साथ एकान्त में रमण किया (१।७७।१३–१४)। इसका अर्थ यह है कि ये विवाह यौवन अवस्था को प्राप्त करने के बाद ही हुए थे। अयोध्याकाण्ड (२।११८।३४) में सीता अनुसूया से यह कहती है कि मेरे पिता मेरी विवाह योग्य अवस्था को देखकर उसी प्रकार चिन्तित हो गये, जैसे धन का नाश हो जाने से निर्धन व्यक्ति चिन्तित हो उठता है, अतः यह स्पष्ट है कि सीता उस समय बालिका नहीं थी। किन्तु अरण्यकाण्ड में सीता रावण को अपना परिचय बतलाते हुए कहती है कि विवाह के बाद वह अयोध्या में १२ वर्ष रही। राज्याभिषेक के समय राम की अवस्था २५ वर्ष की थी और इस समय मेरी अवस्था १८ वर्ष की है। सीता की इस उक्ति को ठीक माना जाय तो

२० सें० रि० ई १९११, भाग १, खं० १, पृ० २५०

विवाह के समय सीता की अवस्था ६ वर्ष और राम की अवस्था १३ वर्ष माननी पड़ेगी।[२१]

सीता अनुसूया से विवाह के समय अपनी आयु कम से कम १२ वर्ष की बता चुकी है। इससे न केवल सीता की ही आयु में संदेह उत्पन्न होता है, अपितु राम की आयु भी विवादास्पद बन जाती है। रामचन्द्र के वनवास का निश्चय हो जाने पर कौशल्या विलाप करती हुई कहती है कि "तुझे पैदा हुए १७ वर्ष हो चुके हैं और मैंने ये वर्ष इस आशा से बिताये हैं कि मेरे दुःखों का अन्त होगा (२।२०।४५)। बालकाण्ड में जब विश्वामित्र राक्षसों के संहार के लिए रामचन्द्र को मांगने आते हैं तो उस समय दशरथ कहते हैं कि मेरा कमलनयन राम तो सोलह वर्ष का भी नहीं हुआ (१।२०।२)। यदि यह मान लिया जाय कि राम का विवाह १६ वर्ष में हुआ तो वनवास के समय राम की अवस्था २८ वर्ष की होनी चाहिए, क्योंकि सीता स्वयं यह कहती है कि वह अयोध्या में राम के साथ १२ वर्ष रही, किन्तु वनवास के समय राम की अवस्था २५ वर्ष बताती है। इस प्रकार वनवास के समय कौशल्या के अनुसार राम की अवस्था १७ वर्ष, सीता के अनुसार २५ वर्ष और दशरथ की वर्षगणना के अनुसार २८ वर्ष बैठती है। अन्तिम दो संख्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं, किन्तु पहली दो संख्याओं में बहुत अन्तर है। टीकाकारों ने अपने व्याख्याकौशल से इस अन्तर को दूर करने किया है। उनका मत है कि कौशल्या ने राम के जिस जन्म का वर्णन किया है वह उपनयन द्वारा प्राप्त दूसरा जन्म है। क्षत्रिय का उपनयन संस्कार ११वें वर्ष में होता है इस प्रकार राम अभिषेक के समय १८ वर्ष के थे। इस हिसाब से राम का विवाह १६ वर्ष में हुआ। इस तरह राम की आयु तो ठीक बन जाती है, किन्तु सीता की अवस्था की समस्या हल नहीं होती। कुछ लोगों ने इसे हल करने का बड़ा सरल उपाय ढूंढा है, वे कहते हैं कि सीता का परपुरुष के साथ इस प्रकार का संलाप सर्वथा अस्वाभाविक है, इसलिए अरण्यकाण्ड का उपर्युक्त अंश प्रक्षिप्त है। वास्तव में रामायण का वर्तमान रूप महाभारत के वर्तमान रूप के बाद दूसरी शती ई० पू० में प्राप्त हुआ। पहले हम देख चुके हैं कि इस काल में बालविवाह का प्रचलन हो चुका था, अतः रामायण के संस्कर्ताओं ने अपने युग के विचार रामायण में डाल दिये। इसलिए यह निश्चय करना कठिन है कि राम और सीता की विवाह के समय वास्तव में क्या आयु थी?

बाल विवाह तथा महाभारत—महाभारत का वर्तमान रूप रामायण के वर्तमान रूप से प्राचीन है। हमें इसमें प्राचीन काल के तरुण विवाह की प्रथा उपलब्ध होती है, यद्यपि कई स्थानों पर कन्या की आयु काफी छोटी बतायी गयी है। द्रौपदी का स्वयंवर के समय जो वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि वह उस समय तरुणी थी। प्राचीन

[२१] ३।४७।१०-११ उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने। मम भर्ता महातेजाः वयसा पंचविंशकः। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥

गृह्यसूत्रों की व्यवस्था के अनुसार पाण्डव द्रौपदी के साथ विवाह होते ही पत्नी के साथ बारी-बारी से सहवास करते हैं। विवाह से पहले ही कुन्ती का कानीन पुत्र—कर्ण उत्पन्न हुआ था। सुभद्रा भी हरण के समय युवती ही थी। उत्तरा का अभिमन्यु से विवाह होने के बाद शीघ्र ही दोनों का समागम हुआ और परीक्षित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्वयंवर एवं गांधर्व विवाह का प्रचलन होने से यह स्वाभाविक ही था कि स्त्रियों का विवाह तरुणावस्था में हो। शकुन्तला विवाह के समय तरुणी थी। देवयानी ने भी युवावस्था में ही कच से प्रणय भिक्षा माँगी थी।

अनुशासनपर्व में (४४।१४) विवाह के विषय में युधिष्ठिर को उपदेश देते समय भीष्म ने कहा है कि ३० वर्ष की आयु वाला पुरुष १० वर्ष वाली नग्निका को और २१ वर्ष की अवस्था वाला सात वर्ष की कन्या को भार्या रूप में ग्रहण करे।[२२] इस श्लोक को मध्यकाल के निबन्धकारों ने उद्धृत करते हुए दश के स्थान पर षोडश का पाठ किया है, षोडश शब्द का पाठ मानने से छन्दोभंग का दोष पैदा होता है। बालविवाह के युग में मध्यकाल में होने वाले निबन्धकार जब छन्दोभंग की परवाह न करके षोडश पाठ देते हैं, तो यह मानना पड़ता है कि मूल में षोडश का ही पाठ था। इस पाठ को ठीक मानने का यह भी कारण है कि महाभारत में युवावस्था प्राप्त कर लेने पर ही विवाह का वर्णन है। बकासुर के पास जाने की बारी आने पर (१।१५६) जब ब्राह्मण की कन्या राक्षस के पास स्वयं जाने को तैयार होती है तो ब्राह्मण ने उसे समझाया है कि अभी तू बाला है, तूने अभी तारुण्य को नहीं प्राप्त किया, तू अपने स्वामी के लिए अभी धरोहर रूप नहीं हुई है (१।१५७।३५)। एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि वयस्क (तरुणी) से ही शादी करनी चाहिए। वयस्का संस्कृत का पारिभाषिक शब्द है और तरुण के लिए प्रयुक्त होता है। महाभारत में पुरुष की विवाहयोग्य आयु कम से कम १६ वर्ष बतायी गयी है (१४।५६।२२-२३)। गौतम उत्तंक से कहता है कि यदि आप १६ वर्ष के हो तो मैं आपको अपनी कन्या पत्नी रूप में दे दूंगा। इस प्रकार महाभारत के अनुसार उस समय तरुण अथवा वयस्क विवाह का ही प्रचलन प्रतीत होता है।

बालविवाह तथा बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य में प्रायः तरुण विवाहों का उल्लेख मिलता है। थेरगाथा की अट्ठकथा में पिप्पलीमाणवक और भद्रा कपिलायनी की मनोरंजक कथा में विवाह के समय पिप्पली की अवस्था २० वर्ष और भद्रा की आयु १६ वर्ष लिखी है। अं० नि० अ० क० (१।७।२) में विशाखा के विवाह का विस्तृत वर्णन है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि विशाखा विवाह के समय समझदार तरुणी थी। असिलक्खण

[२२] महाभा० १३।४४।१४ त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्।
मिलाइये मनु० ९।९४

जातक (सं० १२६) में एक ऐसी राजकन्या का वर्णन है जिसका विवाह १६ वर्ष की आयु में हुआ था। धम्मपद की टीका (२।२१७) में राजगृह के एक श्रेष्ठी की सुन्दर कन्या कुण्डलकेशी को अविवाहित बताते हुए कहा गया है कि इस उम्र में स्त्रियां पुरुषों की कामना किया करती हैं।

मौर्ययुग में बाल विवाह---मौर्य युग में बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन हो चुका था। कौटिल्य का इस प्रकार का विधान हम पहले ही देख चुके हैं, किन्तु मेगस्थनीज के इस कथन में सहसा विश्वास नहीं होता कि पाण्ड्य (मदुरा, तिनेवली जिले) देश की स्त्रियाँ जब ६ वर्ष की होती हैं तब प्रसव करती हैं। यह प्राकृतिक दृष्टि से असंभव एवं अविश्वसनीय है कि छठे वर्ष में पुत्र उत्पन्न हो। एरियन इस असंभव घटना पर विश्वास कराने के लिए लिखता है कि इतनी छोटी आयु में प्रसव होने का यह कारण था कि उन्हें यूनानी देवता हिराक्लीज द्वारा ऐसा वरदान मिला हुआ था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र में बैठे हुए सुदूर दक्षिण के विषय में सुनी हुई बातों के आधार पर लिखा होगा अतएव उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। पाटलिपुत्र के बारे में यदि वह इस प्रकार का उल्लेख करता तो कुछ प्रामाणिक माना जा सकता था। मेगस्थनीज को वेदवाक्य की तरह से प्रामाणिक मानने की प्रवृत्ति ने अनेक भ्रमों को उत्पन्न किया है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि हिन्दुस्तानियों को लिखना नहीं आता था, बहुत देर तक इसे सत्य माना जाता रहा किन्तु अब प्राचीन शिलालेखों के मिल जाने के बाद मेगस्थनीज की इस उक्ति में कोई विश्वास नहीं रख सकता। अतः उसकी पाण्ड्य देश की कथा सर्वथा अविश्वसनीय प्रतीत होती है।[२३]

सातवाहन, गुप्त एवं पूर्व मध्ययुग में लिखे गये काव्यों में यह स्पष्ट है कि इस समय तक हिन्दू समाज में तरुण-विवाहों का प्रचलन था। गांधर्व और स्वयंवर विवाहों का इस काल के ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख है और ये दोनों तरुण विवाह की सूचना देते हैं। कालिदास व भवभूति के नाटकों की नायिकाएँ प्राप्तयौवना कन्यायें हैं। शकुन्तला, मालविका और मालती शैशवावस्था को पार कर यौवनावस्था में पैर रख चुकी हैं। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भवभूति ने मालतीमाधव में नायक-नायिका का विवाह युवावस्था में कराया है, किन्तु उत्तररामचरित में उसने सीता को विवाह के समय बिलकुल

२३ मेगस्थनीज के यूनान में बालविवाह खूब प्रचलित था, शायद उसने अपने देश के हिसाब से भारतीयों के बारे में यह कल्पना की हो। बड़े डिमास्थनीज ने अपनी पांच वर्ष की कन्या का विवाह अपने भतीजे के साथ किया। गुर्तनी (Gorthnian) के नियम के अनुसार कन्याएँ १२ वर्ष में विवाह योग्य हो जाती थीं (इंसा० रिलीजन एण्ड ईथिक्स, खण्ड ८, पृ० ४४५)

बालिका दिखाया है। शायद रामायण का उपर्युक्त वर्णन इसका मूल कारण है। बाण की महाश्वेता तथा राज्यश्री विवाह के समय युवतियाँ थीं।

स्मृतियों द्वारा बाल विवाह को प्रोत्साहन

काव्यों में तरुणी नायिकाओं के वर्णन के बावजूद उस समय की स्मृतियों और पुराणों में विवाह की आयु को कम कर देने की प्रबल प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। पराशर स्मृति ने (निर्माण काल १ली से ५ शताब्दी के बीच में) बालविवाह पर बहुत बल दिया, आयु की सीमा बहुत कम की तथा रजोदर्शन से पूर्व कन्या का शीघ्र विवाह न करने वाले पिता की निन्दा तथा १२ वर्ष के बाद कन्या को ब्याहने वाले व्यक्ति को सभा में भाषण करने तथा पंक्ति में बिठाने के अयोग्य समझा। उसके अनुसार आठ वर्ष की लड़की गौरी, ९ वर्ष की रोहिणी तथा १० वर्ष की कन्या होती है, इसके बाद वह रजस्वला हो जाती है। जो मनुष्य कन्या के १२ वर्ष की हो जाने पर भी उसका विवाह नहीं करता उसके पितर प्रतिमास उसका रज पीते हैं। उसके माता-पिता और बड़ा भाई तीनों अनब्याही रजस्वला कन्या को देखकर नरक में जाते हैं, जो ब्राह्मण ऐसी कन्या से शादी करता है वह संभाषण करने तथा पंक्ति में बैठने योग्य नहीं है, उसको वृषलीपति जानना चाहिए।[५४] गौरी पहले १० से १२ वर्ष की कन्या समझी जाती थी (वैखानस धर्मसूत्र)। पराशर ने इसको दो वर्ष और घटा दिया। पराशर के इस नियम का उसके बाद के स्मृतिकारों ने खूब अनुमोदन किया। संवर्तस्मृति (६५–६६) और वृहद्यम (२०–२२) पराशर के समर्थक हैं किन्तु पराशर में जहाँ १२ वर्ष तक विवाह का विधान है, वहाँ संवर्त (६८) में कहा गया है कि कन्या का रजस्वला होने से पहले ही विवाह कर देना चाहिए, ८ वर्ष की कन्या का विवाह उत्तम है। कश्यप ने आठ वर्ष की गौरी को ७ वर्ष का बना दिया। भविष्यपुराण (वीरमित्रोदय, पृ० ७८६) ने सात वर्ष का समर्थन किया, किन्तु मरीचि ने तो कन्या की आयु ५ वर्ष की बतायी (वीरमित्रोदय पृ० ७८६) और ब्रह्मपुराण ने कहा है कि ४ वर्ष के बाद कन्या विवाह के योग्य हो जाती है। यह बड़े सन्तोष की बात है कि स्मृतिकार ४ वर्ष की आयु पर ही रुक गये किन्तु लोकाचार ने तो आगे चलकर बालविवाह को इस हद तक पहुँचा दिया कि दूध पीते बच्चों की गोद में उठाकर शादियाँ की जाने लगीं और कई जगह बच्चों के उत्पन्न होने से पहले ही गर्भ-

[५४] पराशर ७।७-९, अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या अतः ऊर्ध्वं रजस्वला॥ प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति। मासि मासि रजस्तस्य पिबन्ति पितरोऽनिशम्॥ माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ यस्ताम् उद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः। असम्भाष्यो ह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः॥

वती स्त्रियों द्वारा गर्भस्थ शिशुओं के फेरे पूरे कर लिये जाते थे। धर्मसूत्रकारों तथा पिछले स्मृतिकारों में एक अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। पहला तो यह कि धर्मसूत्रकार विवाह की आयु इतनी नीची नहीं ले गये थे, वे रजोदर्शन होने के बाद भी कुछ प्रतीक्षा करने को तैयार थे। मनु योग्य वर न मिलने पर कन्या के आजीवन अविवाहित रहने में कोई दोष नहीं देखता और रजस्वला होने के बाद विवाह न करने पर माता-पिता इसे बहुत बुरा नहीं मानते थे। किन्तु बाद के स्मृतिकारों के लिए तो रजस्वला की सीमा एक पवित्र बंधन है। माता-पिता ने जहाँ कन्या को यह सीमा पार करने दी, वे भयंकर रूप से दोषी हो गये और इसके साथ विवाह करने वाला समाज से बहिष्कृत, असंभाव्य, अपांक्तेय और वृषलीपति हो गया।[२५] स्मृतिकारों की इस चिन्ता का क्या कारण था?

बालविवाह को प्रोत्साहन देने वाले कुछ कारण

१) **बौद्ध धर्म का भय**—हम पहले (पृ० ३१३–८) जिन कारणों का निर्देश कर चुके हैं वे कारण तो बालविवाह की प्रथा को प्रोत्साहित कर रहे थे; किन्तु इस समय

२५ स्टर्नबैक (ज्युरिडिकल स्टडीज, खण्ड २, पृ० ३८-४१) ने यह प्रदर्शित किया है कि बालविवाह विषयक उपर्युक्त नियमों का शनैः-शनैः क्रमिक विकास हुआ है। पहली अवस्था में रजस्वला होने से पूर्व लड़कियों का विवाह करना स्मृतिकारों के मतानुसार एक परामर्शमात्र था। जो पिता इस अवस्था तक अपनी लड़की का विवाह नहीं करता था वह निन्दा का पात्र समझा जाता था। मनु ९।४ में कहा गया है कि 'कालेऽदाता पिता वाच्यः।' इस पर मेधातिथि ने कन्यादान के काल की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह आठ वर्ष की आयु होती है (कः पुनः कन्याया दानकालः, अष्टमाद् वर्षात्प्रभृति स्मर्यते)। मनु (९।९३) यह भी मानता है कि यदि पिता ऋतुकाल से पहले कन्या का विवाह नहीं करता तो कन्या पर पिता का अधिकार नहीं रहता है (स च स्वाम्यादतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्)। मनु से पहले गौतम (१८।२१-२३) ने भी यह घोषणा की थी कि ऋतुकाल से पहले कन्यादान न करने वाला पिता दोषी होता है (प्रदानं प्रागृतोः, अप्रयच्छन् दोषी)। दूसरी दशा में ऋतुकाल से पहले कन्यादान न करने का महापाप नरक ले जाने वाला माना जाने लगा। पराशर (८।७,८), यम (२२,२३) स्मृतियों में यह कहा गया है कि बारहवें वर्ष में कन्या की शादी न करने वाले माता-पिता और बड़ा भाई नरकगामी होते हैं (प्रयान्ति नरकं सर्वे दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्)। महाभारत में यह घोषणा की गयी है कि रूपसम्पन्ना कन्या का विवाह न करने वाला पिता ब्रह्महत्या का पापी होता है। कुछ अन्य स्मृतियों ने कन्यादान न करने से उत्पन्न

कुछ अन्य नये कारण भी बालविवाह की प्रथा में सहायक सिद्ध हुए। बौद्ध धर्म ने एक नवीन संकट उत्पन्न हो गया था, बौद्ध धर्म में अविवाहित स्त्रियाँ भी प्रव्रज्या प्राप्त करके भिक्षुणी बन सकती थीं। यदि कन्याओं का विवाह उनके समझदार और सयानी होने तक टाला जाता तो उनके बौद्धधर्म में दीक्षित होने की संभावना बनी रह सकती थी। इस संभावना को बिलकुल समाप्त कर देने के लिए यह आवश्यक था कि कन्याओं का विवाह शीघ्र कर दिया जाय।

(२) **वैवाहिक नियमों की कठोरता**—आठवीं-नवीं शताब्दी में जातियों के साथ-साथ उपजातियों के भी बंधन सुदृढ़ होने लगे थे। इस कारण से भी बालविवाह की प्रवृत्ति बढ़ी। उपजातियों के बन्धनों के कारण वरों के चुनाव का क्षेत्र बहुत छोटा होने लगा, थोड़े से वरों के लिए संघर्ष चलने लगा। इसमें जो माता-पिता जल्दी करते थे, वे स्पष्टतः लाभ में रहते थे। जितनी जल्दी अपनी कन्या के लिए वर सुरक्षित करा लिया जाय उतना ही अधिक लाभ था।

(३) **सती प्रथा**—इस समय तक समाज में सती प्रथा भी चल चुकी थी। एक यूरोपियन यात्री फिच ने बंगाल में प्रचलित बालविवाह का एक कारण यह प्रथा भी बताया है, यदि अकस्मात् बालिका का पिता मर जाता है तो माता को सती होना पड़ेगा। यदि कन्या का विवाह शीघ्र कर दिया जाय तो माता-पिता के मर जाने पर भी श्वशुरालय में उसकी देखभाल होती रहेगी।

संयुक्त परिवार पद्धति में बालविवाह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। यदि वधू तरुण

होने वाले पाप की अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। उनका यह कहना है कि प्रति रजोदर्शन के समय कन्या में गर्भ धारण की तथा सन्तान की संभावना होती है, यदि रजस्वला कन्या का विवाह नहीं होता तो प्रतिमास उसमें संभावित गर्भ या भ्रूण की हत्या होती है, अतः उसे भ्रूणहत्या का पाप लगता है। याज्ञ० (१।६४) में कहा गया है 'अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ मि० वसिष्ठ १७।२१, नारद १२।२६। तीसरी दशा में बालविवाह की प्रथा अधिक प्रचलित होने पर रजोदर्शन के पहले विवाह न करने वाली कन्या को जातिच्युत और पिता को पतित तथा कन्या को विवाह के अयोग्य बताया गया (व्यास स्मृति २।७)। बृहस्पति (संस्कारप्रकाश पृ० ३७३) की सम्मति में ऐसी कन्या वृषली या शूद्रा हो जाती है। विष्णुस्मृति (२४।४१) ऐसी कन्या को वृषली बताते हुए उसके अपहरण में कोई दोष नहीं मानती (सा कन्या वृषली ज्ञेया हरंस्तां न विदुष्यति)। पराशर की सम्मति में ऐसी वृषली के साथ शादी करने वाला ब्राह्मण बातचीत करने लायक तथा ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने लायक नहीं होता है (असंभाष्यो ह्यपांक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः)।

एवं समझदार हो और अपने स्वतन्त्र विचार रखती हो तो यह संभव है कि कई बार अपनी सास, ससुर और घर के माननीय वृद्धों से उसकी असहमति हो जाय और पारिवारिक कलह उत्पन्न हो। किन्तु यदि वधू बहुत छोटी उम्र में ही ब्याही जाय तो उसका सारा चरित्र-निर्माण श्वसुरालय द्वारा ही होगा। इस दशा में वह बिलकुल ऐसी नर्म मिट्टी के समान होगी जिसे इच्छानुसार अभीष्ट रूप दिया जा सकता है। बचपन से ही वह अपनी रुचि, प्रवृत्ति और स्वभाव को श्वसुरालय की परम्पराओं के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करती थी और यही कारण था कि संयुक्त परिवार में कभी कोई वैमनस्य या कलह उत्पन्न नहीं हो सकता था।

पूर्व मध्य युग के तरुण विवाह

बालविवाहों का रिवाज होने पर भी पूर्व मध्य युग (६००-१२००) के पहले हिस्से में हमें तरुण विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। हर्ष की बहिन राज्यश्री विवाह के समय तरुणी थी। विवाह के बाद उसने अपने पति के साथ सहवास किया। किन्तु कल्याण के राजा विक्रमांक चालुक्य की कन्या का गोवा के कदम्बवंशी राजकुमार से बाल-विवाह हुआ था। सम्राट पृथ्वीराज का भी पहला विवाह छोटी आयु में हुआ था। अल्बेरूनी (१०३० के लगभग) ने यह लिखा है कि हिन्दुओं में विवाह छोटी उम्र में हो जाते हैं, इसलिए वधू का चुनाव माता-पिता ही करते हैं। ११वीं शती के बाद केवल क्षत्रियों में और कुछ विशेष जातियों में तरुण विवाह के उदाहरण मिलते हैं। १५ वीं शती में पराशर स्मृति के व्याख्याकार माधव ने लिखा है कि केरल देश में कन्याओं का ऋतुमती होना दोष नहीं है। यह उसी पाण्ड्य देश के साथ लगा हुआ है जिसके बारे में ४ थी श० ई० पूर्व में मेगस्थनीज ने यह बात लिखी है कि वहाँ की कन्याएँ ६ठे साल में बच्चे जना करती हैं। ११००-१३०० (ई० पश्चात्) के बीच में दाक्षिणात्य हरदत्त ने आश्वलायन गृह्य-सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि कई देशों में विवाह के बाद तीन दिन के ब्रह्मचर्य की शर्त का पालन नहीं किया जाता अपितु अविलम्ब सहवास शुरू हो जाता है। क्षत्रिय बहुधा अपनी कन्या की शादी रजस्वला होने के बाद ही करते थे। मित्रमिश्र ने १७ वीं शती में क्षत्रियों को इस प्रकार की छूट देते हुए लिखा है कि बालविवाह की विधि ब्राह्मणों के लिए ही है। किन्तु मध्यकालीन हिन्दू समाज में बालविवाह ही प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी, उपर्युक्त उद्धरण इसका अपवाद मात्र ही है।

१६वीं शताब्दी में अकबर के समय तक यह बुराई इतनी बढ़ चुकी थी कि अकबर ने इसे सुधारने का यत्न किया, किन्तु कट्टर मुल्लाओं के विरोध के कारण वह इस प्रयत्न में सफल न हुआ। १६ वीं शती के अंग्रेज व्यापारी फिच ने बंगाल में १० और ६ वर्ष की बालक-बालिकाओं के विवाह देखे। १७ वीं शती का इतालवी यात्री मनूची कहता है कि प्रायः लड़कियों का विवाह बोलना शुरू करने के पहले ही हो जाता है और १० वर्ष

की आयु से पहले-पहले ही सब कन्याएं ब्याह दी जाती हैं। फ्रेंच यात्री टैवर्नियर कहता है कि विवाह की आयु ७–८ वर्ष होती थी। एब्बे डुबोइस ने १८ वीं शती के अन्त में दक्षिण भारत का वर्णन करते हुए लिखा है कि १६ वर्ष का ब्राह्मण पाँच, सात या अधिक से अधिक नौ वर्ष की कन्या से शादी करता है।

ग्रामगीत तथा बालविवाह—मध्य युग में शास्त्रों द्वारा बालविवाह के अनिवार्य बना दिये जाने पर भी युवक और युवतियों के विवाह की प्रथा सर्वथा लुप्त नहीं होने पायी। ग्राम गीतों में हमें जो विवाह का आदर्श मिलता है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें बाल-विवाह का समर्थन नहीं होता। इन गीतों में प्रायः वर और कन्या के एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होने तथा एक दूसरे के पसन्द करने के बाद ही विवाह करने का वर्णन मिलता है। पहले अध्यायों में इस प्रकार के गीतों के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। एक गीत में वर कन्या को पसन्द करता है, उसके साथ विवाह की इच्छा प्रकट कर रहा है, किन्तु कन्या के भाई को यह गवारा नहीं हो सकता कि वह अपनी बहिन को उसके पास ले जाय। वह उसे माँगने वाले को मारने के लिए तलवार लेकर दौड़ता है। इसके बाद भीतर से लाड़ में पली हुई कन्या निकलती है, उसकी माँग मोतियों से भरी होती है, वह कहती है—हे भाई, इस तपस्वी को मत मारो, इसे मार डालोगे तो मेरे जीवन की नैया कौन पार लगायेगा।[२६] क्या यह भाव ५, ६ वर्ष की कन्या प्रकट कर सकती है? कई ग्रामगीतों में वर ढूंढने जाते समय कन्याएँ पिताओं से प्रार्थना करती हैं कि हमारे लिए इस प्रकार के वर खोजना। मारवाड़ के एक गीत में कन्या पिता से कहती है—"मेरे लिए काला वर मत ढूंढना। वह कुटुम्ब को लज्जित करेगा। ऐसा वर ढूंढना, जो काशी में वास कर चुका हो अर्थात् शिक्षित हो।[२७] कन्या समझदार होने पर ही ऐसी बातें कह सकती है। एक अन्य गीत में एक युवक कहता है कि मैं जब दक्षिण देश से पढ़कर लौटा तब मेरा विवाह हुआ। ये सब गीत सूचित करते हैं कि बालविवाह की कुप्रथा प्रचलित होने के बहुत बाद तक भी हिन्दू समाज में कुछ तरुण विवाह होते रहे।

मध्य युग में अन्य देशों में बालविवाह—बालविवाह भारत की विशेषता हो, यह बात नहीं है। मध्यकाल में यूरोप में भी यह कुप्रथा अपना प्रभाव जमाये हुए थी। रोम में कन्या की शादी १० वर्ष की उम्र में हुआ करती थी।[२८] रोमन कानून द्वारा पुरुष १४ तथा स्त्री १२ वर्ष की उम्र में विवाह कर सकते थे (इंस्टीट्यूट आफ दी जस्टीनियन, खण्ड १, धारा १०, १३)। मध्यकाल में चर्च ने विवाह की यही आयु स्वीकार

२६ रामनरेश त्रिपाठी—ग्रामगीत कविता कौमुदी पृ० १३७ 'भीतर से निकसी लाडली मोतियन मांग भरो। जनि मारो पूत तपसिया अमन मेरो को खेह है।'

२७ कविता कौमुदी, तृ० भा०, पृ० २०६

२८ म्यूलर—फैमिली, पृ० २६०

की थी। प्रायः सभी देशों के कानूनों में इसका अनुसरण किया गया, किन्तु प्रायः इस मर्यादा का पालन नहीं होता था। चाइल्ड मैरिजिस एण्ड डाईवोर्स (बालविवाह व तलाक) नामक पुस्तक में यह बताया गया है कि १६वीं शती में इंगलैण्ड में खूब बाल-विवाह होते थे, ६ तथा १० वर्ष के और कभी दो और तीन वर्ष के बालक-बालिकाओं की भी शादी होती थी। १६२६ ई. तक इंगलैण्ड में लड़के-लड़कियों की विवाह की उम्र १४ और १२ थी। १६२६ में भारत में शारदा कानून के बनने के साथ ही इंग्लैण्ड में पालियामेण्ट ने कानून द्वारा बालक-बालिकाओं के लिए विवाह की कानूनी आयु १६ वर्ष नियत की।[२६]

मध्ययुग में बालविवाह प्रचलित होने के कारण

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मध्ययुग में हिन्दू समाज में बालविवाह का प्रचलन बहुत अधिक बढ़ गया था। उस समय इसके प्रचलित होने के कारणों में प्रमुख कारण निम्नलिखित थे । पहला कारण शास्त्रीय व्यवस्था और रूढ़िवाद था। विभिन्न स्मृतियों में इस व्यवस्था पर बल दिया गया था कि रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए, रजोदर्शन के बाद उनका विवाह करने वाले माता-पिता को बृहद्यम स्मृति ने पापी घोषित किया था। ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार यह भ्रूणहत्या के महापातक के समान था, इससे माता-पिता जाति से बहिष्कृत तथा कन्या शूद्रा तथा विवाह के योग्य नहीं रहती थी। इस पाप से बचने के लिए बाल विवाह की प्रथा बद्धमूल हुई। दूसरा कारण अशान्त राजनीतिक परिस्थिति थी। मध्य युग में विदेशी एवं विधर्मी जातियों के प्रबल आक्रमण होने से तथा उनका शासन स्थापित होने पर देश की तत्कालीन स्थिति बड़ी असुरक्षित और अनिश्चित हो गयी थी। विदेशी आक्रमणकारी अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाये थे। उन्हें इस देश की स्त्रियों को लेने में आपत्ति नहीं थी, किन्तु हिन्दू विधर्मी म्लेच्छों को अपनी कन्याएँ देने को तैयार नहीं थे। कन्याओं को मुस्लिम हाथों में पड़ने से बचाने का सरल उपाय छोटी आयु में उनका विवाह कर देना था। क्योंकि इस्लाम में विधर्मी विवाहित स्त्री से विवाह करना हराम या निषिद्ध कार्य समझा जाता था, इनसे विवाह करना वैध नहीं था। अतः हिन्दू स्त्रियों को मुसलमानों से सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम उपाय बालविवाह था। तीसरा कारण लड़कियों के कौमार्य की रक्षा की चिन्ता थी। कौमार्य हिन्दू विवाह की आधारभूत शर्त थी, खण्डित कौमार्य वाली लड़की का विवाह समाज में संभव नहीं था। कन्या के बड़ी होने पर उसके पथभ्रष्ट हो जाने पर कौमार्य-भंग की संभावना बनी रहती थी। इसे दूर करने के लिए बालविवाहों की प्रथा

२६ **१६२६ जार्ज किंग्ध चेप्टर ३६, पुबसैल–ए हिस्टरी आफ मैरिज एण्ड फैमिली न्यूयार्क १६४५, पृ० १६६-७।**

को प्रोत्साहन मिला।[३०] **चौथा** कारण कृषि प्रधान संयुक्त परिवार की प्रथा थी। कृषि प्रधान समाजों में खेती के काम के लिए जितने अधिक व्यक्ति मिल सकें, फसल की जुताई, बोआई और कटाई के समय में उतने ही अधिक उपयोगी होते हैं। छोटी आयु में विवाह से अधिक सन्तानें मिलती हैं। संयुक्त परिवार की व्यवस्था में इनका पालन-पोषण परिवार के संयुक्त कोश से होता है, किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं होता है। आजकल अपने परिवार से पृथक् रहने वाला नवयुवक आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के बाद ही विवाह करना चाहता है, क्योंकि उसे अपनी पत्नी और बच्चों के भरण-पोषण की व्यवस्था करनी है। मध्ययुग में ऐसी स्थिति नहीं थी। पत्नी का भरण-पोषण संयुक्त परिवार से होता था। जल्दी विवाह होने से घर का काम निपटाने के लिए एक उपयोगी प्राणी मिल जाता था, यह विवाह जितनी छोटी आयु में हो उतना अच्छा था, छोटी बच्ची को जिस किसी कार्य में जोता जा सकता है, वहाँ जरा भी ननुनच नहीं करती, बड़ी आयु की लड़की ऐंठ भी दिखा सकती है। **पांचवां** कारण दहेज की प्रथा थी। लड़की की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसकी हैसियत अधिक होने से दहेज की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। छोटे बच्चों के लिए दहेज का प्रश्न अधिक विकट नहीं होता है, अतः दहेज की चिन्ता से बचने का इलाज छोटी आयु में विवाह करना था। **छठा** कारण बालविवाह से एक बड़ा लाभ यह था कि इससे सजातीय विवाह के नियम का पालन आसानी से हो सकता था। मध्यकालीन शास्त्रकार अपनी ही जाति में विवाह के पक्षपाती थे। इसके पालन में भी बालविवाह उपयोगी था। यदि विवाह बड़ी आयु में हो तथा युवक-युवती अपनी इच्छा से विवाह करने लगें तो वे अपनी जाति और बिरादरी से बाहर विवाह कर सकते हैं। माता-पिता द्वारा बालविवाह के किये जाने के कारण उसमें यह संभावना नहीं रहती है। **सातवां** कारण इस अवस्था में वैवाहिक जीवन में सौमनस्य और आनुकूल्य बने रहने का लाभ है। बड़ी आयु में विवाह की व्यवस्था की दशा में शादी होने तक वर-वधू की आदतें आयु अधिक होने के कारण परिपक्व हो जाती हैं, इन्हें बदलना आसान नहीं होता है। यदि दोनों के स्वभाव में विरोध या मतभेद हो तो दाम्पत्य कलह की संभावना बढ़ जाती है, गृहस्थ जीवन नरक बन जाता है। बालविवाह की प्रथा में यह खतरा नहीं है। इसमें बहू बहुत छोटी आयु में श्वशुरालय में आती है, वह गीली मिट्टी के समान होती है, उसे बड़ी आसानी से किसी भी सांचे में ढाला जा सकता है। वह शीघ्र ही अपने को नये परिवार के अनुकूल बना लेती है। इसके साथ उसका पूरा सामंजस्य हो जाने के कारण परिवार में तथा दाम्पत्य जीवन में किसी प्रकार के विरोध अथवा संघर्ष की संभावना नहीं रहती है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए कर्वे ने लिखा है कि बालविवाह की प्रथा के प्रचलन का एक कारण यह था कि इसमें वधू अपने पिता

[३०] रास—दी हिन्दू फैमिली इन अर्बन सैटिंग, पृ० २४६

के प्रभुत्व से पति के प्रभुत्व में चली जाती थी, यह कार्य छोटी आयु में अधिक आसान था, क्योंकि इसमें वधू में अभी ऐसी क्षमता का विकास नहीं होता था जिसमें वह पति के अधिकार पर कोई सन्देह कर सकती थी।[३१]

आधुनिक युग में बालविवाह की हानियाँ

उपर्युक्त परिस्थितियों तथा कारणों के प्रभाव से मध्ययुग में हिन्दू समाज में बालविवाह की पद्धति अत्यधिक प्रचलित हो गयी, लड़कियों का विवाह समाज में न केवल रजोदर्शन से पूर्व ८ से १० वर्ष की आयु में किया जाना आवश्यक एवं अच्छा समझा जाने लगा, अपितु कुछ माता-पिता बच्चों के जन्म से पहले ही उनके विवाह तय करने लगे।[३२] किन्तु १९वीं शताब्दी के मध्य में भारत में नयी राष्ट्रीय चेतना तथा नव जागरण उत्पन्न होने से बालविवाह के दूषित परिणामों को हिन्दू समाज भली-भाँति अनुभव करने लगा। इस की पहली बड़ी हानि यह थी कि अपरिपक्व आयु में विवाह होने का पति-पत्नी के तथा सन्तान के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता था। यद्यपि द्विरागमन या गौने की व्यवस्था से कई बार इस दुष्प्रभाव का समुचित प्रतिकार हो जाता था, किन्तु बालक बालिकाओं के सहवास तथा सन्तानोत्पादन पर बहुत कम कानूनी प्रतिबन्ध थे। १८६० के भारतीय दण्डविधान में लड़की के लिए दाम्पत्य सहवास की न्यूनतम अवस्था (Age of Consent) दस वर्ष थी। इससे कम आयु के सहवास को ही दण्डनीय अपराध बनाया गया था। यह आयु संभवतः स्मृतिकारों के उपर्युक्त वचनों को तथा बालविवाह की प्रथा को देखते हुए तय की गई थी। १८६० में बंगाल में फूलमणि नामक सुकोमल कन्या का ११ वर्ष की आयु में पति के साथ सहवास के कारण देहान्त हो गया। पति पर पत्नी की हत्या का अभियोग चलाया गया, किन्तु भारतीय दण्डविधान की १० वर्ष की आयु में दाम्पत्य सहवास की उपर्युक्त व्यवस्था के आधार पर पति निर्दोष समझा गया। इस घटना ने इस प्रथा की भीषण हानियों की ओर तथा इसके संशोधन की ओर समाजसुधारकों का ध्यान आकृष्ट किया। इससे सब लोगों को यह पता लगा कि छोटी आयु में विवाह एवं कामसम्बन्ध करने से वर-वधू जवानी में बूढ़े हो जाते हैं, उनका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है, उनकी सन्तान निर्बल होती है, अल्पायु में प्रसव होने पर स्त्रियों का शरीर निर्बल होने के कारण अनेक बीमारियों का घर बन जाता है, फूलमणि जैसी अभागी स्त्रियाँ अकाल में ही काल का ग्रास बनती हैं, स्त्रियों की तथा बच्चों की मृत्यु संख्या में वृद्धि होती है, बचपन में ही विवाह का उत्तरदायित्व आ पड़ने से पति-पत्नी का विकास अवरुद्ध हो जाता है, लड़के-लड़कियों की शिक्षा में बाधा खड़ी हो जाती है, वे शिक्षा पाने के अवसरों से वंचित हो जाती हैं। इन सब हानियों का अनुभव करते हुए १९वीं

३१ कर्वे—किनशिप आर्गेनिजेशन, इन इंडिया पृ० १६८

३२ कर्वे—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इंडिया, पृ० १३८

शताब्दी के सभी धार्मिक और समाजसुधारकों ने, ब्राह्मसमाज एवं आर्यसमाज ने, स्वामी दयानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानडे आदि सुधारकों ने इस बुराई को दूर करने पर बल दिया, इसके विरुद्ध प्रबल लोकमत बनाया और कानून द्वारा इसे रोकने का प्रयत्न किया गया।

बालविवाह की प्रथा दूर करने के कानूनी प्रयत्न

कानून द्वारा बालविवाहों को रोकने का पहला प्रयत्न १८६० के भारतीय दण्ड-विधान द्वारा निर्धारित दस वर्ष की सहवास की अवस्था को ऊंचा उठाना था। एक पारसी सुधारक श्री बहरामजी मलाबारी (१८५३–१९१२) ने १८८४ में इस विषय में एक आवेदन-पत्र भारत सरकार को भेजते हुए सरकार से यह अनुरोध किया कि इस प्रथा के भीषण दुष्परिणामों को देखते हुए इस आयु को ऊंचा उठाना चाहिए। वे इस विषय में प्रचार के लिए इंग्लैण्ड गये। इस पर पर्याप्त विचारविमर्श और वाद-विवाद के बाद भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि हिन्दू समाज के आंतरिक मामलों में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु १८९० में फूलमणि की मृत्यु से बाल-विवाह निषेध आन्दोलन पुनः प्रबल हुआ और १८९१ में भारतीय दण्डविधान में संशोधन करते हुए दाम्पत्य सम्बन्ध की न्यूनतम अवस्था (Age of Consent) दस वर्ष से बढ़ा कर बारह वर्ष कर दी गयी।

किन्तु लड़कियों के लिए यह अवस्था भी बहुत कम थी, अतः इसे बढ़ाने का आंदोलन और प्रयत्न किया जाने लगा। १९२४ में श्री हरिसिंह गौड़ ने इस उम्र को १४ वर्ष तक करने का प्रस्ताव केन्द्रीय विधान सभा में रखा। इसके पास न होने पर १९२७ में सहवास की आयु के प्रश्न पर विचार के लिए उनके प्रस्ताव के आधार पर सहवास अवस्था कमेटी (Age of Consent Committee) बनायी गयी, इसने अपनी रिपोर्ट में यह कहा कि कन्या के विवाह की १२ वर्ष की अवस्था हानिप्रद है, यह कम से कम १४ वर्ष होनी चाहिए। श्री हरविलास शारदा ने इस कमेटी की सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए एक बालविवाह निषेधक कानून (Child Marriage Act) १९२९ में पास कराया। यह उनके नाम से शारदा कानून कहलाता है।

शारदा कानून—इसके अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु १८ वर्ष से तथा लड़की की आयु १४ वर्ष से अधिक होनी चाहिए। १९४९ के एक संशोधन के अनुसार लड़की के विवाह की आयु को १४ वर्ष से बढ़ाकर १५ वर्ष कर दिया गया है। इससे कम आयु वालों को बालक समझा जाता है। उनका विवाह बालविवाह है तथा इसे करने वालों के लिए निम्नलिखित दण्डव्यवस्था की गयी है। यदि १८ से २१ वर्ष तक की आयु वाला लड़का १४ वर्ष से कम आयु की लड़की के साथ विवाह करता है तो इसे १५ दिन का साधारण कारावास या एक हजार रुपये तक का जुर्माना या दोनों दण्ड दिये जा सकते

है। २१ वर्ष से अधिक आयु के लड़के द्वारा १४ साल से कम आयु की लड़की के साथ विवाह करने पर उसे तीन मास तक की कैद की सजा दी जा सकती है। बालविवाह कराने में सहायता करने वालों को भी तीन महीने की जेल का दण्ड दिया जा सकता है, बालविवाह कराने वाले माता-पिता के लिए भी इसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गयी है। इस कानून के अनुसार किसी स्त्री को कारावास का दण्ड नहीं दिया जा सकता। ऐसे मामलों की जाँच प्रथम श्रेणी का मैजिस्ट्रेट ही कर सकता है। बालविवाह का अपराध सिद्ध हो जाने पर भी इसे असंपन्न या त्याज्य अथवा कानून द्वारा कभी न हुआ घोषित नहीं किया जा सकेगा, यह विवाह तो माना जायगा, किन्तु उसके लिए दण्ड दिया जायगा, विवाह को रद्द नहीं घोषित किया जा सकता है। बालविवाह शासन द्वारा हस्तक्षेप्य अपराध नहीं किन्तु अहस्तक्षेप्य (Non-recognizable) अपराध है। हस्तक्षेप्य अपराध वे हैं जिन पर पुलिस स्वयमेव कार्यवाही करती है, हत्या आदि के भीषण अपराध इसी कोटि के हैं। अहस्तक्षेप्य अपराध वे होते हैं, जिन पर पुलिस तभी कार्यवाही करती है, जब इसकी सूचना कोई व्यक्ति पुलिस को देता है। स्वयमेव पुलिस ऐसे अपराधों पर कोई कार्यवाही नहीं करती है। इस कानून के अनुसार बालविवाह की जो भी शिकायत हो, वह एक वर्ष के भीतर सुनी जा सकती है। विवाह के बाद एक साल बीत जाने पर कोई शिकायत नहीं सुनी जा सकती है।

इस कानून के १९२९ में पास हो जाने के बाद भी हिन्दू समाज से बालविवाहों का पूरी तरह लोप नहीं हुआ है। १९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत में पांच से चौदह वर्ष की आयु के विवाहित पुरुषों की संख्या २८ लाख ३३ हजार, विवाहित स्त्रियों की संख्या ६१ लाख १८ हजार, विधुर पुरुषों की संख्या ६६ हजार तथा विधवाओं की संख्या १ लाख ३४ हजार थी। बालविवाह की प्रथा प्रचलित रहने के कुछ बड़े कारण—रूढ़िवादिता, धर्म शास्त्रीय आदेशों के पालन की भावना तथा शारदा कानून की व्यवस्थाओं का शिथिल होना है। फिर भी शनैः-शनैः नवीन परिस्थितियों से तथा आगे बताये जाने वाले कारणों से भारत में विवाह की आयु ऊँची उठ रही है तथा इस कुप्रथा का प्रचलन कम हो रहा है। यह बात अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका के आंकड़ों से स्पष्ट हो जायगी।[33]

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि १९२१-३१ की दशाब्दी को छोड़ कर स्त्रियों की विवाह की औसत आयु में निरन्तर वृद्धि हो रही है, इस दशाब्दी में वृद्धि न होने का कारण यह था कि शारदा कानून के पहली अप्रैल १९३० से लागू होने से पहले इससे बचने के लिए सारे देश में बहुत बड़े पैमाने पर बालविवाह किये गये थे।[34]

[33] एस० एन० अग्रवाल—एज एट मैरिज इन इंडिया, पृ० ७२

[34] सेन्सस आफ इंडिया १९३१, भाग १, खं० १, पृ० २२९-३४

भारत में विवाह की औसत आयु[३५]

जनगणना के वर्ष	पुरुषों की आयु	स्त्रियों की आयु
१८९१–१९०१	२१.०१	१२.७७
१९०१–११	२०.४४	१३.०६
१९११–२१	२०.७४	१३.५२
१९२१–३१	१८.४५	१२.५०
१९३१–४१	२०.३४	१४.९३
१९४१–५१	१९.९३	१५.३८

वर्तमान समय में बालविवाह कम होने के कारण

बीसवीं शताब्दी में अनेक आधुनिक नवीन प्रवृत्तियों के कारण बालविवाह की प्रथा हिन्दू समाज में, विशेषतः शहरों के मध्य वर्ग में कम होने लगी है। इस विषय में श्री कापड़िया द्वारा किये गये एक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इसमें केवल २५ प्रतिशत लड़कियों का विवाह १७ वर्ष की आयु से पहले हुआ था, ३३ प्रतिशत के विवाह की आयु १७-१८ वर्ष थी, २२ प्रतिशत का विवाह १९-२० वर्ष की आयु में हुआ था, १७ प्रतिशत का २१ तथा २१ से २४ वर्ष की आयु में तथा ४ प्रतिशत का २५ से २७ वर्ष की आयु में। इस प्रकार ७५ प्रतिशत लड़कियों का विवाह १७ वर्ष की आयु के बाद हुआ।[३६] इससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों के विवाह की आयु ऊंची उठ रही है।

इसके चार प्रधान कारण हैं। पहला कारण शिक्षा का है। अब वर-वधू के लिये शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। पहले संयुक्त परिवार की प्रथा होने के कारण नवविवाहित दम्पती उस में रहते थे और उनका भरण-पोषण परिवार के संयुक्त श्रम से होता था, युवकों को अपने परिवार का आर्थिक दायित्व उठाने की चिन्ता नहीं होती थी। किन्तु संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन हो जाने से अब युवकों को अपने परिवार का आर्थिक बोझ स्वयमेव अपने कन्धों पर उठाना पड़ता है, अतः वे तब तक विवाह नहीं करना चाहते, जब तक वे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी न हो जायं। ऐसा होने का प्रधान साधन नौकरियाँ हैं और वे शिक्षित युवकों को ही मिलती हैं, अतः युवक अपनी शिक्षा समाप्त करने से पहले विवाह के बंधन में नहीं पड़ना चाहते हैं। रास के अध्ययन में १८ अविवाहित युवकों में से सोलह ने यह कहा कि आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने से पहले वे विवाह नहीं करना चाहते।[३७] एक युवक का कहना था कि "२६ वर्ष की आयु में मैं

[३५] एस० एन० अग्रवाल—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ७५

[३६] कापड़िया—मैरिज एण्ड फैमिली पृ० ६४, १५०-५१

[३७] रास—दी हिन्दू फैमिली इन इट्स अर्बन सैटिंग पृ० २४८

पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर लूंगा, उस समय मुझे अच्छे वेतन वाली नौकरी मिल जायगी, तभी विवाह करने का विचार करूँगा। ऐसे युवक प्रायः पढ़ी-लिखी शिक्षित पत्नी की मांग करते हैं, अतः अब हिन्दू समाज में स्त्रियों की शिक्षा पर बहुत बल दिया जाने लगा है। स्त्रियों के लिए न्यूनतम शिक्षा मैट्रिक की है, इसे प्राप्त करने तक वे १५-१६ वर्ष की हो जाती हैं, बी० ए० पास करने तक १६-२० की आयु हो जाती है। इस आयु तक कन्याओं का विवाह कम होने लगा है। समाज के मध्य एवं उच्च वर्ग में अब इस आयु तक प्रायः कन्याएँ शिक्षा प्राप्ति के लिए अविवाहित रहने लगी हैं। दूसरा कारण आर्थिक है। युवक आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने की इच्छा के कारण नौकरी पाने पर ही विवाह करना चाहते हैं, अतः उनका विवाह और भी बड़ी आयु में होने लगा है। ऊपर २६ वर्ष की आयु में विवाह करने वाले युवक का उदाहरण दिया गया है क्योंकि वह समझता था कि इस आयु तक पी-एच० डी० करने के बाद उसे ऊँचे वेतन वाली नौकरी मिल जायगी। तीसरा कारण लड़कियों के लिये उपयुक्त वर ढूंढने में लगने वाला समय है, जात-पांत, गोत्र, प्रवर, जन्मपत्री आदि के अनेक वैवाहिक प्रतिबन्धों के कारण हिन्दू समाज में वर ढूंढना आसान कार्य नहीं है, इसमें बहुत समय लगता है, इस कारण भी विवाह की आयु ऊँची उठ रही है। चौथा कारण दहेज तथा विवाह में किया जाने वाला भारी व्यय है। इनके लिये आवश्यक धनराशि जुटाने में बहुत समय लग जाता है।

अतः हिन्दू समाज में बालविवाह की प्रथा का उपर्युक्त कारणों से स्वयमेव लोप हो रहा है। इसका स्पष्टीकरण रास के अध्ययन की निम्नलिखित दो तालिकाओं से हो जायगा। पहली तालिका में इस अध्ययन में सम्मिलित होने वाले स्त्री-पुरुषों को दो वर्गों में बांटा गया काफी समय पहले शादी करने वाले (Old married) तथा नवविवाहित (Young married)। विभिन्न आयु समूहों की दृष्टि से दोनों वर्गों के पति-पत्नी के विवाह की आयु इस तालिका में प्रदर्शित है (रास पृ०२४६)।

विवाह की आयु

विवाह की आयु	पुराने विवाह वाले दम्पती		नव विवाहित दम्पती	
	पति	पत्नी	पति	पत्नी
१०-१३	—	१२	—	२
१४-१५	—	४	—	५
१६-१८	६	७	—	१२
१९-२४	१३	४	१९	१४
२५ वर्ष से तथा इससे अधिक	९	—	१५	—
	२८	२७	३४	३३

इस तालिका से स्पष्ट है कि १० से १३ वर्ष की आयु में जहाँ पुरानी शादी वाली स्त्रियों की संख्या १२ थी, वहां नवविवाहितों में यह घट कर केवल ? ही रह गयी है। १६ से १८ तथा १६ से २४ वर्ष की आयु में विवाह करने वाले नव दम्पतियों की संख्या बढ़ रही है। २५ वर्ष तथा इससे अधिक आयु वाले पतियों की संख्या पुराने दम्पतियों में ६ थी, किन्तु नवविवाहितों में यह १५ हो गयी है (राम पृ० २४६)।

दूसरी तालिका विवाह की आयु के सम्बन्ध में नवीन प्रवृत्ति को सूचित करती है। इसमें अविवाहित स्त्री-पुरुषों से यह प्रश्न पूछा गया था कि वे किस आयु में विवाह करने की इच्छा रखते हैं। उन के उत्तरों का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका में है।

विवाह करने की अभीष्ट आयु

	अविवाहित पुरुष		अविवाहित स्त्रियां	
	पति	पत्नी	पति	पत्नी
१०–१३	—	—	—	—
१४–१५	—	—	—	—
१६–१८	—	४	—	—
१९–२४	—	१६	४	७
२५ तथा इससे अधिक	२५	६	५	१
सर्वयोग	२५	२२	९	८

इस तालिका से स्पष्ट है कि अब हिन्दू समाज में शिक्षित स्त्रियाँ १६ वर्ष से पहले विवाह करना पसन्द नहीं करती हैं।

कानून द्वारा स्त्रियों के विवाह की आयु बढ़ाने का प्रस्ताव

तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या इस समय हमारे देश की सम्पन्नता और समृद्धि में भीषण बाधा बनी हुई है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश की आय में जो वृद्धि होती है, उसे बढ़ती हुई जनसंख्या समाप्त कर देती है। अतः भारतवासियों की सम्पन्नता बढ़ाने की दृष्टि से आजकल जनसंख्या कम करने के लिए परिवार नियोजन के कार्यक्रम पर बहुत बल दिया जा रहा है और यह प्रयत्न किया जा रहा है कि भारत की वर्तमान जन्म दर को ४१.५ प्रति हजार से घटा कर २५ प्रति हजार कर दिया जाय। अभी तक इस जन्म दर में इस प्रकार की कमी बम्बई आदि शहरों के शिक्षित वर्ग में हो सकी है। इसे देश में व्यापक रूप से शीघ्र ही करने की दृष्टि से कुछ वैज्ञानिकों और विचारकों का सुझाव है कि भारत में लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु कानून द्वारा

यदि २० वर्ष कर दी जाय तो जन्मदर में तीस प्रतिशत की अभीष्ट कमी शीघ्र ही हो सकती है। किन्तु इस सुझाव का भारत के महिला संगठनों तथा नेताओं की ओर से इसलिए तीव्र विरोध हो रहा है कि भारत सरकार अभी तक १५ वर्ष की न्यूनतम आयु निर्धारित करने वाले शारदा कानून का पालन नहीं करवा सकी है तो वह २० वर्ष वाले कानून का पालन कैसे करा सकेगी। शादी की आयु को और बढ़ाने का कानून यह जानते हुए पारित करना कि उसका पालन नहीं होगा, कानून के उल्लंघन को बढ़ावा देना है, यह किसी भी समाज के लिए हितकर या वांछनीय नहीं है। स्त्रियों की विवाह की आयु को बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन उनकी शिक्षा की तथा रोजगार की सुविधा बढ़ाना है। इससे कन्याओं के विवाह की आयु स्वयमेव ऊँची उठ जायगी।

अध्याय ११

विधवाविवाह

विधवा विवाह के निषेध की क्रमिक अवस्थाएं

बालविवाह की भांति विधवाविवाह के निषेध की घातक प्रथा भी वर्तमान समय में हिन्दू जाति की क्षीणता एवं विनाश के पथ पर ले जा रही है। यह प्रथा वैदिक काल में प्रचलित नहीं थी, बाद में इसका प्रचलन हुआ। विधवा विवाह का निषेध तीन ऐतिहासिक अवस्थाओं में से होकर गुजरा है—

(१) प्रारम्भिक काल से २०० ई० पू० तक विधवा विवाह प्रचलित था।

(२) २०० ई० पू० के बाद से क्षतयोनि विधवाओं के विवाह को निन्दा की दृष्टि से देखा जाने लगा। मनु ने ऐसे विवाहों की घोर निन्दा की। अगले १४०० वर्षों में क्षतयोनि विधवाओं का विवाह बिल्कुल बन्द हो गया, किन्तु अक्षतयोनि विधवाओं का विवाह हो सकता था।

(३) १२ वीं शती से अक्षतयोनि विधवा का विवाह भी अधर्म समझा जाने लगा और समाज के उच्च वर्ग में विधवा विवाह के निषेध की प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित हो गयी। हिन्दू समाज की बहुत सी नीची समझी जाने वाली जातियों ने विधवा विवाह के निषेध को उच्च जातियों से ग्रहण किया, किन्तु फिर भी इन जातियों ने अब तक इसे पूर्ण रूप से नहीं अपनाया। हिन्दू समाज की अनेक निम्न जातियों में विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा अब तक प्रचलित है। इस अध्याय में विधवा विवाह निषेध के ऐतिहासिक विकास का प्रतिपादन किया जायगा।

वैदिक युग में विधवा विवाह

वैदिक युग में पति के मर जाने पर पत्नी नियोग कर सकती थी या दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती थी। अथर्ववेद के पितृमेध सूक्त (१८।३) में इसका स्पष्ट उल्लेख है। यह सूक्त अन्त्येष्टि संस्कार से संबद्ध है और इसके प्रारम्भिक मन्त्रों में पति की मृत्यु के दुःख से सन्तप्त एवं विलाप करने वाली पत्नी को सान्त्वना दी गयी है। उसे सान्त्वना देते हुए कहा गया है कि "अब तेरे शोक करने का कोई लाभ नहीं है, तू मृत पति के पास से उठ, अपने सांसारिक कर्तव्यों की ओर ध्यान दे और प्राचीन धर्म का पालन करते

हुए पुनर्विवाह द्वारा सन्तान उत्पन्न कर।" इतना ही नहीं, अपितु यह भी कहा गया है कि जब उसने पुनर्विवाह कर लिया तो उसका शोक दूर हो गया और फिर उसकी अघ्न्या गौ के साथ उपमा देते हुए उसके दूसरे पति को गोपति (बैल) कहा गया तथा पत्नी को यह आदेश दिया गया कि तू उसकी प्रीतिपूर्वक सेवा कर। एक लेखक ने पति की मृत्यु के बाद अन्त्येष्टि विधि में पढ़े जाने वाले इन मन्त्रों में पुनर्विवाह की चर्चा को बेहूदा बताया है।[1] किन्तु पत्नी के शोक को शान्त करने के लिए सान्त्वना देते हुए पुनर्विवाह की प्रेरणा करने में हमें कोई बेहूदगी नहीं प्रतीत होती है। इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—"हे मनुष्य, पति के मरने के बाद पति को चाहती हुई और सनातन धर्म का पालन करती हुई यह नारी तेरे पास आती है। तू इस लोक में इसे सन्तान और सम्पत्ति दे।"[2] "हे नारी, तू इस मृत पति के साथ लेटी हुई है, तू यहाँ से उठ और जीवित रहने

[1] अल्तेकर—पो० वु० ए० ई० द्वितीय संस्करण पृ० १५०, जब स्मृतियों में पत्नी का दाहकर्म करके एकदम विवाह करने की आज्ञा दी गयी है (याज्ञ० १।८९) तो पत्नी के लिए इस प्रकार के विधान को बेहूदा क्यों समझा जाये ?

[2] अथर्व १८।३।१, इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती, तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—"हे मरनेवाले मनुष्य, यह स्त्री पति द्वारा किये गये कर्मों के स्थान—स्वर्गलोक का सेवन करती हुई (वृणाना संभजती) मरे हुए अर्थात् पृथ्वीलोक से गये हुए तुझ पति के पास पहुँचती है। पुराणधर्म का अर्थात् अनादि काल के शिष्टाचार से प्राप्त या स्मृतियों और पुराणों में लिखे धर्म का पालन करती हुई और तेरे साथ सती हो जाने वाली इस स्त्री के लिए तू इस लोक में अर्थात् दूसरे जन्मों में (भवान्तरे) सन्तान और धन को दे। सायण ने इस प्रकार सती प्रथा को वेदानुमोदित बतलाते हुए स्मृति के एक प्रमाण से भी अपने अर्थ को पुष्ट करना चाहा है। किन्तु सायण का यह अर्थ कई कारणों से समीचीन नहीं प्रतीत होता। सायण के समय में सती प्रथा प्रचलित थी। सायण ने इस मन्त्र से उस प्रथा की सिद्धि की है। वास्तव में वैदिक काल में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। इस विषय में वेदों तथा गृह्यसूत्रों के प्रमाण अन्यत्र दिये गये हैं। इसी सूक्त का ही अगला मन्त्र सती प्रथा का खण्डन करता है, उसमें स्त्री को पति की चिता के पास से उठने का आदेश दिया गया है। सायणाचार्य स्वयं दूसरे मन्त्र की उत्थानिका में इसे स्वीकार करते हैं 'यदि वह इस लोक में जीना चाहे तो "उदीर्ष्व" के दूसरे मन्त्र (ऋ० १०।१८।८) से मृत पति के साथ लेटी हुई पत्नी को उठाये' (सा यदि इहलोके पुनर्जीवितुमिच्छेत् तदा उदीर्ष्व इत्यनया द्वितीयर्चा प्रेतेन सह संविष्टां तामभिमन्त्र्य उत्थापयेत्)।

वाले प्राणियों के इस लोक में आ। विधवा का पाणिग्रहण करने वाले तथा पुनर्विवाह की इच्छा करने वाले पति को प्राप्त हो। मैंने मृतकों में (मृत व्यक्तियों के स्थान-श्मशान से) दूर ले जायी जाती हुई तथा ब्याही जाती हुई युवती को देखा है। वह पहले शोका-न्धकार से घिरी हुई थी, उसे मैं पहली दशा से शोकारहित दूसरी दशा में ले आया हूँ। हे अघ्न्ये, तू इस जीवलोक को अच्छी तरह जानती है, सज्जन लोगों के पथ का अनुसरण करती है। यह तेरा गोपति है, तू इसकी सेवा कर और सुखमय लोक को प्राप्त कर।"

अथर्ववेद में एक दूसरे स्थान (९।५।२७–२८) पर कहा गया है कि "जो स्त्री पहले पति को प्राप्त कर उसके बाद दूसरे पति को प्राप्त करती है और वे पञ्चौदन अज (एक बकरी तथा चावल की पाँच थालियाँ) को देते हैं, वे दोनों कभी अलग नहीं होते। यह दूसरा पति जो दक्षिणा से ज्योति या प्रकाश का तथा पञ्चौदन अज का दान करता है, पुनर्विवाहित स्त्री के साथ एक ही लोक को प्राप्त होता है।"

अथर्ववेद (५।१७।१८–१९) में यह कहा गया है—"यदि कोई स्त्री पहले दस अब्राह्मण पति करे, किन्तु अन्त में यदि वह ब्राह्मण से विवाह करे तो वह उसका वास्तविक पति है, न कि क्षत्रिय या वैश्य। यह बात सूर्य पञ्च मानवों (पाँच प्रकार के मानव गणों या समूहों) से घोषित करता चलता है।" इसका तात्पर्य यह है कि यदि स्त्री का पहले क्षत्रिय या वैश्य पति प्राप्त होता है और इसकी मृत्यु के बाद वह किसी ब्राह्मण से विवाह करती है तो वही उसका वास्तविक पति समझा जायगा।

उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में नियोग के साथ-साथ विधवा-विवाह भी प्रचलित था। पति के मरते ही विधवा दूसरा विवाह कर लेती थी और ऐसा करते हुए वह अनादि काल से चले आने वाले सनातन धर्म का पालन करती थी। बाद में पूर्व काल से चले आने वाले इस विधवा-पुनर्विवाह के धर्म को अधर्म समझा जाने लगा और सनातन धर्म के पालन का अभिमान करने वालों ने विधवा विवाह-निषेध के सर्वथा असनातन धर्म के पालन पर आग्रह करके हजारों हिन्दू स्त्रियों को वैधव्य की दारुण यन्त्रणा सहने के लिए बाध्य किया।

दूसरी बात यह है कि 'इह' शब्द संस्कृत में परत्र (परलोक) के प्रतियोगी के रूप में आता है। सायणाचार्य ने पतिलोक तथा इह दोनों शब्दों के अर्थ क्रमशः स्वर्ग में पति का स्थान तथा दूसरे जन्म की यह दुनिया किये हैं। दोनों अर्थों में स्पष्ट क्लिष्ट कल्पना है। फिर वेद में प्रयुक्त पुराण शब्द के अर्थ को वर्तमान काल के पुराणों के अर्थ में प्रयुक्त करना वैदिक शब्दों के साथ अन्याय करना है। अतः हमें यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। तै० आ० ६।१।१३ में यही मन्त्र आया है और वहाँ 'धर्मं पुराणं' के स्थान पर विश्वं पुराणं' का पाठ है। सायणाचार्य ने उसका अर्थ 'अनादिकालप्रवृत्तं कृत्स्नं स्त्रीधर्मं' किया है।

धर्मसूत्रों में विधवाविवाह्

धर्मसूत्रों में विधवा-विवाह् के स्पष्ट संकेत हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१८–२०) पौनर्भव पुत्र की व्याख्या करता हुआ कहता है कि पुनर्भू का पुत्र पौनर्भव होता है और पुनर्भू वह स्त्री है जो अपने अविवाहित (कौमार) पति को छोड़कर दूसरे के साथ विचरण करती है और उसके बाद फिर अपने पहले पति के पास लौट आती है, अथवा जो नपुंसक, जातिभ्रष्ट, उन्मत्त या मृत पति को छोड़ कर दूसरे पति को प्राप्त करती है।

कई बार ऐसा होता था कि कन्या का वाग्दान हो जाता था, किन्तु विवाह् से पहले ही उसका पति मर जाता था। इस अवस्था में भी धर्मसूत्र उसके पुनर्विवाह् की व्यवस्था करते हैं। यदि पाणिग्रहण हो गया हो और कन्या अभी अक्षतयोनि हो तो उस अवस्था (पति की मृत्यु हो जाने की दशा) में भी उसका दूसरा विवाह् हो सकता था।[३] बौधायन धर्मसूत्र (४।३।१८) ने वसिष्ठ से मिलती-जुलती व्यवस्था की है। कौटिल्य (३।४) ने पति के मर जाने पर सात महीने की प्रतीक्षा के बाद पत्नी को पुनर्विवाह् का अधिकार दिया है।

बालविवाह् की वृद्धि से अक्षतयोनि विधवाओं के लिए उपर्युक्त व्यवस्थाएँ बनाना आवश्यक हो गया। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी दशाओं में, जब पति को मृत के तुल्य समझा जाता था, स्त्री को पुनर्विवाह् का अधिकार प्राप्त था। इन दशाओं की अन्यत्र (पृ. २८६-८७) विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१७।७५।८०) तथा कौटिल्य (३।४।२३।४१) पति के विदेश जाने के बाद नियतकाल तक समाचार न मिलने पर पत्नी को दूसरे विवाह् की आज्ञा देते हैं और हिन्दू स्त्रियों को छठी शती ई० तक यह अधिकार प्राप्त रहा है।

रामायण तथा महाभारत में विधवाविवाह्

रामायण, महाभारत और पुराणों में विधवा विवाह् के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। रामायण में वाली के मरने पर तारा बड़े करुणाजनक शब्दों में अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती है और राम से यहाँ तक कहती है कि तुम मुझे मार दो, तुम्हें स्त्रीवध का पाप नहीं लगेगा, किन्तु अन्त में विधवा तारा सुग्रीव की पत्नी बन जाती है। उसका पुत्र यद्यपि अपने पितृघाती चाचा को नापसन्द करता है, किन्तु तारा सुग्रीव से सच्चा स्नेह रखती है।

महाभारत में नल-दमयन्ती के उदाहरण से स्पष्ट है कि उस समय विधवा विवाह्

[३] वसिष्ठधर्मसूत्र १७।६६

पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनःसंस्कारमर्हति॥

को बुरा नहीं माना जाता था। दमयन्ती ने नल को ढूंढने के लिए एक बनावटी स्वयंवर की रचना की थी (महाभा० ३।७०)। उसे सन्देह था कि नल राजा ऋतुपर्ण के घर पर है। उसने माता से परामर्श करके ऋतुपर्ण को अपने द्वितीय स्वयंवर में शीघ्र पहुँचने का निमन्त्रण भेजा। यदि विधवाओं का विवाह अधर्म समझा जाता तो ऋतुपर्ण आने में कभी इतनी शीघ्रता न करता। नल ने दमयन्ती को बाद में यह उपालम्भ भी दिया है कि तुम अनुरक्त पति को छोड़कर दूसरे विवाह के लिए कैसे तैयार हुई (म० भा० ३।७२।७६)। सत्यवती विचित्रवीर्य की मृत्यु पर भीष्म से यह प्रार्थना करती है कि वह उसके पुत्र की विधवाओं से विवाह करे। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत के पालन की प्रतिज्ञा भीष्म द्वारा विवाह करने में बाधक थी, किन्तु सत्यवती का प्रस्ताव विधवाविवाह के प्रचलन को अवश्य सूचित करता है। नागराज ऐरावत ने अपनी विधवा पुत्री का अर्जुन के साथ विवाह किया। इस विवाह से अर्जुन का इरावान नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (भीष्म पर्व ९१।७-८)।

बौद्ध ग्रन्थों में विधवाओं के पुनर्विवाह के कई स्पष्ट उल्लेख हैं। नन्द जातक (सं० ३९) में एक ऐसे पति का वर्णन है जो यह सोचकर घबरा जाता है कि उसकी युवती पत्नी उसकी मृत्यु के बाद किसी अन्य पुरुष से शादी कर लेगी और उसके पुत्र को सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं मिलेगा। उच्छंग जातक (सं० ६७) में यह वर्णन है कि किसी स्त्री का पति, भाई और पुत्र राजा द्वारा बन्दी बना लिये गये। स्त्री ने राजा के आगे बड़ा करुण विलाप किया। राजा ने उस पर दया दिखाते हुए कहा कि यदि मैं इन तीनों में से किसी एक को बन्धनमुक्त करने की आज्ञा दूँ तो तुम इनमें से किसकी मुक्ति चाहोगी।, स्त्री ने कहा—"महाराज यदि मैं जीवित रहूं तो मुझे दूसरा पति और दूसरा पुत्र मिल सकता है किन्तु मेरे माता-पिता मर चुके हैं, अतः मैं भाई को छुड़वाना पसन्द करूँगी।' स्त्री के इस उत्तर से स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों का पुनर्विवाह प्रचलित था।

विधवाविवाह के निषेध का आरम्भ

महाभारत से यह ज्ञात होता है कि उस समय न केवल विधवाओं के अपितु स्त्री मात्र के पुनर्विवाह को बुरा समझा जाने लगा था। दीर्घतमा ऋषि की पत्नी प्रद्वेषी दीर्घतमा को छोड़कर दूसरे के पास जाने को तैयार हुई (महाभा० १।१०४)। उस समय ऋषि ने कहा कि "आज से मैं ऐसी मर्यादा स्थापित करता हूँ कि जन्म भर के लिए स्त्री का एक ही पति हो। पति जीवित हो या न हो, स्त्री को दूसरे पति के पास नहीं जाना चाहिए" (१।१०४।३४-३६)। स्पष्टतः यह विधवा के पुनर्विवाह का स्पष्ट निषेध था। महाभारत के समय में यह आदर्श कितना लोकप्रिय होने लग गया था, यह दमयन्ती को नल द्वारा दिये गये एक उपालम्भ से स्पष्ट है। दमयन्ती ने उस उपालम्भ का यह उत्तर दिया है कि "तुम्हें यहाँ बुलाने के लिए ही मैंने इस युक्ति से काम लिया है।

तुम्हारे सिवाय कोई मनुष्य भी भोजन नहीं पा सकता। जो मैं इसमें पाप करती होऊँ तो यह वायु मेरे प्राणों का नाश कर दे।" इसका यह आशय हुआ कि दमयन्ती पुनर्विवाह को पाप मानती थी। दुर्योधन ने कहा है कि श्रेष्ठ क्षत्रियों के मर जाने पर इस पृथ्वी को भोगने की इच्छा मुझमें उसी तरह नहीं है जैसे विधवा स्त्री को भोगों के लिए इच्छा या उत्साह नहीं होता (म० भा० ९।३१।१५)। रामायण से विधवा विवाह के समर्थन में जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे अनार्य—कपि एवं राक्षस जातियों के हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि आर्य जाति में उस समय विधवा विवाह को निन्दित समझा जाने लगा था।

विधवा विवाह के निषेध के कारण

(१) **संस्कारों की पवित्रता का विचार**—वैदिक काल में जो सनातन धर्म समझा जाता था, वह बाद में निन्दित क्यों माना जाने लगा? इसका पहला कारण तो यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के प्रभाव की वृद्धि के साथ-साथ संस्कारों की पवित्रता एवं शुद्धता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व मिलने लगा। मौर्यवंश की समाप्ति के साथ भारत में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। ब्राह्मण धर्म का नवीन अभ्युदय एवं उत्कर्ष हुआ। रामायण, महाभारत और मनुस्मृति के वर्तमान संस्करण इसी उत्कर्षकाल की रचनाएँ हैं। विवाह एक समझौता (Contract) है या पवित्र धार्मिक बन्धन (Crament), यह विवाद पहले से चला आता था। किन्तु इस प्रतिक्रिया के बाद विवाह को अविच्छेद्य सम्बन्ध मान लिया गया। मनुस्मृति (९।४५-४६) में कहा गया है कि स्त्री और पुत्र पति के शरीर का अंश होता है, अतः भार्या पति से किसी भी दशा में वियुक्त नहीं हो सकती। मनु के इस सिद्धान्त का सीधा-सादा अर्थ यह है कि जो एक बार पत्नी हो गयी, वह सदा के लिए पत्नी है। बाद में यह सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों के लिए समझा जाने लगा, एक स्त्री का एक व्यक्ति से अधिक व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध निन्दित और असम्भव समझा जाने लगा।

मनु ने इसी दृष्टि से नियोग का विरोध किया और विधवा के पुनर्विवाह का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। विधवा विवाह में अन्य व्यक्ति का सम्बन्ध आवश्यक था, किन्तु वह उक्त सिद्धान्त के विपरीत था। अतः मनु ने क्षतयोनि कन्या के पुनर्विवाह को स्वीकृत नहीं किया। पिछले धर्मसूत्रकारों ने पति के विदेश चले जाने पर कुछ वर्षों के उपरान्त पत्नी को विवाह का अधिकार दिया था। मनु इन परिस्थितियों की सम्भावना करता है, वह पत्नी को प्रतीक्षा करने के लिए कहता है किन्तु उस प्रतीक्षा के बाद पत्नी क्या करे इस विषय में वह सर्वथा मौन है। मनु के टीकाकारों में नन्दन ने ही इस मौन का यह अर्थ किया है कि वह पुनर्विवाह कर ले। किन्तु मेधातिथि आदि ने विधवा के पुनर्विवाह का विरोध किया है। मेधातिथि का अर्थ मनुस्मृति की भावना के अनुकूल जान पड़ता है। मनु (५।१५७-६२) के मत में "पति के मर जाने पर पत्नी को अन्य पुरुष का नाम भी न लेना चाहिए, वह आमरण ब्रह्मचारिणी रहे, पति के मरने पर जो स्त्रियाँ अपुत्रा होने पर भी

ब्रह्मचर्य धारण करती है वे स्वर्ग में जाती है। पुत्र के लोभ से जो स्त्री दूसरे पुरुष के पास जाती है वह निन्दित होती है। साध्वी स्त्रियों का कोई दूसरा पति नहीं होता।" यह बात मनु के विवाह संस्कार सम्बन्धी विचारों के सर्वथा प्रतिकूल थी कि विधवा के साथ कोई दूसरा व्यक्ति शादी करे। अतः उसने विधवा के पुनर्विवाह को स्पष्ट शब्दों में यह कहकर निषिद्ध किया कि साध्वी स्त्रियों का कोई दूसरा पति नहीं होता। मनु (८।२२६, ९।४७) यह मानता है कि विवाह की विधि में विधवाओं के पुनर्विवाह का कोई स्थान नहीं है, पाणि-ग्रहण के मन्त्र तो कन्याओं के लिए ही हैं, और कन्यादान एक ही बार होता है। इस सिद्धान्त का कारण हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान एवं विवाह संस्कार के बन्धन को अधिकाधिक महत्त्व देना था, किन्तु मनु ने बाल विधवाओं के सम्बन्ध में प्राचीन धर्मसूत्रों की व्यवस्था को यथा-पूर्व रखा। यह बड़े दुःख की बात है कि मनु ने संस्कार के पवित्र बन्धन को एकांगी अर्थात् पत्नी के लिए ही रखा। यदि पति-पत्नी में कोई अविच्छेद्य सम्बन्ध है तो यह दोनों ओर से होना चाहिए, यदि पत्नी पति से अलग नहीं हो सकती तो पति भी पत्नी से पृथक् नहीं हो सकता। किन्तु पुरुष के सम्बन्ध में यह संस्कार बाधक नहीं माना गया, उससे एकपत्नीव्रत होने की आशा नहीं रखी गयी। याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों के लिए आमरण वैधव्य की व्यवस्था की (१।७५) किन्तु पुरुष के लिए यह कहा कि पत्नी के मरते ही उसे तुरन्त दूसरा विवाह कर लेना चाहिए (१।८९)।

(२) **अक्षतयोनि कन्या की आकांक्षा**—विधवा विवाह के निषेध का दूसरा कारण यह था कि उस समय धीरे-धीरे यह विश्वास दृढ़ हो रहा था कि विवाह के समय वधू अनुपभुक्त एवं अक्षतयोनि होनी चाहिए। क्षत्रियों में यह अभिमान होना स्वाभाविक है कि वे दूसरे द्वारा उपभुक्त स्त्रियों को ग्रहण न करें। यह आकांक्षा अधिकांश जातियों में पायी जाती है। महाभारत में द्रौपदी (१।१९८।१४) के विवाह के सम्बन्ध में यह विचित्र बात कही गयी है कि वह वर्ष पर्यन्त एक पांडव के सहवास में रहकर भी अगले वर्ष पुनः पूर्व-वत् सर्वथा कुमारी रूप में ही दूसरे पांडव को प्राप्त होती थी। कुन्ती सूर्य द्वारा सहवास के बाद भी अक्षतयोनि रही। ययाति की कन्या माधवी (५।११५।२१) को यह वर प्राप्त था कि वह प्रत्येक प्रसूति के बाद कुमारी हो जायेगी और उसने गालव से कहा था कि तू मुझे चार राजाओं को देकर ८०० घोड़े प्राप्त कर। अर्जुन जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करते हुए कहता है कि यदि मैं यह प्रतिज्ञा न पूरी करूँ तो मैं आग में जल मरूँगा। इस प्रतिज्ञा के समय उसने अनेक शपथें ली हैं, उनमें से एक यह भी है कि यदि मैं यह प्रतिज्ञा न पूर्ण करूँ तो मुझे वह निन्दनीय लोक प्राप्त हो जो भुक्तपूर्वा स्त्री से शादी करने पर होता है। इससे स्पष्ट है कि क्षतयोनि स्त्री से विवाह उस समय बहुत निन्दनीय समझा जाता था। जब समाज यह सिद्धान्त मानने लगा तो स्वभावतः विधवा से शादी का अधिकार छिन गया। मनु की तरह महाभारतकार भी अक्षतयोनि कन्या को ही पुनर्विवाह का अधिकार देता है।

२०० ई० पूर्व से उपर्युक्त कारणों द्वारा विधवा विवाह को घृणा की दृष्टि से

देखा जाने लगा तथा विधवा स्त्री के लिए यही आदर्श समझा जाने लगा कि वह ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना जीवन बिताये। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि विधवाओं के विवाह अगले ७००–८०० वर्षों तक अर्थात् गुप्त युग की समाप्ति तक होते रहे।

वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि जो विधवाएँ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना कठिन समझती थी वे दूसरी शादी कर लेती थी। पराशर (४।३०) ने विधवा विवाह का समर्थन किया है। उसके मतानुसार पति के लापता होने, मरने, संन्यासी नपुंसक होने या पतित होने की पांच आपत्तियों में स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है। नारद (५।९७) ने इसका अनुमोदन किया है। गुप्त युग में विधवाओं के विवाह का ऐतिहासिक प्रमाण विधवा ध्रुवदेवी का चन्द्रगुप्त द्वितीय से विवाह है। गुप्त युग एवं पूर्व मध्ययुग की अधिकांश स्मृतियों में अक्षतयोनि विधवा के अधिकार को स्पष्ट रूप से माना गया है, किन्तु क्षतयोनि विधवा के पुनर्विवाह की उपेक्षा की गयी है। आगे चलकर मध्ययुग में पराशर की पुनर्विवाह विषयक स्पष्ट व्यवस्था को भी टीकाकारों ने अपने पांडित्य एवं व्याख्याकौशल से बदलने का यत्न किया। ऐसा जान पड़ता है कि दसवीं शती तक क्षतयोनि विधवा के विवाह को बहुत बुरा समझा जाने लगा था। मेधातिथि ने विधवा विवाह के समर्थक पराशर के उपर्युक्त श्लोक की यह व्याख्या की है कि यहां पति का अर्थ पालन करने वाला पुरुष है, भर्ता नहीं। विधवा को चाहिए कि वह आजीविका के लिए नौकरानी का काम करे और इस काम के लिए किसी पालक की शरण ग्रहण करे। १० वीं शताब्दी के बाद कलिवर्ज्यों की कल्पना बहुत चल पड़ी थी और धर्मशास्त्रकार जिस प्राचीन विधि को अपने मन के अनुकूल नहीं पाते थे, उसके बारे में यह कह देते थे कि यह विधि कलिकाल में निषिद्ध है। आदित्य पुराण तथा ब्रह्मपुराण (अपरार्क, पृ० ९८) ने विवाहित स्त्री के पुनर्विवाह को कलिवर्ज्य बताया है। पराशर स्मृति के टीकाकार माधव ने पराशर के उक्त श्लोक की टीका करते हुए यह कहा है कि यह विधि दूसरे युगों के लिए है, यद्यपि कलियुग के धर्मों का प्रतिपादन करने का श्रेय पराशरस्मृति को ही दिया जाता है। ११ वीं शती में अलबेरूनी ने यह लिखा है कि हिन्दुओं में विधवा का विवाह नहीं होता, वे या तो सती हो जाती हैं या तपस्वी की तरह अपना जीवन व्यतीत करती है। इससे स्पष्ट है कि ११ वीं शती तक क्षतयोनि विधवाओं का पुनर्विवाह बिल्कुल बन्द हो चुका था।

(३) सम्पत्ति की रक्षा—पूर्व मध्ययुग में विधवाओं के पुनर्विवाह निषेध की व्यवस्था को सर्वमान्य बनाने में जो अन्य कारण भी सहायक हुए, उनमें साम्पत्तिक कारण मुख्य था। अत्यन्त प्राचीन काल में विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकारों की चर्चा बहुत कम मिलती है। विधवाओं का पुनर्विवाह निषिद्ध होने पर भी स्मृतिकारों तथा टीकाकारों और निबन्धकारों ने उनके सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया। याज्ञवल्क्य १।१३५–६ में पत्नी के लिए स्पष्ट रूप से पति की सम्पत्ति में अधिकार का विधान

किया गया है। बृहस्पति (स्मृति चन्द्रिका पृ० २६०) ने कहा कि पत्नी पति का अर्धांग है, उसके रहते हुए कौन उसकी सम्पत्ति ले सकता है यद्यपि नारद, कात्यायन आदि विधवा के इस अधिकार के घोर विरोधी थे, किन्तु विधवा को शनैः-शनैः सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हो रहा था।[४] यदि विधवा पुनर्विवाह कर लेती तो उसका यह अधिकार छिन जाता था। सम्पत्ति की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि वह विधवा ही रहे।

(४) **सजातीय विवाह के नियमों की कठोरता**—विधवा विवाह के निषेध का एक अन्य कारण यह था कि पूर्व मध्ययुग में सजातीय विवाह के नियम कठोर होने लगे थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि चुनाव का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। एक कन्या के लिए वर तलाश करने में बहुत दौड़-धूप करनी पड़ती थी और वर को दहेज का पर्याप्त प्रलोभन देना पड़ता था। विधवाओं के लिए यह दौड़धूप कौन करे तथा दहेज के दायित्व को कौन उठाये। कन्या के माता-पिता ने तो उसे प्रयत्न करके एक बार ब्याह दिया और अपने सिर से एक बड़ा बोझ उतारा। अब दुबारा वे उसके लिए क्यों प्रयत्न करें? जब कन्या के माता-पिता की यह हालत हो तो कन्या के श्वशुरालय वालों से यह आशा दुराशा मात्र है कि वे विधवा का पुनर्विवाह करेंगे। इस प्रकार विधवा का पुनर्विवाह बहुत जटिल एवं कठिन कार्य हो गया।

(५) **शास्त्रीय बाधाएँ**—इसका एक अन्य कारण शास्त्रीय प्रतिषेध भी था। विवाह के समय कन्या का दान किया जाता है। पहली बार पिता ने कन्या का वर को दान किया, वर का ही उस पर स्वामित्व है, वही उसका दान कर सकता है। किन्तु उसके मर जाने पर उस कन्या का कौन दान करे? बिना दान के विवाह कैसे हो सकता है? फिर विवाह के समय असगोत्रता आवश्यक है। विधवा के पुनर्विवाह के समय उसका गोत्र कौन-सा माना जाय। वह पिता के गोत्र की समझी जाये अथवा पति के, प्राचीन शास्त्रों में इसका समाधान नहीं मिलता। गोत्र का अनिर्णय भी विधवा के विवाह में बाधक रहा होगा।

क्षतयोनि विधवाओं के विवाह का निषेध—१२०० ई० तक क्षतयोनि विधवाओं के पुनर्विवाह का अधिकार छिन चुका था, किन्तु अक्षतयोनि विधवाओं का विवाह संस्कार हो सकता था। शास्त्रकारों ने अब यह अधिकार भी छीनना शुरू किया। हम देख चुके हैं कि इसी समय से बहुत छोटी आयु के बालविवाह बहुत बढ़ गये थे। इसके साथ-साथ अब विधवाओं के पुनर्विवाह के अधिकार को छीनना हिन्दू जाति के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हुआ। देवण्ण भट्ट ने कहा है कि अक्षतयोनि के विवाह का जो विधान पुराने ग्रन्थों में मिलता है वह दूसरे युगों के लिए है।[५] कश्यप ने (स्मृ० च० सं० का०, पृ० २०) कहा

[४] हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ४७४-४८१

[५] स्मृतिचन्द्रिका संस्कार काण्ड पृ० २२१—एवं च यानि संस्कारात्पूर्वमक्षतयोन्याः पुनरुद्वाहपराणि तानि युगान्तराभिप्रायाणीति मन्तव्यम्। मिलाइए लघु आश्व-

कि यदि कन्या का वाग्दान हो गया है और विवाह होने से पहले उसका पति मर जाता है तो ऐसी कन्या कुलाधम है और उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए। कश्यप की यह उक्ति ऊपर उद्धृत वसिष्ठधर्मसूत्र व मनु आदि के सर्वथा प्रतिकूल एवं स्त्रियों के लिए घोर अन्यायपूर्ण थी। वाग्दत्ता कन्या के प्रति यह अमानुषिक क्रूरता थी। हिन्दू समाज ने इस आत्मघाती शास्त्रीय विधान को अपनाया, किन्तु फिर भी मध्यकाल में अक्षतयोनि कन्याओं के विवाह हुए। प्रसिद्ध राजा हमीरसिंह ने सरदार मालदेव की विधवा पुत्री से विवाह किया।

मध्यकाल में विधवाविवाह प्रचलित करने के यत्न

रघुनन्दन तथा राजवल्लभ के प्रयास—मध्यकाल में कई समझदार व्यक्तियों ने विधवा-विवाह के निषेध की बुराई को दूर करना चाहा, किन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए। बंगाल में प्रचलित हिन्दू कानून के प्रसिद्ध व्याख्याकार रघुनन्दन भट्टाचार्य (ग्रन्थरचना-काल १५२०—३०) ने १६ वीं शती में अपनी विधवा कन्या का विवाह करने के लिए प्राणपण से प्रबल प्रयत्न किया, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका। १८ वीं शती के मध्य में विक्रमपुर निवासी वैद्यवंशावतंस राजा राजवल्लभ (१६९८—१७६३) अपनी नवयुवती विधवा कन्या की वैधव्य यन्त्रणा से बहुत ही व्यथित हुए। उन्होंने विधवा विवाह को प्रचलित करने का बहुत उद्योग किया। राजवल्लभ ने पूर्व और पश्चिम के अनेक पंडितों से यह व्यवस्था मंगायी कि विधवाविवाह शास्त्रविरुद्ध नहीं है। नवद्वीप के पंडितों से उक्त व्यवस्था की स्वीकृति पाने के लिए राजवल्लभ ने यह व्यवस्थापत्र कई पंडितों के हाथों में दिया तथा राजा कृष्णचन्द्र की सभा में भेजा। बंगाल में ऐसा प्रवाद प्रसिद्ध है कि कृष्णचन्द्र ने अपनी सभा के पंडितों को एकान्त में बुलाकर उक्त व्यवस्था के विषय में उनकी सम्मति मांगी। पंडितों ने कहा कि यह व्यवस्था शास्त्रानुकूल है। यह सुनकर कृष्णचन्द्र ने डाह के मारे पंडितों को आदेश दिया कि "यह व्यवस्था शास्त्रानुकूल होने पर भी लौकिक व्यवहार के विरुद्ध है, इस कथन से राजवल्लभ को निराश करना होगा। वैद्य जाति का एक आदमी चिरकाल से अप्रचलित व्यवहार को प्रचलित कर दे, और इस प्रकार यश का सम्पादन करे, यह मुझे सर्वथा असह्य है। किन्तु इस समय राजवल्लभ का बड़ा दबदबा है। इस कारण खुल्लमखुल्ला मैं उसके विरुद्ध कार्रवाई करना पसन्द नहीं करता। उसके सन्तोष के लिए मैं आप से व्यवस्थापत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बहुत कुछ अनुरोध करूँगा। परन्तु आप लोग किसी तरह न मानियेगा। आप यही कहियेगा कि महाराज किसी के भी अनुरोध पर इस व्यवस्था पर हस्ताक्षर करके हम पाप के भागी नहीं बनेंगे।"

सायन २१।१४, युगान्तरे च धर्मः स्यात् कलौ निन्द्य इति स्मृतः ।

अगले दिन राजवल्लभ के पंडित जब सभा में आये उस समय राजा कृष्णचन्द्र ने नदिया के पंडितों से कहा कि राजवल्लभ ने जो व्यवस्था भेजी है, वह अवश्य ही शास्त्र-सम्मत होगी। यदि वह शास्त्रसम्मत न हो, तो भी जब उन्होंने अनुरोध किया है तो आप लोगों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। पंडितों ने पहले सिखायी हुई सलाह के अनुसार अनेक आपत्तियां उठायी और हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि कृष्णचन्द्र की ईर्ष्या के कारण बंगाल में पंडितों की व्यवस्था द्वारा विधवाविवाह प्रचलित नहीं हो सका।[६]

जयसिंह व परशुराम भाऊ के प्रयत्न—यह बड़े आश्चर्य एवं दुःख की बात है कि मुगल एवं मराठा युग में कई बार स्त्रियों ने विधवा विवाह के प्रचलन में बाधा डाली। जयपुर के राजा जयसिंह द्वितीय (१६८८–१७४३) ने अपने राज्य में विधवा विवाह चलाना चाहा। यदि उनकी विधवा माता उनके इस प्रशंसनीय प्रयत्न में बाधक न बनती तो यह प्रयत्न अवश्यमेव सफल हो जाता। राजा जयसिंह की माता ने अपने पुत्र को विधवा विवाह के लिए ताना मारते हुए कहा कि यदि तू राज्य में विधवा विवाह शुरू करना चाहता है तो सबसे पहले मेरी शादी कर, उसके बाद ही किसी विधवा की शादी हो सकती है। यह कितना क्रूर उपहास था? इससे भी अधिक करुण उदाहरण प्रसिद्ध मराठा सेनापति परशुराम भाऊ पटवर्धन (१७३९–१७९९) की कन्या का है। उसने अपनी कन्या दुर्गाबाई का विवाह बहुत छोटी उमर में (कन्या की निश्चित आयु में बहुत मतभेद है। कुछ लोग उसकी आयु ४ वर्ष बताते हैं और दूसरे ६ वर्ष) जोशी कुल के एक बालक के साथ किया। विवाह की विधि एवं खुशियों के पूरा होने के पहले ही वर का विशूचिका ज्वर में देहान्त हो गया। परशुराम भाऊ को अपनी कन्या के विधवा हो जाने से भारी धक्का लगा, उसने पेशवा दरबार के सेनापति पद से त्यागपत्र दे दिया। महाराष्ट्र का राज्य उन दिनों बड़ी संकटपूर्ण परिस्थितियों में से गुजर रहा था। पेशवा ऐसे समय परशुराम भाऊ जैसे कुशल एवं अनुभवी सेनापति को नहीं छोड़ सकता था। उसने भाऊ को विश्वास दिलाया कि वह उसके इस महान् दुःख को दूर करने का पूरा प्रयत्न करेगा। पेशवा ने शंकराचार्य से इस विषय में सम्मति माँगी। शंकराचार्य का भाऊ से कुछ वैयक्तिक झगड़ा था। शंकराचार्य ने कहा कि वह वचन से बदल कर भाऊ को सुखी करने के लिए कोई सलाह नहीं दे सकता। पेशवा के दरबार ने काशी के पंडितों से व्यवस्था माँगी। इन पंडितों ने कन्या को अक्षतयोनि समझा तथा यह सोचा कि यदि भाऊ सार्वजनिक कार्यों से हट गया तो ब्राह्मणों की प्रभुता घट जायेगी, भाऊ को इस तरह उपकृत बना कर अपने प्रभाव की खूब वृद्धि की जा सकती है। इन दोनों बातों को दृष्टि में रखते हुए काशी के पंडितों ने दुर्गाबाई के पुनर्विवाह के पक्ष में व्यवस्था दी। इस व्यवस्था पर शंकरा-

६ चण्डीचरण सेन—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

कार्य भी शान्त हो गया और पूना के पंडितों ने भी दक्षिणकेसरी परशुराम से खुल्लम-खुल्ला विरोध करना उचित न समझा। किन्तु नदिया के कृष्णचन्द्र की राजसभा के पंडितों के समान पूना के धर्मध्वजी भी यह अधर्म का कार्य नहीं देख सकते थे। उन्होंने भाऊ की धर्मपत्नी के आगे विधवा विवाह के महापाप का सजीव चित्र खींचा, शास्त्रों और पुराणों की दुहाई दी। परिणाम यह हुआ कि परशुराम भाऊ जब सब शास्त्रीय विघ्न-बाधाओं का निराकरण कर अपनी कन्या के पुनर्विवाह के लिए तैयार हुआ, तब उसकी पत्नी अड़ गयी। उसने कहा कि अपनी कन्या के वैधव्य के दुःख को मैं देख सकती हूँ, किन्तु इस नये अधर्म को नहीं देख सकती। भाऊ ने हताश और हैरान होकर कहा कि मैं तुम्हारे सुख के लिए कन्या का विवाह कर रहा था, तुम इसमें सुखी नहीं हो तो फिर मैं यह विवाह किसके लिए कराऊँ? धार्मिक श्रद्धा से जड़ हुई माता अपनी विधवा लड़की के पुनर्विवाह का विरोध करे, इससे अधिक स्नेहमय क्रूरता और क्या हो सकती है।

विधवा के कर्तव्य

मध्य युग में विधवा विवाह के निषेध के साथ-साथ विधवा के कर्तव्यों एवं दायित्वों में भी वृद्धि हुई। ऋषि-मुनियों द्वारा भी न पाला जाने वाला कठिन ब्रह्मचर्य का व्रत विधवाओं के लिए मनु (५।१५७) के समय में ही आदर्श समझा जाने लगा था। कात्यायन और बृहस्पति ने भी इसी आदर्श का समर्थन किया। वृद्ध हारीत ने (११।२०५-१०) उसे बाल सजाने, पान चबाने, सुगन्धित द्रव्य, फूल और अलंकार आदि का व्यवहार करने और दिन में दो बार खाने का निषेध किया। उसे सफेद वस्त्र पहनने चाहिए, जितक्रोध और जितेन्द्रिय रहना चाहिए, चालाकियां नहीं करनी चाहिए, रात को चटाई अथवा जमीन पर सोना चाहिए। अन्य स्मृतियों में भी यही बातें दुहरायी गयी है। स्कन्द पुराण (काशी खण्ड ४।७१-१०६, ३ ब्रह्मारण्य ७।६७-४-१) ने विधवाओं के विषय में दो नयी व्यवस्थाएँ बतायी। पहली तो यह थी कि विधवा सबसे बड़ा अमंगल है, उसके दर्शन से कभी सिद्धि नहीं होती। विधवा माता का आशीर्वाद सांप के विष के तुल्य है, बुद्धिमान् उसे ग्रहण न करे। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि विधवा को सब मांगलिक उत्सवों में से अछूत की तरह पृथक् कर दिया गया। इसका चरम विकास हमें बिहार तथा अन्य स्थानों की कुछ जातियों में दिखायी पड़ता है। इन जातियों में यह प्रथा है कि शादी-ब्याह आदि के शुभ अवसरों पर विधवाओं को ताले में बन्द कर दिया जाता है।

स्कन्द पुराण द्वारा प्रतिपादित दूसरी नयी कठोरता यह थी कि विधवा अपना सिर मुँड़वाये। सिर मुँड़वाने के लिए बहुत विचित्र युक्ति दी गयी है। विधवा यदि बालों को वेणी में बांधेगी तो इससे उसका पति बँध जायेगा, इसलिए उसे सदा सिर

मुंड़वा कर रखना चाहिए।* बम्बई हाईकोर्ट ने लक्ष्मीबाई बनाम रामचन्द्र के मुकद्दमे में इस श्लोक के प्रामाण्य में सन्देह प्रकट किया है। इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रथा उत्तर मध्ययुग में शुरू हुई। पूर्व मध्ययुग के प्रारम्भ में बाण के वर्णनानुसार विधवा सिर नहीं मुँड़वाती थी, किन्तु बालों को विशेष प्रकार से बाँधे रखती थी (हर्षचरित, उच्छ्वास ५)। किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसके आत्मीय एक बार क्षौर कराते हैं। शायद इसी तरह विधवा भी क्षौर कराती होंगी। बाद में विधवा के लिये संन्यासी की तरह अनेक कठोर नियम पालने का विधान किया गया। संन्यासी क्षौर कराते थे, इसलिए विधवाओं का भी क्षौर होने लगा। पंडितों ने इस विधि को वैदिक सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है। किन्तु इसके लिए स्कन्दपुराण से पहले का कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं ढूँढ़ा जा सका।[८] १४ वीं शती से विधवाओं के सिर मुंड़वाने की पद्धति प्रचलित हुई है। इसका अधिक प्रचार दक्षिण और बंगाल में है। विधवाएँ जब तक सिर नहीं मुँड़वा लेतीं, तब तक उन्हें देवदर्शन का अधिकार नहीं मिलता और न ही कोई कट्टर व्यक्ति उनसे छुआ हुआ अन्न या जल ग्रहण करता है। विधवाओं के लिए यह अत्यन्त अपमानजनक और सदा उनके घावों को हरा करने वाली पद्धति है। महाराष्ट्र में गत शती की अन्तिम दशाब्दी में श्री आगरकर ने इस प्रथा के विरुद्ध आंदोलन किया। उनके लेखों से मराठा समाज में हलचल मच गयी। अब यह प्रथा धीरे-धीरे मिट रही है, किन्तु कट्टरपन्थी इसे बनाये रखने का पूरा प्रयत्न करते हैं। कुछ वर्ष पहले पंढरपुर के पुजारियों ने विठोबा की मूर्ति के चरणों में प्रणाम करने से एक विधवा ब्राह्मणी को इसलिए रोका कि उसके बाल मुंडे हुए नहीं थे। इस पर यह मामला अदालत में गया और अदालत ने विधवा के पक्ष में फैसला दिया।

आधुनिक युग में विधवाविवाह

विधवाओं की संख्या—वर्तमान युग में हिन्दू समाज में विधवाओं की संख्या बहुत अधिक एवं जातीय दृष्टि से अतीव हानिकर है। १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत में ५४,८६,६६० विधवायें थी। हिन्दुओं में एक हजार स्त्रियों के पीछे १६६ विधवाएँ हैं। इनमें से एक चौथाई विधवाओं की आयु २० वर्ष से कम है। १९३१ की जनगणना में १ वर्ष से कम आयु की दुधमुंही विधवाओं की संख्या १५१५ थी। १ से २, २ से ३, ३ से ४ वर्ष की नन्ही विधवाओं की संख्या क्रमशः १७८५, ३४८५ और ९०७६ थी। ५ से १० व १० से १५ वर्ष की १०५४८२ तथा १८५३३९ बालिकाएं वैधव्य का दुःख भोग

* स्कन्द पुराण काशी खण्ड ४।७४—

विधवाकबरीबन्धो भर्तृबन्धाय जायते ।
शिरसो वपनं तस्मात् कार्यं विधवया सदा ॥

८ काणे—हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड २, भाग १, पृ० ५९२।

रही थी। जो आयु खेल-कूद की होती है, जिस आयु में अभी पति-पत्नी सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता, जिस आयु तक अन्य देशों की अधिकांश बालिकाओं का विवाह नहीं होता, उस आयु में हजारों की संख्या में हमारी कन्याएँ विधवा हो जाती हैं और उन्हें धर्म के नाम पर जीवन भर वैधव्य का जीवन बिताने के लिए बाधित किया जाता है। अब नवीन परिस्थितियों में विवाह की आयु ऊँची हो रही है, इस कारण बाल विधवाओं की संख्या घटने लगी है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न—४ दिसम्बर १८२९ को लार्ड विलियम बैंटिंक की आज्ञा से भारत में सती प्रथा बन्द कर दी गयी। इस आज्ञा से जबर्दस्ती जलायी जाने वाली सतियों को चिता की आग बुझ गयी, किन्तु इसके स्थान पर आजीवन निरन्तर सुलगने वाली बाधित वैधव्य की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। सती प्रथा में स्त्री थोड़े समय में ही जलकर समाप्त हो जाती थी, किन्तु वैधव्य-वह्नि उसे जीवन भर तिल-तिल करके जलाती रहती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बाल्यकाल में यह देखा था कि उनके गुरु शम्भुचन्द्र वाचस्पति ने बुढ़ापे में एक बालिका के साथ विवाह किया। वे मृत्यु के गर्त में पांव लटकाये बैठे थे, थोड़े दिनों में बालिका को विधवा बनाकर चल बसे। विद्यासागर के बाल हृदय को इस घटना से गहरा धक्का लगा। उनसे पहले यद्यपि कृष्णनगर के एक राजा ने नवद्वीप के पंडितों से विधवा विवाह की व्यवस्था लेने का प्रयत्न किया, नील कमल बनर्जी ने इसे प्रचलित किया, तथापि इस आन्दोलन को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तत्त्वबोधिनी में ओजस्विनी भाषा में लिखे गये लेखों से ही बल मिला। विधवा विवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए, उन्होंने शास्त्रों का गहरा मन्थन किया। जिस दिन उन्हें विधवा-विवाह विषयक पराशर संहिता का प्रमाण मिला और उसके अर्थ की ठीक संगति लगी, उस दिन रात भर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उसकी व्याख्या लिखते रहे। उन्हें यह भूल गया कि कितनी रात बीत चुकी है। सवेरे की ठण्डी हवा और धूप निकलने पर जब उनका लेख पूर्ण हुआ, तभी उन्होंने अपनी लेखनी को विराम दिया। १८५३ में विद्यासागर ने माता-पिता की अनुमति से अपना विधवा विवाह विषयक क्रान्तिकारी ग्रन्थ प्रकाशित किया। १८५५ में विरोधियों द्वारा उठाये गये आक्षेपों का परिहार करते हुए उन्होंने उक्त ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण निकाला। बंगाल का हिन्दू समाज इस ग्रन्थ से अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा। विद्यासागर को नास्तिक, क्रिस्तान आदि उपाधियों से विभूषित किया गया। गालियों की खूब बौछार की गयी। उनको मारने के भी कुछ असफल प्रयत्न हुए, किन्तु विद्यासागर इन बातों से जरा भी नहीं घबराये। विधवा विवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के बाद उन्होंने इसे प्रचलित करने का प्रयत्न किया। किन्तु विधवा विवाह के प्रचलन में सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि विधवा के पुनर्विवाह के बाद उसके बच्चे तत्कालीन कानून के अनुसार पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी नहीं समझे जा सकते थे। अब विद्यासागर ने इस अड़चन को दूर करने का प्रयत्न किया।

विधवा पुनर्विवाह कानून—इस कानूनी बाधा को दूर करने के लिए बंगाल के तत्कालीन प्रतिष्ठित एवं प्रमुख सज्जनों के हस्ताक्षरों के साथ भारत सरकार के पास एक आवेदन-पत्र भेजा गया। इसमें विधवा विवाह के निषेध को निष्ठुर, अस्वाभाविक तथा हिन्दू शास्त्रों के सर्वथा प्रतिकूल बताते हुए यह प्रार्थना की गयी थी कि वर्तमान हिन्दू कानून के अनुसार विधवा विवाहों से उत्पन्न बच्चों को पैतृक सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है, अतः सरकार को यह चाहिए कि इस दोष को दूर करने के लिए एक कानून बना दे, इस कानून द्वारा विधवा-विवाहों को वैध स्वीकार कर लिया जाय। भारत सरकार के पास इस तरह के अनेक आवेदन-पत्र भेजे गये। कानून बनाने के लिए प्रबल आन्दोलन हुआ। श्री ईश्वरचन्द्र के विधवा विवाह सम्बन्धी गीत हर जगह गाये जाने लगे। शान्तिपुर के जुलाहों ने बहुमूल्य कपड़ों के किनारों में विधवा विवाह के गाने बुनकर खूब रुपया कमाया। विरोधियों ने इस आन्दोलन को असफल बनाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी। उन्होंने सरकार के पास कानून के विरोध में हजारों व्यक्तियों से हस्ताक्षर करवाकर अनेक आवेदन-पत्र भेजे। भारत सरकार के कानून सदस्य सर जे. पी. ग्रान्ट ने अपनी वक्तृता में बताया था कि बिल के पक्ष में ५००० व्यक्तियों के हस्ताक्षरों के साथ २५ आवेदन-पत्र आये, किन्तु विपक्ष में ५०-६० हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर वाले ४० आवेदन पत्र थे। सरकार ने काशी के पंडितों से सम्मति मांगी। पंडितों ने अपनी सम्मति विधवा विवाह के पक्ष में दी। अन्त में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का यह आन्दोलन सफल हुआ और २५ जुलाई १८५६ को **विधवा पुनर्विवाह कानून** (Widow Remarriage Act) पास हो गया।

इस बिल को उपस्थित करते हुए भारत सरकार के कानून सदस्य ग्रान्ट ने कहा था कि सती प्रथा को कानून द्वारा बन्द किया जा चुका है, उसके बाद विधवा विवाह की अनुमति देने वाला कानून अवश्य बनना चाहिए, यदि उन्हें यह निश्चय हो जाय कि इस कानून के पास होने से एक भी बालिका बाधित ब्रह्मचर्य के असह्य कष्ट से बच जायगी, तो एक बालिका के लिए भी इस कानून को पास करना चाहिए। यदि यह विश्वास हो जाये कि यह कानून पास होने पर भी सर्वथा निरुपयोगी ही रहेगा तो भी अंग्रेजों के गौरव के लिए यह कानून पास होना उचित है।

कानून का स्वरूप—यह आठ धाराओं का एक छोटा-सा कानून है। इसकी भूमिका में कहा गया है कि इस कानून का उद्देश्य विधवा-विवाह को वैध बनाना है। अतः भविष्य में कोई विधवा-विवाह या उससे उत्पन्न सन्तान नाजायज नहीं समझी जायेगी (धारा १)। पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने पहले पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होगा। पुनर्विवाह के बाद पहले पति के बच्चों के संरक्षण का अधिकार विधवा से छीना जा सकता है, बशर्ते कि पति उसे वसीयत द्वारा यह अधिकार न दे गया हो। सन्तानरहित विधवा यदि इस कानून के पास होने से पहले जायदाद पाने

की अधिकारिणी नहीं थी तो अब भी वह उस जायदाद को पाने की हकदार नहीं होगी। साधारण विवाह को जायज बनाने के लिए जो विधियाँ हैं, वही पुनर्विवाह को भी जायज बनायेंगी (धारा ६) नाबालिग विधवा अपने पिता या अन्य सम्बन्धियों से पूछ कर ही पुनर्विवाह कर सकती है (धारा ७)।

कानून की कमियाँ—इस कानून की दूसरी धारा विशेष महत्त्व रखती है। इसके अनुसार विधवा पुनर्विवाह करने पर पति की सम्पत्ति में अपना स्वत्व खो देती है। इस धारा ने इस कानून के उद्देश्य को बहुत कुछ विफल कर दिया है। विधवा के लिए पति के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति ही कुछ अवलम्ब हो सकती है और वह सम्पत्ति उसके पास तभी तक रह सकती है जब तक वह पुनर्विवाह नहीं करती। अतः इस धारा का प्रभाव यह हुआ है कि इस कानून ने विधवा-विवाह को बहुत कम प्रोत्साहन दिया है।

बंगाल में विधवा विवाह आन्दोलन—विधवा विवाह की कानूनी अड़चन दूर होने के बाद विधवा-विवाहों के लिए प्रयत्न शुरू हुए।[६] उपर्युक्त कानून पास होने के ३ महीने के भीतर ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने श्रीशचन्द्र शर्मा का एक विधवा के साथ ७ दिसम्बर १८५६ को बंगाल में पहला विवाह कराया। इस विवाह को देखने के लिए इतनी भीड़ हुई कि पुलिस का प्रबन्ध करना पड़ा। इसके बाद अनेक विधवा-विवाह हुए। विद्यासागर इन विवाहों में बहुत उत्साह से भाग लेते थे। उनके पुत्र ने भी विधवा-विवाह किया। उन्होंने अपने खर्च से १०० से अधिक विधवा-विवाह कराये और कन्याओं को आभूषणों से अलंकृत करके दान करते-करते वे ऋणी एवं निर्धन हो गये। उनके अन्तिम दिन बड़ी दरिद्रता में कटे, किन्तु विद्यासागर को अपनी दरिद्रता का इतना दुःख नहीं था जितना अपने देशवासियों की मूर्खता और जड़ता का। कानून द्वारा विधवा-विवाह के वैध हो जाने पर भी लोकाचार एवं प्राचीन रूढ़ियों में ग्रस्त होने के कारण लोगों ने विधवा विवाह नहीं किये। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को इससे मर्मान्तक वेदना होती थी। यह वेदना उनकी विधवा-विवाह विषयक पुस्तक के अन्तिम भाग में भली-भाँति व्यक्त हुई है।

इसमें उन्होंने यह लिखा था—"चिरसंचित कुसंस्कारों के वशीभूत एवं देशाचार के दास भारतीयों की बुद्धि और धर्म प्रवृत्ति ऐसी कलुषित हो गयी है कि अभागी विधवाओं की दुर्दशा पर उनके हृदयों में कारुण्य का संचार होना कठिन है। देश में व्यभिचार और भ्रूणहत्या का प्रबल प्रवाह देख कर भी तुम्हारे हृदयों में उस पर घृणा होना असम्भव है। तुम प्राणप्यारी कन्याओं को वैधव्य की आग में जलाने के लिए राजी हो, वे अजेय इन्द्रियों के वशीभूत हो व्यभिचार दोष से दूषित हों तो उसमें तुम्हें लज्जा

६ चण्डीचरण सेन के 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

नहीं आयेगी। जिस देश के पुरुषों में दया नहीं है, धर्म नहीं है, न्याय-अन्याय का विचार नहीं है, हिताहित की समझ नहीं है, जो लोकाचार की रक्षा को प्रधानकार्य और परम धर्म मानते हैं, हे ईश्वर, अबला स्त्रियों को ऐसे देश में पैदा ही मत करो। हा अबलाओ, तुम किस पाप के कारण भारतवर्ष में जन्म ग्रहण करती हो।" १८९१ में अपने प्रयत्नों में असफल एवं निराश होकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने भौतिक जीवन को समाप्त किया। इसके ३५ वर्ष बाद बंगाल के दूसरे महापुरुष सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा में ईश्वरचन्द्र के प्रयत्नों की असफलता स्वीकार करते हुए यह लिखा कि हिन्दू विधवा की स्थिति आज १९२४ में भी वही है जो आज से ५० वर्ष पहले थी।

भारत के अन्य प्रान्तों में भी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की भाँति अनेक समाजसुधारकों ने विधवा विवाह की प्रथा को प्रचलित करने का भरसक उद्योग किया। इनमें महाराष्ट्र के विष्णु परशुराम पंडित (१८२७–७६), गोपाल हरि देशमुख, महादेव गोविन्द रानाडे, पारसी सज्जन श्री बहरामजी मलाबारी के नाम उल्लेखनीय हैं। उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने तथा सर गंगाराम की विधवा-विवाह सहायक सभा ने इस विषय में बहुत कार्य किया है। फिर भी अभी तक प्राचीन रूढ़ियों एवं विश्वासों के कारण उपर्युक्त कानून बन जाने पर भी विधवाओं के पुनर्विवाह समाज में बहुत कम होते हैं, उनकी दशा पहले की भाँति दयनीय है। एक आधुनिक महिला के शब्दों में—"विधवा का समाज में कोई स्थान नहीं है। पुराने जमाने में वह भौतिक रूप से सती हुआ करती थी, अब वह मनोवैज्ञानिक रूप से सती है। आज भी आधुनिक परिवारों में वह विवाहादि के आमोद-प्रमोद वाले पारिवारिक संस्कारों से बहिष्कृत की जाती है; पति के घर में एक बोझ समझी जाती है, उससे नौकर जैसा व्यवहार किया जाता है। उसे कुछ सहानुभूति मिलती है, किन्तु वह अधिक नहीं होती है। उसे प्रायः पति की मृत्यु का कारण समझा जाता है।"[१०] हिन्दू परिवार में उस समय तक विधवा की समस्या बनी रहेगी जब तक विधवा के सम्बन्ध में प्रचलित वर्तमान रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का उन्मूलन नहीं हो जाता है।

१० मार्गरेट कोरमैक—दी हिन्दू वूमेन, भारतीय संस्करण १९६१, पृ० १६४

अध्याय १२

सती प्रथा तथा नियोग

ऐतिहासिक विकास की तीन अवस्थाएं

आज से १५० वर्ष पहले सती[1] प्रथा हिन्दू समाज की सर्वमान्य व्यवस्था थी। पतिव्रता हिन्दू नारियाँ पति की मृत्यु पर उसकी चिता पर उसके साथ जलने में बड़े गौरव और गर्व का अनुभव करती थीं, इसे उस समय सनातन काल से चली आने वाली व्यवस्था समझा जाता था। किन्तु यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। वैदिक युग में हमें इस प्रथा की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। वस्तुतः हिन्दू समाज में इसका विकास कई क्रमिक दशाओं में से होकर गुजरा है। पहली दशा वैदिक युग से ३०० ई० पू० तक की है। इस समय भारत में इसकी सत्ता के कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होते हैं। दूसरी दशा ३०० ई० पू० से ७०० ई० तक की है। इस समय इसका विकास शनैः-शनैः होने लगा, पहले यह प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित हुई, समाज के अन्य वर्गों ने क्षत्रियों से इसे ग्रहण किया। इस समय कुछ विचारकों ने सती प्रथा का विरोध भी किया। तीसरी दशा ७०० से १८२६ ई० तक थी। इस समय धर्मशास्त्रकार इसका प्रबल समर्थन करने लगे, सती प्रथा का हिन्दू समाज में व्यापक रूप से प्रचार हुआ, कई बार स्त्रियों को जबरदस्ती चिता पर चढ़ने के लिए बाधित किया जाने लगा। कुछ विशेष कारणों से बंगाल में इसका विशेष विकास हुआ। यहाँ विभिन्न युगों में सती प्रथा के विकास पर प्रकाश डाला जायेगा।

[1] सती का मूल शब्दार्थ उत्तम स्त्री है। मध्यकाल में सती का सर्वोत्तम धर्म पति की चिता पर जलना समझा गया, अतः इस प्रकार देहत्याग करने वाली स्त्री को सती कहा जाने लगा। इसको संस्कृत में सहमरण, सहगमन या अन्वारोहण (मृतपति की चिता पर चढ़ना) कहा जाता है, किन्तु अनुमरण तब होता है जब पति किसी अन्य स्थान पर मरता है और वहीं जला दिया जाता है और विधवा उसके किसी चिह्न पादुका आदि के साथ अथवा उसकी भस्म के साथ पृथक् रूप से सती होती है (अपरार्क, पृ० १११)।

वैदिक युग में सती प्रथा का अभाव

विशाल वैदिक वाङ्मय में सती प्रथा का कोई संकेत नहीं है। यह साहित्य बुद्ध के आविर्भाव के समय—६ ठी श० ई० पू० तक विकसित हो चुका था। इसके बाद विकसित होने वाले गृह्यसूत्रों (६०० ई० पू० से ३०० ई० पू०) में विभिन्न संस्कारों तथा विधिविधानों का विस्तृत उल्लेख है। यदि सती प्रथा उस समय प्रचलित होती तो गृह्यसूत्रों के मरणोत्तर विधि-विधानों में उसका अवश्य उल्लेख होता, किन्तु हमें कोई ऐसा वर्णन नहीं मिलता। अपितु इसके प्रतिकूल आश्वलायन गृह्यसूत्र (४।२।१८) की मरणोत्तर प्रेतविधि में यह व्यवस्था मिलती है कि विधवा स्त्री को पति की चिता से उसका पतिस्थानीय देवर, शिष्य या बूढ़ा नौकर उठाये, यह आशा प्रकट की गयी है कि विधवा और उसके संबंधी सुखी एवं समृद्ध जीवन व्यतीत करें। अथर्ववेद (१८।२।१) के प्रेतविधि के मंत्रों में विधवा के लिए इसी प्रकार से धन-सम्पत्ति और सन्तान की प्रार्थना की गयी है।

पिछली शताब्दी में जब राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रबल आन्दोलन किया, तो सती प्रथा के समर्थक रूढ़िवादियों ने मुख्यरूप से दो प्रमाणों के आधार पर इसे वैदिक व्यवस्था सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु ये दोनों प्रमाण विश्वसनीय नहीं प्रतीत होते हैं। पहला प्रमाण ऋग्वेद के दशममण्डल (१०।१८।७) का है। इसके अठारहवें सूक्त के सातवें मन्त्र में कहा गया है कि शव का चिता पर अन्त्येष्टि से पहले सधवा नारियाँ उस पर घी लगायें, इसमें सती प्रथा का कोई वर्णन नहीं है। किन्तु इस मंत्र के अन्त में 'आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे' का पाठ है, मध्ययुग में बंगाल के धर्मशास्त्री रघुनन्दन ने इसमें 'अग्रे' के स्थान पर 'अग्ने' का पाठ माना तथा इस मंत्र के भ्रांतिपूर्ण पाठ के आधार पर विधवा स्त्री द्वारा पति की चिता पर आरोहण के लोकाचार को वैदिक विधि सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[२] वस्तुतः इस मंत्र में अग्नि शब्द का उल्लेख ठीक नहीं है और यह मंत्र वैदिक युग में सती प्रथा के प्रचलन को सिद्ध नहीं कर सकता है। दूसरा प्रमाण नारायणीय तैत्तिरीय उपनिषद् के ८४ वें अनुवाक में और औख्यशाखा की संहिता से उद्धृत की गयी एक ऐसी प्रार्थना है, जिसमें विधवा अग्नि-देवता से यह प्रार्थना करती है कि वह पति की मृत्यु के बाद उसका अनुगमन करते हुए चिता पर चढ़ने अथवा पत्यनुगमनव्रत का पालन करना चाहती है, अग्नि देवता उसे इस व्रत का पालन करने की शक्ति प्रदान करें।[३] किन्तु नारायणीय तैत्तिरीयोपनिषद्

[२] ऋ० १०।१८।७ इमा नारीरविधवाः सपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥
इसमें अग्रे ही शुद्ध पाठ है, अग्ने नहीं।

[३] अग्ने व्रतानां व्रतपतिरसि पत्यनुगमनव्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

वैदिक युग का नहीं, अपितु उसके बहुत बाद का लिखा गया ग्रन्थ है। हमें आजकल औख्य शाखा नहीं मिलती है। अतः इस वचन के आधार पर वैदिक युग में सती प्रथा की सत्ता सिद्ध करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है।

वैदिक युग में इस प्रथा का न पाया जाना वस्तुतः कुछ आश्चर्यजनक है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्राडर ने यह बताया है कि पुरानी आर्य जातियों में सती प्रथा का प्रचलन था।[४] किन्तु भारत के आर्यों में तथा उनके वैदिक साहित्य में इस प्रथा की सत्ता सूचित करने वाले कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। संभवतः इसका कारण वैदिक धर्म और संस्कृति का उन्नततम विकास था। श्री अल्तेकर के शब्दों में वैदिक आर्यों ने इस समय तक ऐसे उदात्त दृष्टिकोण का विकास कर लिया था कि वे सती

४ श्राडर—प्रिहिस्टारिक एण्टीक्विटीज ऑफ दी आर्यन पीपल्स, (१८९०) पृ० ३९१; वैस्टरमार्क—ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ मारल आइडियाज (१९०६) खण्ड १, पृ० ४७२-४७६, पेन्जर—ओशन ऑफ स्टोरी, खण्ड ४, पृ० २५५-८५। इन ग्रंथों में दिये हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस प्रथा का प्रसार प्राचीन काल में यूरोप तथा एशिया के विभिन्न देशों में था। तीसरी से छठी शताब्दी के बीच में योरोप में फैलने वाली ट्यूटानिक जातियां उसका अनुसरण करती थीं। ग्रिम ने स्केण्डेनेवियन तथा राल्स्टन ने स्लाव जातियों में इस प्रथा के उदाहरण दिये हैं। हिरोडोट्स ने यूनान की थ्रेशियन जातियों के बारे में लिखा है कि पति की मृत्यु पर उसकी स्त्रियों में स्पर्धा होती थी कि कौनसी स्त्री उसकी प्रियतम पत्नी है ताकि पति की समाधि पर उसे मारा जा सके। हिरोडोट्स (४।७१) ने सीथियन या शक राजाओं के एक रिवाज का उल्लेख करते हुए कहा है कि इनकी मृत्यु पर इनकी समाधि पर परलोक में जीवन के लिए आवश्यक इनकी स्त्रियों, नौकरों तथा घोड़ों को मारा जाता था। मोनियर विलियम्स (इंडियन विजडम, पृ० २८५ की पाद टिप्पणी) ने कहा है कि भारत के हिन्दुओं में यह प्रथा मध्य एशिया के शकों के सम्पर्क से आयी। प्राचीन मिस्री लोगों में इस प्रथा की सत्ता थीब्स में आमेन होतेप द्वितीय की समाधि में प्राप्त अनेक स्त्रियों के अवशेषों से सूचित होती है। यहां १८ वें राजवंश के समय में राजा की प्रिय स्त्रियां या तो स्वयमेव आत्महत्या करती थीं, या उन्हें गला घोटकर या जहर देकर मारा जाता था ताकि वे परलोक में पति के पास पहुंचें और उसकी सेवा करें। डीगूट ने लिखा है कि चीन में विधवा के पुनर्विवाह को बुरा समझा जाता था, पति की मृत्यु पर आत्महत्या करने वाली स्त्रियों के स्मारक सम्राट् के आदेश से बनाये जाते थे। क्राफर्ड ने लिखा है कि बालि द्वीप में एक राजा के मरने पर उसकी सब स्त्रियां और रखैलें उसके साथ सती होती हैं, कई बार इनकी संख्या सौ से ऊपर पहुंच जाती है।

प्रथा को बर्बर समझने लगे थे। इसके अतिरिक्त आक्रान्ता होने के कारण भारत में उनकी अल्पसंख्या थी, अपना राजनीतिक प्रभुत्व सुदृढ़ करने के लिए अपनी जनसंख्या बढ़ाना उनके लिए अति आवश्यक था। इस दशा में विधवाओं को जलाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा था कि विधवाओं को जीवित रखा जाय, पुनर्विवाह तथा नियोग द्वारा उनसे सन्तानोत्पादन कराकर जनसंख्या में वृद्धि की जाय।[५]

वैदिक साहित्य के बाद विकसित होने वाले बौद्ध साहित्य में हमें सतीप्रथा का एक भी संकेत नहीं मिलता है। इसके बाद मेगस्थनीज और कौटिल्य ने भी इसका कोई वर्णन नहीं किया है। धर्म सूत्र तथा मनु, याज्ञवल्क्य आदि आरंभिक स्मृतिकार सती-प्रथा का कोई उल्लेख नहीं करते है।[६]

सती प्रथा की पहली घटना

भारत में सती प्रथा का संभवतः पहला ऐतिहासिक उल्लेख ३१६ ई० पू० की एक घटना में मिलता है। यह यूनानी सेनापति एण्टीगोनस के विरुद्ध लड़ने वाले भारतीय सेनापति केटियस (Keteus) के युद्ध में मारे जाने पर उसकी छोटी पत्नी का चितारोहण है। यूनानी विवरणों के अनुसार भारतीय सेनापति की दो पत्नियां थी, अधिक आयु वाली बड़ी पत्नी की सन्तान थी, किन्तु कम आयु वाली छोटी पत्नी की कोई सन्तान नहीं थी। पति के मरने पर दोनों सती होना चाहती थी। किन्तु यूनानी सेनापति ने सन्तान होने के कारण बड़ी पत्नी को चिता पर चढ़ने की अनुमति नहीं दी। यूनानी लेखकों ने छोटी पत्नी के चितारोहण का बड़ा रोचक वृत्तान्त लिखा है कि किस प्रकार उसका छोटा भाई उसे चिता पर ले गया और वह अग्नि की ज्वालाओं से दग्ध होने पर भी मुस्कराती रही और प्रसन्न बनी रही। अन्य यूनानी लेखकों ने पंजाब की कठ (Kathians) जाति में इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है।[७] इन उल्लेखों से यह सूचित होता है कि सती प्रथा का प्रचलन इनी-गिनी जातियों तक ही सीमित था। सिकन्दर को पंजाब में पग-पग पर विभिन्न भारतीय राज्यों के साथ संघर्ष करना पड़ा था। इसमें अनेक भारतीय सेनापति और सैनिक मारे गये थे। किन्तु इनके

५ अल्तेकर—दी पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ११८

६ धर्मसूत्रों में केवल विष्णु (२५।१४) ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि विधवा अपने पति की मृत्यु पर या तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थी अथवा उसकी चिता पर चढ़ जाती थी।

७ स्ट्रैबो १५।१।३० तथा ६२, इस लेखक ने यह भी लिखा है कि भारत में इस प्रथा का विकास इस आशंका से हुआ कि पत्नियां अपने पतियों को छोड़ देंगी या उन्हें विष दे देंगी।

साथ इनकी पत्नियों के सती होने के केवल उपर्युक्त इने-गिने दृष्टान्त यह सूचित करते हैं कि उस समय इस प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन नहीं था।

ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शती ई० पू० में कुछ क्षत्रिय कुलों में सती प्रथा प्रचलित होने लगी थी। रामायण में सती प्रथा का एक ही दृष्टान्त वेदवती की कथा (७।१७।१४) है। यह उत्तरकाण्ड में होने के कारण मूल रामायण का भाग नहीं प्रतीत होता है। रामायण में दशरथ की मृत्यु होने पर उसकी कोई पत्नी उसके साथ सती नहीं हुई। महाभारत में सती प्रथा के इने-गिने उदाहरण मिलते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध माद्री का पाण्डु की चिता पर आरोहण है (१।१३८)। किन्तु इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि सब ऋषिमुनि माद्री को इस कार्य से रोकने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु माद्री उनकी बात न मानने के तीन कारण बताती है। पहला कारण यह है कि वह पाण्डु की अकाल मृत्यु का हेतु अपने आपको मानती है और इसके प्रायश्चित स्वरूप वह चिता-रोहण करना चाहती है। दूसरा कारण अपनी कामवासना पर नियन्त्रण न कर सकना तथा तीसरा कारण सब पुत्रों से समान व्यवहार न कर सकना है (१।१२८।७१)। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक सहमरण को धार्मिक महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ था। महाभारत में दूसरा उदाहरण कृष्ण की मृत्यु का समाचार आने पर उनकी पाँच पत्नियों रुक्मिणी, शैब्या, जाम्बवती आदि का चितारोहण है, किन्तु सत्यभामा चिता पर न चढ़कर तपस्या करने के लिए वन में चली जाती है (महाभारत १६।७।१८)। इसी प्रकरण में, मौसल पर्व में वसुदेव की चार पत्नियों—देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा के सती होने का वर्णन है (१६।७।१८ मि० विष्णुपुराण ५।३८।२)।

किन्तु इन थोड़े से उदाहरणों के अतिरिक्त महाभारत में पति की मृत्यु पर सती न होने वाली स्त्रियों के उदाहरणों की संख्या बहुत अधिक है। अभिमन्यु, घटोत्कच और द्रोणाचार्य की पत्नियाँ सती नहीं हुईं। यादवों में वसुदेव की चार पत्नियों के सती होने का उल्लेख है, किन्तु इसके साथ ही यादवों की हजारों विधवाओं का अर्जुन के साथ हस्तिनापुर आने का वर्णन है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने पर इसमें वीरगति प्राप्त पतियों के लिए स्त्रीपर्व में सैकड़ों विधवाएँ विलाप करती हैं, किन्तु इनमें से एक भी स्त्री सती नहीं होती है।

३०० ई० पू० से हिन्दू समाज में सती प्रथा के कुछ अधिक उदाहरण मिलने लगते हैं। वात्स्यायन, भास, कालिदास और शूद्रक अपनी रचनाओं में सती प्रथा का संकेत करते हैं। कालिदास के कुमारसम्भव में कामदेव के भस्म हो जाने पर उसकी पत्नी रति उसके साथ सती होना चाहती है, किन्तु दैवी वाणी उसे ऐसा करने से रोक देती है। कामसूत्र (६।२।५३) में वात्स्यायन यह बताता है कि किस प्रकार नर्तकियाँ प्रेमियों का दिल जीतने के लिए उन्हें यह झूठा आश्वासन देती हैं, कि वे उनके साथ सती हो जायेंगी। भास दूतघटोत्कच और ऊरुभंग नामक नाटकों में महाभारत के वर्णन के

सर्वथा विपरीत उत्तरा, दुःशला और पौरवी के अभिमन्यु, जयद्रथ और दुर्योधन की चिता पर सती होने का वर्णन करता है। मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी पति के प्राणदण्ड का समाचार मिलने पर चितारोहण का संकल्प करती है। बृहत्संहिता (७४। १६) सती होने वाली स्त्रियों के साहस की प्रशंसा करती है। गुप्त युग में सती प्रथा का ऐतिहासिक उदाहरण ५१० ई० में हूणों के विरुद्ध लड़ते हुए दिवंगत होने वाले सेनापति गोपराज के साथ उसकी पत्नी के सती होने का है (फ्लीट सं० ३ पृ० ९३)। ६०६ ई० में प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के समय उसकी पत्नी यशोमती चिता पर चढ़कर सती हुई (हर्षचरित उच्छ्वास ५)।

गुप्त युग से स्मृतिकारों के विचारों में परिवर्तन आने लगा और वे सती प्रथा का समर्थन करने लगे। पुराने स्मृतिकारों में मनु ने विवाह को अविच्छेद्य संबंध मानते हुए विधवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की व्यवस्था की थी (५।१५७)। किन्तु गुप्तयुग से स्मृतिकार विधवा के लिए ब्रह्मचर्य को आदर्श मानते हुए भी द्वितीय विकल्प के रूप में उसके सती होने का वर्णन करने लगते हैं। बृहस्पति (विवादरत्नाकर, पृ० ४४२), पराशर (४।२९।८) ऐसे ही स्मृतिकार थे। अग्निपुराण (२२१।२३) ने चिता पर चढ़ने वाली नारी द्वारा स्वर्ग जाने का वर्णन किया।

सती प्रथा का विरोध

किन्तु इस समय कुछ शास्त्रकारों और विचारकों ने सती प्रथा का प्रबल विरोध किया, वे इसे आत्महत्या का महापाप और निरर्थक कार्य समझते थे। मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि (५।१५७) यह कहा कि अंगिरास्मृति सती प्रथा का विधान करती है किन्तु यह आत्महत्या का निषेध करने वाले वैदिक वचनों का विरोधी है। इस विषय में मेधातिथि ने श्येनयाग का उदाहरण दिया है। यह अपने शत्रु को नष्ट करने की एक याज्ञिक विधि है। जिस प्रकार श्येन या बाज अपने शिकार पर झपटकर उसका तत्काल संहार कर देता है उसी प्रकार शत्रु का विध्वंस करने के लिए श्येनयाग की विधि होती है। वेद में कहा गया है—'श्येनेनाभिचरन् यजेत्'। किन्तु वैदिक विधि होते हुए भी जिस प्रकार श्येनयाग को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है, उसे धर्म नहीं, अपितु अधर्म माना जाता है (जैमिनि १।१।२ पर शबर भाष्य), उसी प्रकार अंगिरा द्वारा अनुमोदित सती प्रथा अधर्म है, क्योंकि यह वेद के इस वचन के विरुद्ध है कि 'जब तक आयु न बीत जाय तब तक किसी को यह लोक नहीं छोड़ना चाहिए।'[८] विराट का यह कहना है कि

८ किन्तु मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।८६) मेधातिथि के तर्क का विरोध करते हुए कहा है—श्येनयाग वास्तव में अनुचित है अतः अधर्म है, क्योंकि उसका उद्देश्य दूसरे को कष्ट में डालना है, किन्तु अनुगमन वैसा नहीं है। 'यहां इसका फल स्वर्ग प्राप्ति

विधवा जीवित रहते हुए विविध प्रकार के धार्मिक कार्यों से पति का कल्याण कर सकती है, किन्तु जब वह चिता पर चढ़ती है तो आत्महत्या के पाप की दोषी होती है। १२ वीं शताब्दी के एक निबन्धकार देवण्ण भट्ट ने (स्मृति-चन्द्रिका व्यवहारकाण्ड, पृ० ५६८) में इसका घोर विरोध करते हुए यह कहा कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा बड़ा जघन्य कार्य है।

इस प्रथा का उग्रतम विरोध बाण ने कादम्बरी (पूर्वार्ध पृ० ३०८) में किया है। उनका यह कहना है कि पति की मृत्यु के बाद सती होना (अनुमरण) बड़ा निष्फल कार्य है, इसे मूर्ख लोग ही करते हैं। यह कार्य मोह से तथा जल्दबाजी में किया जाता है, इससे मृत व्यक्ति को लाभ नहीं होता, इससे उसे स्वर्गलोक नहीं प्राप्त होता और यदि उसे अपने कर्मों के अनुसार नरक में जाना है तो सहमरण से वहाँ वह जाने से नहीं बच सकता है। सती न होने से मरने पर वह कर्मों के अनुसार परलोक में उत्तम स्थान प्राप्त करती है, किन्तु सती होने वाली स्त्री आत्महत्या पाप के कारण नरक में जाती है। यदि वह जीवित रहे तो उत्तम कर्म करके अपने को लाभ पहुँचा सकती है। पति के साथ मर जाने पर वह न तो अपने को और न ही पति को कोई लाभ पहुँचाती है।

बाण द्वारा सती प्रथा की उपर्युक्त कड़ी निन्दा का समर्थन तान्त्रिकों ने भी किया। वे नारी को देवी भगवती का अवतार समझते थे। महानिर्वाणतन्त्र (१०।७६) ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि मोहवश पति की चिता पर चढ़ने वाली स्त्री नरकगामिनी होती है (मोहाद् भर्तृचितारोहाद् भवेन्निरयगामिनी)।

उपर्युक्त विरोधों के बावजूद ७०० ई० के बाद के शास्त्रकार सती प्रथा का प्रबल समर्थन करने लगे और इसकी महिमा और गौरव का बखान बड़ी आलंकारिक भाषा में करने लगे। अंगिरा ने मनु के उपर्युक्त वचन (५।१५७) के सर्वथा विपरीत यह कहा कि पति की मृत्यु होने पर साध्वी स्त्रियों के लिए अग्नि में जल मरने (अग्निपतन) के अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म नहीं है (अपरार्क याज्ञ० १।८७ पर)। हारीत के मता-

है जो उचित माना जाता है और श्रुतिसम्मत है।"'इसी प्रकार अनुगमन के संबंध में स्मृति श्रुति के विरुद्ध नहीं है, यहां उसका अर्थ है—किसी को स्वर्ग के आनन्द के लिए अपने जीवन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्री अनुगमन द्वारा स्वर्ग की इच्छा करती है अतः यह श्रुतिवाक्य के विरोध में नहीं जाती है"। यह तर्क इस बात का सुन्दर उदाहरण है कि शास्त्रों के व्याख्याकार एक ही श्रुतिवाक्य से अपने समय की व्यवस्था के अनुकूल अर्थ को अपने बुद्धिकौशल से किस प्रकार निकाला करते थे। अपरार्क (पृ० १११), मदनपारिजात (पृ० १६६), पराशरमाधवीय (भाग १ पृ० ५५-५६) ने मिताक्षरा का तर्क स्वीकार किया है।

नुसार सती होने वाली स्त्री अपने इस कार्य से इतना पुण्य उपार्जन करती है कि वह अपने पति का उसके भीषणतम महापापों से उद्धार कर लेती है। पराशर स्मृति (४।३२-३३) में कहा गया है कि पति की मृत्यु के बाद सती होने वाली स्त्री ३½ करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है। जैसे सपेरा सांप को बिल में से बलपूर्वक निकाल लेता है, वैसे ही सती होने वाली स्त्री नरक से पति का उद्धार करती है और उसके साथ स्वर्गलोक में आनन्दपूर्वक रहती है। (स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य ७।५५)।

कश्मीर में सती प्रथा के उदाहरण

शास्त्रकारों द्वारा सती प्रथा के प्रबल समर्थन से इसका प्रचलन बढ़ने लगा। ७००-११०० ई० में इसके अनेक उदाहरण उत्तर भारत में, विशेष रूप से कश्मीर में मिलते हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी (८।३६६) में इस पर आश्चर्य प्रकट किया है कि राजा उच्चल की जयमती जैसी दुःशीला स्त्रियों ने भी चितारोहण किया। कश्मीर में राजा के मरने पर न केवल उसकी स्त्रियां, अपितु माता, बहिन आदि अन्य संबंधी (६।११८०, ८।४४८, ७।१४८६), मन्त्री, नौकर-चाकर (५।२०६, ७।४८१, ७।४९०, ८।१४४७) भी चितारोहण करते थे। कल्हण ने मुम्मुनि की मृत्यु पर प्रेमवश उसकी बिल्ली द्वारा उसकी चिता में कूदने का वर्णन किया है (७।२४४१)। ११०० ई० में कश्मीर में लिखे गये कथासरित्सागर की कई कहानियों में सती प्रथा का उल्लेख है। श्री अल्तेकर (पोजीशन आफ वुमेन पृ० १२७) ने यह कल्पना की है कि कश्मीर में सती प्रथा के अधिक प्रसार का कारण संभवतः यह था कि इसका सम्पर्क मध्य एशिया से था और हिरोडोटस के मतानुसार एशिया के शकों में सती प्रथा का प्रचलन बहुत अधिक था।

शिलालेखों की साक्षी

सतीप्रथा के विषय में शिलालेखों की साक्षी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। राजस्थान के शिलालेखों से पता चलता है कि १३०० ई० के बाद से इस प्रथा का प्रचलन बहुत बढ़ गया। १२००-१६०० ई० के बीच में सती होने के बीस उदाहरण मिलते हैं, किन्तु इससे पहले काल में बहुत कम शिलालेख इसका निर्देश करते हैं (अल्तेकर—पू० पु०, पृ० १३०)। इस विषय में सबसे पहला उल्लेख ८४२ ई० में चाहमान राजा चण्डमहासेन की पत्नी के सती होने का है। ८६० ई० में घटियाला में सम्पल्लदेवी सती हुई। एक शिलालेख में चेदिराज गांगेयदेव के प्रयाग के वटमूल में अपनी १०० पत्नियों के साथ मुक्ति पाने का वर्णन है (एपि० इं०, खं० १२, पृष्ठ २११)। यह संभवतः सती प्रथा का नहीं, अपितु प्रयाग के संगम में डूब कर मुक्ति पाने का वर्णन है। १२०० ई० के बाद से हमें उत्तर भारत के, विशेषतः राजपूताने के क्षत्रिय राजपरिवारों में सती प्रथा के बहुत

उदाहरण मिलते हैं। मध्य युग में राजपूताना में राजा के मरने पर उसकी सन्तानहीन सभी विधवाएँ सती होती थीं, कई बार इनकी संख्या बहुत अधिक होती थी। टाड ने लिखा है (एनल्स, खण्ड २, पृ० ८३७) कि मारवाड़ में १७२४ में राजा अजीतसिंह की मृत्यु पर ६४ रानियाँ उसकी चिता पर चढ़ीं, बून्दी के राजा बुधसिंह की मृत्यु पर ८४ स्त्रियाँ सती हुईं। मदुरा के नायक राजाओं में भी ऐसी स्थिति थी। १६११ तथा १६२० में दो राजाओं की मृत्यु पर ४०० तथा ७०० स्त्रियाँ चिता पर चढ़ीं।

दक्षिण भारत के शिलालेख भी यही सूचित करते हैं। कर्नाटक के शिलालेखों के ग्रन्थ (Epigraphica Carnaticia) में १०००-१४०० ई० तक सती प्रथा के केवल ११ उल्लेख मिलते हैं, किन्तु १४००-१६०० ई० के शिलालेखों में इस प्रकार के ४१ उदाहरण मिलते हैं। सती होने वाली अधिकांश स्त्रियाँ दक्षिण भारत की योद्धा जातियों के नायक और शासक वर्गों से संबद्ध थीं। दो उदाहरण जैनों के भी हैं, किन्तु ब्राह्मण जाति की स्त्रियों के सती होने के बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं।[८] मध्य प्रदेश के शिलालेख यह सूचित करते हैं कि १५००-१८०० ई० के मध्य में यहाँ जुलाहा, नाई, राज आदि सभी सामाजिक श्रेणियों और वर्गों की स्त्रियाँ सती हुआ करती थीं। मध्य प्रदेश में सतियों के अनेक शिलालेख और स्मारक मिलते हैं।

मुस्लिम शासकों द्वारा विरोध

मध्य युग में मुहम्मद तुगलक जैसे कुछ मुस्लिम शासकों ने इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया। हुमायूं ऐसी सभी विधवाओं का सती होना बन्द करना चाहता

८ इस प्रसंग में यह उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि अनेक शास्त्रकार ब्राह्मण विधवाओं के लिए सती होना वर्जित ठहराते हैं। बृहद्देवता (५।१५) इसे केवल क्षत्रियों के लिए उपयुक्त समझता है। पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड ४६।७२-३) स्पष्ट शब्दों में ब्राह्मणी द्वारा पति की मृत्यु पर सहमरण का विरोध करता है तथा इसे ब्रह्महत्या मानता है (न म्रियेत समं भर्त्रा ब्राह्मणी ब्रह्मशासनात्)। अपरार्क ने (याज्ञ० १।८७ पर) पैठिनसि, अंगिरा, व्याघ्रपाद आदि की उक्तियों के आधार पर ब्राह्मणियों के सती होने का विरोध किया है। इसका कारण यह था कि आरम्भ में इस प्रथा का प्रचार राजघरानों तथा क्षत्रिय कुलों तक सीमित था। मध्य युग में इसका प्रसार व्यापक होने पर निबन्धकारों ने अपरार्क के निषेध की व्याख्या इस प्रकार की कि ब्राह्मणों की पत्नियां अपने को केवल पति की चिता पर ही भस्म कर सकती हैं, यदि पति की मृत्यु कहीं दूरस्थान, या विदेश में हुई हो, वह वह वहीं जला दिया गया हो तो पत्नी को उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर अपने को नहीं जलाना चाहिए।

था, जो बच्चा पैदा करने की अवस्था पूरी कर चुकी हों। अकबर ने अपने राज्य के २२ वें वर्ष में सती प्रथा बन्द करने के लिए ऐसे सरकारी निरीक्षक नियुक्त किये जिनका काम यह देखना था कि किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न किया जाय। इसके परिणामस्वरूप आगरा के आसपास सती होना बन्द हो गया। अनेक प्रदेशों में मुस्लिम शासकों ने यह नियम बना दिया था कि कोई भी विधवा स्थानीय अधिकारी की अनुमति के बिना सती न हो सके। इनका उद्देश्य इस प्रथा को बन्द करना था, किन्तु इस नियम का इस प्रथा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि सरकारी अधिकारी प्रायः ऐसी अनुमति दे दिया करते थे।

सहमरण की विधि

मध्य युग के पिछले निबन्धग्रंथों, शुद्धितत्त्व, निर्णयसिन्धु (भाग ३, पृ० ६२३) तथा धर्मसिन्धु (पृ० ४८३-४) में पहली बार सती होने की विधि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। सती होना एक महान् पुण्य का कार्य समझा जाता था। इसे समाज में उच्चतम गौरव और सम्मान दिया जाता था। जब किसी स्त्री को सती होना होता था तो उसका जलूस बड़ी धूमधाम से और राजसी ठाठ-बाठ से निकाला जाता था। पद्मपुराण (पाताल खण्ड १०२।६७) के अनुसार उसे नहला-धुलाकर, मंगल संस्कार करके उसके शरीर पर सब सौभाग्यसूचक चिह्न, आभूषण, अंजन, गन्ध, पुष्प, धूप, हल्दी, अक्षत धारण कराये जाते थे, पांवों में अलता लगाया जाता था; वह हाथ में दर्पण, कुंकुम, कंघी, पान आदि सौभाग्यसूचक वस्तुएँ लेती थी, इस समय वह अपने शरीर पर अधिक से अधिक आभूषण तथा बहुमूल्य वस्त्र पहनती थी, धूमधाम से नाना बाजों के साथ श्मशान स्थान पर पहुँचकर चिता पर चढ़ने से पहले वह अपने बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण अपने संबंधियों को दे देती थी, वे इसे बड़े आदर के साथ ग्रहण करते थे और बहुमूल्य स्मृति के रूप में सुरक्षित रखते थे। इस समय कुछ व्यक्ति उसे अपने स्वर्गस्थ संबंधियों तक अपने संदेश पहुँचाने का कार्य भी सौंपते थे। चिता पर चढ़ते हुए वह अपने पति का सिर अपनी गोद में रख लेती थी और इसके साथ चिता की ज्वाला में झुलसते हुए सती हो जाती थी। यदि एक पुरुष की कई विधवा स्त्रियां हों तो उसकी प्रिय पत्नी ही उसके सिर को अपनी गोद में रख कर एक ही चिता पर सहमरण की विधि पूरी करती थी, अन्य विधवा स्त्रियां अलग चिताओं पर जलायी जाती थीं। कई बार गृहस्थ जीवन के ईर्ष्या-द्वेष को भुला कर कई स्त्रियां एक ही चिता पर पति के साथ सती हो जाती थीं। यदि पति की मृत्यु किसी दूरवर्ती क्षेत्र में हुई हो तथा उसके शव के साथ चिता पर चढ़ना संभव न हो तो विधवा पति की पगड़ी, जूते या किसी अन्य वस्तु के साथ चिता पर चढ़ती थी।

स्वेच्छापूर्वक पति की चिता पर चढ़ने वाली स्त्रियाँ कई बार आग की ज्वालाओं

से घबरा कर चिता से बाहर भागने का प्रयत्न करती थी, अतः सतियों की चिता को विशेष रूप से इस प्रकार का बनाया जाता था कि इनके भागने की संभावना न रहे। सती की चिता प्रायः एक गहरा गढ़ा खोद कर बनायी जाती थी, दक्षिण एवं पश्चिम भारत में यह रिवाज विशेष रूप से प्रचलित था। विदेशी यात्रियों ने इसका कई बार वर्णन किया है। गुजरात और उत्तरी भारत में १२ वर्गफुट की एक झोंपड़ी बना कर उसके खम्भे के साथ सती होने वाली स्त्री को बाँध दिया जाता था। बंगाल में जमीन में मजबूती से गाड़े गये दो खम्भों के साथ विधवा के पैरों को मजबूती से बाँध दिया जाता था तथा उससे तीन बार पूछा जाता था कि क्या वह वास्तव में स्वर्ग जाना चाहती है, उससे सहमति लेने के बाद चिता में आग लगायी जाती थी, चिता से बँधे होने के कारण स्त्री का भागना असंभव हो जाता था, उसके आर्तनाद और चीत्कार की करुण ध्वनि को दबाने के लिए इस समय ढोल और मृदंग बड़े जोर से बजाये जाते थे। अनेक विदेशी यात्रियों ने भारत के विभिन्न भागों में सती प्रथा के अनेक वर्णन लिखे हैं।

विदेशी यात्रियों के विवरण

दक्षिण भारत में १४ वीं तथा १५ वीं शती में विजयनगर के साम्राज्य में सती प्रथा का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। फर्नाओ नूनिज (Fernao Nuniz) तथा दुआर्ते बरबोसा (Duarte Baborsa) ने इसके बड़े रोचक वृत्तान्त लिखे हैं। बरबोसा के कथनानुसार राजा की मृत्यु पर चार सौ या पांच सौ स्त्रियां तथा इतनी ही संख्या में पुरुष चिता पर चढ़ा करते थे। निकोलो कोण्टी नामक यात्री को यह बताया गया था कि विजयनगर के राजा की १२००० स्त्रियाँ होती थीं, इनमें दो या तीन हजार इसी शर्त पर चुनी जाती थीं कि राजा की मृत्यु होने पर वे स्वेच्छापूर्वक सती होंगी। बरबोसा ने जमीन में एक गढ़ा खोदकर चिता बना कर सती होने का उल्लेख किया है। उसके वर्णनानुसार उच्चकुलों की स्त्रियां सती होते समय खूब ठाठबाठ से बहुमूल्य एवं सुन्दरतम वस्त्र पहनकर सब अलंकार तथा मणि माणिक्य धारण करके सजधज कर सफेद घोड़े पर सवार होकर बाजे गाजे और जुलूस के साथ पति की चिता के स्थान पर पहुँचती हैं। वहाँ तीन बार चिता की परिक्रमा करके सती होने वाली स्त्री अपने पुत्रों तथा संबंधियों को बुलाती है, उन्हें अपने शरीर पर धारण किए हुए रत्न, आभूषण तथा वस्त्र देती चली जाती है, यहाँ तक कि अन्त में उसके शरीर पर केवल लज्जा निवारण करने के लिए इने-गिने वस्त्र ही रह जाते हैं। वे सब कार्य वह इतनी प्रसन्नता से करती है कि मानों उसे मृत्यु की कोई चिन्ता ही नहीं है। इसके बाद वह तेल का घड़ा अपने सिर पर रख लेकर चिता की तीन बार परिक्रमा करती है, तेल को आग में डालती है और अग्नि की ज्वालाओं में ऐसे कूद जाती है, जैसे वह रुई के मुलायम गद्दे पर कूद रही है। तदनन्तर वह ज्वालाओं में जल कर भस्म हो जाती है। मैण्ड-

स्लो (Mandeslo) ने खम्भात (गुजरात) में तथा पीटर मण्डी ने सूरत में तथा थामस बौरी ने बंगाल में सती प्रथा के अनेक वर्णन लिखे हैं। टैवर्नियर ने १७ वीं शताब्दी में कारोमण्डल के तट पर इसका वर्णन किया है। विदेशी यात्रियों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि यह प्रथा उस समय देश के लगभग सभी भागों में प्रचलित थी।[१०]

सती प्रथा में बलप्रयोग

क्या स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक सती होती थीं, या उन्हें सती होने के लिए बाधित किया जाता था? इन प्रश्नों का सीधा और सरल उत्तर देना बहुत कठिन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सती होने के लिए स्त्रियों को विवश किया जाता था। कल्हण ने राजतरंगिणी में कश्मीर की दो ऐसी रानियों के उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने अपने मन्त्रियों को इसलिए घूस दी थी कि वे जब चिता पर स्वेच्छापूर्वक चढ़ने का ढोंग करें तो वे मन्त्री उन्हें चिता पर चढ़ने से रोकें तथा उनकी प्राण रक्षा करें। रानी दिद्दा ने अपने मंत्री नरवाहन की सहायता से इस प्रकार अपनी जान बचायी थी (६।१९५)। किन्तु जयमती का धूर्त मंत्री सर्व पैसा लेकर भी ठीक समय पर श्मशान में नहीं पहुँचा और अभागी रानी को अनिच्छापूर्वक सती होना पड़ा। मध्यकालीन विदेशी यात्रियों ने बलप्रयोग द्वारा सती किये जाने के अनेक उदाहरणों का उल्लेख किया है। मनूची (खं० ३, पृ० ६५) ने लिखा है कि क्षत्रिय स्त्रियों को जबर्दस्ती सती किया जाता था, उसने ऐसी एक स्त्री की प्राण रक्षा की थी और बाद में इसका विवाह उसके एक योरोपियन मित्र से हो गया था। निकोली कौण्टी ने यह बताया है कि सती होने के लिए आर्थिक दबाव डाला जाता था, विधवा को यह धमकी दी जाती थी कि यदि वह सती न हुई तो उसको स्त्रीधन के अधिकार से वंचित कर दिया जायगा। बर्नियर (पृ० ३६३-६४) ने १२ वर्ष की एक बालविधवा का लाहौर में सती किये जाने का वर्णन किया है। अकबर का एक राजपूत कर्मचारी अपनी माता के विधवा होने पर उसे जबर्दस्ती सती करना चाहता था; अकबर के हस्तक्षेप से उसकी प्राणरक्षा हुई।

कई बार बलपूर्वक सती की जाने वाली कुछ स्त्रियां जलती चिता से भाग खड़ी होती थीं। ऐसी स्त्रियां हिन्दू समाज में अस्पृश्य समझी जाती थीं, उन्हें अपनी जाति और परिवार में ग्रहण नहीं किया जाता था। ये स्त्रियां चिता तैयार करने वाले निम्न जाति के व्यक्तियों के घरों में चली जाती थीं। कई बार यूरोपियन व्यापारी ऐसी स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। स्त्रियों को जबर्दस्ती सती करना उनके साथ घोर अन्याय था, किन्तु समाज संभवतः इसे इसलिए सहन करता रहा है कि स्वेच्छापूर्वक सती होने वाली स्त्रियों की समाज में कमी नहीं थी।

१०. पेन्जर—दी ओशन आफ स्टोरी, खण्ड ४, पृ० २६७-२७१

स्वेच्छापूर्वक सती होने के उदाहरण

मध्यकाल के विदेशी यात्रियों ने जहाँ एक ओर मध्य युग में जबर्दस्ती सती होने के उदाहरण दिये हैं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों का भी वर्णन किया है, जिनमें स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक बड़ी प्रसन्नता से पति की चिता पर चढ़ती थीं। १७ वीं सदी के एक फ्रेंच यात्री टैवर्नियर ने लिखा है कि २२ वर्ष की एक विधवा पटना के सूबेदार के पास सती होने की अनुमति लेने गयी, सूबेदार ने उसके सच्चे संकल्प की परीक्षा करने के लिए उसके हाथ को मशाल से जलवाया, उसका हाथ पूरी तरह जल गया किन्तु उसने उफ तक नहीं की, अतः उसे सती होने की अनुमति दी गयी (पृ० ४१४-७)। १४ वीं शताब्दी के एक विदेशी यात्री इब्नबतूता ने यह लिखा है कि चिता की ज्वालाओं में सहर्ष जलने वाली एक विधवा का साहस देखकर वह दंग रह गया (पृ० १९१)। बर्नियर ने एक स्त्री के सती होने के दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि उस समय उसका मुख-मण्डल खुशी से चमक रहा था, उसकी बातचीत में किसी प्रकार की चिन्ता का कोई चिह्न नहीं था, उसका साहस विस्मयजनक एवं अद्‌भुत था, उसने मशाल हाथ में ली और स्वयमेव चिता में आग लगा दी। बर्नियर को यह सारा दृश्य वास्तविक तथ्य होते हुए भी एक सपना प्रतीत हुआ (पृ० ३१२-३)। एक अन्य यात्री पीट्रो डेल्ला वाल्ले (Pietro della valle) सती होने वाली स्त्रियों के अद्‌भुत साहस से इतना प्रभावित था कि उसने यह लिखा है कि जब मुझे यह पता लगता है कि कहीं कोई विधवा सती होने वाली है तो मैं इस दृश्य को देखने के लिए अवश्य जाता हूँ (खण्ड २, पृ० २६६)।

भारतीय स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक सती होने के लिए कितनी उत्कण्ठित, विह्वल और दृढ़संकल्प होती थीं, इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण कर्नल स्लीमैन ने प्रस्तुत किया है।[११] १८२९ में लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा सती प्रथा निषेध की घोषणा कर देने के बाद, स्लीमैन को मध्य प्रदेश में इसे क्रियान्वित करने का कार्य सौंपा गया था। मार्च १८२९ में एक परिपत्र द्वारा यह सरकारी आज्ञा सर्वत्र प्रसारित की गयी कि किसी स्त्री को सती होने के लिए किसी भी प्रकार से प्रोत्साहित करने वाला व्यक्ति अपराधी समझा जायगा और उसे दण्ड दिया जायगा। स्लीमैन सती प्रथा के निषेध के नियम को बड़ी कड़ाई से लागू करने पर तुला हुआ था। इसी समय २९ नवम्बर १८२९ को ६५ वर्ष की एक ब्राह्मणी ने विधवा होने पर सती होना चाहा। किन्तु राजदण्ड के भय से किसी भी व्यक्ति ने उस ब्राह्मणी को चिता बनाने के लिए लकड़ी देना स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणी सती होने पर तुली हुई थी और उसने स्लीमैन से इसके लिए अनुमति चाही। किन्तु स्लीमैन ने पुलिस को आदेश दिया कि वह उस पर निरन्तर निगरानी रखे तथा उसे सती न होने दे। ब्राह्मणी अपनी पति की चिता के समीप सत्याग्रह करके बैठ गयी।

११ सर विलियम स्लीमैन—रैम्बल्स एण्ड रिकलैक्शन्स पृ० १९

उसने चार दिन तक अन्न-जल नहीं ग्रहण किया। इस स्थिति में स्लीमैन स्वयं वृद्धा ब्राह्मणी के पास गया और उसने उसे अपना सती होने का संकल्प छोड़ने को कहा, उसे कई प्रकार की धमकियां और प्रलोभन भी दिये गये। किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल बनी रही। अन्त में स्लीमैन को झुकना पड़ा, उसने ब्राह्मणी को सती होने की अनुमति दी। जिस समय यह अनुमति दी गयी, उस समय ब्राह्मणी को वर्णनातीत अपार हर्ष हुआ और वह पति की चिता पर सती हो गयी।

मध्य युग में हिन्दू समाज में विधवा होने पर सती होने के धार्मिक महत्त्व का विश्वास इतना दृढ़ और बद्धमूल था कि कई बार वाग्दान मात्र वाली कन्याएँ विवाहित न होने पर भी अपने को विधवा मानती थी और सती हो जाती थीं। मुकर्जी ने एक ऐसे ही उदाहरण का वर्णन किया है। इसमें वाग्दान किये हुए एक पुरुष की मृत्यु अपनी वाग्दत्ता पत्नी को सांप से बचाने के प्रयत्न में हो गयी। यद्यपि कन्या का विवाह नहीं हुआ, था फिर भी उसने सती होने का आग्रह किया और वह अपने प्रेमी की चिता पर जल मरी (ज० ए० सो० बं० १६३५, पृ० २५६)।

सती प्रथा के विकसित होने के कारण

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक युग में सर्वथा अप्रचलित होने पर भी मध्य युग में सतीप्रथा का प्रचलन हिन्दू समाज में पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यहां इस प्रथा को उत्पन्न एवं विकसित करने वाले कारणों की मीमांसा करना समुचित प्रतीत होता है। सती प्रथा केवल हिन्दू समाज में नहीं है, अन्य समाजों में भी पायी जाती है। इसके प्रादुर्भाव के कुछ कारण अन्य समाजों जैसे हैं और कुछ कारण विशेष हैं।

इसके सामान्य कारणों में **पहला** कारण परलोकविषयक कुछ विश्वास हैं। इनके अनुसार अनेक जातियों में यह माना जाता है कि मृत्यु के बाद परलोक में मनुष्यों को इस लोक की भाँति विभिन्न वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। जब कोई राजा, वीर पुरुष या योद्धा मरता था तो परलोक में उसके जीवन के सुखमय यापन के लिए उसके साथ ऐहिक जीवन की सब वस्तुएँ भेजना आवश्यक समझा जाता था। इनमें उसकी स्त्रियों, नौकर-चाकरों तथा घोड़ों का प्रथम स्थान होता था, अतः इन्हें उसकी मृत्यु के बाद उसके साथ जलाना या गाड़ना आवश्यक एवं उचित समझा जाता था। मिस्र के पिरामिडों में ऐसी व्यवस्था थी। परलोक में पति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री के सती होने की पद्धति भारोपीय आर्य जातियों में, गाल, गाथ, नार्वेजियन, कैल्ट तथा स्लाव लोगों में पायी जाती थी। इसी विश्वास के कारण यदि चीन में कोई विधवा स्त्री पति के पास स्वर्गलोक में जाने के लिए अपनी हत्या करती थी तो उसके शव का जुलूस बड़ी धूमधाम से निकाला जाता था।

दूसरा कारण योद्धा जातियों में अपनी स्त्रियों की पवित्रता बनाये रखने की

भावना थी। पहले यह बताया जा चुका है कि सती प्रथा का प्रचलन भारत में क्षत्रिय जाति में विशेष रूप से पाया जाता था। अन्य देशों में भी यही स्थिति थी। योद्धा जातियाँ अपनी स्त्रियों की सुरक्षा के लिए विशेष यत्न करती है, वे यह नहीं चाहती कि लड़ाई में उनकी मृत्यु के बाद विजेता उनकी स्त्रियों का उपभोग करे।[१२] अत वे स्त्रियों का सती होना अधिक अच्छा समझते थे। राजपूतों में जौहर इसीलिए किया जाता था। मृत्यु के बाद परलोक में भी इन्हें अपनी अन्य प्रिय वस्तुओं के समान पत्नी की आवश्यकता होती थी। अत इन दो सामान्य कारणों से विभिन्न देशों की योद्धा जातियों में इस प्रथा का आविर्भाव हुआ।

भारत में इसके विशेष रूप से विकसित होने के तीन कारण थे। पहला कारण पातिव्रत्य की भावना थी,[१३] यहाँ पति की सेवा पर इतना अधिक बल दिया गया था कि पत्नी पति के बिना अपना जीवन निरर्थक समझती थी। वह सदैव इहलोक में तथा परलोक में उसकी सेवा करना चाहती थी, अत. उसकी मृत्यु पर वह जल्दी से जल्दी उसके पास पहुँचने के लिए सती हो जाती थी। दूसरा कारण वैधव्य का दु खमय जीवन था, अन्यत्र यह बताया गया है कि हिन्दू विधवा का जीवन कितना नारकीय होता है, और उसे किस प्रकार के दारुण दु ख झेलने पड़ते हैं। ये दु ख बाल विधवाओं के लिए असह्य होते थे, उन्हें जीवन भर नारकीय यन्त्रणाएँ भोगने से चिता पर चढ़ना अधिक अच्छा प्रतीत होता था। इससे उनके सब दारुण दु खों का अन्त हो जाता था। तीसरा कारण बगाल के दायभाग की व्यवस्था थी। वहाँ सयुक्त परिवारों में विधवाओं का अन्य प्रान्तों की विधवाओं की अपेक्षा अधिक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे[१४]। अन्य प्रान्तों में विधवा को भरण-पोषण के अतिरिक्त सम्पत्ति में कोई अन्य अधिकार प्राप्त नहीं था। किन्तु बगाल में दायभाग की व्यवस्था के कारण पुत्रहीन विधवा को सयुक्त परिवार की सम्पत्ति में वही अधिकार था जो उसमें उसके पति का होता था। इससे उनके अन्य सबधियों तथा उत्तराधिकारियों का घाटा था, अत उनका यह प्रयत्न होता था कि विधवा सती हो

१२ प्राचीन काल में विजेता विजित लोगों की पत्नियों से बदला चुकाते थे, उन्हें बन्दी बनाकर ले जाते थे और उनसे दासियों जैसा व्यवहार करते थे। मनु (७।९६) ने सैनिकों को युद्ध में अन्य वस्तुओं के साथ स्त्रियों को भी पकड़ने की अनुमति दी है। प्रभाकरवर्धन की पत्नी यशोमती अपने पुत्र हर्ष को बताती है कि विजित राजाओं की पत्नियाँ उसको पंखा झला करती है (हर्षचरित ५)। इस प्रकार की हुई दुर्दशा से बचने के लिए सती होना एक उत्तम उपाय था।

१३ पातिव्रत्य की भावना के विकास के लिये देखिये हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १२४-६

१४ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ४८०-१

जाय ताकि वे उसकी संपत्ति प्राप्त कर सकें, अत: वे अपने स्वार्थ के लिए उसकी पतिभक्ति को खूब उत्तेजित करते थे ताकि वह सती हो जाय। इस कारण की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सती प्रथा सबसे अधिक बंगाल में प्रचलित थी। उदाहरणार्थ १८१५ से १८२८ तक पटना, बरेली और बनारस डिवीजनों में सतियों की संख्या क्रमशः ७०६, १६३ तथा ११६५ थी, किन्तु कलकत्ता डिवीजन में यह संख्या ५०९९ थी।[१५] बंगाल में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा सती होने का यह कारण था कि यहां स्वार्थी संबंधी अपने आर्थिक हितों के लिए विधवाओं को चिता पर चढ़ने के लिए विवश करते थे।

सती प्रथा का निषेध

राजा राममोहन राय ने अपनी भाभी को जबर्दस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखा था। इनसे उनके हृदयपटल पर सती प्रथा के लिए किये जाने वाले क्रूरतापूर्ण कार्य भली-भांति अंकित हो गये। उन्होंने इस अमानुषिक एवं बर्बर प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रबल आन्दोलन किया। रूढ़िवादियों ने इनका उग्र विरोध किया, किन्तु वे ब्रिटिश सरकार से निरन्तर यह आग्रह करते रहे कि सरकारी आज्ञा द्वारा इसका उन्मूलन किया जाना चाहिए। अन्त में उनको अपने प्रयत्न में सफलता मिली। १८२९ में भारत के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैण्टिक ने इस प्रथा का विरोध करने वाली सरकारी आज्ञा प्रसारित की, सती होने के कार्य में सहायता देना दण्डनीय अपराध बना दिया गया। इससे सती प्रथा की बुराई कम हो गयी, बाधित रूप से विवशतापूर्वक सती होने वाली सतियों की संख्या बहुत कम हो गयी। किन्तु सच्चे पतिप्रेम से प्रेरित होने वाली स्त्रियों का सती होना पूर्ण रूप से बन्द नहीं हुआ, अब तक भी कहीं-कहीं स्त्रियों के सती होने के समाचार आते रहते हैं।

नियोग

स्वरूप

पति की मृत्यु पर विधवा होने वाली नारी के लिए प्राचीन हिन्दू समाज में तीन मार्ग बताये गये थे। पहला मनु के मतानुसार संयमपूर्ण, कठोर तपस्या और ब्रह्मचर्य वाला वैधव्य जीवन बिताना था, दूसरा पति की चिता पर चढ़ना और तीसरा शास्त्रों में बताये गये नियमों के अनुसार नियोग द्वारा संतान उत्पन्न करना था। पहले दो का अब तक का वर्णन हो चुका है, यहाँ नियोग का प्रतिपादन किया जायगा। नियोग का सामान्य अर्थ आदेश देना है, जब किसी सन्तानहीन अथवा विधवा स्त्री को किसी विशिष्ट पुरुष

१५ अल्तेकर—पोजीशन आफ हिन्दू वुमेन, पृ० १३६-४०

के साथ सम्भोग द्वारा संबंध स्थापित करके पुत्र पैदा करने का आदेश या अनुमति दी जाती है तो इसे नियोग कहते हैं। गौतम (१८।४–१४) ने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि पतिहीना नारी यदि पुत्र की इच्छा रखती है तो इसे देवर से प्राप्त करे (अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्)। किन्तु ऐसा करने के लिए उसे गुरुजनों से आज्ञा लेनी चाहिए, सम्भोग केवल ऋतुकाल में ही करना चाहिए। जब देवर न हो तो वह सपिण्ड, सगोत्र, समवर से पुत्र प्राप्त कर सकती है। कुछ आचार्यों के मतानुसार केवल देवर से ही नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रथा द्वारा दो से अधिक पुत्र नहीं प्राप्त करने चाहिए। गौतम ने अन्यत्र (२८।३२,४।३) तथा मनु (६।३२, ३३, ५३) ने नियोग से सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री को क्षेत्र तथा इसमें नियोग से होने वाले पुत्र को क्षेत्रज, विधवा के दिवंगत पति को क्षेत्रीय या क्षेत्रिक (विधवा स्त्री रूपी खेत का स्वामी) तथा पुत्रोत्पत्ति के लिए नियुक्त देवर आदि पुरुष को बीजी (बीज बोने वाला) अथवा नियोगी (नियोग का कार्य करने वाला, वसिष्ठ १७।६४) कहा है।

नियोग के उदाहरण

महाभारत में हमें नियोग के कुछ उदाहरण मिलते हैं। आदि पर्व (अध्याय ६५, तथा १०३) में यह बताया गया है कि सत्यवती ने भीष्म को यह प्रेरणा की कि वह अपने दिवंगत छोटे भाई विचित्रवीर्य के निस्सन्तान मर जाने पर उसकी विधवा रानियों से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करे, किन्तु भीष्म ने इसे स्वीकार नहीं किया। अन्त में सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास को इस कार्य के लिए नियुक्त किया और इसके परिणाम स्वरूप धृतराष्ट्र तथा पाण्डु पैदा हुए। पाण्डु पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नहीं था, अतः उसने अपनी रानी कुन्ती को किसी तपस्वी ब्राह्मण से पुत्र प्राप्त करने के लिए कहा। पाण्डु ने इस विषय में अनेक प्राचीन कथाएं और दृष्टान्त कहे हैं (आदिपर्व अ० १२०–१२३) और अन्त में यह परिणाम निकाला है कि नियोग में अधिक से अधिक तीन पुत्र पैदा करने चाहिए, इससे अधिक नहीं। किन्तु यदि चौथे या पाँचवें पुत्र की उत्पत्ति हो जाय तो स्त्री स्वैरिणी (विलासी) या बन्धकी (वेश्या) कही जायगी। जब परशुराम ने क्षत्रियों का संहार किया तो सहस्रों क्षत्राणियां पुत्रप्राप्ति के लिए ब्राह्मणों के पास जाने लगीं (आदि पर्व अध्याय ६४ तथा १०४)। महाभारत में अन्यत्र भी नियोगविषयक कुछ उदाहरणों की चर्चा है (आदिपर्व, १०४, १७७, अनुशासन पर्व ४४।५२–५३, शान्तिपर्व ७२।१२)।

नियोग के नियम

नियोग की व्यवस्था को नैतिक बन्धनों में मर्यादित बनाये रखने के लिए शास्त्रकारों ने बड़े कठोर नियमों का प्रतिपादन किया। यहाँ पहले कुछ शास्त्रकारों के वचन

उद्धृत किये जायेंगे और फिर इनके आधार पर सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया जायगा। बौधायन धर्मसूत्र (२।२।१७) के मतानुसार क्षेत्रज पुत्र वही है जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुंसक अथवा रुग्ण पति की पत्नी से पैदा किया जाय। वसिष्ठ ने नियोग का वर्णन करते हुए लिखा है (१७।५६-६५) कि विधवा का पिता या मृत पति का भाई गुरुओं को तथा संबंधियों को एकत्र करे और विधवा को मृतपति के लिए पुत्रोत्पत्ति का नियोग या आदेश दे। उन्मादिनी विधवा, अपने पति की मृत्यु के असह्य दुःख से अपने को न संभाल सकने वाली, रोगी या बूढ़ी विधवा को इस कार्य के लिए नियोजित नहीं करना चाहिए। युवावस्था में १६ वर्ष तक ही नियोग होना चाहिए। बीमार पुरुष को नियुक्त नहीं करना चाहिए। नियुक्त व्यक्ति को पति की भांति रात्रि के अन्तिम प्रहर के ब्राह्ममुहूर्त में विधवा के पास जाना चाहिए, उसके साथ न तो रति क्रीड़ा करनी चाहिए न अश्लील भाषण और दुर्व्यवहार करना चाहिए। धन प्राप्ति के लोभ से नियोग नहीं करना चाहिए (लोभान्नास्ति नियोगः १७।५७)। मनु के मत में (६।५६-६१) पुत्रहीन विधवा अपने देवर से या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है, नियुक्त पुरुष को अंधेरे में ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए और उसे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहिए। किन्तु कुछ लोगों के मत में दो पुत्र प्राप्त करने चाहिए।[१६] बौधायन (२।२।६८-७०), याज्ञवल्क्य (१।६८-६६), तथा नारद (स्त्रीपुंस ८०-८३) ने भी इन्हीं नियमों का समर्थन किया है। कौटिल्य ने १।१७ में रोगपीड़ित निःसन्तान राजा के लिए तथा ३।६ में निस्सन्तान मर जाने वाले ब्राह्मण के लिए नियोग की व्यवस्था की है।

विभिन्न शास्त्रीय विधि-विधानों के आधार पर श्री पा० वा० काणे (धर्मशास्त्र का

[१६] नियोग से उत्पन्न किए जाने वाले पुत्रों की संख्या के संबंध में प्राचीन शास्त्रकारों में कुछ मतभेद है। महाभारत के मतानुसार इनकी अधिकतम संख्या तीन थी, जब पाण्डु कुन्ती से तीन पुत्र होने के बाद नियोग से और अधिक पुत्र पैदा करने के लिए कहता है तो कुन्ती इसका घोर विरोध करते हुए कहती है कि चौथे पुत्र को आपत्ति काल में भी पैदा नहीं करना चाहिए (१।१२३।६४)। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रागैतिहासिक युग में क्षत्रिय कुलों में इस प्रकार पुत्र पैदा करने की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। राजा व्युषिताश्व ने नियोग से सात पुत्र प्राप्त किये थे और बलि ने १७। बलि के सत्रह पुत्रों में छः पटरानी से हुए थे तथा ११ शूद्रा पत्नी से (महाभारत १।१२७।१११)। किन्तु सामान्य रूप से तीन पुत्र पैदा करने का ही नियम प्रचलित था। कुन्ती की बहिन श्रुतसेना ने तीन पुत्र पैदा किये थे (महाभारत १।१२६)। परवर्ती शास्त्रकारों ने इसकी संख्या एक या दो पुत्रों तक मर्यादित कर दी।

इतिहास भाग १, पृ० ३३६) ने नियोग के लिए निम्नलिखित नियमों को आवश्यक बताया है—(१) इसके लिए मृत पति पुत्रहीन होना चाहिए, यदि पति जीवित है तो पाण्डु की भाँति नपुंसकता आदि से ग्रस्त होने के कारण पुत्रोत्पादन में असमर्थ होना चाहिए। (२) परिवार के गुरुजनों द्वारा निर्धारित पद्धति से पति के लिए पुत्र पैदा करने का नियोग या आदेश पत्नी को देना चाहिए। (३) नियोग करने वाला पुरुष पति का भाई (देवर), सपिण्ड या पति का सगोत्र (गौतम के मतानुसार सप्रवर तथा अपनी जाति का) होना चाहिए। (४) नियोग करने वाले स्त्री-पुरुष में कामवासना का पूर्ण अभाव तथा कर्तव्य पालन का भाव रहना चाहिए। (५) नियोग करने वाले पुरुष पर घृत का या तेल का लेप होना चाहिए, उसे न चुम्बन करना चाहिए और न ही स्त्री के साथ किसी प्रकार की काम-क्रीड़ा करनी चाहिए। (६) यह संबंध केवल एक पुत्र होने तक तथा कुछ आचार्यों के मतानुसार दो पुत्र होने तक रहता है। (७) नियोग करने वाली विधवा को बूढ़ी, बांझ, प्रजनन शक्ति में असमर्थ, बीमार या गर्भवती नहीं, अपितु युवती होना चाहिए। (८) एक पुत्र की उत्पत्ति होने के बाद दोनों को एक-दूसरे से पति-पत्नी का नहीं, अपितु श्वसुर और बहू का सा व्यवहार करना चाहिए (मनु ९।६२)। (९) पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही नियोग की अनुमति दी जानी चाहिए। (१०) यदि विधवा नियोग न करना चाहती हो तो उसे इस कार्य के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। यह व्यवस्था इसलिए की गयी थी कि कामुक देवरों को भाभी से अवैध संबंध स्थापित करने का बहाना न मिल सके। नियोग का कार्य इसकी अनुमति मिलने पर ही किया जा सकता था। इसके बिना अपनी भाभी से नियोग करने वाले के लिए गरुड़पुराण (१।१०५–४२) ने चान्द्रायण व्रत के प्रायश्चित की व्यवस्था की है। स्मृतियों ने स्पष्ट रूप से यह विधान किया है कि गुरुजनों का नियोग या आदेश पाये बिना उपर्युक्त दशाओं के अभाव में यदि देवर भाभी से सम्भोग करता है तो वह बलात्कार का अपराधी (अगम्यागामी) माना जायगा (मनु ९।५८, ६३, १४३–४, नारद स्त्रीपुंस ८५–६)। इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न पुत्र को जारज (कुलटोत्पन्न) कहा जायगा, वह सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं होगा (नारद स्त्रीपुंस ८४–५) और वह उत्पन्न करने वाले का पुत्र कहा जायगा (वसिष्ठ १७।६३)। नारद के मतानुसार यदि कोई विधवा या पुरुष नियोग के नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे राजा द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए, अन्यथा समाज में अव्यवस्था और नैतिक अराजकता उत्पन्न हो जायगी। इन सब नियमों और नियन्त्रणों से यह स्पष्ट है कि उस समय नियोग की अनुमति कठोर प्रतिबन्धों तथा नियन्त्रणों के साथ दी जाती थी ताकि इस व्यवस्था का कामवासना की पूर्ति के लिए दुरुपयोग न हो सके तथा इससे समाज में अनैतिकता की प्रवृत्ति न बढ़े।

क्षेत्रज पुत्र की श्रेष्ठता

आजकल हमें नियोग की परिपाटी बड़ी विचित्र प्रतीत होती है, किन्तु प्राचीनकाल में

बौधायन (२।२।३–४) और मनु (९।६४–६८) अग्रणी थे। आपस्तम्ब का यह कहना था कि नियोग से उत्पन्न होने वाला क्षेत्रज पुत्र उसके उत्पादक या जनक का होता है, यह विधवा के पति को कोई धार्मिक लाभ पहुँचाने में समर्थ नहीं होता, अतः यह व्यवस्था बिलकुल निरर्थक है; बौधायन का भी यही मत था। मनु ने नियोग की बड़ी कड़ी निन्दा की है (९।६६), उसका यह मत है कि विद्वान् ब्राह्मण इसे पशुओं का कार्य कह कर इसकी भर्त्सना करते हैं (अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः)। उसके मतानुसार इसका पालन नहीं करना चाहिए। किन्तु इतना तीव्र विरोध करते हुए भी उसने नियोग विषयक विस्तृत नियम दिये हैं (९।५९–६१)। इससे यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों का विरोध होते हुए भी यह प्रथा समाज में प्रचलित थी और इसीलिए मनु जैसे नियोग-विरोधी स्मृतिकारों को इसके विशद विधि-विधान बनाने पड़े थे।

किन्तु शनैः-शनैः कई कारणों से नियोग-विरोधी विचारधारा समाज में प्रबल होने लगी। इस समय विवाह तथा दाम्पत्य प्रेम के उच्चतम आदर्शों का विकास हो रहा था। मनु ने पति-पत्नी के लिए आमरण एक दूसरे के प्रति सच्चा रहने तथा पति की मृत्यु के बाद विधवा के लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श का प्रतिपादन किया, अतः नियोग को पशुओं का धर्म बताया गया। इसे पारिवारिक जीवन की पवित्रता और नैतिकता के लिए खतरा समझा गया। नियोग के नियमों में कुछ ढील के कारण देवर-भाभी के सम्बन्ध अवांछनीय एवं आपत्तिजनक संबंध हो सकते थे। इनसे उत्पन्न होने वाली नैतिक अराजकता का निवारण करने के लिए नियोग पर प्रतिबन्ध लगाना वांछनीय समझा गया। देवर की पहली पत्नी के लिए ईर्ष्यावश नियोग को बुरा समझना सर्वथा स्वाभाविक था, इससे अनेक प्रकार के झगड़े पैदा होने की सम्भावना थी। परिवार के अन्य व्यक्ति भी इस प्रकार नियोग से पुत्र पैदा करके पारिवारिक सम्पत्ति में अपने एक नये हिस्सेदार के आगमन को अच्छा नहीं समझते थे। अतः इन सब कारणों से नियोग की प्रथा धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। 'दूत वाक्य' में भास ने दुर्योधन के मुँह से यह कहलवाया है कि वह पाण्डवों को राज्य का उत्तराधिकारी नहीं मानता है, क्योंकि वे नियोग से उत्पन्न हुए थे (४।२१)। गुप्त युग में नारद और पराशर ने इसे स्वीकार किया, किन्तु बृहस्पति ने इसकी निन्दा की[२०] इसे वर्तमान युग में करने का निषेध किया। मध्य युग के निबन्धकारों ने शास्त्र सम्मत होते हुए भी नियोग की व्यवस्था कलियुग के लिए वर्जित एवं निषिद्ध होने की घोषणा की।[२१]

२० बृहस्पति, याज्ञ० १।६८।६ की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत
उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः।

२१ अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पंच विवर्जयेत्।

वर्तमान युग में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में नियोग का समर्थन किया।[२२] श्री अल्तेकर के मतानुसार उन्होंने संभवतः यह इसलिए किया कि वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि हिन्दू समाज विधवाओं के पुनर्विवाह का विरोधी है, विधवा के कष्टों को दूर करने की एकमात्र पद्धति वेदशास्त्रानुमोदित नियोग ही है। किन्तु स्वामी दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाजी इस पुरानी पद्धति का पुनरुज्जीवन नहीं कर सके, उन्होंने नियोग के स्थान पर विधवाओं के पुनर्विवाह को अधिक अच्छा समझा।

२२ दयानन्द सरस्वती—सत्यार्थ प्रकाश सटिप्पण; वेदानन्द कृत टिप्पणी सहित, विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद, तृतीयावृत्ति, पृ० १०२–७

अध्याय १३

बहुभार्यता

प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाहों को ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच नामक आठ प्रकारों में बाँटा था; किन्तु वर्तमान काल के पश्चिमी समाजशास्त्री विवाहों का वर्गीकरण पति-पत्नी की संख्या की दृष्टि से करते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने विवाहों के चार भेद किये हैं:[1] एक-विवाह (Monogamy), बहुपत्नीकता या बहुभार्यता (Polygyny) बहुपतित्व या बहुभर्तृता (Polyandry) तथा गण-विवाह (Group Marriage)। एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह एक-विवाह (Monogamy) कहलाता है, एक पुरुष का कई स्त्रियों के साथ विवाह बहुविवाह (Polygamy), या बहुभार्यता (Polygyny) है। कई पुरुषों का एक स्त्री के साथ विवाह बहुपतित्व या बहुभर्तृता कहलाता है। कई स्त्रियों के कई पुरुषों के साथ विवाह को गण-विवाह (Group Marriage) कहा जाता है।[2] इन चार प्रकार के विवाहों में से अंतिम प्रकार हिन्दू समाज में बिलकुल नहीं पाया जाता, बहुपतित्व भी बहुत कम पाया जाता है। अत: यहाँ पहले केवल पहले दो प्रकार के विवाहों की ही मीमांसा की जायगी।

वैदिक युग में एक-विवाह की प्रथा

वेद में स्पष्ट रूप से एक विवाह का आदेश है। ऋग्वेद के विवाह सम्बन्धी सूर्यासूक्त के मंत्रों से यह बात पुष्ट होती है और आज भी प्रत्येक हिन्दू पति विवाह में पत्नी का पाणिग्रहण करते हुए यह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं तेरे हाथ को सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ, जिससे तू पति के साथ बुढ़ापे तक पहुँचने वाली हो" (ऋ० १०।८५।३६)। विवाह के समय वर-वधू को यह आशीर्वाद दिया जाता है कि तुम दोनों यहाँ (गृहस्थ आश्रम में) इकट्ठे रहो, दोनों कभी वियुक्त या पृथक् मत हो, पोतों तथा नातियों के साथ खेलते हुए अपने घर में आनन्द मनाते हुए अपना सारा जीवन बिताओ (ऋ० १०।८५।४२)। अथर्ववेद में यह प्रार्थना की गयी है—"हे इन्द्र, पति-पत्नी को चकवा-चकवी के

[1] इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, १४ वाँ संस्करण, पृ० ६४६

[2] वेस्टरमार्क-शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज, पृ० २२६

जोड़े की तरह से (इकट्ठा रहने की) प्रेरणा करो (अथर्व० १४।२।६)। इन मन्त्रों में पति-पत्नी द्वारा जीवन पर्यन्त एक-विवाह के उच्चतम आदर्श को निबाहने का स्पष्ट वर्णन है।

वेद में उपमा के रूप में भी अनेक स्थानों पर एक पति-पत्नी के विवाह का वर्णन किया गया है (ऋ० १।२४।७, ऋ० ४।३।२, १०।७१।४)। वैदिक काल में पति-पत्नी के लिए दम्पती शब्द का व्यवहार होता था। वेद में दम्पती द्वारा एकमन होकर अनेक कार्य करने का वर्णन है (ऋ० ५।३।२)। सोम के प्रकरण में कहा गया है कि पति-पत्नी एक मन वाले होकर सोम का अभिषवण तथा शुद्धि करते हैं (ऋ० ८।३१।५)। उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि वेद में स्पष्ट रूप में एक-विवाह का आदेश है।

बहुविवाह के संकेत

किन्तु अनेक स्थानों पर उपमा के रूप में और कई बार हीनोपमा के रूप में बहु-विवाह के कुछ संकेत वेदों में अवश्य उपलब्ध होते हैं। ऋ० १।१०५।८ में सायण के अनुसार त्रित तथा स्वामी दयानन्द के अनुसार न्यायाध्यक्ष की एक शिकायत का वर्णन है। सायण के मत से कुएं में पड़ा हुआ त्रित यह शिकायत करता है कि चारों ओर की ईंटें उसे उसी प्रकार पीड़ा रही हैं, जैसे सौतें पीड़ा देती हैं (स मा तपन्त्यभित सपत्नीरिव पर्शव)। दूसरे मत में न्यायाधीश वादी-प्रतिवादी की शिकायत से परेशान होकर कहता है कि ये मुझे सौतों की तरह सता रहे हैं। ऋ० १।१०४।३ में सौतों के लड़-झगड़ कर नदी के प्रवाह में डूब मरने की उपमा दी गयी है। ऋ० (१०।१०२।११) में दो धुराओं का वहन करने वाले बैल के साथ दो पत्नी वाले पति की उपमा का वर्णन है। ऋ० ७।१८।२ में इन्द्र को यह कहा गया है कि तू कान्तियों के साथ उसी तरह निवास करता है जैसे कि राजा स्त्रियों के साथ रहता है। अन्य स्थानों (ऋ० १।६२।११, १।१८६।७, १०।४३।१) पर भी उपमा के रूप में सपत्नियों का वर्णन है। ऋ० १०।१४५ सपत्नीबाधन अर्थात् सौतों से उत्पन्न होने वाली बाधाओं को दूर करने वाला सूक्त है तथा ऋ० १०।१५९ भी इसी विषय का सूक्त है। पहले में यह प्रार्थना है कि मेरी सौत को दूर कर और मेरे पति को केवल अर्थात् अन्य पत्नियों से रहित कर। दूसरे सूक्त में यह कहा गया है कि मैं सौतों का पराभव करने वाली हूं मैंने इन सौतों को जीता है। अथर्ववेद में इन्हीं मन्त्रों की पुनरावृत्ति है (३।१८)।

ब्राह्मणग्रन्थों में बहुभार्यता

ऐसा जान पड़ता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में आर्य जाति "चक्रवाकेव दम्पती" के उच्च आदर्श से कुछ गिर गयी थी। राजाओं में तथा धनियों में बहुपत्नी-विवाह की पद्धति प्रचलित हो गयी। प्रारम्भ में सम्भवतः इस पद्धति के प्रचलन का उद्देश्य पुत्र

की आकांक्षा थी। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) से हमें ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्र अपुत्र था, उसकी सौ स्त्रियाँ थीं और उनसे उसे पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। मैत्रायणी संहिता (१।५।८) बताती है कि मनु की दस स्त्रियाँ थीं। शतपथ ब्राह्मण (५।२।१।१०) ने बड़े स्पष्ट शब्दों में पत्नी को पति का अर्धांग बताकर, एक-विवाह के उच्च आदर्श का प्रतिपादन किया है, किन्तु अश्वमेध के प्रकरण में उसने राजा की चार स्त्रियों—महिषी, वावाता, परिवृक्ता और पालागली का वर्णन किया है। महिषी पहली पत्नी या पटरानी को कहते थे। वावाता का अर्थ ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) में प्रिय पत्नी किया गया है। परिवृक्ता परित्यक्ता पत्नी होती थी और पालागली दरबारी अफसरों के या नीच जाति के यहाँ से आयी हुई स्त्री होती थी। रामायण (१।१४।३५) में अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में इनमें से तीन स्त्रियों के नाम आये हैं और इनकी होता, अध्वर्यु, उद्गाता से तुलना की गयी है। सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) की टीका में वावाता के पद की व्याख्या करते हुए "भूर्भुवः स्वः" की तीन व्याहृतियों से राजा की तीन प्रकार की पत्नियों की तुलना करके बताया है कि राजा की तीन प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं, उत्तम जाति वाली स्त्री को महिषी कहते हैं, मध्यम जाति से उत्पन्न को वावाता तथा नीच जातिवाली को परिवृक्ता। अश्वमेध यज्ञ में अश्व का अभ्यंजन पत्नियों द्वारा होता था (शतपथ ब्राह्मण १३।२।६।७)। तैत्तिरीय संहिता (६।६।४।३) में एक विचित्र ढंग से बहुपत्नी-विवाह का निराकरण है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार एक यूप पर वह दो रस्सियों (रशनाओं) का घेरा बाँधता है, उसी प्रकार एक पुरुष दो पत्नियों को पाता है और क्योंकि वह एक रस्सी से दो यूपों का घेरा नहीं बनाता है इसलिए एक स्त्री दो पतियों को प्राप्त नहीं करती। इसी विचित्र तर्क का अनुमोदन करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण (१२।११) कहता है कि "इसलिए एक पुरुष की बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं, किन्तु एक स्त्री के बहुत से पति नहीं होते।"

गृह्यसूत्रों से भी बहुभार्यता का प्रचलन सूचित होता है। हिरण्यकेशी तथा शांखायन गृह्यसूत्रों में ध्रुव-दर्शन की विधि में जो प्रार्थना है, उसमें अनेक पत्नियों का उल्लेख है। शांखायन की एक विधि में कहा गया है कि सोम स्त्रियों की दृष्टि से समृद्ध है, वह मुझे पत्नियों की दृष्टि से समृद्ध करे। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ने आपत्तियों एवं उपद्रवों के निराकरण तथा विशेष इच्छाएँ पूर्ण करने के प्रकरण में एक पत्नी द्वारा दूसरी सौतों को नियन्त्रित करने का उल्लेख किया है और इस प्रकरण में ऋग्वेद के सपत्नी-बाधन सूक्त का विनियोग किया है। गृह्यसूत्रों में पारस्कर ने सर्वप्रथम यह व्यवस्था दी कि विभिन्न वर्णों के क्रम से ब्राह्मण की तीन पत्नियाँ—ब्राह्मणी क्षत्रिया और वैश्या होती हैं, क्षत्रिय की क्षत्रिया और वैश्या दो पत्नियाँ होती हैं और वैश्य की एक। तीनों वर्णों को वैदिक मंत्रों के बिना शूद्रा पत्नी को ग्रहण करने का अधिकार है। आगे चल कर हम देखेंगे कि बाद में अनुलोम विवाह की इस पद्धति

का प्रचलन बहुत बढ़ गया और सभी धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों ने इस नियम का समर्थन किया। यद्यपि इस समय बहुविवाह होता था, तथापि एकपत्नीत्व को बहुत अच्छा आदर्श समझा जाता था और उस समय समाज में एकपत्नीत्व प्रचलित था। उपाकर्म (श्रावणी) की विधि में ऊर्ध्वरेता तथा एक पत्नी वाले (ऊर्ध्वरेतोभ्यः एकपत्नीभ्यः) पुरुषों को विशेष प्रतिष्ठा के आसनों पर बिठाया जाता था।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् (४।५।१–२) से ज्ञात होता है कि बहुपत्नी विवाह की प्रथा राजाओं के अतिरिक्त दार्शनिक एवं विचारक ब्राह्मणों में भी प्रचलित थी। वहाँ स्पष्ट रूप से वर्णन है कि महर्षि याज्ञवल्क्य की कात्यायनी और मैत्रेयी नामक दो पत्नियाँ थीं।

बौद्धकाल में बहुपत्नीविवाह की प्रथा का प्रचलन था। महावंश में यह कहा गया है कि भगवान् बुद्ध के पिता को माया और महामाया नामक दो सगी बहनें ब्याही गयी थीं। तिब्बती अनुश्रुति भी इसको पुष्ट करती है। तिब्बती अनुश्रुति में कहा गया है कि यद्यपि शाक्यों में यह कठोर नियम था कि कोई पुरुष एक से अधिक स्त्रियों को ग्रहण न करे, किन्तु शुद्धोदन ने राजकुमार अवस्था में पाण्डव नामक पहाड़ी जाति को हराया था, अतः इस महान् कार्य के लिए उसके प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए उसे दो स्त्रियाँ रखने की आज्ञा दी गयी।

बब्बु जातक में यह वर्णन है कि जब एक स्त्री ने पीहर से लौटने में देर की तो उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया। मघ नामक एक मागध गृहस्थ की नन्दा, सुधम्मा, चित्रा, सुजाता नामक चार स्त्रियाँ थीं। चुल्लक जातक में एक पति ने धोखा देने वाली स्त्री को अलग करके दूसरा विवाह किया।

उक्काक (इक्ष्वाकु) राजा की पाँच पत्नियाँ थीं, बिम्बिसार की पाँच सौ (महावग्ग ८।१।१५)। जातकों में दशरथ की पत्नियों की संख्या २४६ बतायी है। कुछ जातकों (सं० ५१४, ५३८) में कई राजाओं की १६००० स्त्रियों का वर्णन है, किन्तु सबसे अधिक संख्या रखने का श्रेय कुशावती के राजा सुदर्शन को प्राप्त हुआ है, उसके अन्तःपुर में ८४००० रानियाँ थीं (कावेल, जातक प्रथम भाग, पृ० २३१)।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पुरुष पहली पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करते थे, बहुधा सौतों को पहली पत्नी का कठोर व्यवहार सहना पड़ता था। कई बार पहली पत्नी संतान न होने पर पति को दूसरे विवाह की प्रेरणा करती थी, किन्तु सौत के गर्भवती या संतानवती होने पर उसके साथ इस आशंका से दुर्व्यवहार करती थी कि पति का प्रेम अब उसकी सौत के साथ हो जायगा। धम्मपद (१४५) की टीका में श्रावस्ती के एक गृहस्थ का वर्णन है जिसने पहली पत्नी से संतान न होने पर उसकी प्रेरणा से सन्तानार्थ

[1] वी. एम. आप्टे—सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन दी गृह्यसूत्राज्।

दूसरा विवाह किया। दूसरी स्त्री के गर्भवती होने पर पहली पत्नी ने पति के प्रगाढ़ प्रेम के छिन जाने के डर से दवाइयों द्वारा अपनी सौत का गर्भपात कराया। इस प्रकार तीन बार उसने यह कुकर्म किया और तीसरी बार उसकी सौत गर्भपात तथा दवाई के प्रभाव से मर गयी।

बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुपत्नी-विवाह की प्रथा पहले राजाओं में थी और उसके बाद यह बुराई राजाओं से ब्राह्मणों ने ग्रहण की, ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में श्रावस्ती में तत्कालीन ब्राह्मणों के अधःपतन की क्रिया पर प्रकाश डालते हुए बुद्ध ने इसका वर्णन किया है।

अम्बष्ठ सुत्त में भगवान बुद्ध ने उस समय के ब्राह्मणों की प्राचीन काल के ब्राह्मणों से तुलना की है तथा अम्बष्ठ नामक एक ब्राह्मण के मुख से ब्राह्मणों में उस समय प्रचलित बुराइयों को स्वीकार कराया है। इन बुराइयों में एक बुराई बहु-विवाह भी है।[४] आनन्द सुत्त में एक गृहपति के घर में चार भार्याओं का वर्णन है।[५] राष्ट्रपाल जब बौद्ध संन्यासी हुआ तो उसके पिता ने उसे संन्यास से लौटाने के लिए अपने घर में भोजन का निमंत्रण दिया और सोने की बड़ी राशि एकत्र करके राष्ट्रपाल की स्त्रियों को आमंत्रित किया— "आओ, बहुओ, जिन अलंकारों से अलंकृत हो पहले राष्ट्रपाल कुलपुत्र को तुम प्रिय होती थी, उन अलंकारों से अलंकृत होओ।" बाद में वे स्त्रियां राष्ट्रपाल से बोलीं—"आर्य-पुत्र, कैसी है वे अप्सराएं है, जिनके लिए तुम ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हो[६]" (बुद्धचर्या पृ० ३५५–६)। बौद्ध वाङ्मय के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उस समय हिन्दू समाज में बहुपत्नी-विवाह का पर्याप्त प्रचलन था।

बहुभार्यता तथा धर्मसूत्र

धर्मसूत्रकारों में आपस्तम्ब ने बहुविवाह की प्रवृत्ति को रोकना चाहा। विवाह का वैदिक आदर्श एवं उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति तथा धर्म का पालन है, इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से किया जाने वाला विवाह निन्दनीय होना चाहिए। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।५।११।१२-१३) ने इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त विवाह को न केवल निन्दनीय, अपितु दंडनीय ठहराया है। उसने स्पष्ट शब्दों में यह विधान किया कि पत्नी यदि धर्म और संतान से सम्पन्न हो तो पुरुष दूसरी स्त्री को ग्रहण न करे, यदि धर्म और संतान में से कोई एक उद्देश्य पत्नी से सम्पन्न न हो तो दूसरी पत्नी को ग्रहण करे। इस नियम का अतिक्रमण करके दूसरी स्त्री ग्रहण करने वाले

४ अंगुत्तर निकाय ३।४।५ बुद्धचर्या पृ० ३५०

५ मज्झिम निकाय २।४।२

६ रट्ठपाल सुत्त बुद्धचर्या पृ० ३५५-५६

के लिए उसने यह दंड व्यवस्था की है कि वह गधे की खाल के बालों वाला हिस्सा ऊपर रखते हुए धारण करे तथा छः मास तक सात घरों से भिक्षा माँग कर निर्वाह करे (१।१०।२८।१६)। किन्तु आपस्तम्ब की एक पत्नी-विवाह की यह कठोर व्यवस्था अन्य धर्मसूत्रों में उपलब्ध नहीं होती। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१।२४) ने बहुपत्नी-ग्रहण की जो व्यवस्था की है, पिछले स्मृतिकारों ने उसका पूरा अनुसरण किया है। इस व्यवस्था के अनुसार वर्णानुपूर्व्य की दृष्टि से ब्राह्मण की तीन स्त्रियाँ, क्षत्रिय की दो और वैश्य की तथा शूद्र की एक स्त्री होती है। वर्णानुपूर्व्य का यह आशय है कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य से ऊंचा होने के कारण ब्राह्मणी के अतिरिक्त क्षत्रिया और वैश्या को पत्नी के रूप में ले सकता है, अतः उसकी तीन स्त्रियाँ होती हैं और इसी तरह क्षत्रिय की दो और वैश्य तथा शूद्र की एक।

सरल शब्दों में कहा जाय तो ब्राह्मण को इस प्रकार बहुविवाह के मामले में सबसे अधिक छूट दे दी गयी। वह तीनों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता था। बुद्ध ने भी ब्राह्मणों द्वारा निम्न वर्णों की पत्नियाँ लेने का वर्णन किया है। वसिष्ठ धर्मसूत्र से हमें यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में अपने से नीचे की तीनों वर्णों की स्त्रियों से विवाह का रिवाज उस समय प्रचलित था। वसिष्ठ धर्मसूत्र से हमें यह भी ज्ञात होता है कि आर्य उस समय काले रंग वाली शूद्र स्त्रियों को भी लिया करते थे, किन्तु धार्मिक कार्यों में वह उनकी पत्नी नहीं समझी जाती थीं। वसिष्ठ धर्मसूत्र कहता है कि अग्नि का चयन करके अर्थात् अग्निहोत्र की विधि पूरी करके शूद्रा के पास न जाय। कृष्णवर्णा शूद्रा रमण के लिए ही होती है, धर्म के लिए नहीं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्त्री उस समय धर्म-पत्नी नहीं होती थी, किन्तु उपपत्नी (Concubine) या रखैल मात्र होती थी। बौधायन धर्मसूत्र ने आपस्तम्ब की पुत्र न होने की शर्त को कुछ अधिक स्पष्ट किया है। ऐसा जान पड़ता है कि पुत्र न होने की शर्त का कुछ दुरुपयोग होने लगा था। पुरुष एक दो वर्ष तक पुत्र न होने पर ही दूसरा विवाह कर लेते होंगे। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए बौधायन धर्मसूत्र (२।२।६) ने यह व्यवस्था की है कि पुरुष संतान न होने पर दसवें वर्ष और यदि कन्याएँ ही उत्पन्न होती हों तो १२वें वर्ष अपनी पत्नी का त्याग करे। बौधायन की यह व्यवस्था बहुत उत्तम है, किन्तु उसके बाद उसने पुरुषों को अप्रियवादिनी होने पर पत्नी को छोड़ने की जो व्यवस्था की है, वह हिन्दू नारी के लिए अगली सदियों में बहुत भयंकर सिद्ध हुई। उससे पुरुषों को पहली स्त्री छोड़कर अन्य स्त्रियों से शादी करने के लिए एक बड़ा सुगम बहाना मिल गया।

बहुभार्यता तथा कौटिल्य

कौटिल्य ने बौधायन की भाँति पुत्र न होने की शर्त की अधिक स्पष्ट व्याख्या की। कौटिल्य (३।२) ने यह व्यवस्था की कि यदि पत्नी पुत्रहीना अथवा

बांझ है तो पुरुष दूसरा विवाह करने से पहले आठ वर्ष प्रतीक्षा करे। यदि बच्चे मरे हुए पैदा होते हैं तो १० वर्ष तक प्रतीक्षा करे और यदि कन्याएँ ही उत्पन्न होती हैं तो १२ वर्ष तक प्रतीक्षा करे, इसके बाद यदि वह पुत्र के लिए उत्सुक है तो दूसरा विवाह करे। यदि वह इस नियम का उल्लंघन करता है तो उसे राजा को २४ पण दण्ड देना पड़ेगा तथा स्त्री को कुछ सम्पत्ति उसे धन के रूप में देनी पड़ेगी। कौटिल्य ने यद्यपि आगे चल कर यह कहा है कि एक पुरुष कई स्त्रियों से शादी कर सकता है बशर्ते कि वह उन स्त्रियों को जिन्हें विवाह के समय कुछ नहीं दिया गया था त्याग करने के समय कुछ धन (अधिवेदनिक) दे तथा उनके जीवन-निर्वाह का उचित प्रबंध करे, क्योंकि स्त्रियों के साथ विवाह पुत्र उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है (अर्थशास्त्र ३।२)। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुत्र का अभाव ही कौटिल्य को दूसरे विवाह के लिए उपयुक्त कारण जान पड़ता था, न कि अप्रियवादिनी होने का निस्सार कारण और वह इस कारण दूसरी स्त्री से विवाह करने वाले पुरुष को दण्डनीय समझता था।

बहुभार्यता तथा स्मृतियां

नारद के अतिरिक्त अन्य स्मृतिकारों ने बहुविवाह को आपस्तम्ब तथा कौटिल्य की भाँति बुरा नहीं समझा। मनुस्मृति (५।१६७–१६८) ने तथा याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८९) ने पति को पहली पत्नी के मरने पर फौरन दूसरा विवाह करने की आज्ञा दी है। गृहस्थ को धर्मकार्य के लिए पहली पत्नी के मरने पर दूसरी पत्नी का ग्रहण करना उचित ही है, पुत्र न होने की दशा में भी मनु (९।८१) ने दूसरी पत्नी के ग्रहण का विधान किया है, किन्तु उसके साथ उसने बौधायन की अप्रियवादिनी की शर्त को दुहराया है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में पहली पत्नी को छोड़ने के अन्य बहुत से कारण बताये गये हैं। पति को उचित है कि मदिरा पीने वाली, निषिद्ध आचरण करने वाली, पति से विमुख रहने वाली, असाध्य रोग से पीड़ित, गर्भ आदि नाश करने वाली, बहुत व्यय करके धन नष्ट करने वाली पत्नी के जीवित रहने पर भी दूसरा विवाह कर ले। कौटिल्य की तरह याज्ञवल्क्य (२।१४८) पहली पत्नी के लिए स्त्रीधन की व्यवस्था करता है। इस दृष्टि से मनु की व्यवस्था बहुत कठोर है, क्योंकि उसमें पहली पत्नियों को किसी प्रकार के धन को देने का उल्लेख नहीं किया गया। दूसरी पत्नी के आने पर पहली पत्नी की जो शोचनीय दशा हो जाती है, वह सभी जानते हैं। उस समय उसे केवल कुछ धन से ही सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का संतोष प्राप्त हो सकता है। मनु ने यह संतोष उन दुःखग्रस्त स्त्रियों को नहीं दिया। याज्ञवल्क्य इस दृष्टि से अवश्य उदार है कि उसने अधिविन्ना (पहली स्त्री) को शुल्क देने की व्यवस्था की है (२।१४८)। किन्तु यदि कोई पति पत्नी पर झूठ-मूठ कोई दोष लगाकर दूसरी

स्त्री से शादी करता है तो उसके लिए किसी प्रकार की दंड व्यवस्था नहीं की गयी है।

गुप्तकाल के समृद्ध एवं उच्च आदर्शों को प्रतिफलित करने वाली नारद-स्मृति को ही यह गौरव प्राप्त है कि पतियों द्वारा उपर्युक्त शर्तों का दुरुपयोग करने पर उसने उनके लिए दण्ड की व्यवस्था की है। यदि कोई पति अनुकूल, अपशब्दों का प्रयोग न करने वाली, दक्ष, साध्वी, संतान वाली स्त्री को छोड़ता है तो राजा को उसे कड़ा दण्ड देकर ठीक मार्ग पर लाना चाहिए (स्त्री पुंसयोग ९२)। किन्तु अगले स्मृतिकारों ने मनु द्वारा वर्णित दोषों वाली पहली स्त्री के रहते हुए अनुलोम विवाह द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बहुविवाह के अधिकार को स्वीकार किया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति (१।७३, मि० मनु० ९।८०) ने विधान किया है कि पति को उचित है कि मदिरा पीने वाली रोगग्रस्त रहने वाली, धूर्त, बन्ध्या, बहुत खर्च करके धन का नाश करने वाली, अप्रिय वचन वाली, कन्या पैदा करने वाली और पति से द्वेष करने वाली स्त्री के रहते हुए दूसरा विवाह कर ले। इस से स्पष्ट है कि बहुविवाह का रोग उस समय बहुत प्रचलित हो चुका था और उसको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त नये दोष पत्नी में ढूंढ़े गये। ऐसी पत्नियों का पति से रुष्ट होना स्वाभाविक था, अतः मनु ने ऐसी पत्नियों के लिए दंड की भी व्यवस्था की है। दूसरा विवाह करने पर यदि पहली पत्नी कुपित होकर घर से बाहर निकले तो उसे रोक कर रखे अथवा उसे पिता के घर पहुंचा दे। मनु (३।१२।१३) यह मानता था कि पुरुष विवाह केवल धर्मकार्य के लिए ही नहीं करते, अपितु उनके विवाह कामवासना से प्रेरित होकर भी किये जाते हैं और उन विवाहों के लिए वसिष्ठ की तरह मनु ने अनुलोम क्रम से ब्राह्मण को चारों वर्णों की स्त्रियां, क्षत्रियों को तीन, वैश्यों को दो तथा शूद्र को एक स्त्री ग्रहण की स्वीकृति दी है (मनु० ३।१७)। अगले श्लोकों से (३।१४-१६) स्पष्ट है कि मनु (३।१७) इस अनुलोम विवाह का घोर विरोधी था और उसने अनुलोम विवाह का वर्णन केवल इसलिए किया कि यह उस समय के समाज में प्रचलित था। मनु ने एक-विवाह के आदर्श को स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है। पति-पत्नी विवाह करके ऐसा यत्न करें कि वे एक दूसरे के अविरुद्ध होकर रहते हुए कभी भी परस्पर नियम का भंग न करें। पति-पत्नी आमरण एक दूसरे के प्रति सच्चे रहें, यही संक्षेप में स्त्री-पुरुष का परम धर्म (मनु० ९।१०१–२) है।

दूसरा विवाह करने के विषय में मनुस्मृति का यह आदर्श था कि रोगिणी स्त्री भी यदि पति के हित में तत्पर और सुशीला हो तो उसकी अनुमति लिये बिना पति दूसरा विवाह न करे। ऐसी पत्नी निरादर करने योग्य नहीं है (मनु० ९।८२)। किन्तु मनु ने पत्नियों को यह परामर्श मात्र ही दिया है। पति यदि पत्नी का निरादर करके दूसरा विवाह करता है तो उस पति के लिए मनु ने कौटिल्य या आपस्तम्ब

की भाँति किसी दण्ड की व्यवस्था नहीं की है। मनु (११।५) से यह विदित होता है कि बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों की तरह उस समय के ब्राह्मण संतान होने पर भी धन के लोभ से विवाह किया करते थे। मनु ने ऐसे विवाहों की निन्दा की है और उनका प्रचलन घटाने के लिए यह व्यवस्था की है कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण का नहीं होगा, अपितु धन देने वाले का होगा। मनु के शब्द इस प्रकार हैं—"जब कोई ब्राह्मण पहली स्त्री रहने पर (सन्तति आदि के निमित्त के बिना—कुल्लूक) किसी से धन याचना करके अपना दूसरा विवाह करता है, तब उसको इस विवाह में केवल रतिफल मिलता है। पिछली स्त्री में उत्पन्न सन्तान धन देने वाले की होती है" (मनु० ११।५)।

आजकल की तरह मनु के समय में भी दोषों वाली कन्या के बदले अच्छी कन्या दिखाकर पिता विवाह के समय दोष वाली कन्या का दान किया करते थे। कौटिल्य (अध्याय ४६) ने इस अवस्था में दोष वाली कन्या को छोड़ने की व्यवस्था की है। किन्तु मनु कहता है कि दोष वाली कन्या के साथ दूसरी निर्दोष या उत्तम कन्या को भी ले ले (मनु ८।२०४)। जब कोई व्यक्ति वर को उत्तम कन्या दिखाकर विवाह के समय निकृष्ट कन्या दे तो इस अपराध के दण्ड में उसे एक ही शुल्क में दोनों कन्याओं का विवाह उस वर के साथ कर देना पड़ेगा, ऐसा मनु ने कहा है (८।२०४)। याज्ञवल्क्य (१।६६), व्यास (२१८।६७) तथा नारद (३१-३३) भी इस प्रकार की व्यवस्था करते हैं। इन सब में धोखा देने वाले को दंडनीय अपराधी बताया गया है, किन्तु इन सबने मनु की इस विचित्र व्यवस्था का समर्थन नहीं किया कि वर दोनों कन्याओं से शादी कर ले। सच्ची बात तो यह है कि वर्तमान मनुस्मृति के निर्माणकाल (१५० ई० पू०) से पहले ही हिन्दू समाज में बहुविवाह की प्रथा प्रबल हो चुकी थी। महाभाष्य (१८० ई० पू०) में पाणिनीय सूत्र २।२।२५ पर यह कहा गया है कि अज्ञात वस्तु के पूछने में बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए, जैसे आपके कितने लड़के हैं, आपकी कितनी स्त्रियाँ हैं।[7] स्पष्ट है कि बहुविवाह प्रचलित रहने के कारण ही यहाँ स्त्रियों वाला बहुवचनान्त उदाहरण दिया गया है। व्यास (२।५०) ने मनु की शर्तों पर ही पति को दूसरे विवाह की अनुज्ञा दी।[8] देवल स्मृति ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शूद्र की एक स्त्री होती है, वैश्य की दो, क्षत्रिय की तीन, ब्राह्मण की चार तथा राजा की यथेच्छ।[9]

[7] महाभाष्य २।२।२५ — केचित्तावदाहुरनिज्ञातेऽर्थे बहुवचनम् प्रयोक्तव्यमिति।
तद्यथा कति भवतः पुत्राः कति भवतो भार्या इति।

[8] व्यास स्मृति २।५० — धूर्तां च धर्मकामघ्नीमपुत्रां दीर्घरोगिणीम्।
सुदुष्टां व्यसनासक्तां नारीमधिवेदयेत ॥

[9] देवल स्मृति, — एका शूद्रस्य वैश्यस्य द्वौ तिस्रः क्षत्रियस्य च।
चतस्रः ब्राह्मणस्य स्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छतः ॥

बहुभार्यता तथा रामायण—रामायण से यह स्पष्ट है कि पुत्र न होने की दशा में पुरुष अनेक विवाह किया करते थे। दशरथ ने कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा से सन्तानार्थ ही विवाह किया। तीन विवाहों के बाद भी सन्तान न होने पर पुत्रेष्टि यज्ञ से उनकी चार सन्तानें हुईं। यह बहुपत्नीत्व ही दशरथ की अकाल मृत्यु का कारण हुआ। कैकेयी दशरथ की प्रिय रानी थी। एक ओर सत्यसन्ध राजा कैकेयी को दिये गये वचन को पूरा करने के लिए बाधित थे और दूसरी ओर राम के राजा बनने के न्यायपूर्ण अधिकार पर वे कैकेयी के कुठाराघात को सहन नहीं कर सकते थे। वे बड़ी दुविधा में थे और मृत्यु ने ही उनके इस घोर मानसिक दुःख का अन्त किया। किन्तु कौशल्या को अपनी सौत के कारण होने वाला दुःख बड़े कष्ट से झेलना पड़ा। उसने अत्यधिक हृदयविदारक शब्दों में करुण विलाप करते हुए कहा है (रामायण २।२०।३८–५५)—"पति से मैंने किसी प्रकार का कल्याण या सुख नहीं प्राप्त किया, हे राम, पुत्रसुख देखने की आशा से मैंने जीवन धारण किया था। अपने से छोटी आयु की सौतों से अपमानित होते हुए मैं उनके हृदय-विदारक वचन सुनती हूँ। स्त्रियों के लिए इससे बढ़कर क्या दुःख हो सकता है? तेरे पास रहते हुए भी मैं इस प्रकार तिरस्कृत थी, हे प्रिय पुत्र, तेरे दूर चले जाने पर तो मेरी मृत्यु हो जायगी। जो कोई (नौकर) मेरी सेवा करता है, मेरा अनुसरण करता है, कैकेयी के पुत्र (भरत) को देखकर वह मुझसे बात नहीं करता। कैकेयी के बराबर या (मान में) उससे बड़ी होने पर भी कैकेयी की दासियों ने मुझे बहुत सताया है। हे राम, तुझे पैदा हुए १७ वर्ष बीत गये। ये वर्ष मैंने अपने कष्टों के नष्ट होने की आकांक्षा से बिताये थे।"

पुरु और ध्रुव के उदाहरण—बहुविवाह में जब राजा एक पत्नी के पुत्र से अधिक प्रेम करता है और दूसरे की उपेक्षा करता है तो उन पुत्रों की दशा दयनीय हो जाती है। ऐसी शोचनीय दशा में अनुभवशील पुत्र कौशल्या की तरह मौत माँगा करते हैं। नहुष के पुत्र राजा ययाति की शर्मिष्ठा और देवयानी नामक दो पत्नियाँ थीं। ययाति शर्मिष्ठा से और उसके बेटे पुरु से बहुत प्रेम करता था। देवयानी का पुत्र यदु यह अन्याय न सह सका, वह अपनी माता से कहता है—"भृगुवंशी कुल में उत्पन्न होकर तू इस हार्दिक दुःख एवं दुःसह अपमान को सह रही है। हम दोनों दुःख से मुक्ति पाने के लिए एक साथ अग्नि में प्रविष्ट होते हैं, राजा दैत्यपुत्री शर्मिष्ठा के साथ सुख से रहे। यदि तुझे यह दुःख सह्य हो तो तू मुझे अग्नि में प्रवेश की आज्ञा दे।" देवयानी ने जब अपने पुत्र के ये वचन सुने तो उसे बहुत दुःख, क्षोभ एवं क्रोध हुआ। उसने अपने पिता को स्मरण करके बुलाया और यह कहा—"हे मुनिश्रेष्ठ, मैं तीक्ष्ण विष खा लूँगी, अग्नि में जलकर या पानी में डूबकर मर जाऊँगी, किन्तु अब मैं जी नहीं सकती। राजर्षि ययाति मेरी अवज्ञा करता है और मेरा सत्कार नहीं करता"। इस पर भार्गव ने ययाति को शाप दिया कि तुमने मेरा अपमान किया है अतः तुम्हारा शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जायगा (रामा० ७।५८।७–२५)।

ध्रुव के ईश्वरभक्त बनने में उसके पिता उत्तानपाद का उसकी माता सुनीति के साथ किया जाने वाला उपेक्षापूर्ण व्यवहार था। अपनी चहेती स्त्री सुरुचि के सौतिया डाह के कारण सुनीति को बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। सुरुचि के पुत्र उत्तम के साथ सुनीति के पुत्र ध्रुव ने भी जब राजा की गोद में बैठना चाहा तो सुरुचि ने उसे अपमानपूर्ण शब्दों में कहा—'हे वत्स, यह उच्चाभिलाषा छोड़ दो, तुम हीन स्थिति रखने वाली सुनीति के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, यह स्थान सर्वश्रेष्ठ है। अतः तुम्हारे लिए यह उपयुक्त नहीं है। मेरा पुत्र उत्तम ही इस पर बैठ सकता है" (विष्णुपुराण अंश १ अध्याय ११)। रामायण में बहुविवाह के उपर्युक्त संकेतों के होते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने जीवन पर्यन्त एक विवाह के उच्च आदर्श को निबाहा तथा अश्वमेध के समय पत्नी की आवश्यकता अनुभव होने पर भी उन्होंने विवाह नहीं किया, अपितु पत्नी का अभाव पूर्ण करने के लिए सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा का निर्माण कराया।

बहुभार्यता तथा महाभारत—महाभारत में बहुपत्नी-विवाह के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। भीष्मपितामह विचित्रवीर्य के लिए, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामक तीन कन्याएँ काशीराज के स्वयंवर में से जीतकर लाये थे। पाण्डु की कुन्ती और माद्री नामक दो पत्नियाँ थीं। धृतराष्ट्र के नेत्रहीन होने पर उसकी पत्नी गांधारी ने आजीवन अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर पातिव्रत्य का उज्ज्वल आदर्श रखा, किन्तु गांधारी की गर्भावस्था के दिनों में एक वेश्या ने धृतराष्ट्र की सेवा की तथा युयुत्सु को उत्पन्न किया था (महाभारत १।११५।४१)।[१०] उसके १०२ पुत्रों की भी अनेक रानियों का वर्णन मिलता है। दुर्योधन की दो रानियाँ प्रसिद्ध हैं, इनमें एक युवराज लक्ष्मण की माता है और दूसरी रानी कलिंगराज की कन्या को दुर्योधन स्वयंवर से अपहरण करके लाया था। इन रानियों के अतिरिक्त दुर्योधन के अन्तःपुर में स्त्रियों की कोई कमी नहीं थी। सभापर्व (२।४६) में जब दुर्योधन पाण्डवों की समृद्धि पर ईर्ष्या करता है और दुःखी होता है तो धृतराष्ट्र उसे सान्त्वना देते हुए कहता है कि तुम क्यों दुःखी होते हो, तुम्हारे लिए बहुमूल्य बिछौने, सुन्दर स्त्रियाँ, नाना प्रकार के साज सजे हुए घर और इच्छानुसार भ्रमण करने के स्थान प्रस्तुत हैं (महा० २।३८।१०)।[११] दुर्योधन के भाइयों के भी इस प्रकार के महल थे और बाद में पाण्डवों ने उन पर अधिकार किया (महा०१२।४४)।

[१०] महाभा० १।११५।४१-४२ गांधार्यां क्लिश्यमानायां उदरेण विवर्धता ॥
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्यापर्यचरत्किल ।

[११] महाभा० २।३८।१०, शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥

महाभारत में विदुर की एक पत्नी बतलायी गयी है किन्तु जातक कथाओं में उसके ६ महलों, १००० स्त्रियों तथा ७०० वेश्याओं का उल्लेख है (जातक सं० ६०१ फावेल पृ० २१६)। पहली पत्नी दुःशला के होते हुए शाल्व की राजकुमारी के साथ दूसरा विवाह करने के लिए जाते हुए जयद्रथ को मार्ग में द्रौपदी मिली। उसने द्रौपदी का भी अपहरण करना चाहा। रुक्मिणी के अतिरिक्त श्री कृष्ण की सत्यभामा, कालिन्दी आदि आठ पत्नियाँ थी। इनके अतिरिक्त प्राग्ज्योतिषपुर के राजा नरकासुर का वध करने से उसकी १६००० कन्याएँ भी श्रीकृष्ण की पत्नियाँ बनीं। द्रुपद ने पांडवों को द्रौपदी के साथ १०० युवती दासियाँ प्रदान की थीं (महा० २।४६।१८)। इनके महलों में अन्य भी बहुत सी युवती दासियाँ थीं। द्रौपदी इनको अच्छी तरह पहचानती थी और यमुना के तट पर पाण्डव द्रौपदी और सुभद्रा को तथा इन सबको साथ लेकर भ्रमण करने जाया करते थे। पांडवों को राजसूय यज्ञ के समय अपने अधीनस्थ राजाओं से इतनी अधिक युवती दासियाँ मिली थीं कि दुर्योधन अपने पिता को पांडवों का वैभव सुनाता हुआ बड़े दुःख से यह कहता है कि युधिष्ठिर के राज्य में ८८ हजार ब्राह्मण हैं और वह प्रत्येक के लिए ३० दासियों का भरण-पोषण करता है (महा० २।४६।१८ १।२२४)। द्यूत में हारने पर पांडवों से यह विशाल दासीसमुदाय छिन गया, किन्तु महाभारत युद्ध के बाद हारे हुए एवं मारे गये राजाओं के परिवारों से वह फिर पूरा हो गया (महाभारत १२।४४)। महाभारत काल के चेदि, मगध और मत्स्य देशों के तथा यादवों के राजवंशों में बहुपत्नीकता की प्रथा प्रचलित थी। चेदिराज शिशुपाल ने अपनी पहली पत्नी के होते हुए भी तपस्वी बभ्रु तथा भद्रा वैशाली का अपहरण किया (२।४५।११–१२)। मगध के राजा जरासंध की दो कन्याएँ अस्ति और प्राप्ति कंस से ब्याही गयी थीं (महा० २।१४।३२)। मत्स्यराज विराट की सुदेष्णा कैकेयी और कौसकी नामक दो पत्नियाँ थीं। विराट के पुत्र उत्तर के विलासी जीवन से स्पष्ट है कि मत्स्यराज का एक विशाल अन्तःपुर था। यादव राजा भी बहुपत्नीक थे। वृष्णि सत्राजित् (४।२।८३) को १० बहिनें ब्याही गयी थीं जिनसे १०० लड़कियाँ उत्पन्न हुईं (वायु पुराण ६६।८३) अक्रूर की सुतनु औग्रसेनी, रत्ना शैब्या तथा अश्विनी नामक तीन पत्नियाँ थीं। ब्रह्मपुराण (अ० १२६–१३१) में श्रीकृष्ण जी के पिता वसुदेव की बीस स्त्रियों का पूरा ब्यौरा दिया गया है।

श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने शुभांगी वैदर्भी, प्रभावती और मायावती से विवाह किया था। दूसरे पुत्र साम्ब ने भी दो विवाह किये थे। कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने रुक्मवती से तथा बाणासुर की कन्या उषा से विवाह किया था। पाँचों पांडवों में से प्रत्येक की द्रौपदी के अतिरिक्त कई स्त्रियाँ थी। युधिष्ठिर की देविका नामक स्त्री थी (आदि पर्व ९५।७६)। भीम की बलन्धरा और हिडिम्बा नामक दो अन्य पत्नियाँ थीं। अर्जुनकी सुभद्रा, चित्रांगदा और उलूपी नामक तीन स्त्रियां थीं।

सहदेव की दूसरी स्त्री मद्रराज की कन्या विजया थी और इसी तरह नकुल की भी दूसरी पत्नी चेदि की राजकुमारी करेणुमती थी। (महा० १।६५।७२–८६)।

महाभारतकार पुरुषों के लिए बहुभार्यता में कोई दोष नहीं समझता, आश्चर्य तो इस बात का है कि उसने यह सिद्धान्त स्त्रियों के मुंह से कहलवाया है। आश्वमेधिक पर्व में चित्रांगदा अपने पति अर्जुन तथा पुत्र बभ्रुवाहन के मूर्च्छित हो जाने पर विलाप करती हुई उलूपी से कहती है—"हे सुभगे, पुरुषों के लिए बहुभार्यता (अनेक पत्नियाँ रखना) अपराध नहीं है, स्त्रियों के लिए यह अपराध है" (महाभा० १४।८०।१४)। बकवध पर्व में एक ब्राह्मणी अपने पति से आग्रह करती है कि उसका पति बक के पास न जाय, किन्तु बक की बलि बनने के लिए वह स्वयं जायगी, क्योंकि पुरुषों द्वारा अनेक स्त्रियाँ ग्रहण करने में दोष नहीं है। मनुष्यों को अधिक स्त्रियाँ करने में कोई अधर्म नहीं है, किन्तु पूर्व पति को छोड़ने में स्त्रियों के लिए बहुत बड़ा अधर्म होता है (महा० १।१६।३५)। द्रुपद ने अपनी कन्या को पाँचों पाण्डवों की साधारण पत्नी बनाने का विरोध करते हुए कहा है कि एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती हैं, किन्तु एक स्त्री के बहुत पति नहीं होते (महा० १।१६७।२७)।

पति का अपनी अनेक पत्नियों के साथ तुल्य व्यवहार करना कितना कठिन है, महाभारतकार ने यह तथ्य चन्द्र और उसकी पत्नियों के मनोरंजक रूपक से समझाया है। शल्यपर्व (३५ अ०) में बताया गया है कि दक्ष प्रजापति की २७ पुत्रियाँ थीं। उसने सत्ताइसों कन्याएँ चन्द्रमा को ब्याह दीं। वे सब बड़े-बड़े नेत्रों वाली और असाधारण रूप वाली थीं, किन्तु उनमें से रोहिणी सबसे अधिक रूपवती थी, इसलिए चन्द्रमा उसी से अधिक प्रेम करता और सदा उसी के घर में रहता था । इस कारण बाकी सब स्त्रियाँ चन्द्रमा से रुष्ट हो गयीं और वे अपने पिता दक्ष से कहने लगीं कि चन्द्रमा हमारे पास आकर नहीं रहता, इसलिए हम आपके पास रहकर तपस्या करेंगी। यह सुनकर दक्ष ने चन्द्रमा से कहा कि तुम ऐसा महान अधर्म मत करो और सबसे समान प्रेम रखो (समं वर्तस्व भार्यासु)। फिर अपनी कन्याओं से कहा, कि "तुम चन्द्रमा के घर चली जाओ। वह हमारी आज्ञा से सबसे समान प्रेम करेंगे।" वे चन्द्रमा के घर गयीं, पर चन्द्रमा फिर भी रोहिणी से पहले जैसा विशेष प्रेम करता रहा। कन्याओं ने पुनः अपने पिता के पास आकर चन्द्रमा की शिकायत की। दक्ष प्रजापति ने इस बार पुनः चन्द्रमा को यह चेतावनी दी कि तुम सब स्त्रियों से समान बर्ताव करो नहीं तो मैं तुम्हें शाप दूँगा। (समं वर्तस्व भार्यासु मा त्वां शप्स्ये विरोचन)। किन्तु चन्द्रमा उनकी चेतावनी का निरादर करके फिर भी रोहिणी के ही साथ रहने लगा। कन्याएँ क्रुद्ध होकर तीसरी बार पिता के पास गयीं और प्रणाम करके कहने लगीं—"चन्द्रमा ने आपके वचन को नहीं माना, वे हमसे प्रेम नहीं करते, वे सदा रोहिणी के घर में ही रहते हैं, इसलिए

आप हमको या तो शरण दीजिये अथवा ऐसा उपाय कीजिये जिससे चन्द्रमा हम सब से प्रेम करे"। उनके वचन को सुनकर भगवान् दक्ष प्रजापति ने क्रुद्ध होकर राजयक्ष्मा के रोग को चन्द्रमा के पास भेजा। वह रोग चन्द्रमा के हृदय में घुस गया, चन्द्रमा दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगा। उसने रोग से छूटने के लिए अनेक यज्ञादि के यत्न किये, पर दक्ष का शाप नहीं छूटा। चन्द्रमा के क्षीण होने से औषधियाँ बड़ी मात्रा में उत्पन्न न हुईं, जो थोड़ी बहुत औषधियाँ उत्पन्न हुईं वे रसवीर्य तथा स्वाद से हीन थीं, औषधियों के नाश से प्रजा का नाश होने लगा, मनुष्य दुर्बल हो गये। तब देवताओं ने चन्द्रमा से रूप की क्षीणता का कारण पूछा। देवताओं ने कारण जान कर दक्ष से प्रार्थना की कि "चन्द्रमा के नाश से प्रजाओं का नाश हो जायेगा, आप अपना शाप लौटा लीजिये।" दक्ष प्रजापति ने कहा "कि शाप व्यर्थ नहीं हो सकता, यदि चन्द्रमा सब स्त्रियों से समान प्रेम करें, तो शाप को कुछ अंश में कम किया जा सकता है। आधे महीने तक चन्द्रमा क्षीण रहेगा और आधे महीने तक बढ़ा करेगा" (शल्यपर्व ३५।४५।८० मिलाइये १२। ३४२।५७)।

महाभारत में अनेक स्थानों पर सपत्नियों के द्वेष एवं कलह की चर्चा मिलती है। महाभारतकार सपत्नियों के दोष को अच्छी तरह समझता है, तभी वह यह कहता है कि (१।२३२।२६) नारियों के लिए सौत से अधिक विनाशक या भयंकर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। सौतें एक दूसरे को किस प्रकार नहीं सह सकतीं—यह मन्दपाल के आख्यान से स्पष्ट है। एक ऋषि मन्दपाल पक्षी रूप में उत्पन्न हुआ। वह पहले अपनी एक पत्नी जरिता के पास रहता है, उसके चार अंडे होते हैं, वह उन्हें छोड़कर दूसरी पत्नी लपिता के पास चला जाता है। इसी बीच में खांडव वन की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। वह पितृस्नेह से विह्वल होकर जरिता के पास अपने बच्चे देखने के लिये जाना चाहता है। लपिता उसे ईर्ष्यापूर्वक ताने मारती हुई कहती है—"तू मेरे दुश्मन के पास जाना चाहता है। जरिता पर तुम्हारा जैसा स्नेह था, अब मुझ पर वैसा नहीं है। अब तुम जरिता के पास ही जाओ जिसके लिए व्याकुल हो रहे हो। मैं उसी तरह अकेली फिरूँगी जैसे दुष्ट पुरुष पर आश्रित स्त्री को अकेला फिरना पड़ता है" (महा० १।२३५।११–१३)। कुन्ती के तीन पुत्र पैदा होने पर माद्री को बड़ा दुःख हुआ। माद्री ने पाण्डु से कहा कि "उसे भी पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा है, आप कुन्ती से कहकर इसका उपाय करवा दें।" कुन्ती ने पाण्डु की प्रार्थना मान ली। किन्तु माद्री के एक साथ दो पुत्र उत्पन्न हुए। अतः जब दूसरी बार माद्री की सन्तान के लिए पाण्डु ने कुन्ती से प्रार्थना की तो कुन्ती ने स्पष्ट कहा कि मेरे एक बार कहने से माद्री ने दो पुत्र प्राप्त किये हैं, मैं ठगी गयी हूँ। मैं मूर्ख हूँ। मैं पहले नहीं जानती थी कि एक ही बार दो देवों के बुलाने से दो पुत्र पैदा होते हैं। अतः मैं आपसे वर माँगती हूँ कि आप इस विषय में मुझे आज्ञा न दीजिये (महा० १।१२५।२६–२७)। सौत का एक सुन्दर उदाहरण द्रौपदी का है। जब अर्जुन उसकी

नयी सौत सुभद्रा को ब्याह कर लाता है, उस समय द्रौपदी अर्जुन की भर्त्सना करते हुए उसे कहती है (महा० १।२२३।१७)—"अर्जुन, तुम वहीं जाओ जहाँ सात्वत वंश की पुत्री (सुभद्रा) है, (यहाँ क्यों आए हो), रस्सी से बंधी वस्तु की गांठ पर एक और कठोर गाँठ लगाने से पहला बंधन अवश्य ही ढीला हो जाता है" इसका आशय स्पष्ट था कि अब तुम सुभद्रा के प्रेम के नये जाल में फंसे हो, अतः इससे मेरा साथ पहले प्रेम के जाल का बन्धन ढीला हो गया है। द्रौपदी का कोप तब तक शान्त नहीं हुआ जब तक सुभद्रा ने ग्वालिन का सा वेष बनाकर, द्रौपदी को प्रणाम करके यह नहीं कहा कि मैं आपकी दासी हूँ (महाभारत १।२२३।२२)।

महाभारत में एक अन्य स्थान पर (१।६८।८३–८४), दूसरा विवाह करने पर पहली स्त्री (अध्यूढा या अधिविन्ना) के दुःख की तुलना ऐसे व्यक्तियों के साथ की गयी है जिनका सारा धन नष्ट हो गया है, जिनका बेटा मर गया है, जिनका व्याघ्र द्वारा पीछा किया जा रहा है और जो ऋणी है, पति विहीना है अथवा राजा द्वारा पकड़ा हुआ है। इसी प्रकार प्रजागर पर्व (५।३१–३२) में ऐसे व्यक्तियों की गणना है जो जागते हुए बड़े कष्ट से रात बिताया करते हैं, इनमें सौतिया डाह से पीड़ित अधिविन्ना स्त्री की भी गणना है।

ब्राह्मणों को स्त्रियों का दान—महाभारत के अनेक स्थलों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय एक साथ अनेक सुन्दर स्त्रियों को दान देने की प्रथा प्रचलित थी। प्रायः ये सुन्दरियाँ दासियाँ हुआ करती थीं। राजाओं से ब्राह्मण और ऋषि इन कन्याओं की भेंटों को आदरपूर्वक ग्रहण करते थे। महाभारत में इस प्रकार के उदार दान की बड़ी प्रशंसा की गयी है। शान्तिपर्व में युद्ध के भीषण नाश से संतप्त युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए प्रोत्साहित करता हुआ नकुल कहता है कि हे राजन्, यदि तुम ब्राह्मणों को सज्जित हाथी, घोड़े, गौ, अलंकृत दासियाँ, सेवक, गांव, भूमि और घरों का दान नहीं करोगे तो राजाओं में तुम कलिरूप अथवा बहुत बुरे समझे जाओगे (महा० १२।१२।३०–३१)। महाभारत में ब्राह्मणों को इस प्रकार सुन्दरियों के दान करने के अनेक प्राचीन उदाहरणों का वर्णन है। राजा सगर ने हजार अश्वमेध यज्ञ किये और प्रत्येक यज्ञ के पूर्ण होने पर उन्होंने कमल जैसे सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियों को शय्या एवं सोने के स्तम्भों वाले, सोने के बने महलों के साथ ब्राह्मणों को दान दिया (महा० १२।१६।११२)। अनुशासन पर्व (१०२।११) में गौतम ब्राह्मण को धृतराष्ट्र (दुर्योधन का पिता नहीं, किन्तु हाथी को चुराने वाला छद्मवेषी इन्द्र) यह कहता है कि मैं आपको एक हजार गौएँ और एक सौ दासियाँ तथा पाँच सौ मुहरों का दान करता हूँ (महा० १३।१०२। ११)। इसी पर्व में भगीरथ के ब्रह्मलोक पहुँचने पर, जब ब्रह्मा भगीरथ से उसके उन कर्मों के बारे में पूछता है जिनसे वह इस लोक में पहुँचा है तो भगीरथ ने वहाँ पर उत्तम गति देने वाले अनेक कार्यों का परिगणन किया है। इनमें एक उत्तम कार्य

सोने के ६० हजार आभूषणों से भूषित, चन्द्रमा की भाँति उज्ज्वल वर्ण धारण करने वाली एक हजार कन्याओं का दान करता है (महा० १३।१०३।१२)। दैन्य नामक राजा ने अग्नि को १०००० सुन्दर दासियाँ दी थी (महा० ३।१८५।३४)। कन्याएँ ब्राह्मणों को दिया जाने वाला स्वाभाविक दान है, इसका बहुत अधिक माहात्म्य बताया गया है। अनुशासन पर्व में उमा महेश्वर से प्रश्न करती है कि किन वस्तुओं के देने वाले स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इसके उत्तर में महेश्वर, अन्य वस्तुओं के साथ स्त्रियों के दान को भी उन वस्तुओं में बताते हैं जिनके फलस्वरूप दान देने वाला स्वर्ग में बहुत देर तक उत्तम भोगों को भोगता हुआ, नन्दनादि वनों में अप्सराओं के साथ प्रसन्न होकर रमण करता है (१३।१४५।४)।

च्यवन ऋषि की कथा भी इस बात को स्पष्ट करती है कि क्षत्रिय किस प्रकार कई बार स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से अपनी कन्याएं ब्राह्मणों को दिया करते थे। महर्षि च्यवन को एक जगल में तपस्या करते हुए बहुत दिन बीत गये थे। उनका सारा शरीर वाल्मीक (दीमक की मिट्टी) से ढक गया था, सिर्फ चमकती हुई दोनों आँखें खुली रह गयी थी। राजा शर्याति की इकलौती बेटी, सुकन्या अपनी सहेलियों के साथ खेलती हुई उधर आ निकली। उसे यह देख कर कुतूहल हुआ। बाल सुलभ चपलता में, उसने उस ऋषि की आँखों में कांटे चुभो दिये। इस पर महर्षि च्यवन अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने योग के प्रभाव से, शर्याति की सेना का मलमूत्र रोक दिया। राजा की सेना इस बात से बहुत परेशान और दु खी हुई। राजा ने इस विलक्षण घटना का कारण जानना चाहा। सुकन्या ने स्वयं राजा को इसका कारण बता दिया। राजा ने च्यवन के पास जाकर क्षमा माँगनी चाही। च्यवन ने बड़ी कठिनाई से एक ही शर्त पर क्षमा करना स्वीकार कर लिया कि शर्याति सुकन्या का विवाह उससे कर दे। राजा ने एकदम अपनी कन्या का दान ऋषि को कर दिया और उस सुन्दरी ने मलिन वस्त्रों में, उस बूढ़े और बदसूरत ऋषि की आज्ञापालक पत्नी के रूप में सेवा आरम्भ कर दी (महाभारत ३।१२२ मि० ऋ० १।११६।१०, १।११७।१३, शतपथ ब्रा० ४।१।५, भागवत पुराण ९।३)।

सुकन्या ने अपने पिता के लिए जो त्याग किया वह अनुपम है। उसने अपने दु खी जीवन को भी सन्तोष से बिताया। किन्तु यह स्पष्ट है कि सभी कन्याएँ सुकन्या का सा उच्च आदर्श नहीं पालन कर सकती थी। क्षत्रियों की कन्याओं को गरीब ब्राह्मणों के घरों में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता होगा। इसलिए सगर ने ब्राह्मणों को स्वर्ण महल और शय्या सहित कन्याओं का दान किया, ताकि ब्राह्मणों को कोई कष्ट न उठाना पड़े। ब्राह्मण की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय रहा करती थी, मनु ने (११।१३) स्पष्ट रूप से, यज्ञ पूरा करने के लिए ब्राह्मण को शूद्र तक के घर से, चोरी से धन लाने की स्वीकृति दी है। इतना ही नहीं, इस चोरी से ब्राह्मणों का धर्म और यश बढ़ता है (वही

११।१५)। ब्राह्मण भूखा होने पर चोरी करे तो राजा को कोई दण्ड उसे नहीं देना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय की मूर्खता से ही ब्राह्मण भूखा मरता है (वही ११।२१)। इस प्रकार दरिद्र ब्राह्मणों के घर में राजकन्याओं का सुखी रहना कठिन था। ऐसी कन्यायें कष्ट होकर घरों से भागती थीं। मनु (६।८३) में इसका स्पष्ट संकेत है और ऐसी कन्याओं को बलपूर्वक बांध रखने या पीहर में छोड़ देने का विधान है। ऐसी कन्याओं के नियमन के उद्देश्य से ही, सम्भवतः स्मृतिकारों ने स्त्रियों के पुनर्विवाह के अधिकार को अत्यधिक संकुचित कर दिया और पातिव्रत्य की महिमा के बड़े गीत गाये। स्मृतिकारों की स्त्रीसम्बन्धी व्यवस्थाओं में इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य को ओझल नहीं करना चाहिए।[१६]

१६ ब्राह्मणों को कन्या दान करने के जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का दान ब्राह्मणों को अभिमत एवं अभीष्ट था। आठ प्रकार के विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम बताया गया है। यदि उसका अर्थ ब्राह्मणों में प्रचलित विवाह किया जाय तो हमें उसकी उत्कृष्टता अच्छी तरह समझ में आ सकती है। इस विवाह में पिता कन्या को अलंकृत करके वर को देता है तथा बदले में कुछ नहीं लेता। अन्य विवाहों में वर को कुछ शुल्क देना पड़ता था। स्मृतियों में इस शुल्क की बहुत निन्दा है (देखिये ऊपर पृ० १६३-८) और ब्राह्मणों को कन्या दान करने की बड़ी प्रशंसा की गयी है। कई बार राजा स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से ब्राह्मणों को कन्यादान करते थे। महर्षि विश्वामित्र के शिष्य गालव को ८०० घोड़ों की गुरुदक्षिणा पूरी करने के लिए राजा ययाति ने अपनी कन्या माधवी को दिया, क्योंकि ययाति के शब्दों में इस सुन्दरी कन्या को बहुत लोग चाहेंगे। अतः गालव ने, क्रमशः पुत्र प्राप्ति की इच्छा रखने वाले हर्यश्व, दिवोदास और उशीनर को माधवी इस शर्त पर दी कि वे माधवी से पुत्र प्राप्त करने के बाद, माधवी को उसे लौटा देंगे और पुत्र के बदले में २०० घोड़े देंगे। उपर्युक्त राजाओं ने माधवी से क्रमशः वसुमना प्रतर्दन और शिबि नाम के पुत्र प्राप्त किये और गालव को बदले में ६०० घोड़े मिले। २०० घोड़े अब भी बचे हुए थे किन्तु अब माधवी को लेने वाला कोई नहीं मिल रहा था। अन्त में गालव ने ६०० घोड़ों के साथ माधवी को गुरु के चरणों में अर्पित किया। विश्वामित्र से माधवी का अष्टक नामक पुत्र हुआ (महाभारत ५।१०६।१६)। इस कथा की व्याख्या सुविमलचन्द्र सरकार ने 'सम एस्पैक्ट्स आफ अर्ली सोशल हिस्टरी आफ इंडिया' (पृ० २०५) में यह की है कि हैहय राजाओं के आतंक से भयभीत पौरव (ययाति), कौशल (हर्यश्व), काशी (दिवोदास), उशीनर और कान्यकुब्ज के राजा विश्वामित्र माधवी के संबंध से एक सूत्र में बंध गये और उन्होंने हैहयों के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा बनाया। महा-

संस्कृत काव्यों में बहुभार्यता—संस्कृत साहित्य के नाटकों और काव्यों से प्राचीन भारतीय समाज की विवाह संस्था पर जो प्रकाश पड़ता है, वह अधिकतर राजाओं एवं समाज के उच्च वर्ग तक ही सीमित है। इस समाज में केवल के "भार्या राज्ञो यथेच्छतः" का खूब पालन होता था। कवि-कुल शिरोमणि कालिदास के रघुवंश का श्रीगणेश यद्यपि रघुवंशियों के गृहस्थ धर्म के इस आदर्श से होता है कि वे सन्तान के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे (प्रजायै गृहमेधिनाम् रघु० १।७), तथापि उस काव्य की समाप्ति बहुत सी स्त्रियों के साथ, विवाह करके, उनके साथ रमण में निरन्तर निमग्न रहने वाले राजा अग्निवर्ण के वर्णन के साथ होती है।

कालिदास के तीनों नाटकों के नायक अपनी पहली पत्नी या पत्नियों के होते हुए दूसरी स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं। मालविकाग्निमित्र का नायक अग्निमित्र पट-रानी धारिणी और दूसरी रानी इरावती के होते हुए भी मालविका की ओर आकृष्ट होता है। धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से दूर रखना चाहती है, किन्तु राजा उसके चित्र से आकृष्ट होकर उसे चाहने लगता है, अपने मित्र विदूषक गौतम की चतुर योजना से, राजा मालविका का नृत्य देखता है और उस पर अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है। रानी भयंकर सर्प द्वारा रक्षित मणि की तरह, मालविका को कड़े पहरे में रखती है। किन्तु प्रमदवन में अशोक के दोहद के लिए, आयी हुई मालविका का राजा के साथ अचानक मिलन होता है, उसी समय अकस्मात् रानी इरावती के वहाँ आ जाने से रंग में भंग पड़ जाता है। इरावती अत्यन्त क्रुद्ध होकर राजा को मेखला से पीटने का यत्न करती है और नाराज होकर चली जाती है। इरावती से यह वृत्तान्त सुनकर, रानी धारिणी मालविका को एक भूमिगृह (तहखाने) में कैद कर देती है। किन्तु विदू-षक मालविका को इस कैद से भी बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से छुड़ाता है और अन्त में दोनों रानियों की सहमति से अग्निमित्र मालविका से विवाह करता है और नाटक की समाप्ति पर भरतवाक्य में राजा रानी को यह कहता है कि "अग्निमित्र द्वारा शासन करते हुए प्रजाओं का अभीष्ट तो पूर्ण हो जायगा, किन्तु सौतों के कारण अत्यन्त क्रोध करने वाली आप चण्डी देवी मुझसे प्रसन्न रहें, यही मेरी आकांक्षा है।"[११] विक्रमोर्वशीय में राजा पुरूरवा काशीराज की पुत्री, पहली रानी के होते हुए भी देवांगना उर्वशी से प्रेम करता है और तीसरे अंक में रानी प्रियानुप्रसादन व्रत करके, अपने सुख को तिलाञ्जलि देकर राजा

भारत में कन्यादान के अन्य उदाहरणों के लिए देखिये १३।१२७।११, १८; १२।२३४।२५, २८-३४।

[११] **मालविकाग्निमित्र**—त्वं मे प्रसादसुमुखि ! भव देवि नित्यमेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम् । आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां, संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ।

को उर्वशी से विवाह करने की स्वीकृति देती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त हंसपदी, वसुमती आदि अनेक पत्नियों के होते हुए भी शकुन्तला से जब गान्धर्व विवाह करता है तो शकुन्तला की सखी अनुसूया यह अनिष्ट शंका उपस्थित करती है कि राजा बहुत सी स्त्रियों के पति होते हैं। दुष्यन्त इस आशंका का निराकरण करता हुआ कहता है—"रानियों की अधिक संख्या होने पर भी, मेरे कुल की प्रतिष्ठा तो दो ही वस्तुएँ हैं—सागर रूप वस्त्र वाली पृथ्वी और तुम्हारी यह सखी"।[१४] कण्व अपने सुप्रसिद्ध आशीर्वाद (४।१८) में शकुन्तला को यह आदेश देता है कि अपनी सौतों के साथ प्यारी सखियों का सा बर्ताव करना।[१५] पंचम अंक के प्रारम्भ में रानी हंसवती मधुकर की अन्योक्ति से राजा दुष्यन्त को उपालम्भ देती है कि वह अभिनव मधुलोलुप मधुकर की तरह पहली आम्र-मंजरी (वसुमती) का आस्वादन कर उसे कैसे भूल गया है।[१६] उस समय के धनी लोग अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे। छठे अंक में राजा एक व्यापारी के बारे में यह कहता है कि व्यापारी अवश्यमेव अनेक पत्नियों वाला होगा क्योंकि वह बहुत धनी था।[१७]

मृच्छकटिक में, आर्य चारुदत्त की पहली पत्नी होते हुए भी, वसन्तसेना उसे चाहती है। राजा हर्ष के रत्नावली तथा प्रियदर्शिका के दोनों नाटकों में राजा अपनी पहली रानियों के होते हुए नागरिका (रत्नावली) और प्रियदर्शिका से विवाह करता है। बाण ने हर्ष की माता यशोमती के मुँह से यह कहलाया है कि मैंने सौतों के सिर पर पैर रखा है अर्थात् उनको पराभूत किया है (हर्षचरित पंचम उच्छ्वास)। कादम्बरी में अनेक रानियों के साथ राजा चन्द्रापीड के आनन्दप्रमोद का सुन्दर चित्रण है।[१८] चन्द्रापीड गुरुकुल से शिक्षा समाप्त करके जब घर वापिस लौटा तो उस समय उसकी माता विलासवती ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा है—"जैसे पिता की कृपा से तू इस समय विद्याओं से युक्त देखा जा रहा है उसी तरह जल्दी ही मैं तुझे योग्य वधुओं के साथ देखूँगी।[१९] माघ ने शिशु-

१४ अभि० शा०' अंक ३—अनुसूया—बहुवल्लभाः हि राजानः श्रूयन्ते।
राजा-परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥

१५ वही अंक ४ श्लोक १८—शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।

१६ वही अंक ५, श्लोक १—अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथापरिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो, मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्।१।

१७ वही छठा अंक—बहुधनत्वात् बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्॥

१८ कादम्बरी ८म संस्करण, पृ० १२६-३० प्रणयिनीनां चन्दनजलच्छटाभिरिव कनकशृंगकोशैश्शिरं विकीर्ण।

१९ कादम्बरी पृ० २०६—यथा पितुः प्रसादात्समस्ताभिरुपेतोविद्याभिरालोकितो-ऽस्येवमचिरेणैव कालेनानुरूपाभिर्वधूभिरुपेतमालोकयिष्यामि।

पालवध में अनेक पत्नियों का वर्णन किया है (२।१९४, ३१६, ७।५६)। श्री हर्ष ने नैषध में, इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। दमयन्ती हंस द्वारा नल के पास अपना प्रणय संदेश भिजवाती है। हंस को संदेश बताकर अन्त में उसे कहती है कि मेरा यह सन्देश राजा को उस समय न सुनाना, जिस समय वह अन्तपुर की स्त्रियों के साथ संभोग के बाद नितान्त संतुष्ट हो, क्योंकि जो पानी से तृप्त हो चुका है उसे स्वादु सुगन्धित एवं ठण्डा जल पीने में मजा नहीं आता है (३।६३)।

मौर्य युग में बहुभार्यता—मौर्य काल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। मैगस्थनीज लिखता है—"वे (भारतीय) बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं।[२०] विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को केवल आमोद प्रमोद के लिए रखा जाता था। मैगस्थनीज ने कहा है—"कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिए विवाह करके लाते हैं और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिए।"[२१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मैगस्थनीज के विवरण की पुष्टि होती है। कौटिल्य (३।२) लिखता है पुरुष बहुत सी स्त्रियों को प्राप्त करे, क्योंकि स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करने के लिए ही हैं। महापद्मनन्द की अनेक स्त्रियां थीं और चन्द्रगुप्त मौर्य उसकी मुरा नामक दासी से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। अशोक की कई रानियां थीं। इनमें कारुवाकी के दान का अशोक के एक शिलालेख में वर्णन है। अशोक के रूपवान् पुत्र कुणाल को अपनी विमाता तिष्यरक्षिता का कोपभाजन होकर अपनी आंखें निकलवा देनी पड़ी थीं।[२२] गुप्तवंश के प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) की कुबेरनागा और ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी दो पत्नियां थीं।

मध्ययुग में बहुभार्यता—११ वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय समाज का वर्णन करते हुए अल्बेरूनी लिखता है कि हिन्दू लोग चार से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकते, किन्तु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता।" सम्भवतः उसने कुरान शरीफ की चार स्त्रियों की पाबन्दी को हिन्दू धर्म के लिए भी सच समझ लिया। मध्य काल के इतिहास में चार से अधिक विवाह करने वाले अनेक राजाओं की चर्चा मिलती है। पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज ने ११ से ३६ वर्ष की आयु के बीच में १४ विवाह किये। संयोगिता के लिए अभियान पर जाने में उसकी इंछनी, पुण्डीरनी, इन्द्रावती, हंसावती, कूरम्भी और हम्मीरनी रानियों ने किस प्रकार एक वर्ष की देरी करायी, इसका चन्द बरदाई ने रासो के ६१ वें समय में बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। यदि पृथ्वीराज रासो को अनैतिहासिक काव्य भी माना जाय तो भी यह उस समय के राजपूत

२० मैगस्थनीज का भारत वर्षीय विवरण, पृ० सं० ३४

२१ मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, पृ० सं० ३४

२२ दिव्यावदान, पृ० ४००-४१० ।

को उर्वशी से विवाह करने की स्वीकृति देती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त हंसपदी, वसुमती आदि अनेक पत्नियों के होते हुए भी शकुन्तला से जब गान्धर्व विवाह करता है तो शकुन्तला की सखी अनुसूया यह अनिष्ट शंका उपस्थित करती है कि राजा बहुत सी स्त्रियों के पति होते हैं। दुष्यन्त इस आशंका का निराकरण करता हुआ कहता है—"रानियों की अधिक संख्या होने पर भी, मेरे कुल की प्रतिष्ठा तो दो ही वस्तुएँ हैं—सागर रूप वस्त्र वाली पृथ्वी और तुम्हारी यह सखी"।[14] कण्व अपने सुप्रसिद्ध आशीर्वाद (४।१८) में शकुन्तला को यह आदेश देता है कि अपनी सौतों के साथ प्यारी सखियों का सा बर्ताव करना।[15] पंचम अंक के प्रारम्भ में रानी हंसवती मधुकर की अन्योक्ति से राजा दुष्यन्त को उपालम्भ देती है कि वह अभिनव मधुलोलुप मधुकर की तरह पहली आम्र-मंजरी (वसुमती) का आस्वादन कर उसे कैसे भूल गया है।[16] उस समय के धनी लोग अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे। छठे अंक में राजा एक व्यापारी के बारे में यह कहता है कि व्यापारी अवश्यमेव अनेक पत्नियों वाला होगा क्योंकि वह बहुत धनी था।[17]

मृच्छकटिक में, आर्य चारुदत्त की पहली पत्नी होते हुए भी, वसन्तसेना उसे चाहती है। राजा हर्ष के रत्नावली तथा प्रियदर्शिका के दोनों नाटकों में राजा अपनी पहली रानियों के होते हुए नागरिका (रत्नावली) और प्रियदर्शिका से विवाह करता है। बाण ने हर्ष की माता यशोमती के मुँह से यह कहलाया है कि मैंने सौतों के सिर पर पैर रखा है अर्थात् उनको पराभूत किया है (हर्षचरित पंचम उच्छ्वास)। कादम्बरी में अनेक रानियों के साथ राजा चन्द्रापीड़ के आनन्दप्रमोद का सुन्दर चित्रण है।[18] चन्द्रापीड़ गुरुकुल से विद्या समाप्त करके जब घर वापिस लौटा तो उस समय उसकी माता विलासवती ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा है—"जैसे पिता की कृपा से तू इस समय विद्याओं से युक्त देखा जा रहा है उसी तरह जल्दी ही मैं तुझे योग्य वधुओं के साथ देखूँगी।[19] माघ ने शिशु-

१४ अभि० शा०' अंक ३—अनुसूया—बहुवल्लभाः हि राजानः श्रूयन्ते।
राजा-परिग्रह् बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥

१५ वही अंक ४ श्लोक १८—शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।

१६ वही अंक ५, श्लोक १—अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथापरिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो, मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥१॥

१७ वही छठा अंक—बहुधनत्वात् बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्॥

१८ कादम्बरी ८म संस्करण, पृ० १२९-३० प्रणयिनीनां चन्दनजलच्छटाभिरिव कनकशृंगको शैशिरं चिक्रीड।

१९ कादम्बरी पृ० २०६—यथा पितुः प्रसादात्समस्ताभिरुपेतो विद्याभिरालोकितो-ऽस्येवमचिरेणैव कालेनानुरूपाभिर्वधूभिरुपेतमालोकयिष्यामि।

पात्नवता में अनेक पत्नियों का वर्णन किया है (२।१६४, ३१६, ७।५६)। श्री हर्ष ने नैषध में, इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। दमयन्ती हंस द्वारा नल के पास अपना प्रणय संदेश भिजवाती है। हंस को संदेश बताकर अन्त में उसे कहती है कि मेरा यह सन्देश राजा को उस समय न सुनाना, जिस समय वह अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ संभोग के बाद नितान्त संतुष्ट हो, क्योंकि जो पानी से तृप्त हो चुका है उसे स्वादु सुगन्धित एवं ठण्डा जल पीने में मजा नहीं आता है (३।९३)।

मौर्य युग में बहुभार्यता—मौर्य काल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। मैगस्थनीज लिखता है—"वे (भारतीय) बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं।[२०] विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को केवल आमोद प्रमोद के लिए रखा जाता था। मैगस्थनीज ने कहा है—"कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिए विवाह करके लाते हैं और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिए।"[२१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मैगस्थनीज के विवरण की पुष्टि होती है। कौटिल्य (३।२) लिखता है पुरुष बहुत सी स्त्रियों को प्राप्त करे, क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिए ही है। महापद्मनन्द की अनेक स्त्रियाँ थीं और चन्द्रगुप्त मौर्य उसकी मुरा नामक दासी से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। अशोक की कई रानियाँ थीं। इनमें कारुवाकी के दान का अशोक के एक शिलालेख में वर्णन है। अशोक के रूपवान् पुत्र कुणाल को अपनी विमाता तिष्यरक्षिता का कोपभाजन होकर अपनी आँखें निकलवा देनी पड़ी थी।[२२] गुप्तवंश के प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) की कुबेरनागा और ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी दो पत्नियाँ थीं।

मध्ययुग में बहुभार्यता—११ वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय समाज का वर्णन करते हुए अल्बेरूनी लिखता है कि "हिन्दू लोग चार से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकते, किन्तु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता।" सम्भवतः उसने कुरान शरीफ की चार स्त्रियों की पाबन्दी को हिन्दू धर्म के लिए भी सच समझ लिया। मध्य काल के इतिहास में चार से अधिक विवाह करने वाले अनेक राजाओं की चर्चा मिलती है। पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज ने ११ से ३६ वर्ष की आयु के बीच में १४ विवाह किये। संयोगिता के लिए अभियान पर जाने में उसकी इंछनी, पुण्डीरनी, इन्द्रावती, हंसावती, कूरम्भी और हम्मीरनी रानियों ने किस प्रकार एक वर्ष की देरी करायी, इसका चन्द बरदाई ने रासो के ६१ वें समय में बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। यदि पृथ्वीराज रासो को अनैतिहासिक काव्य भी माना जाय तो भी यह उस समय के राजपूत

२० मैगस्थनीज का भारत वर्षीय विवरण, पृ० सं० ३४

२१ मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, पृ० सं० ३४

२२ दिव्यावदान, पृ० ४००-४१० ।

राजाओं में बहुविवाह के प्रचलन को अवश्य सूचित करता है। १२ वीं शती के एक अभिलेख में चेदिराज गांगेय देव विक्रमादित्य के विषय में यह उत्कीर्ण है कि उसने प्रयाग में अपनी १०० स्त्रियों के साथ मुक्ति प्राप्त की।[२३] बहुविवाह प्रथा को मध्य काल में मुसलमान राजाओं के उदाहरण से भी प्रोत्साहन मिला। सियारुल्मुताख्खरीन में औरंगजेब के एक सूबेदार के हरम में ५०० रानियाँ बतायी गयी हैं।[२४] आइने अकबरी से ज्ञात होता है कि जलालुद्दीन अकबर जैसे उदार प्रगतिवादी एवं धर्म परायण सम्राट् के अन्तःपुर में ५००० स्त्रियाँ थीं।[२५] प्राचीन परम्परा के कारण एवं अपने नये सम्राटों के उदाहरण से प्रेरणा पाकर मध्य काल में राजपूत तथा अन्य राजा बहुविवाह करते रहे।

राजपूत राजाओं में राणा संग्रामसिंह आदि ने एक से अधिक विवाह किये। कहा जाता है कि संग्रामसिंह की २८ पत्नियाँ थीं। जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह रावल जयसिंह आदि की अनेक रानियाँ थीं। जसवन्तसिंह की रानियों में से दो को चिता पर चढ़ने से इसलिए रोका गया कि वे गर्भवती थीं। इन विवाहों के कारण झगड़े और षड्यन्त्र होते रहते थे, तथापि बहुविवाह की बुराई कम नहीं हुई। मध्य काल के राजपूत राजाओं के लिए बहुविवाह प्रथा कितनी घातक सिद्ध हुई है, इसका सोदाहरण वर्णन प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री ओझाजी ने बहुत सुन्दर शब्दों में किया है—"इसी तरह बहुविवाह की रीति भी क्षत्रिय वर्ग की क्षति का एक मुख्य कारण हुई इस इतिहास (राजपूताना के इतिहास) में बहुविवाह से होने वाली हानियों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलेगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनेक पत्नियों के होने से ही रामचन्द्र को वनवास हुआ और दशरथ के प्राण गये। महाराज अशोक की अधिक रानियाँ होने से मौर्यवंश के प्रतापी साम्राज्य की अवनति की जड़ जमी, कन्नौज के प्रबल गाहड़वाल (गहरवार) राज्य के विनाश का कारण भी महाराज जयचन्द्र की अनेक पत्नियाँ होना माना जाता है। मारवाड़ के राव चूडा के राज्य में अनेक रानियों के कारण ही झगड़ा फैला। मेवाड़ के प्रतापी राणा सांगा के महाराज्य की क्षति का कारण भी बहुविवाह ही हुआ। कहाँ तक गिनावें, राजपूत जाति का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है, इसी के कारण कई राजाओं के प्राण गए, कई निरपराध बालक सौतिया डाह के शिकार बने और कई राज्य नष्ट-भ्रष्ट हुए"... 'अनेक पत्नियाँ होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार सौतिया डाह का कुठार चला है, चलता है और चलता रहेगा,

२३ 'प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ सार्धंशतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्' ११२२ ई० का यशकर्णदेव का अभिलेख एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड २ पृ० ४ पर प्रकाशित

२४ सियारुल् मुताखरीन, खण्ड १, पृ० १६६

२५ आइने अकबरी, खण्ड १, पृ० ४६

जब तक कि राजपूत जाति इस कुरीति का मूलोच्छेदन नहीं कर देगी।[२६]

शिवाजी की आठ पत्नियाँ थी—सगुणाबाई, पुतलाबाई, सईबाई, सोयराबाई, लक्ष्मीबाई, काशीबाई, तथा गुणवन्ता बाई। रामदास स्वामी के एक हस्तलिखित जीवन चरित्र से यह ज्ञात होता है कि इन आठ के अतिरिक्त मनोहर और मनसंतोष नाम की अन्य दो स्त्रियाँ भी शिवाजी से ब्याही गयी थी।[२७] शिवाजी के मरने के बाद अन्तःपुर के झगड़ों ने मराठा साम्राज्य की शक्ति को कितना क्षीण किया यह बात किसी से छिपी नहीं है। पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंहजी की सोलह रानियाँ थी। इनमें से पहली आठ के साथ उनका नियमपूर्वक विवाह हुआ था, शेष आठ को महाराज ने केवल चादर डालने की रीति पूरी करके हरम में ले लिया था। इनके अतिरिक्त बहुत सी रखेलियाँ भी थीं। जब रणजीतसिंह जी की देह चिता पर जलाने के लिए रखी गई तो उनके साथ उनकी चार सिरमस्तान रानियाँ तथा सात दासियाँ भी सती हुई। इन विभिन्न रानियों तथा उनके पुत्रों के समर्थक सरदारों के परस्पर ईर्ष्याद्वेष और कलह से शक्तिशाली सिक्ख राज्य का शीघ्र ही पतन हो गया।

बंगाल के कुलीन विवाह—प्राचीन काल के ब्राह्मणों में बहुविवाह की प्रवृत्ति हम पहले देख चुके हैं। मध्यकाल में भी ब्राह्मणों तथा विशेष रूप से बंगाल के ब्राह्मणों में एक विचित्र प्रकार की बहुभार्यता प्रचलित हुई। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रवृत्ति सारे हिन्दू समाज में प्रचलित थी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम की दो पत्नियाँ थीं, इससे उनका गृहस्थ जीवन बहुत दुःखमय हो गया था। किन्तु बहुभार्यता का चरम विकास हमें बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में मिलता है। बंगाल में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि जब वहाँ के ब्राह्मणों ने शास्त्रीय ज्ञान को विस्मृत कर दिया तथा उनका आचार भी प्राचीन मर्यादा के अनुकूल न रहा, उस समय बंगाल के राजा आदिशूर ने कन्नौज से पाँच ब्राह्मण मंगाये। यह बात आठवीं शती के प्रारम्भ की है। किन्तु ६वीं शती के अन्त में, बल्लाल-सेन के समय में, ब्राह्मणों का उपजाति भेद अधिक संगठित एवं दृढ़ हुआ। कुलीन ब्राह्मणों के भौगोलिक दृष्टि से दो मुख्य भेद किये गये—वीरेन्द्रभूम के कुलीन वीरेन्द्र कहलाए और बर्दवान तथा दूसरे स्थानों के कुलीन राढ़ीय के नाम से प्रसिद्ध हुए। बहुभार्यता का प्रचलन राढ़ीय कुलीनों में ही विशेष रूप से हुआ। इनके दो मुख्य भेद हैं—(१) कुलीन (२) श्रोत्रिय। बाद में इनमें वंशज नामक एक नये तीसरे वर्ग की भी वृद्धि हुई। श्रोत्रिय ये कुलीन थे जिनमें कुलीन ब्राह्मणोचित नौ गुणों (ब्राह्मण के कर्तव्यों का पालन, नम्रता, विद्वता, सदाचरण, तीर्थदर्शन की अभिलाषा, भक्ति, समान वर्ग के साथ विवाह के नियम का संरक्षण, कष्टसहन एवं उदारता) में से आठ गुण हों।

२६ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—राजपूताने का इतिहास खण्ड १, पृ० १०६०-६१
२७ मध्ययुगीन चरित्र कोष, पृ० ७७६

भंगराज का उद्गम अनिश्चित है। प्रथम श्रेणी के कुलीन प्रायः दो विवाह करते हैं, किन्तु भंग कुलीनों में यथेच्छ विवाहों की परिपाटी प्रचलित है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इनमें विवाहों की संख्या १५, २०, ४०, ५० और ८० तक है और यह बताया है कि कुलीन ब्राह्मणों के लिए यह बड़ी साधारण सी बात थी। श्री बंकिम चन्द्र ने "देवीचौध रानी" में एक ब्राह्मण पात्र के मुख से कहलवाया है कि मेरे लिए विवाह क्या वस्तु है, जैसे घर में एक गौ बांध ली, वैसे एक अन्य विवाह कर लिया जाता है। ब्राह्मणों के लिए ये गौएँ बड़ी दुधारु होती थी, इसके अतिरिक्त उन्हें अपने घर में बांधने, चारा खिलाने और सेवा करने का भी कोई झंझट नहीं था, इसलिए बंगाल में कुलीन ब्राह्मण ऐसी गौएँ खूब बाँधते थे।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बर्दवान, बांकुड़ा, वीरभूम, हुगली, मेदिनीपुर, चौबीस परगना, कलकत्ता, नदिया, यशोहर, बारीसाल, फरीदपुर, ढाका आदि बंगाल के प्रायः सभी जिलों के २७६ गांवों के बहुविवाह करने वाले व्यक्तियों की जो सूची तैयार की थी, उससे उपर्युक्त सरकारी कमेटी की रिपोर्ट के उक्त आंकड़ों की पुष्टि होती है। २७६ गांवों के १०१३ कुलीनों ने ४३२३ कुलीन कन्याओं के साथ विवाह किया था। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में औसतन ४½ स्त्रियां पड़ीं। किन्तु इनमें १०, १२, १५, २०, २५, ३०, ३५, ४०, ५० विवाह करने वालों की भी कमी नहीं है। ६०, ६५, ६७ विवाह करने वाले महापुरुष भी हैं। २० और २२ वर्ष की अवस्था के दो व्यक्तियों ने आठ, २५ वर्ष की आयु वाले एक व्यक्ति ने सात, २७ वर्ष की अवस्था वाले ने १२ और ३४ वर्ष की अवस्था वाले एक पुरुष ने ३५ स्त्रियों को सनाथ बनाया था। श्री ईश्वरचन्द्र ने हुगली जिले के ८६ गांवों की जो सूची तैयार की थी, उससे ज्ञात होता है कि इन गांवों के १६७ कुलीन ब्राह्मणों ने १२८८ स्त्रियों से विवाह किया। इनमें १८ वर्ष का एक ब्राह्मण ११ स्त्रियों के सौभाग्य (या दुर्भाग्य) का कारण बन चुका था, एक दूसरे सज्जन २० वर्ष की अवस्था में १६ स्त्रियों के साथ पाणिग्रहण कर चुके थे। ढाका, बारीसाल और फरीदपुर जिलों के १७७ गांवों की सूची से स्पष्ट है कि ६५२ व्यक्ति ३५८८ विवाह कर चुके थे। इस प्रकार इनमें से हर एक के हिस्से में ५½ स्त्रियों की औसत बैठती है। इनमें कौलीन्य मर्यादा की सबसे अधिक रक्षा करके बंगाल के सामाजिक इतिहास में अक्षय कीर्ति प्राप्त करने वाले श्रीयुत ईश्वरचन्द्र मुखोपाध्याय हैं। ये बारीसाल जिले के कलसकाटी ग्राम में रहते थे। उपर्युक्त सूची बनने के समय इनकी अवस्था ५५ वर्ष की थी और इस समय तक ये १०७ विवाह कर चुके थे। पता नहीं सूची बनने के बाद जीवन की अन्तिम घड़ी तक अन्य कितनी स्त्रियों को उन्होंने सनाथ किया होगा।[२६]

२८ १८५६ की बहुविवाह विषयक सरकारी कमेटी की रिपोर्ट।

२६ चण्डीचरण बन्द्योपाध्याय प्रणीत विद्यासागर का जीवन चरित्र, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०६।

इस प्रथा के मूल में यह हेतु था कि कन्या का विवाह हीन कुल में न हो, किन्तु ब्राह्मणों ने इसे आजीविका के एक साधन के रूप में अपनाया। वे पाश्चात्य विचारक जो भारतीय प्रथाओं का बहुत ही उथला अध्ययन करते हैं, भले ही इस प्रथा को जाति की उन्नति का साधन समझें[३*] किन्तु बंगाल में इसका मुख्य प्रेरक हेतु आर्थिक ही रहा है। ये विवाह दहेज प्राप्त करने के लिए होते थे। पति दहेज लेने के बाद अपनी पत्नियों के बारे में कभी कुछ पूछताछ या उनके भरण-पोषण की चिन्ता नहीं करते थे। वैवाहिक कर्तव्यों के पालन का उन्हें रंच मात्र भी ध्यान न था। प्रत्येक विवाह पर ब्राह्मण को पर्याप्त दहेज मिलता था और प्रति वर्ष श्वसुरालय जाने पर खूब सत्कार एवं पुष्कल धन राशि उपलब्ध होती थी, उसका सारा जीवन अपने विभिन्न श्वसुरालयों का चक्कर काटते हुए बीतता था, वहाँ से प्राप्त धन के साथ उसका जीवन आराम से कटता था। अफ्रीका का एक जुलु इस उद्देश्य से बहुपत्नीविवाह करता था कि पत्नियाँ उसके घर पर काम करके उसकी सम्पत्ति बढ़ायेंगी। लगभग इसी उद्देश्य से बंगाल के कुलीन ब्राह्मण

३* रार्बर्ट ब्रिफाल्ट पश्चिमीजगत् में समाज शास्त्र के एक प्रमुख विचारक हैं उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "सैक्स इन रिलीजन" में सम्भवतः कुलीन ब्राह्मणों की प्रथा को लक्ष्य करते हुए यह लिखा है भारत वर्ष के अनेक भागों में ब्राह्मण अच्छी तरह पाले हुए घोड़ों (Wellbred Stallions) का काम करते हैं। उनका यह कर्तव्य होता है कि वे जाति को उन्नत करें तथा निम्न जाति की कुमारियों के साथ संभोग करें। ये प्रतिष्ठित पुरुष शहर और देहात का चक्कर काटते हैं तथा लोग उन्हें धन तथा अन्य वस्तुओं की भेंट करते हैं। उनके पांव धोते हैं और मैले पानी में से थोड़े अंश को पीते हैं तथा शेष जल सुरक्षित रखते हैं। उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों के सहभोज के बाद वह पुष्पाच्छादित वैवाहिक पर्यंक के पास लाया जाता है जहां कुमारी उसकी प्रतीक्षा कर रही होती है। बर्नार्ड शा ने कुलीन ब्राह्मणों के इस प्रकार के विवाह का प्रबल समर्थन किया है, वह इसे जाति को उन्नत करने का एक उत्तम उपाय समझता है। उसकी सम्मति में अंग्रेजों के एकविवाह (Monogamy) की पद्धति बड़ी घातक है क्योंकि इसमें योग्य बलिष्ठ, सुन्दर एवं स्वस्थ पुरुष को एक स्त्री के साथ बांध कर उसकी योग्य बलिष्ठ और स्वस्थ संतानें पैदा करने की शक्ति पर एक अनुचित प्रतिबंध लगा दिया जाता है और हजारों स्वस्थ स्त्रियों को निकम्मे दर्जे के पतियों के साथ राष्ट्र के लिए निकम्मी सन्तान पैदा करने दी जाती है, यह राष्ट्र एवं समाज के लिए बड़ी हानिप्रद प्रथा है। देखिये २ अक्टूबर, १९०७ के लन्दन के टाइम्स में बर्नार्ड शा का पत्र। यह पत्र रिजली की पुस्तक पीपल आफ इण्डिया, पृ० ४२७-२९ पर अविकल रूप में उद्धृत है।

बहुविवाह करते थे, किन्तु वे न तो उन्हें घर लाते थे और न उनसे काम करवाते थे। पत्नियाँ अपने पितृगृहों में रहती थी और पतिदेव साल में एक बार उनके घरों का चक्कर काट काट कर अपने लिए पर्याप्त धन उपार्जित कर लेते थे। उन्हें तो अपनी बहुत-सी पत्नियों के नाम भी याद नहीं रहते थे, इन्हें स्मरण रखने के लिए वे नोट बुकों का प्रयोग करते थे। बाबू अक्षयचन्द्र दास ने गत शताब्दी के मध्य में एक सभा में बहुविवाह का चित्र खींचते हुए यह कहा था कि "मैं दो कुलीन ब्राह्मणों को जानता हूँ, एक ने ६० के लगभग स्त्रियों का पाणिग्रहण किया है और दूसरे ने १०० से ऊपर स्त्रियों के साथ विवाह किया है। दोनों के पास बहियाँ हैं, उनमें उन्होंने उन गांवों के नाम लिख रखे हैं, जहाँ उनके विवाह हुए हैं। बहियों में श्वसुरों के नाम भी दर्ज हैं। सर्दियों के प्रारम्भ में प्रत्येक ब्राह्मण अपने श्वसुरालयों की वैवाहिक (Nuptial) यात्रा अपनी बही को देख कर करता है, प्रत्येक श्वसुर से उसकी आर्थिक स्थिति के अनुसार रुपया इकट्ठा करके गर्मियों के प्रारम्भ में वह अपने घर लौट जाता है और साल का शेष भाग अपने गांव में बिताता है। बहुधा ऐसा होता है कि पिता और पुत्र, पति और पत्नी एक दूसरे से बिल्कुल अजनबी की तरह मिलते हैं और जब उनको पारस्परिक संबंधों का ज्ञान होता है तो वे बहुत अधिक शरमा जाते हैं। मैंने एक ऐसे कुलीन का नाम सुना है जो अशुद्ध नाम ज्ञात होने के कारण एक दूसरे श्वसुरालय में पहुँच गया। श्वसुरालय में इस जंवाई की खूब आवभगत हुई। वह कुछ दिन रह कर आदर सत्कार और धन के साथ विदा हो गया। इसके कुछ दिन बाद जब असली जंवाई पहुँचा तो श्वसुर को अपनी गलती पता लगी, बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ।"[31] पिछली शताब्दी में सरकार के पास कुलीनों के बहुविवाह के विरुद्ध जो आवेदन-पत्र भेजे गये, उनमें निरन्तर इस बात पर बल दिया गया है कि ये विवाह धन के लोभ से होते हैं और इस प्रथा को अविलम्ब कानून द्वारा बन्द कर देना चाहिए।

कुलीन विवाह की हानियां—इस बहुविवाह के कारण कुलीन ब्राह्मणों का जीवन भले ही सुखमय हो जाता हो, किन्तु हजारों स्त्रियों का जीवन बरबाद हो जाता था। बालिकाएं वृद्ध, असमर्थ, जीविकाहीन और दुश्चरित्र व्यक्तियों के साथ विवाह के बन्धन में बंध कर जन्म भर क्लेश सहती हुई पिता के घर पर रहती थीं। उन्हें केवल पति का नाम सुन लेने का सौभाग्य प्राप्त होता था, क्योंकि पति उनके साथ कोई संबंध नहीं रखते थे और उनकी कोई खबर नहीं लेते थे, किन्तु इस प्रकार लोगों के मुख से सुने हुए सर्वथा अपरिचित स्वामी के मरने पर इन स्त्रियों को कानून और समाज की रूढ़ि के भय से वैधव्य-जीवन के सब कष्ट भोगने पड़ने को लाचार होना पड़ता था।[32] यह प्रथा

[31] रिजली—पीपल आफ इंडिया, पृ० १६६-६७ पर उद्धृत।

[32] २२ जुलाई १८५६ को भारत सरकार को भेजे गये बहुविवाहविरोधी आवेदन

की, समाज की और लोकाचार की कितनी बड़ी विडम्बना थी कि कुल की प्रतिष्ठा के विचार से अबोध बालिकाओं का विवाह किसी अधेड़ व्यक्ति से कर दिया जाय, वे बालिकाएँ आजीवन पतिदेव के साथ दाम्पत्य सुख से वंचित रहें, किन्तु उसके मरने पर वैधव्य जीवन की दारुण यातना सहें। वैसे तो पति के जीवनकाल में ही इन स्त्रियों को कुछ सुख नहीं था, किन्तु पति के मरने पर वैधव्य का भीषण दुःख जबरदस्ती सहना पड़ता था। इन स्त्रियों के दुःख का वर्णन श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इन शब्दों में किया है—

"एक बार जब मैं लखनऊ में था, वाजिद अली शाह का कैसरबाग देखने गया। मैंने चारों ओर दो मंजिले मकानों का सिलसिला देखकर अपने साथियों से पूछा कि इतने सुगठित सुन्दर मकान एक ही सिलसिले में क्यों बने हैं? उत्तर मिला—"इनमें बादशाह की बेगमें रहती थीं"। बादशाह की सैकड़ों बेगमों की बात सुनकर उस नयी जवानी में जो विषाद मुझे हुआ था, वह मुझे आज तक नहीं भूला। किन्तु अधेड़ अवस्था में इस निन्दनीय कर्म (बहुविवाह) का होना देखना पड़ता है।'' ''नवाबी मामले जुदा होते हैं, उनके सुख भोग के अनुकूल उनका ऐश्वर्य और सम्पत्ति भी होती थी। फिर उनकी बेगमें जो चाहें कर सकती थीं, मनमाना खा-पी-पहन सकती थीं, किन्तु जिनको पग-पग पर पराया मुख ताकना पड़ता हो, ऐसी स्त्रियों को ब्याह कर जो लोग धर्म-कर्म या सुख भोग की लालसा से किसी दिन भूल कर भी उस स्त्री के घर जाने वाले नहीं, उनको क्या अधिकार है कि वे सुकोमल बालिकाओं के सुख सपनों को मिटाकर उन्हें दारुण मानसिक ताप और यन्त्रणा के अग्नि कुण्ड में डालकर जन्म भर जलावें।"[33]

ऐसी स्त्रियों के लिए पति के घर में कोई स्थान नहीं था और जब पिता के घर में भी उनके लिए स्थान न रहे तो उनके सामने दो ही विकल्प थे—या तो वे भिक्षा वृत्ति करें या वेश्या वृत्ति करें। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इसके कई उदाहरण दिये हैं। बहुविवाह संबंधी सरकारी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस प्रथा के कारण समाज में फैलनेवाली ग्यारह बुराइयों का उल्लेख किया है, जिनमें वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, गर्भपात, भ्रूणहत्या तथा शिशुहत्या मुख्य हैं। बंगाल में गत शताब्दी के मध्य में इस प्रथा को हटाने के लिए तीव्र आन्दोलन हुआ। सरकार को अनेक आवेदन-पत्र भेजे गये। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इस आन्दोलन के मुख्य नेता थे। महाराजा बर्दवान तथा २१००० हिन्दुओं के हस्ताक्षरों के साथ सरकार के पास यह प्रार्थना-पत्र भेजा गया कि एक कानून द्वारा बहुविवाह की हानियों को रोका जाय। उस समय बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर तो इस प्रथा को मर्यादित करना आवश्यक समझते थे।[34] किन्तु गवर्नर जनरल की यह सम्मति

पत्र का एक अंश।

33 चण्डीचरणसेन—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पृ० ३१०।

34 कहा जाता है कि बहुविवाहविरोधी शिष्ट मण्डल जब गवर्नर से मिला तो उन्होंने

थी कि हिन्दू अभी इस सुधार के लिए तैयार नहीं है और उनमें बहुविवाह के निषेध के नियम का प्रचलन सम्भव नहीं है। १८६६ में एक सरकारी कमेटी बहुविवाह के विषय पर विचार करने के लिए बिठायी गयी। उसको यह आदेश दिया गया था कि वह दो मर्यादाओं में रहते हुए उक्त बुराई को दूर करने के उपाय सुझाये पहली मर्यादा यह थी कि हिन्दुओं को एक से अधिक स्त्रियाँ लेने की जो सामान्य स्वतन्त्रता प्राप्त है, उस स्वतन्त्रता को किसी प्रकार सीमाबद्ध किया जाय तथा दूसरी यह थी कि बहुविवाह की पद्धति को अंग्रेजी कानून के द्वारा स्पष्ट स्वीकृति न दी जाय। कमेटी को इन मर्यादाओं के अन्दर रहते हुए बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में प्रचलित विवाह की बुराई को कम करने के उपाय सुझाने थे। इस कमेटी के सात सदस्य थे, इनमें दो अंग्रेज तथा पाँच हिन्दू थे। कमेटी ने बंगाल में बहुविवाह के विकास, विस्तार एवं हानियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराके, बहुमत से अपनी यह सम्मति दी कि एक से अधिक स्त्रियाँ रखने की सामान्य स्वतन्त्रता को सीमित किये बिना व्यवस्थापिका सभा द्वारा कोई कानून नहीं बनाया जा सकता है। इस समिति के सदस्य श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने अपनी मतभेद सूचक सम्मति में यह लिखा था कि इस विषय में आवश्यक कानून अविलम्ब बन जाना चाहिए। किन्तु अन्य सदस्यों सर्वश्री रमानाथ ठाकुर, जयकृष्ण मुकर्जी, दिगम्बर मित्र ने कहा कि शिक्षा से तथा विरोधी लोकमत के प्रभाव से यह कुप्रथा अपने आप दूर हो जायगी, अतः राज्य का इस विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन लोगों की यह आशा पूर्ण हुई और बंगाल में यह प्रथा अब बहुत कम हो गयी है।

बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में वर्तमान समय में हिन्दुओं के धनी वर्ग में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी और हिन्दू पुरुषों को कानूनी दृष्टि से बहुविवाह करने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु १९५५ के हिन्दू विवाह कानून द्वारा हिन्दू समाज में पहली पत्नी या पति के जीवित होते हुए दूसरा विवाह करना दण्डनीय अपराध बना दिया गया है और हिन्दू समाज में अब बहुविवाह की प्रथा का अन्त हो गया है।[३९]

कहा—यदि १८५७ का गदर न होता तो ग्रान्ट साहब ही बहुविवाह को रोकने का कानून बना जाते।

३९ वर्तमान हिन्दू समाज में कुछ मनोरंजक बहुविवाहों तथा इनके प्रेरक कारणों की विवेचना के लिए देखिये—इरावती कर्वे—हिन्दू सोसायटी एन इण्टरप्रेटेशन दक्खन कालेज, पूना, १९६१, पृ० १६८-७१।

अध्याय १४

बहुभर्तृता

बहु विवाह (Polygamy) का एक महत्त्वपूर्ण रूप यह है कि एक स्त्री के अनेक पति हों।[१] इसे बहुभर्तृता (Polyandry), अनेकपतित्व या बहुपतित्व की प्रथा भी कहते हैं। इसके कुछ थोड़े से ही उदाहरण प्राचीन एवं अर्वाचीन हिन्दू समाज में उपलब्ध होते हैं। मानव समाज में इस प्रथा का प्रचलन बहुभार्यता की अपेक्षा बहुत कम है। सबसे अधिक प्रचलन एक-विवाह (Monogamy) की प्रथा का है और सबसे कम बहुभर्तृता का। हिन्दू समाज में भी यही स्थिति है। भारत में इसके बहुत कम उदाहरण पाये जाते हैं।

वैदिक युग

इस समय बहुभर्तृता की प्रथा के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं, किन्तु उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के समाज में इस प्रथा का प्रचलन रहा होगा। ऋ० (१०।८५।३८) तथा अथर्व० (१४।२।१) में यह कहा गया है— "हे अग्नि, प्रजा के साथ तुम (एक) पत्नी को बहुत से पतियों के लिए देने वाले हो।" इसी तरह अथर्व० (१४।२।२०) में एक पत्नी में कई पतियों को बीज वपन का आदेश दिया गया है, किन्तु इन स्थलों से हम किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। वेद में बहुवचन के लिए एकवचन और एकवचन के लिए बहुवचन का बहुत प्रयोग होता है। पाणिनि के व्याकरण में वैदिक वाक्यरचना के इस नियम को स्वीकार किया गया है और इसकी विस्तार से व्याख्या की गयी है। इसके अतिरिक्त इस प्रथा का समर्थन करने वाला और कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सका। इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण

[१] इस विषय का नवीनतम सर्वोत्तम अध्ययन ग्रीस तथा डेन्मार्क के प्रिन्स पीटर के ए स्टडी आफ पोलिएण्ड्री (A study of Polyandry, Moulton & Co. Hague 1963) में है। इसमें लेखक ने लंका, तिब्बत, केरल तथा नीलगिरि में बहुभर्तृता की प्रथा रखने वाली जातियों के निवास स्थानों में जाकर वहाँ वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करके इस प्रथा के स्वरूप तथा इसे उत्पन्न करने वाले कारणों की सुन्दर मीमांसा की है।

(१२।११) बड़े स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करता है कि एक पुरुष बहुत सी स्त्रियों को प्राप्त करता है, अतः एक व्यक्ति की बहुत सी पत्नियाँ होती हैं, किन्तु एक पत्नी के बहुत से पति एक साथ नहीं होते।[१] तै० सं० ६।६।४।३ बहुभर्तृता का एक विचित्र ढंग से विरोध करता है, उसके शब्दों में "वह एक यज्ञस्तम्भ (यूप) को दो रशनाओं (रस्सियों) से घेरता है, अतः एक पुरुष दो स्त्रियों को प्राप्त करता है, किन्तु वह एक रशना से दो यूपों को नहीं घेरता है, अतः एक स्त्री दो पतियों को नहीं प्राप्त करती।" बहुभर्तृता का इससे अधिक स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है।

महाभारत में द्रौपदी का उदाहरण

प्राचीन भारत में बहुभर्तृता का सबसे अधिक प्रसिद्ध उदाहरण द्रौपदी का है। किन्तु महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसके रचयिता को यह बात मान्य नहीं थी कि पाँच पांडव एक द्रौपदी के पति हों। उस समय सभी लोगों ने इसे लोकाचार एवं वेद के विरुद्ध तथा अधर्म एवं पाप समझा था। महाभारत के प्रमुख पात्रों के चरित्र पर यह एक बड़ा कलंक और धब्बा समझा गया, अतः इसमें अनेक युक्तियों से द्रौपदी को पाँचों भाइयों की पत्नी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और यह इस कल्पना की पुष्टि करता है कि उस समय बहुभर्तृता की प्रथा बहुत बुरी समझी जाती थी। इस विषय में महाभारत का वर्णन निम्नलिखित है—

पांडव जब द्रौपदी को लेकर अपनी कुटिया में पहुँचे तो उस समय उनकी माता कुन्ती कुटिया के भीतर थी (महाभारत १।१९३)। भीम और अर्जुन ने कुन्ती से कहा—"माँ, आज एक अच्छी भिक्षा मिली है।" कुन्ती ने द्रौपदी को न देखते हुए स्वाभाविक रीति से कहा—"तुम सब मिलकर इसका उपभोग करो।"[२] बाद में जब कुन्ती ने द्रौपदी को देखा तो वह बोली—"हाय, मैंने यह क्या कह डाला (१।१९३।२)। इसके बाद वह अधर्म के कारण डरती हुई तथा सोचती हुई याज्ञसेनी द्रौपदी का हाथ पकड़कर युधिष्ठिर के पास आकर बोली—"बेटा तुम्हारे दो भाइयों ने जब राजा द्रुपद से उस पुत्री को लाकर भिक्षा के रूप में मुझे बतलाया, तब मैंने असावधानतावश उस काल के योग्य यह बात कह डाली कि तुम सब मिलकर इसका उपभोग करो। हे कुरुवंश श्रेष्ठ,

[१] ऐत० ब्रा० १२।११ तस्मादेकस्य बह्वीर्जाया विन्दते, तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्या बहवः सहपतयः।

[२] महाभा० १।१९५।२७-२९ एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन। नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥ लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मवित्शुचिः। कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी॥ सभापर्व (६८।३५) में कर्ण ने द्रौपदी को वेश्या (बन्धकी) माना है क्योंकि उसे कई पुरुष पति के रूप में प्राप्त थे।

अब तुम ऐसी बात करो कि मेरा कहा झूठा न हो, द्रौपदी को अधर्म न स्पर्श करे और इस से कोई विभ्रम या भ्रान्ति न हो।" युधिष्ठिर ने अर्जुन से यह कहा कि "तुमने इसे स्वयंवर में जीता है, तुम इससे विधिपूर्वक विवाह कर लो।" अर्जुन ने ऐसा करने से इन्कार किया, क्योंकि युधिष्ठिर और भीम के अविवाहित रहते हुए उनके छोटे भाई अर्जुन का विवाह विधिपूर्वक नहीं हो सकता था। अर्जुन ने यह भी कहा कि "भीमसेन, नकुल, सहदेव, यह कन्या और मैं आपकी आज्ञानुकूल कार्य करेंगे, जो कुछ धर्म हो और जिसमें द्रुपद का कल्याण हो उस पर विचार करके आप हमें आज्ञा दें, हम आपकी आज्ञा का पूरा पालन करेंगे।" अर्जुन की वाणी सुनने के बाद पाण्डवों ने द्रौपदी की ओर दृष्टि डाली। द्रौपदी को देखकर पांडवों में उसके प्रति प्रबल कामभाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि विधाता ने स्वयं द्रौपदी के रूप को अन्य स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर बनाया था। युधिष्ठिर भाइयों की मुख-मुद्रा और आकार देखकर उनके दिल के भाव को समझ गया। उसे व्यास की बात याद आ गयी और डर लगा कि कहीं इस प्रश्न को लेकर भाइयों में आपस में फूट न पड़ जाये। अतः युधिष्ठिर ने कहा—"कल्याणी द्रौपदी हम सबकी पत्नी होगी" (१।१९२।१६)। द्रौपदी को पाँचों पाण्डवों से ब्याहने का असली कारण तो यह था कि वे पाँचों उसके रूप पर इतने अधिक मुग्ध थे कि उनमें से यदि वह किसी एक को दी जाती तो पांडव उसके लिए आपस में उसी तरह लड़ मरने को तैयार हो जाते जैसे सुन्द और उपसुन्द तिलोत्तमा के लिए लड़ मरे थे। युधिष्ठिर ने इससे बचने का यह मार्ग ढूंढ़ा कि वह पाँचों की स्त्री हो, लेकिन इसे न तो कुन्ती ने पसन्द किया और न ही द्रुपद ने उचित समझा। युधिष्ठिर ने धर्म की सूक्ष्म गति के नाम पर इसे जबर्दस्ती पुराने कल्पित उदाहरणों से न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

एक दिन राजा द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा—"आज शुभ दिन है, महाबाहु अर्जुन द्रौपदी का विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें।" इस पर युधिष्ठिर ने कहा—"हे राजन् विवाह तो मुझे भी करना होगा" (१।१९८।२१)। द्रुपद ने कहा—"तुम्हीं विधिपूर्वक मेरी कन्या का पाणिग्रहण करो अथवा तुम जिसके साथ कृष्णा को ब्याहना चाहते हो उसे बताओ।" युधिष्ठिर ने कहा—"हे राजन्, द्रौपदी हम सबकी पत्नी होगी, क्योंकि मेरी माता ने पहले ऐसी आज्ञा दी है। मेरा और भीमसेन का विवाह नहीं हुआ है। यद्यपि अर्जुन ने तुम्हारी रत्नस्वरूप कन्या को जीत लिया है तथापि हे राजन्! हम भाइयों में एक नियम है कि रत्न पाकर हम सब उसका इकट्ठा भोग करते हैं। हम इस नियम को तोड़ना नहीं चाहते, अतः धर्मपूर्वक द्रौपदी हम सबकी पत्नी होगी। वह अग्नि के सम्मुख हम सबका पाणिग्रहण करे" (१।१९८।२३-२६)। द्रुपद ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा—"हे कुरुनन्दन, शास्त्र की विधि के अनुसार एक पुरुष की बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं, किन्तु एक स्त्री के बहुत से पति वेद-शास्त्रों द्वारा विहित नहीं है या कभी नहीं सुने गये। हे कौन्तेय, तुम धर्मवेत्ता होकर भी लोक एवं वेद दोनों के विरुद्ध यह अधर्म

क्यों करना चाहते हो ? तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों है।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"धर्म का रहस्य बहुत सूक्ष्म है। हम उसकी गति नहीं जानते। हम प्राचीन बुद्धिमान लोगों का अनुसरण कर रहे हैं, मेरी वाणी कभी झूठ नहीं कहती, मेरा मन अधर्म में नहीं लगा हुआ है। मेरी माता ऐसा कहती है और मेरे मन में भी यही बात है। राजन् यही निश्चित धर्म है। इसका बिना सोचे विचारे आचरण करो। हे राजन् तुम्हें इसमें किसी प्रकार की कोई शंका नहीं होनी चाहिए।" किन्तु द्रुपद युधिष्ठिर के द्वारा निश्चित धर्म को अधर्म मानता है और इस विषय पर विचार करने के लिए द्रुपद, कुन्ती, युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न की एक परिषद् बैठती है। इसी समय वहाँ महर्षि कृष्ण द्वैपायन आ जाते हैं।

कृष्ण द्वैपायन के आगे द्रुपद फिर यह निवेदन करते हैं कि "बहुभर्तृता लोक तथा वेद विरुद्ध होने से अधर्म है, मैं इस काम को करने का साहस नहीं कर सकता।" युधिष्ठिर अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए कुछ पुराने दृष्टान्त उपस्थित करता है। जटिला गौतमी के साथ सात ऋषियों ने विवाह किया था। पूर्वकाल में प्रचेता नाम के दस भाइयों ने वार्क्षी (वृक्ष से संबन्ध रखने वाली) कन्या से शादी की थी। साथ ही धर्मगुरु मानी जाने वाली माता का वचन भी हमारे लिए प्रमाण है। इसलिए मैं इसी कर्म को परम धर्म समझता हूँ।"

इसके बाद इस प्रश्न पर व्यास अपना यह फैसला देते हुए कहते हैं कि युधिष्ठिर ने जो कहा है वही धर्मयुक्त है, इसमें कोई शंका नहीं है। जिस प्रकार यह सनातन धर्म हुआ है, वह मैं सबके सामने नहीं कहूँगा। व्यास द्रुपद का हाथ पकड़ कर उन्हें अन्दर ले गये और वहां उन्हें द्रौपदी और पांडवों के पूर्व जन्म की एक विचित्र कथा सुनायी और द्रुपद को दिव्यदृष्टि देकर अपने कथन का विश्वास कराया। बाद में यह कहा कि एक तपोवन में किसी ऋषि की एक कन्या ने रूपवती और गुणवती होने पर भी पति नहीं प्राप्त किया। पति पाने के लिए उसने कठोर तपस्या की। अन्त में शिवजी ने प्रसन्न होकर उस कन्या से कहा—"वर माँगो।" कन्या उनकी यह बात सुनकर घबरा कर जल्दी जल्दी कई बार बोली—"मैं सब गुणों से युक्त पति माँगती हूँ।" शिवजी ने कहा—"तुमने जल्दी-जल्दी में मुझसे पाँच बार याचना की है अतः अगले जन्म में तुम्हारे पाँच पति होंगे।" वह इस जन्म मे द्रौपदी हुई और पाँच पांडव इसके पाँच पति हैं। भगवान शंकर के वरदान को द्रुपद कैसे टाल सकते थे, अतः उन्होंने पाँचों पांडवों से द्रौपदी की शादी कर दी।

द्रौपदी की बहुभर्तृता के कारण

महाभारत के उपर्युक्त वर्णन में द्रौपदी के पाँच पति होने के पाँच हेतु दिये गये हैं—
(१) कुन्ती ने पाँचों पांडवों को द्रौपदी रूपी भिक्षा का सम्मिलित रूप से भोग करने के

लिए आदेश दिया था।[४] (२) छोटे भाई अर्जुन के विवाह से पहले बड़े भाई युधिष्ठिर और भीम का विवाह होना चाहिए था। (३) पाँचों पाण्डवों के दिल में द्रौपदी का रूप घर कर चुका था, किसी एक को द्रौपदी के दिये जाने से भ्रातृयुद्ध का भय था। (४) प्राचीनकाल में वार्क्षी और जटिला गौतमी ने अनेक पतियों से शादी की थी। (५) द्रौपदी को पिछले जन्म में शंकर द्वारा यह वर मिला था कि वह अगले जन्म में पाँच पतियों की पत्नी होगी। इनमें से पहले कारण पर तो विचार करना ही व्यर्थ है। कुन्ती ने बिना देखे भिक्षा के बारे में एक सामान्य बात कह दी थी। बाद में उसे स्वयं इस बात का दुःख हुआ, वह इसे अनुचित भी समझती थी, अतः इस कारण का कोई महत्त्व नहीं है। दूसरा कारण भी ठीक नहीं है। युधिष्ठिर का विवाह होने से पहले उसका छोटा भाई भीम हिडिम्बा से विवाह कर चुका था। यदि भीम युधिष्ठिर से पहले विवाह कर सकता था तो अर्जुन द्वारा विवाह करने में क्या दोष था? यदि इस नियम का पालन ही करना था तो अर्जुन के विवाह को थोड़े समय के लिए टाला जा सकता था। उससे पहले युधिष्ठिर और भीम के विवाह कर दिये जाते और बाद में अर्जुन का विवाह हो जाता। चौथे कारण में जो पुराने उदाहरण दिये गये हैं उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि महाभारतकार इस कला में बहुत निपुण है। वह जब भी किसी बात का समर्थन करने लगता है तो इस प्रकार के दृष्टान्त देता है। जान पड़ता है द्रुपद को इन चारों कारणों से सन्तोष नहीं हुआ। तब अन्त में पूर्वजन्म के वरदान वाली घटना की क्लिष्ट कल्पना की गयी। यदि चौथा कारण ठीक था, पुराने जमाने में वास्तव में ऐसे विवाह होते थे तो द्रौपदी का विवाह हो जाना चाहिए था। इसके बाद द्रौपदी के पूर्व जन्म की घटना का सुनाना इस बात को सूचित करता है कि व्यास इस प्रथा के औचित्य को पहले चार कारणों से द्रुपद के चित्त पर भली-भाँति अंकित नहीं कर पाये थे। द्रुपद अपनी कन्या द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ इसलिए नहीं करते कि यह कोई पुराना नियम है, किन्तु इसलिए करते हैं कि शंकर उसे पिछले जन्म में यह वर दे चुके हैं और शंकर के वरदान को टाला नहीं जा सकता। द्रुपद ने कहा है—"जब भगवान शंकर ने ऐसा विधान किया है और इन्हीं के लिए कृष्णा बनायी गयी है, तब यह चाहे धर्म हो या अधर्म, मुझ को कोई दोष नहीं लग सकता, ये लोग सुख से कृष्णा के साथ विधिपूर्वक विवाह करें"।

कहा जाता है कि पाण्डव हिमालय प्रदेश में रहने वाली जिस जाति से सम्बन्ध रखते थे, उस जाति में यह प्रथा प्रचलित थी। उस प्रथा के अनुसार ही पाण्डवों ने यह विवाह किया था। किन्तु वर्तमान महाभारत से इस कल्पना की पुष्टि नहीं की जा सकती। यदि वास्तव में पाण्डवों में यह जातीय प्रथा थी तो कुन्ती को द्रौपदी देख लेने पर यह दुःख क्यों

४ महाभा० १।२०६।२ कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रान्प्रोवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे। पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच

हुआ कि मैंने यह क्या कह डाला। धर्मराज युधिष्ठिर अपनी माता के वचन की रक्षा पर बहुत बल देता है, किन्तु वह उसे इस आधार पर कभी उचित नहीं ठहराता कि कुल-धर्म होने से माता का वचन मान्य है। वह स्वयं यह कहीं नहीं कहता है कि यह हमारा कुल धर्म है। राजा शल्य कन्याशुल्क को बुरा समझता हुआ भी भीष्म से माद्री के लिए कुलधर्म के नाम पर शुल्क की माँग करता है। बहुभर्तृता की प्रथा बुरी होने पर भी युधिष्ठिर यह कह सकता था कि यह उसका कुलधर्म है; किन्तु उसने ऐसा नहीं कहा। अतः वर्तमान महाभारत के पढ़ने से भी इस बहुविवाह का यही कारण समझ आता है कि भाइयों में परस्पर संघर्ष को दूर करने की दृष्टि से ही द्रौपदी सबकी पत्नी मानी गयी और बाद में इसे पुराने आख्यानों तथा कहानियों से न्यायोचित सिद्ध किया गया।[५]

द्रौपदी पाँच पांडवों की पत्नी हुई। नारद के परामर्श से पांडव समय नियत करके वर्ष में ७२–७२ दिन द्रौपदी का उपभोग करने लगे।[६] उद्योग पर्व के अध्याय १४० में श्रीकृष्ण कर्ण को पांडवों के पक्ष में लाने के लिए जहाँ उसे अन्य बहुत से प्रलोभन देते हैं वहाँ यह भी कहते हैं कि तू यदि पांडवों का पक्ष ग्रहण करेगा तो पांडव तुझे सबसे बड़ा भाई मानेंगे और वर्ष के छठे हिस्से में द्रौपदी भी मिलेगी।

बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य में बहुभर्तृता का एक ही स्थल पर उल्लेख है और वह महाभारत की कहानी का ही विकृत रूपान्तर है। कुणालजातक (सं० ५३६) में पक्षिराज कुणाल धर्म का उपदेश देने के लिए एक महासभा का आयोजन करता है। नारद दस हजार भक्तों के साथ उसका उपदेश श्रवण करने आता है। कुणाल स्त्रियों के दोषों को बताता हुआ एक गाथा कहता है। एक पुरानी कथा में कहा जाता है कि एक कुमारी कान्हा (कृष्णा) पाँच राजकुमारों से ब्याही गयी थी, फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई, वह अन्य व्यक्ति को चाहती थी। उसने एक कुबड़े बौने के साथ

५ एक आधुनिक समाजशास्त्री प्रिंस पीटर (पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५१२) ने द्रौपदी के उदाहरण से दो परिणाम निकाले हैं—(१) वर्तमान समय में इस प्रथा का तिब्बत में अधिक प्रसार है, भारत में यह प्रथा तिब्बत के सम्पर्क से आ सकती है। (२) इसका प्रसार मुख्य रूप से क्षत्रियों के कुलों तक सीमित था। किन्तु जटिला का दृष्टान्त यह सूचित करता है कि ब्राह्मणों में भी इस प्रथा का प्रचार था।

६ वर्तमान समय में यह व्यवस्था गढ़वाल तथा नीलगिरिवासी टोडों में पायी जाती है। पीटर ने (पू० पु०, पृ० ५२३) लिखा है कि गढ़वाल में पत्नी बारी-बारी से एक ही घर में प्रत्येक पति के साथ कुछ निश्चित समय तक सहवास करती है। टोडों में यह अवधि एक महीने की होती है। ऐयप्पन ने बताया है कि केरल के ढंबनों में वधू के नवयुवती होने पर माता पतियों द्वारा वधूसमागम की बारी का निश्चय करती है।

वेश्या का काम किया। यह कान्हा महाभारत की कृष्णा द्रौपदी है और टीका में पांच पतियों के नाम अज्जुन (अर्जुन), नकुल, भीमसेन, युधिट्ठिल (युधिष्ठिर) और सहदेव बताये गये हैं। यह कुबड़ा बौना कौन था, इस पर महाभारत और बौद्ध ग्रन्थों से कुछ प्रकाश नहीं पड़ता है।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्रों में बहुभर्तृता का अत्यल्प उल्लेख है। आपस्तम्ब तथा बृहस्पति ने ही प्रसंगवश इसका वर्णन किया है। आपस्तम्ब (२।१०।२७।२-४) नियोग का वर्णन करते हुए कहता है कि कोई व्यक्ति नियोग द्वारा पुत्रप्राप्ति के लिए स्त्री को दूसरे या बाहर के व्यक्तियों को न दे, अपितु सगोत्रों को ही दे, क्योंकि धर्मज्ञ इस बात का उपदेश करते हैं कि कन्या कुल को अर्थात् सब भाइयों को ही दी जाती है।" बृहस्पति (स्मृ० च० सं० १ पृ० १०) ने विभिन्न देशों के आचारों का निर्देश करते हुए कहा है कि दक्षिण में अपने मामा की लड़की के साथ व पारसियों में माता के साथ विवाह होता है, वह अन्य देशों में एक कुल में कन्या देने की या बहुभर्तृता की प्रथा का भी उल्लेख करता है।

कुमारिल और नीलकण्ठ की व्याख्याएँ—मध्यकाल के दार्शनिकों एवं टीकाकारों के लिए द्रौपदी का विवाह एक बड़ी विचारणीय समस्या थी। कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में अपने पांडित्य के कौशल से जिस प्रकार यह सिद्ध किया था कि सुभद्रा अर्जुन की ममेरी बहिन नहीं थी, उसी प्रकार उसने महाभारत की इस घटना के सम्बन्ध में भी पर्याप्त ऊहापोह से यह सिद्ध किया है कि द्रौपदी पांच पांडवों की पत्नी नहीं थी। इस विषय में उसने तीन प्रकार की व्याख्याएँ की हैं। (१) पहली व्याख्या के अनुसार महाभारत में आलंकारिक रूप से एक ही द्रौपदी का वर्णन है। द्रौपदी कोई वास्तविक स्त्री नहीं थी, वह पांडवों की राज्यलक्ष्मी का प्रतीक मात्र थी, पाँच पांडवों के साथ उस का विवाह यह सूचित करता है कि वे पाँचों भाई अपने राज्य का संयुक्त रूप से प्रीतिपूर्वक उपभोग कर रहे थे। (२) अथवा दूसरी व्याख्या के अनुसार हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि पाँचों भाइयों का विवाह वास्तव में पांच विभिन्न स्त्रियों से हुआ, किन्तु उनकी आकृति, व्यक्तित्व और स्वभाव आपस में इतने अधिक मिलते थे कि उन्हें द्रौपदी का सामान्य नाम दे दिया गया। (३) अथवा तीसरी व्याख्या के अनुसार द्रौपदी का विवाह वस्तुतः उसे अपनी धनुर्विद्या के कौशल से जीतने वाले अर्जुन के साथ हुआ, किन्तु महाभारत में उसे पाँचों पांडवों की पत्नी इस बात को जताने के लिए कहा गया है कि पांडवों में अत्यधिक प्रीतिपूर्ण और मधुर सम्बन्ध थे।* नीलकण्ठ को महाभारत की टीका लिखते समय, द्रौपदी के बहुविवाह की समस्या को सुलझाना आवश्यक जान पड़ा। वह इस पर यह कहता है कि आजकल भी नीच जाति की स्त्रियों के दो या तीन पति दिखाई देते हैं, किन्तु उनके आचार को प्रमाण नहीं माना जा सकता। पांडवों

* तन्त्रवार्तिक खण्ड १, पृ० १६१-२ (अंग्रेजी अनुवाद)

के देवता तुल्य होने से "न देवचरितं चरेत्" के अनुसार उनके द्वारा की हुई बातों पर आचरण नहीं करना चाहिए।

नायरों की बहुभर्तृता

मुगल एवं मराठा युग के यूरोपियन यात्रियों ने मलाबार की नायर जाति में प्रचलित बहुभर्तृता की प्रथा का वर्णन किया है।[८] १६६३ ई० में एक इतालवी यात्री सीजर फ्रेडरिक ने इस प्रदेश का भ्रमण करने के बाद लिखा था—"इन लोगों का नाभि से ऊपर का शरीर नग्न रहता है, जांघें कपड़ों से ढकी होती हैं, पैर नंगे होते हैं, बाल लम्बे और सिर की चोटी बंधी होती है। वे अपने साथ हमेशा ढाल और नंगी तलवार लेकर चलते हैं। इन नायरों की स्त्रियां साझे की होती हैं। जब कोई नायर किसी स्त्री के घर में आता है तो वह अपनी ढाल और तलवार घर के बाहर छोड़ जाता है ताकि कोई दूसरा व्यक्ति उस घर में आने का साहस न करे।" एक पुर्तगाली यात्री फर्नांओ लोप्स द कस्तन हेदा ने नायरों में इस प्रथा को प्रचलित पाया। उसके कथनानुसार इस देश के नियमों का अनुसरण करते हुए नायर विवाह नहीं कर सकते, अतः किसी व्यक्ति का निश्चित पुत्र या पिता नहीं होता, उनके सब बच्चे ऐसी ही स्त्रियों से उत्पन्न होते हैं, इनमें से प्रत्येक स्त्री के साथ तीन या चार नायर आपस में समझौता करके सहवास करते हैं। इन नायरों में से प्रत्येक इस साझे की स्त्री के साथ एक दोपहर से अगले दोपहर तक एक दिन रहता है और उसके बाद दूसरा पति एक दिन के लिए उसके पास आ जाता है। वे इस प्रकार अपनी स्त्रियों और बच्चों के भरण-पोषण की चिन्ता से मुक्त होकर सारा जीवन आनन्दपूर्वक बिताते हैं। कोई भी पुरुष अपनी स्त्री को इच्छानुसार छोड़ सकता है और इसी तरह स्त्री जब चाहे किसी प्रेमी को अपने पास आने से रोक सकती है। इन दोनों यात्रियों के वर्णन की पुष्टि एलेक्जेंडर हैमिल्टन (१७४४), जोनाथन डन्कन (१७९२), फ्रान्सिस बुकानन (१८०७), जेम्स पीटर्स (१८१३) नामक यात्रियों ने की है।

१८वीं शती के अन्त तक नायरों में इस प्रथा का खूब प्रचलन था। १७८८ में टीपू सुल्तान ने एक घोषणा निकाली, इस घोषणा में नायर लोगों से यह कहा गया था कि वे एक स्त्री के साथ दस पुरुषों के सहवास की प्रथा का परित्याग करें (पीटर पू० पु०, पृ० १७३)। १९वीं शती में बहुभर्तृता की प्रथा नायरों में बहुत कम हो गयी। (पीटर पू० पु०, पृ० ९२)। १८८१ में श्री विग्राम ने अपनी एक पुस्तक 'मलाबार ला एण्ड कस्टम' में यह वाक्य लिखे थे "बहुभर्तृता की प्रथा अब बिलकुल लुप्त हो गयी है, यद्यपि नायरों में उत्तराधिकार भ्रातृ परम्परा द्वारा होता है और विवाह पारस्परिक

[८] रिज़्ली—दी पीपल आफ इण्डिया

सहमति से होता है और इच्छानुसार विवाह का विच्छेद हो सकता है, तथापि श्री लोगन द्वारा यह ठीक ही कहा गया है कि कहीं भी विवाह के बन्धन का इतनी दृढ़तापूर्वक पालन नहीं होता, इतने प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा नहीं होती जितनी मलाबार में होती है, यद्यपि विवाह किसी शास्त्रीय विधान के अनुसार नहीं होता है।" किन्तु श्री लोगन ने इन वाक्यों में कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है, क्योंकि १८९१ में मलाबार विवाह कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था—"यदि बहुभर्तृता का आशय ऐसे रिवाज से है जिसके द्वारा एक स्त्री को यह छूट प्राप्त होती है कि वह अपनी जाति या सामाजिक प्रतिष्ठा को खोये बिना अनेक पुरुषों के साथ सहवास कर सके, तो हम यह कह सकते हैं कि यह प्रथा मलाबार में रिवाज द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकार की जाती है और वहां ऐसे प्रदेश तथा जातियां हैं जहां स्त्रियों को यह छूट प्राप्त है।" १८९६ के मलाबार मैरिज एक्ट (मद्रास का १८९६ का कानून सं० ४) तथा १९३३ के 'दि मद्रास मरुमक्कथायम् ऐक्ट' (१९३३ का २२वां कानून) द्वारा यह प्रथा अब बिलकुल समाप्त कर दी गयी है।

मरुमक्कथायम् या अलियसन्तान दक्षिण भारत में प्रचलित दाय सम्बन्धी नियमों को कहते हैं[६], जिनके अनुसार किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका लड़का न होकर उसकी बहिन का लड़का होता है। अलियसन्तान कन्नड़ भाषा का शब्द है और 'मरुमक्क' मलयाली भाषा का। किन्तु दोनों का अर्थ बहिन के लड़के से मानी जाने वाली वंशपरम्परा है। इस पद्धति में किसी व्यक्ति के मरने पर सम्पत्ति उसके पुत्र को नहीं मिलती, किन्तु उसकी बहिन के लड़के को मिलती है। इस विचित्र प्रथा का कारण यह है कि नायर या अन्य जातियां किसी स्त्री से विवाह सम्बन्ध करके उस स्त्री को अपने घर नहीं लाते, वह स्त्री अपने पितृगृह में रहती है। उसके पति उसके साथ सहवास करने के लिए श्वशुरालय में आते हैं और सहवास के बाद अपने घर लौट आते हैं। एक व्यक्ति से जो सन्तानें पैदा होती हैं वे पिता की न होकर माता की समझी जाती हैं। नाना के घर में उनका पालन-पोषण होता है और वे नाना के परिवार या तरवाड़ में रहती हैं, अतः किसी व्यक्ति के मरने पर उसका पुत्र उसकी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता, क्योंकि वह नाना की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा लेता है। पति के कुल में कोई पुरुष सन्तान न रहने से वह अपनी बहिन के लड़कों को अपना उत्तराधिकारी बनाता है।

वर्तमान भारत में बहुभर्तृता

वर्तमान काल में भारत में बहुभर्तृता की प्रथा दो रूपों में पायी जाती है :—

६ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० २७०-१

(१) मातृसत्ताक बहुभर्तृता (Matriarchal Polyandry), इसमें एक स्त्री के कई पति होते हैं, किन्तु उन पतियों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। नायरों में प्रचलित बहुभर्तृता इसी प्रकार की थी। इनके यहां मातृवंशपरम्परा (मरुमक्कत्तायम्) का नियम होने के कारण इसे यह नाम दिया गया है। इसका दूसरा नाम अभ्रातृबहुभर्तृता (Non-fraternal Polyandry) भी है। (२) भ्रातृबहुभर्तृता (Fraternal Polyandry) इसमें एक स्त्री के अनेक पति आपस में भाई-भाई होते हैं, जैसे द्रौपदी के पांचों पति परस्पर भाई थे। भारत में वर्तमान हिन्दू समाज में दोनों प्रकार की बहुभर्तृता पायी जाती है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रथा कुछ इनी-गिनी विशेष जातियों तक ही सीमित है। उत्तर भारत में यह प्रथा देहरादून के जौनसार बावर के प्रदेश में, कश्मीर राज्य के लद्दाख प्रदेश में, सिरमूर तथा टिहरी गढ़वाल की कुछ जातियों में, कश्मीर की दरद जाति में तथा दक्षिण भारत में नीलगिरि निवासी टोडा जाति में, केरल की ठंडन (Thandans) कम्मलन तथा कुछ अन्य शिल्पी जातियों में पायी जाती है, पहले यह नायरों में भी प्रचलित थी।[10]

दक्षिण में बहुभर्तृता—दक्षिण भारत में नीलगिरि के टोडों तथा कोट लोगों में यह प्रथा प्रचलित है। टोडों में एक पत्नी के अनेक पति प्रायः भाई होते हैं। बड़ा भाई शादी करता है, किन्तु उसके छोटे भाइयों को बड़े भाई की पत्नी के पास जाने का अधिकार होता है। पत्नी का गर्भ रह जाने की दशा में बड़ा भाई सातवें महीने में धनुष बाण के साथ एक विधि सम्पन्न करता है और इससे वह बच्चे का कानूनी पिता बन जाता है। जब तक उसका छोटा भाई ऐसी विधि नहीं कर लेता तब तक सब बच्चों का पिता बड़े भाई को ही माना जाता है।

केरल में निम्नलिखित जातियों में बहुभर्तृता की प्रथा पायी जाती है—नायर, ठंडन, उत्तरी कोचीन के थिया, कम्मलन अथवा शिल्पकारों की विभिन्न जातियां, जैसे तट्टन (सुनार), कम्मान (लुहार), असारी (बढ़ई), मूसारी (ठठेरे), कोल्लकुरुप (मालिश करनेवाले), विल्लकुरुप (धनुष बनानेवाले), तोलकोल्लम (चमार), कणिसन (ज्योतिषी), मन्नन (धोबी, नाई)[11]। नायरों में अब बहुभर्तृता लगभग लुप्त हो गयी है (पीटर पृ० ६२)। १७८८ में टीपू सुल्तान ने मलाबार पर चढ़ाई करते हुए यह घोषणा की थी कि वह मैसूर पर नायरों द्वारा किये जाने वाले हमलों के खतरे को दूर करेगा। इसके साथ ही उसकी चढ़ाई का एक उद्देश्य नायरों की इस जघन्य प्रथा का भी

१० प्रिन्स पीटर—पू०पु०, पृ० ५०७, दी गजेटियर आफ इण्डिया १९६५ खं० १, पृ० ५४१, केरल की विभिन्न जातियों में इसके प्रसार के ज्ञानार्थ देखिए प्रिन्स पीटर—पू० पु०, पृ० १५९-२३९।

११ पीटर—पू० पु०, पृ० १७३।

उन्मूलन करना था जिसके अनुसार एक स्त्री दस पुरुषों के साथ रहती है (पीटर, पृ० १७२)। अब नवीन परिस्थितियों में नायरों में इस प्रथा का लोप हो चुका है तथा अन्य जातियों में यह लोप हो रही है।[१२]

उत्तर भारत में बहुभर्तृता—उत्तर भारत में बहुभर्तृता की प्रथा अधिकतर हिमालय के प्रदेशों में है। सिक्किम और पूर्वी तिब्बत के भोटों और तिब्बतियों में बड़ा भाई जब किसी स्त्री से शादी करता है तो वह सब भाइयों की स्त्री समझी जाती है। यह नहीं समझना चाहिए कि वह सभी छोटे भाइयों के साथ सहवास करेगी। उसे इस विषय में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है और यह उसकी इच्छा पर अवलम्बित है कि वह किस भाई के साथ सहवास करे। यदि सबसे बड़ा भाई जिसने उस स्त्री को ब्याहा था, मर जाता है तो स्त्री अपनी इच्छा के अनुसार छोटे भाइयों में से किसी एक को अपना पति चुनती है। यदि वह मृत भाई के बाद शेष भाइयों में सबसे बड़े को अपना पति चुनती है तो वह सब भाइयों की स्त्री होती है, किन्तु यदि वह किसी छोटे भाई को चुनती है तो वह उसकी और उससे छोटे भाइयों की स्त्री होती है। यदि वह सबसे छोटे भाई को अपना पति चुनती है तो वह केवल उसी की पत्नी समझी जायेगी। यदि बड़ा भाई शादी नहीं करता है, किन्तु उससे छोटा भाई शादी करता है तो उस पत्नी पर बड़े भाई का कोई अधिकार नहीं होता, छोटे भाइयों का ही उस पर अधिकार होता है। बड़े भाई ऐसी हालत में परिवार से पृथक् हो जाते हैं और उनका अपने छोटे भाइयों की स्त्रियों पर कोई हक नहीं रहता।

संयुक्त प्रान्त में देहरादून जिले के जौनसार बावर में इस प्रथा का खूब प्रचलन है, यहाँ बहुत से भाइयों की एक पत्नी होती है। जब घर में बड़ा भाई होता है तो पत्नी उसी के साथ रहती है, उसकी अनुपस्थिति में वह उसके छोटे भाई के साथ रहती है। दूसरे भाई दिन के समय खेतों में पत्नी के साथ रहते हैं। कोई भाई अपनी पृथक् पत्नी भी रख सकता है और सामान्य पत्नी का भी उपभोग कर सकता है, बशर्ते कि दूसरे भाई इस पर एतराज न उठायें। कई बार एक परिवार में साझे की कई स्त्रियाँ होती हैं। एक बार आठ भाइयों के एक परिवार में इस प्रकार की तीन स्त्रियाँ थीं।[१३] पंजाब के पहाड़ी हिस्सों में भी कांगड़ा जिले के स्पीती, लाहौल परगनों, चम्बा, कुल्लू तथा मण्डी के ऊँचे प्रदेशों में तथा कानेतों में यह प्रथा प्रचलित है। प्रायः सभी भाई ही एक पत्नी को ब्याहते हैं। किन्तु १९०१ की पंजाब की जनगणना रिपोर्ट में स्पीती का एक ऐसा

[१२] केरल में इस प्रथा के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए पीटर पृ० १७२-२२६, नीलगिरि के टोडों के लिए देखिए पृ० २४०-३०० ।

[१३] जौनसार बावर की इस प्रथा का विस्तृत विवेचन श्री धीरेन्द्रनाथ मजूमदार की हिमालयन पोलीएण्ड्री (बम्बई १९६२) में है।

उदाहरण दिया गया है (पृ० २२१) जिसमें दो विभिन्न व्यक्तियों ने पहले एक स्त्री के साथ शादी की, फिर उन्होंने अपनी सम्पत्ति साझे में कर ली और दोनों एक दूसरे को भाई समझने लगे, किन्तु धर्मभाइयों के उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

बहुभर्तृता की प्रथा के प्रचलित होने के कारण

उत्तर भारत में यह प्रथा देहरादून के जौनसार बावर प्रदेश में तथा दक्षिण में केरल प्रदेश में अधिक प्रचलित है। अतः यहाँ इस प्रथा के प्रचलित होने के कारणों का संक्षिप्त उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है।[१४] इसके प्रधान कारण निम्नलिखित हैं—

आर्थिक कारण—जौनसार बावर के पर्वतीय प्रदेश में कृषियोग्य भूमि बहुत कम है, पहाड़ों पर खेतों का निर्माण बड़े कठोर परिश्रम से किया जाता है और वर्षा ऋतु में इन्हें बहुत क्षति पहुँचती है, अतः यहाँ खेती के लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसका समाधान इस प्रदेश में संयुक्त परिवार तथा बहुभर्तृता प्रथा से किया गया है। इसमें परिवार के सब व्यक्ति मिलजुलकर काम करते हैं और अपने सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग करते हुए अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक उत्पादन करते हैं। बहुभर्तृता का एक बड़ा लाभ यह है कि इसमें भाइयों द्वारा अलग-अलग विवाह करके पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता, यह सम्पत्ति सब भाइयों के एक ही घर में इकट्ठे रहने के कारण विभक्त नहीं होती है, अपितु अखण्ड बनी रहती है। यहाँ पहले ही जमीन बहुत थोड़ी होती है, यदि भाइयों की पृथक् शादियाँ होने लगें तो इनकी थोड़ी सी जमीन इतने अधिक छोटे टुकड़ों में बंट जायगी कि यह आर्थिक दृष्टि से सर्वथा अनुपयोगी हो जायेगी। अतः जब श्री मुकुन्दीलाल ने टिहरी गढ़वाल में एक व्यक्ति से पूछा कि वह इस प्रथा का अनुसरण क्यों करता है, तो उन्हें यह उत्तर मिला कि यह उनके लिये हितकर है, इससे उनकी जमीन सुरक्षित बनी रहती है और बँटती नहीं है[१५]। जौनसार बावर में इस कारण की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यह प्रथा भूमि रखने वाले वर्गों खस (राजपूत) तथा ब्राह्मणों में अधिक प्रचलित है। ऐयप्पन के मतानुसार मत केरल की ठंडन जाति में भी पारिवारिक सम्पत्ति को विघटन और विभाजन से बचाने के लिए यह प्रथा प्रचलित हुई है।

१४ जौनसार बावर में इस प्रथा को जन्म देने वाले कारणों के लिए देखिए ऊपर लिखी पुस्तक, पृ० ७५-६। विभिन्न जातियों में इस प्रथा के कारणों की मीमांसा वेस्टरमार्क की हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज के खण्ड ३, अध्याय ३० में है, इनका संक्षिप्त परिचय प्रिन्स पीटर की पुस्तक (पृ० १०७-११० तक) में है। प्रिन्स पीटर ने इन कारणों की आलोचनात्मक मीमांसा (पृ० ५५३-५७१) की है।

१५ पीटर—पू० पु०, पृ० ५६०।

भूमि पर कार्य करने वाले व्यक्तियों को अधिक संख्या में पाने की लालसा तथा पारिवारिक सम्पत्ति को बंटवारे से बचाये रखने के दो कारणों के अतिरिक्त वैस्टरमार्क के मतानुसार तीसरा आर्थिक कारण जनसंख्या का नियन्त्रण है। यदि सब भाई पृथक् रूप से विवाह करके अपने घर बसायें तो जनसंख्या जिस गति से बढ़ेगी उसकी अपेक्षा इस प्रथा के परिवार में एक स्त्री रहने की स्थिति में जनसंख्या धीमी गति से बढ़ती है। इससे जनसंख्या पर नियन्त्रण बना रहता है। यह पहाड़ों जैसे कम उपजवाले प्रदेशों के लिए बहुत उपयोगी है, इसी कारण लद्दाख और तिब्बत जैसे सूखे प्रदेशों में यह व्यवस्था पायी जाती है।

वैस्टरमार्क के मतानुसार निम्नलिखित आर्थिक कारण बहुभर्तृता के प्रचलन में सहायक होते हैं—बहुत कम उपज वाले प्रदेशों में जनसंख्या को नियन्त्रित बनाये रखने की इच्छा, एक ही परिवार में सम्पत्ति को सुरक्षित एवं अविभक्त बनाये रखने की इच्छा, खेती आदि के कार्यों को करने के लिए भ्रातृभाव की भावना को पुष्ट करने की आवश्यकता, सम्पत्ति को सामाजिक प्रभाव रखने वाले कुछ धनी व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित बनाये रखने की इच्छा, निर्धनता के कारण कन्याशुल्क देने में असमर्थ भाइयों का परस्पर मिल कर अपने सीमित साधनों को संगृहीत करके शुल्क जुटाने की संभावना तथा पशुपालक जातियों में सभी प्राप्य साधनों को एकत्र करके अपना काम चलाने की आवश्यकता। इनमें से अधिकांश कारण जौनसार बावर में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्री मजूमदार ने इस व्यवस्था का एक अन्य बड़ा लाभ आर्थिक आवश्यकताओं के साथ इसका सामंजस्य और अनुकूलता बतायी है।[१६] इसमें पत्नियों की संख्या आर्थिक साधनों तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ायी जा सकती है। दो या अधिक भाई अपना-अपना जीवन एक या दो स्त्रियों से आरम्भ कर सकते हैं, किन्तु बाद में आवश्यकता पड़ने पर इनकी संख्या बढ़ा सकते हैं। खेतों में काम के लिए पर्याप्त संख्या में मजदूर पाने के लिए पिता और पुत्र अपनी संख्या से अधिक स्त्रियाँ ले सकते हैं। श्री मजूमदार ने इस विषय में नारायणचन्द्र नामक व्यक्ति का उदाहरण दिया है, इसमें पिता-पुत्र दोनों ने दो-दो विवाह किये थे। प्रायः परिवार में पुरुष सदस्यों की अपेक्षा पत्नियों की संख्या कम होती है, इस संख्या का कम होना भी लाभदायक है, क्योंकि पहाड़ों में एक-दो पति प्रायः कार्यवश बाहर चले जाते हैं, किन्तु सब स्त्रियाँ घर पर ही रहती हैं।

वैयक्तिक कारण—कई बार वैयक्तिक कारणों से भी इस प्रथा को सुविधाजनक समझा जाता है। कई स्थानों में यह प्रथा परिवार में सुख और शान्ति बनाये रखने वाली मानी जाती है। कई भाइयों की पृथक्-पृथक् पत्नियाँ प्रायः कलह वृद्धि का कारण

१६ मजूमदार—पू० पु०, पृ० ७६।

होती है। जी यु-ई का कहना है कि यदि भाइयों की एक स्त्री होगी तो उनमें लड़ाई नहीं होगी (पीटर—पु० पु०, पृ० ५६६)। लद्दाख में प्रिन्स पीटर को बताया गया कि बहुभर्तृता के कारण स्त्रियों के झगड़े बन्द हो जाते हैं, जहां परिवार में एक स्त्री होती है, वहां सदैव शान्ति बनी रहती है। पीटर को केरल में एक व्यक्ति ने अपनी जाति में प्रचलित यह कहावत बतायी थी कि दो सिरों में समझौता संभव है, किन्तु चार स्तनों में यह संभव नहीं है (पृ० ५६२)। इसमें उसका यह अभिप्राय था कि दो पुरुष बिना लड़े रह सकते हैं, किन्तु दो स्त्रियां बिना लड़े नहीं रह सकती हैं। बहुभर्तृता वाले परिवारों में एक स्त्री होने के कारण शान्ति बनी रहती है, किन्तु घर में कई स्वामिनियां होने पर कलह को प्रोत्साहन मिलता है।

वैस्टरमार्क ने दो अन्य वैयक्तिक कारण भी इस प्रथा के प्रेरक बताये हैं। पहला कारण पुत्र प्राप्त करने की इच्छा है। कई बार पुरुष यह अनुभव करता है कि वह सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ है, अतः वह भाई या अन्य पुरुष से सन्तान प्राप्त करने के लिए इस प्रथा को अपनाता है। दूसरा कारण स्त्री द्वारा अधिक अच्छे यौन सम्बन्ध पाने की आकांक्षा है। यदि कोई स्त्री एक पुरुष से यौन आनन्द को पूर्णरूप से प्राप्त नहीं कर सकती तो उसमें यह आकांक्षा होना स्वाभाविक है कि वह किसी अन्य पौरुष-सम्पन्न पुरुष से अधिक आनन्द प्राप्त करे। उसकी यह इच्छा बहुभर्तृता में अच्छी तरह पूरी हो सकती है, अतः वैस्टरमार्क ने कुछ अवस्थाओं में इसे भी बहुपति प्रथा का एक प्रधान कारण माना है। उसका यह मत है कि स्त्रियां अबला होने पर भी एक से अधिक पति इसलिए रखना चाहती हैं कि इससे उन्हें अधिक आनन्द मिलता है, अधिक सुरक्षा प्राप्त होती है तथा अपने समाज में अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। किन्तु उपर्युक्त खूबियों के होते हुए बहुपति प्रथा के मानव समाज में अधिक प्रचलित न होने का मुख्य कारण यह है कि सब मनुष्यों में यह स्वाभाविक इच्छा है कि अपनी पत्नियों पर उनका अनन्य एवं एकमात्र अधिकार रहे।

कई बार इस प्रथा के समर्थन में यह युक्ति भी दी जाती है कि यह परिवार में नैतिकता की मर्यादा बनाये रखने के लिए आवश्यक है, क्योंकि बड़े भाई की स्त्री अपने तरुण देवरों के प्रति आकृष्ट होकर उनके साथ सम्बन्ध रखने की इच्छा रख सकती है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, अतः इसको ध्यान में रखते हुए यदि एक सामाजिक प्रथा द्वारा इस व्यवस्था को मान्यता प्रदान की जाय तो समाज में नैतिकता सुरक्षित बनी रहेगी।

पीटर ने लिखा है कि उसे बहुभर्तृ प्रथा का अनुसरण करने वालों ने यह बताया कि यह प्रथा नैतिक दृष्टि से अतीव उच्च कोटि की है, क्योंकि इससे परिवार झगड़ों से बचा रहता है, यह उन्हें एकता का पाठ पढ़ाती है और यह शिक्षा देती है कि वे अपनी बहु-

मूल्य वस्तुओं का उपभोग भी सम्मिलित कर ले करें।[17]

ऐतिहासिक कारण—अधिकांश जातियां ऐतिहासिक आधार पर प्राचीनकाल की परम्परागत परिपाटी होने के कारण इस प्रथा का समर्थन करती है। महाभारत में व्यास ने पांच पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह को इस आधार पर उचित एवं धर्मानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि यह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही है। जौनसार बावर के लोगों का कहना है कि वे पाण्डवों के वंशज है तथा उनका अनुसरण करते हुए वे बहुपति प्रथा का पालन करते हैं। प्रिन्स पीटर को नीलगिरि के टोडों ने (पृ० ५५४) यह बताया था कि वे बहुभर्तृ प्रथा का पालन इसलिए करते है कि वे भारतीय है और महाभारत में वर्णित पांच पांडवों द्वारा द्रौपदी के साथ विवाह की परम्परा का अनुसरण करते हैं। केरल में बहुपति प्रथा का पालन करने वाली, विभिन्न हस्तशिल्पी कम्मलन तथा ठंडन आदि जातियां अपनी बहुपतिप्रथा का समर्थन ऐतिहासिक आधार पर

[17] पीटर–पू० पु०, पृ० ५६२—इस प्रथा से अपरिचित व्यक्तियों को इसका एक बड़ा दोष यह प्रतीत होता है कि इसमें भाइयों के झगड़े अधिक होने चाहिए। जब सुन्द-उपसुन्द एक तिलोत्तमा के लिए लड़ मरे थे तो इस प्रथा में भाई एक स्त्री के लिए ईर्ष्या द्वेष से प्रेरित होकर क्यों नहीं लड़ मरते ? ऐसा न होने का कारण ऐसी जातियों में कठोर आर्थिक परिस्थितियों में आत्मसंरक्षण की भावना से ईर्ष्या-द्वेष के स्थान पर सहयोग, प्रेम और सामुदायिक हित की भावना को सर्वोच्च स्थान देना है (पीटर पृ० ५६८)। श्री मजूमदार ने जौनसार बावर के सम्बन्ध में लिखा है (पृ० ७६) कि यह प्रथा इसमें यौन ईर्ष्या के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष के स्थान पर पारिवारिक एकता और सहयोग की भावना को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। सब व्यक्ति परिवार के मुखिया (सयाणा) और उसकी पत्नी (सयाणी) के नेतृत्व एवं अनुशासन में प्रेमपूर्वक रहते हैं, भाइयों में बड़ा प्रेम और सहयोग होता है। बड़े भाई प्रायः छोटे भाइयों के लिए एक या अधिक तरुण पत्नियां लाने का प्रयत्न करते हैं और इनके उपभोग में अपने अधिकार का प्रयोग नहीं करते हैं। दूसरी ओर कई बार पहली और बड़ी पत्नी अपने पतियों को स्वयमेव यह प्रेरणा करती है कि वे घरेलू कार्यों में उसकी सहायता करने के लिए दूसरी पत्नी लायें, अथवा कई बार चतुर स्त्री एक पति के साथ अधिक रहने के लिए भी दूसरी पत्नी लाने का सुझाव देती है। इससे यह स्पष्ट है कि जौनसार में जहां एक ओर एक पत्नी के कई पति होते हैं वहां दूसरी ओर इनकी एक से अधिक पत्नियां होती है, इस प्रकार जौनसार बावर में बहुभार्यता (Polygamy) तथा बहुभर्तृता (Polyandry) का विचित्र सम्मिश्रण होता है, अतः श्री मजूमदार ने इसे बहुपत्नीपतिप्रथा (Polgynandry) का नया नाम दिया है।

करती हुई कहती है कि यह एक प्राचीन सिंहली पद्धति है और वे लंकाद्वीप से भारत आते हुए इसे अपने साथ लेते आये थे (पीटर, पृ० ५५६)। श्रीलंका में काण्डी के प्राचीन राजाओं के इतिहास का प्रतिपादन करने वाले एक ग्रन्थ "राजावलिये" में लिखा है कि एक राजकुमारी ने ऐसे दो भाइयों से विवाह किया जो राजा थे। इसकी पुष्टि डच ऐतिहासिक वेलेण्टिन ने की है और यह बताया है कि सम्राट विजयबाहु तथा उसके भाई राजसिंह की एक ही पत्नी थी। काण्डी प्रदेश में बहुपतिप्रथा का वर्णन करते हुए कॉर्डिनियर्स ने यह बताया है कि यहां इस प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि यह इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली परिपाटी है (पीटर, पृ० ५५३)।

पिछली शताब्दी में विकासवादी दृष्टिकोण से विवाह के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन करने वाले लेखक इसे विवाहप्रथा के ऐतिहासिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण दशा समझते थे। चार्ल्स डार्विन ने इसे बहुस्त्रीविवाह (Polygamy) तथा एक-विवाह (Monogamy) के बाद तथा कामचार (Promiscuity) से पहले स्थान दिया। मैकलीनान के मतानुसार पहले मानवसमाज में विवाह प्रथा नहीं थी, बहुपतिप्रथा विवाह का सबसे पहला रूप था। मेन, लतूर्नो तथा हर्बर्ट स्पेन्सर ने इन विचारों का खण्डन करते हुए कहा है कि बहुभर्तृता समाज में किसी भी समय में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती है, पहले इन परिस्थितियों का वर्णन किया जा चुका है।

इन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने पर जब यह प्रथा किसी जाति में एक संस्था (Institution) का रूप धारण करती है तो ऐतिहासिक परम्परा इसे सुदृढ़ एवं पुष्ट बनाती है (पीटर, पृ० ५६६)। सुदूर इतिहास में इस प्रथा का पाया जाना समाज में इसे एक ऐसी सर्वमान्य रूढ़ि बना देता है, जिसका पालन समाज के सब व्यक्तियों के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य माना जाता है। जब ऐसे किसी समाज का सम्बन्ध इसे न मानने वाली विदेशी संस्कृति से होता है तो बहुभर्तृप्रथा मानने वाले व्यक्तियों के समाज में एक प्रकार की ऐसी राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय होता है, जिससे प्रेरित होकर वे बहुभर्तृप्रथा का पालन न करने वाली जातियों की तुलना में अपनी प्रथा का अधिक उग्रता से समर्थन करने लगते हैं। इस कारण यह प्रथा उपयुक्त परिस्थितियां न रहने पर प्रतिकूल दशाओं में भी बनी रहती है। इस प्रकार ऐतिहासिक कारण और प्राचीन परम्परा इस प्रथा को समाज में स्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होती है।[१८] (पीटर—पू० पु०, पृ० ५६८—७१)।

१८ उपर्युक्त आर्थिक, वैयक्तिक तथा ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त इस प्रथा के उत्पादन और विकास में सहायक दो अन्य प्रकार के जनसंख्या सम्बन्धी (Demographic) तथा समाजशास्त्रीय कारणों (sociological reasons) को पहले बहुत महत्त्व दिया जाता था, किन्तु अब नवीन गवेषणा से ऐसा नहीं समझा जाता।

प्रिन्स पीटर ने बहुभर्तृ प्रथा के ऐतिहासिक विकास के संबंध में नवीनतम मानवशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि इसका आरम्भ कठोर आर्थिक परिस्थितियों से होता है। बहुत कम उपजवाले प्रदेशों में उदरपूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में कठोर परिश्रम करना पड़ता है, वहां रहने वाली कुछ जातियों में इस प्रथा का आविर्भाव होता है। वहां आर्थिक उत्पादन के लिए सब व्यक्तियों को एक दूसरे पर बहुत निर्भर रहना पड़ता है, एक दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है, अपने वैयक्तिक स्वार्थ की अपेक्षा समाज के हित एवं कल्याण को प्रधान स्थान देना पड़ता है। इससे उनमें सुदृढ़ एकता और पारस्परिक प्रेम की भावना का इतना अधिक विकास होता है कि इससे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ दब जाती हैं। ऊपर बताये गये आर्थिक कारणों से विवश होकर कई भाई एक ही पत्नी ग्रहण करने की प्रथा अपनाते

जनसंख्या संबंधी कारण का यह अभिप्राय था कि बहुभर्तृता के उत्पन्न होने का एक कारण बालिकावध आदि की दूषित प्रथाओं से तथा अन्य कारणों से पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम होना है, पुरुष अधिक एवं स्त्रियां कम होने से समाज में स्वयमेव यह स्वाभाविक नियम बन जाता है कि अनेक पुरुष एक स्त्री से विवाह करें। किन्तु प्रिन्स पीटर के आधुनिक अनुसन्धान से (पृ० ५६५) यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई है। श्रीलंका के रत्नपुर क्षेत्र में, केरल के वल्लु-वनाड ताल्लुके में, नीलगिरि के टोडों में तथा कश्मीर की लद्दाख तहसील में बहुभर्तृ प्रथा का अनुसरण करने वाली जातियों में पुरुषों का अनुपात स्त्रियों के अनुपात से बहुत थोड़ी मात्रा में अधिक है और यह इस प्रथा का कारण नहीं हो सकता। केरल की ठंडन और कम्मलन जातियों में जिन क्षेत्रों में बहुभर्तृ प्रथा का सबसे अधिक प्रसार है, वहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। टोडा जाति में पीटर के अन्वेषणानुसार, स्त्री पुरुषों का अनुपात चार और पांच का है (पृ० ५५६)। जौनसार बावर के लोहारी और बैला के गांवों के बहुभर्तृता प्रथा वाले क्षेत्रों की जो जनसंख्या श्री मजूमदार (हिमालयन पोलिएण्ड्री पृ० ५०-५१) ने दी है उससे यह स्पष्ट है कि वहां स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है, लाखा-मण्डल में दोनों की संख्या में बहुत कम अन्तर है। अतः यह कारण ठीक नहीं प्रतीत होता है। प्रिन्स पीटर ने इस विषय में यह भी कहा है कि कई स्थानों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा कम होती है, वहां उपर्युक्त युक्ति के अनुसार बहु-पतिप्रथा होनी चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, केरल में मोपला मुसलमानों में पांच पुरुषों के पीछे केवल दो स्त्रियां हैं, फिर भी वहां यह प्रथा नहीं पायी जाती है। अतः स्त्रियों की कमी बहुभर्तृता के प्रचलन का समुचित कारण नहीं प्रतीत होती है।

है। इससे अनेक प्रकार के वैयक्तिक लाभ होते है। अतः आर्थिक एवं वैयक्तिक दृष्टि से उपयोगी होने के कारण यह प्रथा समाज में प्रचलित हो जाती है, समाज इसे मान्यता प्रदान करता है क्योंकि उसे आर्थिक उत्पादन के लिए विभिन्न व्यक्तियों में घनिष्ठ सहयोग आवश्यक प्रतीत होता है। यह प्रथा शनैः-शनैः रूढ़ि का रूप धारण करती है और ऐतिहासिक परम्परा इसे समाज में सुदृढ़ बनाती है तथा एक महत्वपूर्ण संस्था का रूप प्रदान करती है। किन्तु जब समाज में उपर्युक्त परिस्थितियां नहीं रहती अथवा इसकी विरोधी परिस्थितियाँ और भावनाएँ प्रबल होती है तो यह प्रथा क्षीण होने लगती है। जौनसार बावर और केरल में इसीलिए इस समय इस प्रथा का लोप हो रहा है।

समाजशास्त्रीय कारण का अभिप्राय विभिन्न कारणों से पति के घर से बाहर रहने पर, उसके अभाव की पूर्ति के लिए इस प्रथा का प्रचलित होना है (पीटर पृ० ५५७)। उदाहरणार्थ लंका में कान्डी प्रदेश की बहुपति प्रथा के बारे में गुणरत्ने का यह मत है कि पहले वहां के सरदारों और सामन्तों को राजदरबार में बहुत समय तक रहना पड़ता था, घर में उनकी अनुपस्थिति में घरेलू कार्य चलाने के लिए इस प्रथा का प्रचलन आरम्भ हुआ, इसके लिए पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का पत्नी के साथ रहना आवश्यक था, पति के छोटे भाई के लिए यह कार्य करना सर्वथा स्वाभाविक था। डी० बी० पनबोकके ने पति की अनुपस्थिति का कारण रात के समय पशुओं से खेतों की रखवाली करना बताता है। तिब्बत के पशुपालक समाज में नये चरागाहों की खोज के लिए बाहर जाने पर पतियों की अनुपस्थिति में घर का कार्य उनके छोटे भाइयों द्वारा चलाया जाता है। वैस्टरमार्क ने सैनिक समाजों में पतियों के युद्ध पर चले जाने के कारण इस प्रथा के प्रचलित होने का उल्लेख किया है और केरल की नायर जाति में बहुपति प्रथा का कारण इसे बताया है। किन्तु इस कारण को सही मानने में सबसे बड़ी आपत्ति प्रिन्स पीटर ने (पृ० ५५७, ५६५) यह की है कि सैनिक सेवा के कारण पति की अनुपस्थिति सभी सैनिक समाजों में होती है, यदि इसे बहुभर्तृ प्रथा का कारण माना जाय तो यह उन सभी समाजों में होनी चाहिये, किन्तु यह केवल नायर समाज जैसे इने गिने मानव समूहों में ही पायी जाती है। इससे यह सूचित होता है कि इसका वास्तविक कारण पति की अनुपस्थिति नहीं, अपितु पहले बतायी गयी कुछ अन्य परिस्थितियां है

अध्याय १५

हिन्दू विवाहविषयक नवीन प्रवृत्तियां

पिछले अध्यायों में हिन्दू विवाह के अतीत का वर्णन और वर्तमान का विवेचन किया गया है; इस अध्याय में हिन्दू विवाह के भविष्य को सूचित करने वाली कुछ ऐसी नवीन प्रवृत्तियों और परिवर्तनों की मीमांसा की जायगी जो इस संस्था के भावी स्वरूप पर गहरा प्रभाव डालने वाली हैं। पिछले २५-३० वर्षों में भारत में परिवार और विवाह के संबंध में अनेक समाजशास्त्रीय अनुसन्धान हुए हैं।[1] यहां इन सबके आधार पर नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिपादन किया जायगा।

पश्चिमी जगत् में समाजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा उपन्यास-लेखकों ने विवाह तथा परिवार के भविष्य के संबंध में अनेक मनोरंजक कल्पनाएँ की हैं। इनके अनुसार एक ऐसा भावी युग आने वाला है, जब समाज में विवाह एवं परिवार की प्रथा पूर्ण रूप से लुप्त हो जायगी। पुरुष और स्त्री इच्छानुसार कामोपभोग करेंगे, गर्भ-निरोध के साधनों में नवीन प्रगति और आविष्कार हो जाने के कारण, कामोपभोग में सन्तानोत्पादन की आशंका न रहने से इसे निश्शंक एवं निर्बाध रीति से किया जा सकेगा। बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए माता-पिता और परिवार की आवश्यकता नहीं रहेगी। शिशुओं के लालन-पालन का कार्य राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओं (Nurseries) में अनुभवी दाइयों द्वारा होगा। सुप्रसिद्ध लेखक आल्डस हक्सली (Aldous Huxley) ने अपने एक उपन्यास 'नवीन साहसिक जगत्' (Brave New world) में यहाँ तक कल्पना की है कि भविष्य में विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि बच्चों को वैज्ञानिक

[1]. इस प्रकार के कुछ प्रमुख अध्ययन और अन्वेषण निम्नलिखित हैं—

१ श्रीमती सी० ए० हाटे—सोशियोइकनामिक कंडीशन आफ दी एजूकेटेड वुमेन इन बाम्बे सिटी, १९३० ।

२ श्री के० टी० मर्चेन्ट-चेंजिंग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली १९३५ ।

३ श्रीमती सी० बी० देसाई—वुमेन इन माडर्न गुजराती लाइफ १९४५ ।

४ श्रीमती सी० ए० हाटे—दी सोशल पोजीशन आफ हिन्दू वुमेन १९४६ ।

५ रास—दी हिन्दू फैमिली इन इट्स अर्बन सैटिंग १९६१ ।

प्रयोगशालाओं में परीक्षण नलिकाओं (Test Tubes) में वीर्य (Sperm) और रज (Ovum) को मिलाकर उत्पन्न किया जा सकेगा, स्त्रियों को प्रसूति का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। उस समय यदि किसी स्त्री का भूल से कोई बच्चा उत्पन्न होगा तो यह एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना होगी। विवाह और परिवार की व्यवस्था सर्वथा अनावश्यक और निरर्थक सिद्ध हो जायगी।[१]

निःसन्देह ये कल्पनाएँ बड़ी रोचक हैं। इनका आधार नवीन आविष्कारों से तथा वैज्ञानिक उन्नति से होने वाले उद्योगीकरण (Industrialisation) और नगरीकरण (Urbanisation) द्वारा उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियाँ हैं। इनका विवेचन हिन्दू परिवार मीमांसा (पृ० ४०८) में विस्तार से किया जा चुका है। अतः यहां केवल विवाह विषयक नवीन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। यह कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा हिन्दू समाज में किये गये अन्वेषणों के आधार पर किया जायगा। हिन्दू विवाह की प्रमुख नवीन प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) विवाह का स्वरूप—इस के वैयक्तिक पक्ष की प्रधानता

पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि विवाह के स्वरूप के संबंध में कई पक्ष और दृष्टिकोण हैं। इन्हें मुख्य रूप से निम्नलिखित पक्षों में बाँटा जा सकता है।

(क) धार्मिक पक्ष—इसके अनुसार विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है, मनुष्य को अपने धार्मिक कर्तव्य पूरा करने के लिए विवाह करना चाहिए। पहले यह वर्णन हो चुका है कि भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने विवाह का एक प्रयोजन विभिन्न प्रकार के धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना बताया है (पृ० ६-११)। इस प्रकार धार्मिक संस्कार (Religious sacrament) होने के कारण विवाह एक अविच्छेद्य संबंध होता है। अतः यह एक ऐसा अनुबन्ध (Contract) नहीं है, जिसे दोनों पक्ष कुछ विशेष परिस्थितियों में तोड़ सकें। यह विवाह का अनुबन्धात्मक (Contactual) स्वरूप कहलाता है। हिन्दू विवाह अब तक धार्मिक बन्धन या अविच्छेद्य संस्कार (Indissoluble Sacrament) रहा है, अनुबन्धात्मक (Contractual) संबंध नहीं है।

(ख) सामाजिक पक्ष—इसका यह अभिप्राय है कि विवाह का उद्देश्य समाज का कल्याण, सन्तान की प्राप्ति, समाज के सातत्य को बनाये रखना तथा इसका संरक्षण करना है।

(ग) नैतिक पक्ष—इसका यह अर्थ है कि समाज में नैतिकता को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि सबको विवाह द्वारा वैधरीति से कामवासना की पूर्ति

[१] इस विषय के विवेचन के लिए देखिए हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, अठारहवां अध्याय, पृ० ४८८-५३७।

के साधन प्रस्तुत किये जांय ताकि समाज में नैतिक अराजकता और अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न न हो सके।

(घ) **चौथा पक्ष वैयक्तिक** (Personal) है। इसके अनुसार विवाह का प्रधान उद्देश्य पति-पत्नी का एक दूसरे के लिए साथी और मित्र होना, एक दूसरे के वैयक्तिक सुख-दुख में सहायक होना, एक दूसरे की पूर्णता को बढ़ाना समझा जाता है। पहले अध्याय (पृ० ३-४) में बताया जा चुका है कि शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक के मतानुसार विवाह मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की अपूर्णता को दूर करने के लिए तथा उसे सुखी बनाने के लिए होता था, मध्य युग में यह वर-वधू के माता पिता द्वारा दो परिवारों के बीच में तय किया जाने वाला (Arranged Marriage) संबंध मात्र था, बालविवाह तथा परदे की प्रथा के कारण इसमें पति-पत्नी के वैयक्तिक संबंध का विकास बहुत कम होता था।[३]

किन्तु शिक्षा के प्रभाव एवं नवीन परिस्थितियों से हिन्दू युवक और युवतियों के विवाह-विषयक दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन आ रहा है। पहले विवाह के विषय में धार्मिक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया जाता था। इसे एक पवित्र धार्मिक संस्कार और अविच्छेद्य बन्धन माना जाता था, इसमें वैयक्तिक तत्त्व को बहुत कम स्थान दिया जाता था। किन्तु अब धार्मिक के स्थान पर वैयक्तिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। यह बात श्री के० टी० मर्चेण्ट द्वारा किये गये एक अनुसन्धान से सूचित होती है। इसमें बम्बई, गुजरात और पूना के युवक-युवतियों से विवाह के संबंध में प्रश्न किया गया था। अधिकांश युवकों तथा युवतियों ने इस विषय में विवाह के वैयक्तिक स्वरूप को प्रमुख स्थान दिया और इसके बाद अधिकतम संख्या ने इसके धार्मिक स्वरूप का समर्थन किया।[४] इस विषय में दिये गये उत्तरों से इस समस्या पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। एक युवक ने लिखा था—"विवाह का मूलतत्त्व किसी संस्कार में निहित नहीं है, यह पुरोहित द्वारा बोले जाने वाले मन्त्रों में भी नहीं है। यह दो आत्माओं का मिलन है। यह बुद्धि और हृदय का संगम है।" "विवाह से दो आत्माओं का शीघ्रतापूर्वक एवं स्वस्थ विकास होता है।[५] एक दूसरे युवक के शब्दों में विवाह प्रकृति के उच्चतम प्रयोजनों को पूरा करने के लिए दो व्यक्तियों का सम्मिलन है (पृ० ५२)। एक युवक ने विवाह के धार्मिक स्वरूप का विरोध करते हुए लिखा था—"आध्यात्मिकता से विवाह के संबंधित होने के विचार का खोखलापन बहुत सिद्ध हो चुका है। आध्यात्मिक संबंध के लिए सहवास की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत पति-पत्नी का निरन्तर

३ राजेन्द्र प्रसाद—आत्म कथा

४ के० टी० मर्चेन्ट—चेंजिग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली (हिन्दू यूथ) मद्रास १९३५, पृ० ४०-५६।

५ वही, पृ० ४८

सहवास इसको एक आध्यात्मिक संबंध बनने में सहायक होता है। विवाह प्रधान रूप से भौतिक संबंध है। इसे एक धार्मिक संस्कार स्वीकार न करते हुए सब प्रकार की परम्पराओं से और धार्मिक अन्ध-विश्वासों के बन्धनों से इसे मुक्त करना चाहिए। वस्तुतः मृत्यु के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से विच्छिन्न न हो सकने वाले हिन्दू विवाह ने हिन्दू स्त्रियों के उत्पीड़न एवं दासता को उत्पन्न किया है" (पृ० ५३)। कुछ अन्य उत्तरों में कहा गया था कि पत्नी पति की सहायक, परामर्शदाता तथा जीवन-संगिनी होनी है, उनका पारस्परिक संबंध भूतल पर घनिष्ठ मित्रों जैसा होना चाहिए। विवाह के अनुबन्धात्मक (Contractual) रूप का समर्थन करते हुए एक उत्तर में कहा गया था—"विवाह एक ऐसा अनुबन्ध है जिसकी समाप्ति दोनों पक्ष पारस्परिक सहमति से कर सकते हैं (पृ० ५६)।" इन उत्तरों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू युवक युवतियों की विवाह-विषयक धारणा में एक बड़ा मौलिक परिवर्तन आ रहा है, उनमें इसे धार्मिक संस्कार या अविच्छेद्य बन्धन के स्थान पर वैयक्तिक संबंध और एक प्रकार का अनुबन्ध (Contract) समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

(२) विवाह का अनावश्यक समझा जाना

पहले अध्याय (पृ० १७-२२) में यह बताया जा चुका है कि कई कारणों से हिन्दू समाज में चिरकाल से प्रत्येक नर-नारी के लिए विवाह एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य माना जाता रहा है; किन्तु अब शनैः-शनैः नवीन परिस्थितियों से इस धारणा में परिवर्तन हो रहा है और कुछ युवक-युवतियां विवाह को अनावश्यक समझने लगे हैं। मर्चेन्ट द्वारा किये गये अनुसन्धान में ८६·२ प्रतिशत युवक-युवतियों ने विवाह को अनिवार्य तथा आवश्यक माना था और १३·२ ने अनावश्यक।[६] युवकों ने इसे आवश्यक मानने के लिए जो कारण दिये हैं उनमें प्रधानता वैयक्तिक कारणों की है, विवाह व्यक्ति के विकास एवं पूर्णता के लिए जीवनसाथी और बच्चे पाने के लिए, जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए तथा उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना जाता है (पृ० ६८)। इस प्रसंग में यह तथ्य स्मरणीय है कि युवकों में केवल १३.२ ने विवाह को अनावश्यक माना है, किन्तु युवतियों में पचास प्रतिशत इसे अनावश्यक मानती है।

विवाह को अनावश्यक समझने के लिए युवक-युवतियों द्वारा प्रस्तुत किये गये कारण प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—

(क) स्वतन्त्रता पर आघात—विवाह मनुष्य की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है, आधुनिक युवक-युवतियों द्वारा अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए विवाह न करना उत्तम समझा जाता है। इस विषय में युवतियों

६ मर्चेन्ट—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६६

द्वारा दिये गये उत्तर बड़े मनोरंजक हैं। एक युवती के शब्दों में हमारी वर्तमान विवाह पद्धति स्त्रियों के स्वाभाविक अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाती है, उनके व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करती है। अविवाहित रहते हुए व्यक्ति पक्षी की तरह स्वतन्त्र रह सकता है, नवयुवती अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता सुरक्षित रखते हुए देश की अधिक सेवा कर सकती है (पृ० ८३-४)।

(ख) ब्रह्मचर्य का महत्व—अनेक युवक विवाह की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के आदर्श को अधिक ऊँचा और अच्छा समझते हैं, उनके मतानुसार कामोपभोग एक अच्छा और पवित्र कार्य नहीं है, अतः मनुष्य को विवाह के बन्धन में नहीं पड़ना चाहिए।

(ग) आर्थिक स्वावलम्बन—कई युवतियों ने इस बात पर बल दिया कि पहले स्त्री के पास स्वतन्त्ररूप से आजीविका कमाने के साधन नहीं थे, अतः विवाह उसके लिए अनिवार्य था, किन्तु अब शिक्षा पाने के बाद वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है, अतः उसे विवाह करने की आवश्यकता नहीं है (पृ० ७१)। एक गुजराती युवती ने यहाँ तक विचार प्रकट किया है कि स्त्री के लिए अविवाहित रहना विवाहित होने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि विवाह उसे परतन्त्र बनाने वाला तथा उसके कार्य में बाधा डालने वाला है। विवाह को अनावश्यक मानने वाली आधी स्त्रियों ने इसका कारण आर्थिक परिस्थितियों को माना है।* उनका यह मत है कि स्त्रियाँ अब अपनी आजीविका कमाते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन कर सकती है, अतः उन्हें विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों का विवाह आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए किया जाता था, अब वे स्वयं इसे सुलझाने में समर्थ हो गयी हैं तो उनके लिए विवाह की कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है। कुछ युवकों ने भी इस बात पर बल दिया है कि आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर आश्रित एवं परावलम्बी पुरुषों को विवाह नहीं करना चाहिए।

(घ) जनसंख्या की वृद्धि को रोकना—कुछ युवक विवाह को इसलिए अनावश्यक मानते हैं कि इस समय देश की समृद्धि को बढ़ाने तथा दरिद्रता दूर करने के लिए जनसंख्या की वृद्धि पर प्रबल अंकुश लगाया जाना चाहिए। विवाहों की अनिवार्यता देश की जनसंख्या बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो रही है, अतः इस पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए, अविवाहित स्त्री-पुरुषों की संख्या बढ़ने से जनसंख्या में कमी होगी, अतः वर्तमान युग में विवाह को आवश्यक नहीं समझना चाहिए। एक युवक के शब्दों में "विवाह का प्रधान प्रयोजन वैधरूप से सन्तानोत्पादन करना है। प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि बड़ी तेजी से हो रही है। इसे रोकने

* मर्चेन्ट—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७२

के लिए विवाह के बाद गर्भ निरोधादि साधनों की सहायता लेने की अपेक्षा विवाह न करना अधिक अच्छा है।[८]

उपर्युक्त अनुसन्धान में युवक-युवतियों के प्रबल बहुमत ने विवाह को आवश्यक माना है। इसका समर्थन वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक और शारीरिक कारणों के आधार पर किया, और इसे आवश्यक न मानने वाले युवकों में केवल १३·२ प्रतिशत ही थे। फिर भी विवाह को आवश्यक न मानने वाली अल्प संख्या इस बात को सूचित करती है कि हिन्दू समाज में विवाह को अनिवार्य एवं आवश्यक कर्तव्य समझने की सार्वभौम भावना में शनैः शनैः क्षीणता आने लगी है। इसका प्रधान कारण स्त्रियों की शिक्षा तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना है। विवाह के अतिरिक्त पहले स्त्रियों के जीवन में कोई अन्य बड़ा कार्य नहीं था, अतः विवाह, मातृत्व और बच्चे उनके लिए अनिवार्य थे, इनके बिना उनका जीवन सूना था। किन्तु आज नारी शिक्षा प्राप्त करके अपने को विभिन्न कार्यों में लगा सकती है, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो सकती है, अतः उसके लिए कुमारियों जैसी प्राचीन भारत की स्त्रियों की भांति विवाह अनिवार्य कर्तव्य नहीं रहा है, किन्तु फिर भी सामान्य रूप से हिन्दू नारी के लिए अब भी विवाह आवश्यक माना जाता है।

रास ने भी अपने अध्ययन में उपर्युक्त निष्कर्ष को पुष्ट करते हुए यह लिखा है कि इस समय युवक-युवतियों में विवाह की अनिच्छा पायी जाती है।[९] उसके अध्ययन में पांच अविवाहित युवकों ने कहा था कि वे विवाह नहीं करना चाहते। इनके विवाह न करने के कारण विभिन्न प्रकार के थे, जैसे देश की सेवा में अपने जीवन को लगा देने की इच्छा, धार्मिक जीवन बिताने की इच्छा, विवाह में कोई दिलचस्पी न होना, परिवार के पालन-पोषण के गम्भीर आर्थिक उत्तरदायित्व को उठाने से बचने की इच्छा तथा यह विश्वास कि विवाह दुर्भाग्य और दुःखों को लाने वाला होता है। रास ने एक ऐसी युवती का भी उल्लेख किया, जो अपने कार्य में इतनी अधिक तल्लीन थी कि उसने विवाह करने की बात ही नहीं सोची थी।

स्त्रियां ज्यों-ज्यों आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तुष्ट होती जाती हैं, त्यों-त्यों वे अपना मनपसन्द या सन्तोषजनक वर न मिलने की दशा में विवाह को नापसन्द करने लगती हैं। इस विषय में एक युवती के ये विचार उल्लेखनीय हैं—"मेरी माता बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के बाद मेरा विवाह करना चाहती थी। मुझे बी० ए० पास किये हुए तीन वर्ष बीत चुके हैं, मेरे विवाह के लिए कई प्रस्ताव आ चुके हैं किन्तु मैंने उस समय तक विवाह न करने का निश्चय किया है, जब तक मुझे

८ मर्चेन्ट—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ७६-८०
९ रास—दी हिन्दू फैमिली इन इट्स अर्बन सैटिंग पृ० २७६

अपने लिए सर्वथा उपयुक्त वर नहीं मिल जाता है। मैं ऐसे व्यक्ति को पति नहीं बनाना चाहती हूं, जिसमें मेरे आदर्श पति की सब विशेषताएं न हों। मैं यह भी अनुभव करती हूं कि मेरा वर्तमान जीवन पूर्ण एवं रोचक है। मेरे पास जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी पुस्तकें और संगीत है।" (पृ० २७६)। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि शिक्षित स्त्रियों में उपयुक्त वर न मिलने तक अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। स्त्रियां एम०ए०, एम०एस-सी०, पी०एच०डी० या डाक्टर बनने के बाद अपने जैसी शिक्षा रखने वाला तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न पति ढूंढ़ती हैं, ऐसे आदर्श पति की तलाश में कई बार ऐसी युवतियों को अविवाहित रहने को विवश होना पड़ता है। वैदिकयुग में पिता के घर में इस प्रकार बूढ़ी होने वाली कन्याओं को अमाजू कहा जाता था (ऋ० २।१७।७), अब पुनः हमारे समाज में यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है।

(३) वरणस्वातन्त्र्य

हिन्दू समाज में बालविवाह की पद्धति व्यापक रूप से प्रचलित होने पर सभी विवाह माता-पिता द्वारा आयोजित (Arranged) किये जाते थे। इसमें वर-वधू को किसी भी प्रकार से अपना जीवनसाथी चुनने की कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। यह विवाह वस्तुतः दो व्यक्तियों में न होकर, दो परिवारों में होता था। इसमें वर-वधू को एक-दूसरे को विवाह से पहले देखने, अपने जीवनसाथी के चुनाव के विषय में कोई सम्मति प्रकट करने[१०] या किसी प्रकार के अनुरंजन (Courtship) की कोई छूट नहीं थी। इसमें पहले विवाह होता था और इसके बाद प्रेम विकसित होता था। यह पश्चिम की प्रेम उत्पन्न होने के बाद विवाह करने की (Love Marriage) पद्धति से सर्वथा भिन्न था। मां बाप अपने बच्चों की शादी छोटी आयु में तय करते थे और इसमें वर-वधू को अपना जीवनसाथी स्वयं चुनने का या इस विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता था।

किन्तु शिक्षा के प्रसार एवं प्रभाव से अब स्त्री पुरुष अपना जीवनसंगी चुनने में स्वतन्त्रता चाहने लगे हैं। हाटे (पृ० ३६) की गवेषणा में ७४ प्रतिशत कन्याओं ने यह बताया था कि वे अपना जीवनसंगी स्वयं चुनना चाहती हैं। हाटे ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है कि समग्ररूप से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि शिक्षित स्त्रियों ने ऐसे विवाहों के विरोध करने का निश्चय कर लिया है, जो उनके माता-पिता द्वारा निश्चित किये जाते हैं और जिनमें उनसे कोई सम्मति नहीं ली जाती है; शिक्षित नर-नारियों की यह इच्छा स्वाभाविक है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न में उनकी इच्छा का ध्यान रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कन्याएं धन के प्रलोभन से किये जाने वाले बेमेल विवाह के

१०. हाटे—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ३६

दुष्परिणाम से बचने के लिए भी वरणस्वातन्त्र्य की माँग करती है।[११] मर्चेण्ट की गवेषणा के ७६.२ प्रतिशत युवक-युवतियों ने अपना जीवनसंगी स्वयमेव चुनने की इच्छा प्रकट की (पृ० ८५), शेष व्यक्तियों ने यह कहा कि वर-वधू का निश्चय इनके माता-पिता द्वारा होना चाहिए, किन्तु विवाह से पूर्व इस मामले में वर-वधू की स्वीकृति अवश्य ली जानी चाहिए।

रास की गवेषणा में स्त्रियों तथा पुरुषों को तीन वर्गों में बाँटा गया था—अविवाहित, सद्योविवाहित (Young married) जिनका विवाह हुए थोड़ा समय बीता था तथा चिरविवाहित (older married) अर्थात् जिनका विवाह हुए काफी समय बीत चुका था। अपना जीवन साथी चुनने के विषय में इनसे तीन विकल्पों वाला प्रश्न पूछा गया था, क्या वे इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते है, कुछ स्वतन्त्रता चाहते है या कोई स्वतन्त्रता नहीं चाहते है। इस प्रश्न के उत्तरों को निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित किया गया है।[१२]

विवाह में वरण स्वातन्त्र्य की मात्रा

	पूर्ण स्वतन्त्रता	कुछ स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता का अभाव	सर्वयोग
स्त्रियाँ				
अविवाहित	७	७	५	१९
सद्योविवाहित	३	१३	५	२१
चिरविवाहित	२	१०	१०	२२
स्त्रियों की कुल संख्या	१२	३०	२०	६२
पुरुष				
अविवाहित	१८	२१	३	४२
सद्योविवाहित	२	८	१०	२०
चिर विवाहित	—	७	४	११
पुरुषों की कुल संख्या	२०	३६	१७	७३
सर्वयोग	३२	६६	३७	१३५

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि चिरविवाहित पुरुषों की अपेक्षा एकाकी या अविवाहित युवक-युवतियों में स्वयंवर करने की प्रबल अभिलाषा है। ४२३ पुरुषों में

११ हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ५०५

१२ रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५२

१८ एकाकी पुरुषों ने विवाह के संबंध में पूर्ण स्वतन्त्रता की और २१ ने कुछ स्वतन्त्रता की माँग की, केवल तीन ही पुरुष ऐसे थे जो इसमें कोई स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे और इसका निर्णय माता-पिता पर छोड़ने के इच्छुक थे। किन्तु सद्योविवाहित पुरुषों में केवल ३ को पूर्ण स्वतन्त्रता मिली थी, १३ को आंशिक स्वतन्त्रता तथा पाँच को कोई स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हुई थी। चिरविवाहित पुरुषों में किसी को भी अपनी पत्नी का चुनाव करने में स्वतन्त्रता नहीं मिली थी। अविवाहित स्त्रियों में १४ पूर्ण अथवा आंशिक वरण स्वातन्त्र्य चाहती थी, किन्तु पाँच अब भी पति के चुनाव के लिए पूर्ण रूप से माता-पिता पर अवलम्बित रहना चाहती थी। सद्योविवाहिताओं में केवल तीन को पूरी, १३ को आंशिक तथा पाँच को कोई स्वतन्त्रता नहीं मिली थी। चिरविवाहिताओं में केवल दो को ही पूर्ण स्वतन्त्रता मिली थी, दस को आंशिक एवं दस को कोई भी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हुई थी।

ये आंकड़े इस बात को सूचित करते हैं कि (१) यद्यपि अविवाहित युवक युवतियां अपना जीवनसाथी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, तथापि अभी तक यह उन्हें उतनी अधिक मात्रा में नहीं मिल रही है, जितनी मात्रा में इसे वे पाने के लिए इच्छुक हैं। (२) अब भी युवक-युवतियों में काफी बड़ी संख्या यह चाहती है कि उनके विवाह का निर्णय माता-पिता ही करें। ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक माता-पिता वर-वधू के बारे में पूरा निश्चय करते थे, किन्तु अब युवक-युवतियाँ स्वयमेव यह चुनाव करना चाहती हैं और अपने चुनाव पर माता-पिता की स्वीकृति की मुहर लगवाना चाहते हैं।

वरण स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति शनैः-शनैः प्रत्येक पीढ़ी में किस प्रकार बढ़ रही है, यह रास के द्वारा प्रस्तुत किये गये एक महिला के निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगा—"जब हमारा विवाह हुआ तो मेरी आयु दस वर्ष की तथा मेरे पति की आयु १६ वर्ष की थी। मेरे माता-पिता ने विवाह से पहले मेरे पति को तथा उनके माता-पिता ने मुझे देखा था, किन्तु दोनों ने एक दूसरे को विवाह संस्कार से पहले नहीं देखा था। पिछले कुछ वर्षों में एक नयी प्रथा का विकास हुआ है, इसे 'लड़की देखना' कहते हैं। जिस समय मेरी लड़की की शादी हुई, उस समय यह नयी प्रथा थी। मेरी लड़की ने तथा उसके भावी पति ने एक दूसरे को देखा, किन्तु उन्हें विवाह से पहले एक दूसरे से बात करने की अनुमति नहीं दी गयी। किन्तु जब मेरी पोती की शादी हुई तो लड़के तथा लड़की ने एक दूसरे से बातचीत की और उन्हें इस बात की भी स्वतन्त्रता दी गयी कि वे विवाह से पहले एक साथ भ्रमण के लिए जा सकें, यद्यपि इसकी व्यवस्था माँ-बाप की ओर से की गयी थी।"[13] कई बार पुत्रों के आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो जाने पर भी उनकी यह इच्छा बनी रहती है कि माता-पिता ही उनकी जीवनसंगिनी का चुनाव करें। यह

[13] रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५२

बात दक्षिण भारत से आकर बम्बई में बस जाने वाले एक नवयुवक के विवरण से स्पष्ट हो जायगी। उसका यह कहना है कि "यद्यपि मैं पी-एच. डी. प्राप्त करने के बाद तत्काल विवाह करना चाहता हूं, किन्तु मैंने इस बात पर विचार नहीं किया कि मैं किस प्रकार की लड़की से शादी करूँगा। मैं इस बात के लिए अपने पिता पर भरोसा रखता हूं कि वे मेरे लिए लड़की ढूंढ देंगे और मुझे इसके लिए कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। मेरे माता-पिता ने मुझे इस बात की अनुमति दी है कि इस मामले में अन्तिम चुनाव करने का कार्य वे मुझे सौंपेंगे। शायद इसका यह कारण है कि वे यह बात अच्छी तरह से जानते हैं कि मैं उनकी इच्छा का विरोध नहीं करूँगा" (रास पृ० २५२)।

इस विषय में युवक माता-पिता की इच्छा का विरोध करना कई कारणों से ठीक नहीं समझते हैं।[१४] पहला कारण उनका यह विचार है कि उनके अनुभवी माता-पिता उनके हित के लिए दूर दृष्टि से सब बातों पर विचार करके उपयुक्त कन्या का चुनाव करते हैं, युवक माता-पिता की अपेक्षा अदूरदर्शी, अल्प एवं अपरिपक्व बुद्धि रखने वाले हैं, वे अनुभव-शून्यता के कारण तथा कामान्ध होकर अपने चुनाव में ऐसी भयंकर भूलें कर सकते हैं, जिनके लिए उन्हें जीवनपर्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ सकता है। इस कारण पर प्रकाश डालते हुए मर्चेण्ट (पृ० ६३) की गवेषणा में एक युवक ने कहा था—"माता-पिता हमारा कल्याण चाहते हैं, उनके परामर्श और सम्मतियां वर्तमान युवकों में विद्यमान उच्छृंखल कामवासना पर नियन्त्रण का कार्य करती हैं। जब प्रेमिका की आँखों का आकर्षण समाप्त हो जाता है तो इंगलैण्ड की भाँति यहाँ के युवक भी मदान्ध होकर कन्या का स्वयं चुनाव करने के दुष्परिणामों को भोगते हैं। अतः ऐसी परिस्थितियों के निवारण के लिए माता-पिता का हस्तक्षेप बड़ा लाभदायक होता है।"

माता-पिता पर जीवनसंगी के चुनाव के लिए निर्भर रहने का दूसरा कारण यह है कि भारत में अभी तक अविवाहित युवक-युवतियों द्वारा एक दूसरे के साथ सम्पर्क में आने, मिलने और परिचय प्राप्त करने के केन्द्र नहीं हैं। अतः एक युवक ने माता-पिता द्वारा वधू का निर्णय करने की पद्धति का समर्थन करते हुए लिखा था—"वर्तमान समय में हमारे समाज में पत्नी को पसन्द करने की एक मात्र यही पद्धति है। प्रणय-विवाह (Love Marriages) की पद्धति हमारे समाज में असंभव है, क्योंकि स्त्रियों को एक दूसरे से मिलने की तथा अपना जीवन साथी चुनने की कोई स्वतन्त्रता या अवसर नहीं है।[१५] किन्तु अब महाविद्यालयों, कालिजों और स्नातकोत्तर कक्षाओं में तथा शोध-कार्य में संलग्न छात्र-छात्राओं के लिये तथा बड़े शहरों के व्यापारिक संस्थानों में काम करने वाले युवक-युवतियों के लिए पारस्परिक सम्पर्क एवं परिचय पाने के अवसर बढ़

१४ मर्चेण्ट—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ६३-४

१५ मर्चेण्ट—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६४

रहे हैं। रास (पृ० २५६) ने इनके माध्यम से होने वाले कुछ रोचक विवाहों के दृष्टान्त दिये हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक युवक-युवती अपना जीवन संगी चुनने की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा रखने लगे हैं, किन्तु अधिकांश विवाह अब भी माता-पिता द्वारा तय किये जाते हैं, प्रायः माता-पिता लड़के के द्वारा पसन्द की गयी लड़की के लिए स्वीकृति दे देते हैं, और जब वे स्वयं लड़के के लिए लड़की ढूंढते हैं तो प्रायः लड़के से इसके लिए सहमति ले लेते हैं।[१६]

(४) विवाह की आयु का ऊंचा उठना

आज से ४०-५० वर्ष पहले हिन्दू समाज में बालविवाह की प्रथा का प्रचलन था पहले (पृ०३२२-५) इसके विकास पर प्रकाश डालते हुए यह बताया जा चुका है कि वर्तमान समय में शिक्षा के प्रसार, आर्थिक परिस्थितियों एवं वधू ढूंढने की परेशानियों के कारण वर-वधू के विवाह की आयु ऊंची उठ रही है। मर्चेण्ट द्वारा किये गये अनुसंधान में युवकों के मतानुसार विवाह की आयु लड़कों के लिए २२.६ वर्ष तथा लड़कियों के लिए १६.६ वर्ष और युवतियों के मतानुसार लड़कों के लिए २५ वर्ष तथा लड़कियों के लिए १६.७ वर्ष होनी चाहिए।[१७] हाटे द्वारा किये गये अनुसंधान में सामान्य स्त्रियों के विवाह की औसत आयु २४ वर्ष तथा शिक्षित स्त्रियों के विवाह की उम्र २६ वर्ष थी।[१८] इसका यह तात्पर्य है कि शहरों के मध्यम एवं शिक्षित वर्ग में बहुत देर में विवाह करने (Late Marriage) की प्रवृत्ति आरम्भ हो गयी है। इस प्रवृत्ति से दाम्पत्य जीवन में अनेक नयी समस्याएं उत्पन्न होने की संभावना है। बड़ी अवस्था में शादी करने वाले स्त्री-पुरुषों के विचार और आदतें परिपक्व होती हैं, उनमें सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिए आवश्यक समझौते और अनुकूल्य की भावना कम होती है। विवाह से पूर्व स्वतन्त्ररूप से कमाई करने वाले पति-पत्नी जब विवाह के बाद अपने वैयक्तिक सुख और मनोरंजन की प्राप्ति में बाधा देखते हैं तो उनमें कलह का सूत्रपात हो जाता है, वैवाहिक जीवन की स्थिरता कम होने लगती है, विवाहविच्छेद बढ़ने लगते हैं।

न केवल विवाह की उम्र का ऊँचा उठना, अपितु विवाह के समय पति-पत्नी

१६ रास ने कुछ ऐसे भी उदाहरणों का उल्लेख किया है जिनमें युवक-युवतियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध माता-पिता के आग्रह से विवाह करने के लिए विवश होना पड़ा है (पृ० २५७)

१७ मर्चेण्ट—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २२३

१८ हाटे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१

की उम्र में अन्तर कम होना भी इनके दाम्पत्य जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है। हिन्दू परम्परा के अनुसार पतिव्रता स्त्री का यह धर्म है कि वह पति की आज्ञा का पालन करे, उसे देवता समझे तथा उसकी पूजा करे। यह तभी संभव है जब पति-पत्नी की उम्र में काफी अन्तर हो, पति पत्नी से कई साल बड़ा हो। अब तक दोनों की आयु में पर्याप्त अन्तर होता था। श्रीनिवास ने मैसूर की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर यह बताया है कि पति-पत्नी की उम्र का अन्तर वहाँ छः महीने से २० वर्ष तक का था। सब वर्गों के लिए औसत अन्तर १० वर्ष का था।[१९] रास के अध्ययन में अविवाहित स्त्री-पुरुषों ने इस बात के लिए उत्सुकता प्रकट की कि पति-पत्नी की उम्र में अन्तर कम होना चाहिए।[२०] किन्तु इस अध्ययन के नव विवाहित स्त्री-पुरुषों में यह अन्तर ८.६ वर्ष तथा चिरविवाहितों में ७.६ वर्ष था। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि युवक-युवतियां अपनी वैवाहिक आयु का अन्तर कम करने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु अभी तक यह अन्तर वास्तव में कम नहीं हो रहा है। वस्तुतः नवविवाहितों में चिरविवाहितों की अपेक्षा यह अन्तर पहले से कम होने के स्थान पर कुछ अधिक बढ़ गया है। इस अध्ययन से यह भी पता लगा है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह भावना अधिक है कि पति-पत्नी की उम्र में अन्तर कम होना चाहिए और दोनों की उम्र लगभग समान होनी चाहिए। समानतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि स्त्रियों में यह भावना अधिक है। पति-पत्नी की उम्र में अन्तर कम होने का एक परिणाम यह होगा कि पत्नी पति से उम्र में अधिक न होने के कारण परम्परागत आदर और प्रतिष्ठा के भाव कम रखेगी, पति के साथ समान आयु के कारण मित्रता की भावना अधिक होगी। अभी तक वर ढूंढने की कठिनाई के कारण पति-पत्नी की उम्र में यह अन्तर पहले की अपेक्षा बहुत कम नहीं हुआ है, निकट भविष्य में इसके कम होने की संभावना अधिक नहीं है। हिन्दू समाज में पुरुष के लिए अपने से बड़ी अवस्था की स्त्री से विवाह करना पाप समझा जाता है। सामान्य रूप से पत्नी से यह आशा रखी जाती है कि वह पति का चरण स्पर्श करे, किन्तु यदि वह पति से अधिक उम्र की है तो वह उसके पैर कैसे छू सकती है?

(५) प्रणय विवाह और रोमांचक प्रेम (Love Marriage and Romantic Love)

प्राचीन भारत में दुष्यन्त और शकुन्तला प्रणय विवाह का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र से प्रतीत होता है कि उस समय गान्धर्व विवाह बहुत लोक-

१९ श्री निवास—मैरिज एण्ड फैमिली पृ० ६३।
२० रास—वही पृ० २५०

प्रिय थे, किन्तु बालविवाहों का अधिक प्रचलन होने से हिन्दू समाज में प्रणय-विवाह की प्रथा सर्वथा लुप्त हो गयी। आजकल उपन्यासों तथा सिनेमा के चित्रों से प्रणय-विवाहों की प्रवृत्ति को प्रबल प्रोत्साहन मिल रहा है। सिनेमा हाल के परदों पर दिखाये जाने वाले सुहावने दृश्यों से मुग्ध होकर आधुनिक युवक-युवतियाँ प्रणय विवाह के मधुर सपने लेने लगते हैं और इस प्रकार के विवाहों को आदर्श समझने लगते हैं। मर्चेन्ट की गवेषणा में एक युवक ने यह घोषणा की थी कि "विवाह में जीवनसंगी प्रणय-विवाहों द्वारा चुने जाने चाहिए, अन्यथा विवाह वैध वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, विवाह का वास्तविक आधार प्रणय और रोमांचक प्रेम ही होना चाहिए"।

किन्तु रास के अध्ययन से यह प्रतीत होता है[२१] कि अभी तक हिन्दू समाज में माता-पिता द्वारा आयोजित विवाहों (Arranged marriages) की व्यवस्था बद्धमूल है और रोमांचक प्रेम को विवाह के आधार के रूप में बहुत कम स्वीकार किया जाता है, प्रणय विवाहों की संख्या और प्रभाव नगण्य है। रास के अध्ययन में तीन चार विवाहित महिलाओं ने ही प्रणय विवाह किये थे, किन्तु वे विवाहित जीवन के इस पहलू के संबंध में कुछ बातचीत करने के लिये तैयार नहीं थीं, इससे यह सूचित होता है कि वे उपर्युक्त युवक की भाँति प्रणय-विवाह करने में कोई अच्छा या बड़ा काम करने का गर्व अथवा गौरव अनुभव नहीं करती थीं और इसे विवाह का आधार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थीं।

इस अध्ययन के कुछ उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि माता-पिता को तब कोई प्रसन्नता नहीं होती, जब उनकी सन्तान प्रणय-विवाह करती है। वे अपनी सन्तान के प्रणय-विवाह का घोर विरोध करते हैं और इस कारण ऐसा विवाह करने वालों को बड़ी परेशानी और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ एक युवक को अपने से हीन जाति की कन्या के साथ प्रणय विवाह करने पर जो परेशानी उठानी पड़ी, उसका चित्रण निम्नलिखित संदर्भ में है—"अपने प्रणय-विवाह से मुझे बड़ी मुसीबत में फंसना पड़ा, क्योंकि कन्या के प्रति उत्कट प्रेम में तथा माता-पिता के प्रति प्रगाढ़ प्रेम में मैं कोई समन्वय या समझौता नहीं कर सका था। मेरे माता-पिता हमारे संबंध को पसन्द नहीं करते थे, मैं उन्हें अप्रसन्न नहीं कर सकता था, दूसरी ओर मैं उस लड़की को भी नहीं छोड़ सकता था, जिसने मेरे लिए इतना अधिक कार्य किया था। मेरी प्रगति का तथा मेरे उज्ज्वल भविष्य का श्रेय उसी को है। इस समय मेरा सबसे बड़ा सिरदर्द यह समस्या बनी हुई है।"[२२]

रास द्वारा वर्णित कुछ परिवारों में माता-पिता ने अपने लड़के-लड़कियों के प्रणय-विवाहों को भंग करने का पूरा प्रयास किया, वे इन्हें कोरा पागलपन समझते थे। माता-पिता के विरोध के कारण कई बार लड़कियाँ अपने प्रणय-विवाह का विचार छोड़

२१ रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१६
२२ रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६६

देती है। किन्तु कई युवतियाँ जब अपने निश्चय पर अटल रहते हुए ऐसे विवाह कर लेती है तो उन्हें माता-पिता द्वारा अपने परिवार से बहिष्कृत और निर्वासित कर दिये जाने से जो परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं, उनका वर्णन इस उदाहरण में किया गया है—"मेरी माता हमारे विवाह के लिए सहमत नहीं थी, क्योंकि मेरे पति की शिक्षा कम थी, सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। माँ का यह भी विचार था कि मेरे पति की आयु अधिक थी। लड़के के पिता को इस विवाह पर यह आपत्ति थी कि हम एक जाति के नही थे। मैंने अपने माता-पिता को अपने पति के वास्तविक गुणों का परिचय देने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हमने माता-पिता को अपने विवाह का निमन्त्रण भेजा, किन्तु हमारे विवाह में कोई भी सम्मिलित नही हुआ। इसके बाद उन्होंने हमसे संबंध विच्छिन्न कर लिये। मैं अपने माता-पिता को केवल सार्वजनिक स्थानों और सभाओं में ही मिलती हूँ, किन्तु वे मुझ से कोई बात नहीं करते हैं। हम भी अब उनसे कोई घनिष्ठ संबंध रखने के लिए उत्सुक नही हैं।"[२३] इससे यह स्पष्ट है कि प्रणय-विवाह कई बार स्थायी रूप से माता-पिता और सन्तान के संबंध को विच्छिन्न कर देता है। यह खतरा बहुत कम युवक-युवतियाँ उठाना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रणय-विवाहों की एक अन्य समस्या भी है। भारतीय एवं विदेशी सिनेमा-चित्र प्रणय-विवाहों के बारे में युवक-युवतियों में बहुत बड़ी आशा उत्पन्न कर देते है, किन्तु यह आशा प्रायः पूरी नहीं होती, इस कारण पैदा होने वाला गम्भीर नैराश्य भी इन विवाहों के प्रसार में बाधक है। अतः अभी तक हिन्दू समाज में प्रणय-विवाहों का प्रचलन बहुत कम हुआ है और भविष्य में भी इस प्रथा के प्रसार की अधिक संभावना प्रतीत नहीं होती है।

(६) अन्तर्जातीय विवाह

वर्तमान युग में आधुनिक परिस्थितियाँ अन्तर्जातीय विवाहों के संबंध में किस प्रकार सहायक सिद्ध हो रही हैं, इसका विवेचन पहले (पृ० १४१९) किया जा चुका है। रास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस विषय में पुरुषों के विचार स्त्रियों की अपेक्षा अधिक उदार हैं।[२४] वे न केवल अन्तर्जातीय (Intercaste) अपितु विभिन्न नस्लों वाले अन्तःप्रजातीय (Interracial), विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय वालों का अनुसरण करने वाले तथा अन्तर्धर्म (Interreligious) विवाहों के समर्थक हैं। अभी तक अन्तः प्रजातीय तथा अन्तर्धर्म विवाह हिन्दू समाज में बहुत कम होते हैं, पहले प्रकार का सुप्रसिद्ध उदाहरण १९६८ में श्रीमती इन्दिरा गांधी के पुत्र राजीव गांधी का एक इटालियन कन्या सोनिया के साथ विवाह है। इन विवाहों के बहुत कम होने के कारण यहाँ केवल अन्तर्जातीय विवाहों

२३ रास—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २६६

२४ वही, पृ० २७०

पर ही विचार किया जायगा।

अन्तर्जातीय विवाहों में सबसे बड़ी समस्या अपने परिवार और जाति के साथ सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने की है। प्रायः माता-पिता तथा जाति-बिरादरी के अन्य संबंधी ऐसे विवाह करने वालों का सामाजिक बहिष्कार कर देते हैं और नव दम्पती अपने माता-पिता और जाति से जीवनयापन में प्राप्त हो सकने वाले बहुमूल्य सहयोग से वंचित हो जाते हैं। किन्तु यदि वे आर्थिक दृष्टि से समर्थ एवं स्वावलम्बी होते हैं और माता-पिता से कोई सहायता नहीं मांगते हैं तो कुछ समय बाद स्वाभाविक प्रेम और ममता की भावना प्रबल हो जाती है और उनका मां-बाप तथा बिरादरी से समझौता हो जाता है। अतः अन्तर्जातीय विवाहों के समर्थक इनकी सफलता के लिए पति-पत्नी का आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि उन्हें काफी समय तक अपने माता-पिता से सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिए।[२५] पुरुषों ने दो कारणों के आधार पर अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया था। पहला कारण तो यह था कि इससे हिन्दू समाज को क्षीण एवं दूषित बनाने वाली एक कुप्रथा का अन्त होगा, उत्तम समाज का निर्माण होगा, इससे अस्पृश्यता के कलंक का उन्मूलन तथा जातिभेद का निवारण होगा। दूसरा कारण यह था कि प्रणय-विवाहों में जातिप्रथा बाधक नहीं होनी चाहिए।[२६]

किन्तु स्त्रियाँ इन विवाहों की इतनी उग्र समर्थक नहीं थीं। इनमें २५ प्रतिशत ने अन्तः प्रजातीय तथा अन्तर्धर्म विवाहों का तथा ४३ प्रतिशत ने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया, जबकि पुरुषों में ७३ प्रतिशत अन्तर्जातीय विवाहों के समर्थक थे। स्त्रियों द्वारा ऐसे विवाहों के विरोध का प्रधान कारण यह था कि ऐसे विवाह करने वाले पति-पत्नी अपनी जाति के रीति-रिवाजों और परम्पराओं के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित कर सकते। एक युवती के मतानुसार ऐसे विवाह सफल नहीं हो सकते, क्योंकि हममें धार्मिक एवं जाति विषयक नियम इतने अधिक सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो चुके हैं कि हम विभिन्न आदर्शों और रीतिरिवाजों में पले हुए व्यक्तियों के साथ समन्वय नहीं कर सकते हैं, यदि विवाह असफल हुआ तो माता-पिता अपनी लड़की को अपने परिवार में वापस नहीं ले सकेंगे।[२७] इस प्रकार ऐसी लड़की अपने माता-पिता से प्राप्त होने वाले स्वाभाविक संरक्षण से वंचित हो जायगी और ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को अकारण ही इसके दुष्परिणाम भोगने पड़ेंगे। इसके विपरीत अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन स्त्रियों ने इस युक्ति के आधार पर किया कि विवाह एक वैयक्तिक मामला है, प्रत्येक युवक-युवती को अपना जीवनसाथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक महिला ने इस विषय

२५ रास—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २७१

२६ रास—पू० पु०, पृ० २७०

२७ रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७१

में बड़ा उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा—"मैं अपने दो लड़कों को तथा लड़की को अपना जीवनसाथी चुनने में खुली छूट दूंगी, अन्तर्जातीय और प्रणय विवाह तभी सफल हो सकते हैं जब माता-पिता के विचार उदार हों।"[२८]

किन्तु विचारों की इस उदारता को क्रियात्मक रूप देना बहुत कठिन है। इस प्रकार के विचार रखने वाले व्यक्ति स्वयमेव अपनी सन्तान का अन्तर्जातीय विवाह करते हुए इसलिए संकोच करते हैं कि यह प्रथा अपने आप में बुरी न होने पर भी प्रचलित लोकमत के विरुद्ध है और इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः अन्तर्जातीय विवाहों की इच्छा और प्रवृत्ति होते हुए भी अभी तक हिन्दू समाज में अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन अधिक नहीं हुआ है। इस विषय में रास ने यह परिणाम निकाला है कि आधुनिक विचारों वाले अनेक व्यक्ति यह मानते हैं कि अन्तर्जातीय विवाहों की अनुमति दी जानी चाहिए, किन्तु वे यह भी समझते हैं कि इससे जातीय प्रथा में विश्वास रखने वाले हिन्दू समाज में मौलिक परिवर्तन होने से अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, अतः वे अन्तर्जातीय विवाहों के लिए उसी हद तक जाने को तैयार हैं जिस हद तक जातिप्रथा की व्यवस्था में विक्षोभ न हो, अतः वे उपजातियों का बन्धन तोड़ने में हानि समझते हैं। किन्तु अन्तर्जातीय विवाह अभी तक केवल ऐसी अवस्थाओं में ही किये जाते हैं, जब युवक-युवती के पारस्परिक प्रेम का आकर्षण इतना प्रबल और प्रगाढ़ हो कि वे पारिवारिक परम्पराओं और रीति-रिवाजों के विरुद्ध विद्रोह करने को तैयार हों अथवा उन्हें अन्तर्जातीय विवाह का नियम तोड़ते हुए इससे उत्पन्न होने वाली परेशानियों की अपेक्षा सम्पत्ति एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के ऐसे ठोस लाभ प्राप्त हों जिनके कारण ऐसे विवाह से पैदा हुई समस्याओं और कठिनाइयों का समुचित समाधान हो सके।[२९]

(७) विवाह संस्कार में परिवर्तन

हिन्दू समाज में विवाह संभवतः जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। वैदिक युग से इस संस्कार के लिए गृह्य सूत्रों द्वारा विस्तृत विधि-विधानों की व्यवस्था की गयी है और इसे अत्यधिक धूमधाम से मनाया जाता है। मैकडानल ने लिखा है कि वैवाहिक कर्मकाण्ड निठल्ले पुरोहितों द्वारा पूर्ण रूप से सोचविचार कर इस उद्देश्य से बनाया गया है कि इससे हिन्दू जनता का मन आध्यात्मिक दृष्टि से उनके अधीन बना रहे।[३०] ये वैवाहिक विधियाँ तत्कालीन नीरस कृषिप्रधान जीवन में आनन्द प्रदान करने का एक प्रधान स्रोत थीं, बरातें बहुत बड़ी संख्या में ले जायी जाती थीं, शादी की विधियाँ

२८ रास—पू० पु०, पृ० २७३
२९ रास—पू० पु०, पृ० २७३
३० मैकडानल—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६३

काफी लम्बे समय तक चलती थी। किन्तु अब उद्योगीकरण (Industrialization), नगरीकरण (Urbanization) तथा पश्चिमीकरण (Westernization) की नवीन परिस्थितियों के प्रभाव से इसमें निम्नलिखित परिवर्तन हो रहे हैं।

(क) **विवाह संस्कार के समय में कमी**—मैसूर की १९५१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार तीस-चालीस वर्ष पहले एक दिन में सम्पन्न होने वाले विवाह अपवाद रूप में थे,[31] अधिकांश विवाह कई दिनों तक चलने वाले होते थे, विवाह संस्कार की विधि बहुत लम्बी होती थी। किन्तु शहरों में नौकरी करने वाले तथा लघु कथाएं पढ़ने वाले और सब मामलों में लघुपथ ढूंढने वाले आधुनिक नर-नारी वैवाहिक विधियों के संक्षिप्त रूप को अधिक पसन्द करते हैं, वे रात भर में समाप्त होने वाली विधियों को एक दो घण्टों में समाप्त करना चाहते हैं। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे सुधारक विवाह संस्कार का महत्व वर-वधू तथा अन्य जनों को समझाने के लिए संस्कृत मंत्रों के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग का समर्थन करते हैं।

(ख) **पारिवारिक सम्मिलन के केन्द्र के रूप में विवाहों का महत्त्व कम होना**—पहले विवाह के अवसरों पर दूर-दूर से सब संबंधी एकत्र होते थे और कई सप्ताह तक इकट्ठे रहा करते थे, गांवों में शादी ब्याहों के अवसरों पर सब संबंधियों की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। किन्तु अब नगरों में स्थान की कमी, राशन की व्यवस्था, खाद्य सामग्री की कमी और मँहगाई से इस परिस्थिति में अन्तर आने लगा है। पहले माँ-बाप को बच्चों की पढ़ाई की तथा स्कूल में उपस्थिति की अधिक चिन्ता नहीं होती थी। अब बच्चों का स्कूल से अधिक दिन के लिए अनुपस्थित रहना उचित नहीं समझा जाता, अतः बच्चों के साथ कई दिन के लिए विवाहों में सम्मिलित होना अब संभव नहीं रहा है। नौकरी करने वाले व्यक्तियों को लम्बी छुट्टियां लेने में परेशानी होती है, अतः विवाह में विभिन्न परिवारों द्वारा अपने परिवार के सभी प्राणियों के साथ शादी-ब्याहों में भाग लेने की पुरानी परिपाटी कम हो रही है। विभिन्न परिवार अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए एक दो व्यक्तियों को भेज देते हैं, आने जाने में होने वाले भारी व्यय और छुट्टी आदि की असुविधा के कारण मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजने की भी परिपाटी चल पड़ी है। अब विवाह का पर्व परिवार के विभिन्न व्यक्तियों के एकत्र होने की दृष्टि से अपना महत्व खोने लगा है।

(ग) **विवाहों के व्यय में कमी**—हिन्दू विवाहों में कन्या के माता-पिता समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए दहेज देने तथा वर पक्ष को सन्तुष्ट करने के लिए अपनी हैसियत से बहुत अधिक खर्च करते हैं। श्रीनिवास के शब्दों में "विवाहों में किया जाने वाला व्यय बहुत अधिक होता है...इस व्यय को कम करने में प्रधान बाधाएँ हैं—

31 सेन्सस आफ इण्डिया, १९५१ खण्ड १४ मैसूर पृ० १०७

अहंकार और प्रदर्शन की भावना, कड़िवादिता और ब्राह्मणों में वरपक्ष की धनलोलुपता। अपने दैनिक व्यय में पाई पाई की बचत करने वाले कंजूस विवाह के समय अन्धाधुन्ध खर्च करते हैं।''' सहकारी समितियों से ऋण लेने का कारण प्रायः लड़के या लड़की का विवाह होता है।''' अत्यधिक व्यय कम करने की दृष्टि से अब एक दिन में विवाह करने का रिवाज चल पड़ा है।"[३२] भारतीय समाजसुधारक शादी ब्याहों पर व्यय कम करने पर बहुत बल देते रहे हैं, किन्तु उपर्युक्त कारणों से इस व्यय में कमी होने की कम संभावना है।

(८) विवाह विच्छेद की प्रवृत्ति

पहले यह बताया जा चुका है कि वर्तमान समय में १९५५ के हिन्दू विवाह कानून द्वारा किस प्रकार तलाक या विवाह विच्छेद की व्यवस्था की गयी है (पृ० २६६)। यहाँ केवल इस विषय में आधुनिक युवक-युवतियों के ऐसे विचारों का उल्लेख किया जायगा, जिनसे इसके भावी स्वरूप पर प्रकाश पड़ सके। इस कानून से पहले हिन्दू समाज के उच्च वर्गों में विवाह एक अविच्छेद्य बन्धन था, किन्तु यह व्यवस्था केवल स्त्रियों के लिए थी क्योंकि पुरुषों के पुनर्विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अतः हिन्दू समाज में तलाक की मांग स्त्रियों की ओर से अधिक प्रबलता से की जाती थी। यह मांग जिन कारणों के आधार पर की जाती थी, उन पर रास के अध्ययन से सुन्दर प्रकाश पड़ता है[३३]। इस विषय में उत्तर देने वाली पैंसठ स्त्रियों में से ग्यारह बिना किसी प्रतिबन्ध के तलाक का अधिकार देने के पक्ष में थीं, तैंतालीस का यह विचार था कि यह कुछ विशेष कारणों के आधार पर दिया जाना चाहिए, सोलह इसका अधिकार असाधारण परिस्थितियों में ही देना चाहती थीं और ग्यारह स्त्रियों का यह मत था कि यह अधिकार किसी भी दशा में नहीं दिया जाना चाहिए। विवाह विच्छेद के अधिकार को बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त रूप से देने का समर्थन स्त्रियों ने प्रधान रूप से समानता की युक्ति के आधार पर किया, उनका यह कहना था कि जब एक पक्ष (पति) दूसरे पक्ष (पत्नी) को छोड़ सकता है तो दूसरे पक्ष को भी पहले पक्ष को छोड़ने का अधिकार होना चाहिए। स्त्रियाँ पहले ही निर्बल हैं, उन्हें पुरुषों की भाँति इसका अधिकार न देकर उनको भीषण कष्ट भोगने के लिए विवश किया जाता है, यह उनके साथ घोर अन्याय है, इसका प्रतिकार तलाक के निर्बन्ध अधिकार द्वारा होना चाहिए। इस विषय में यह आशंका करना निर्मूल है कि तलाक का कानून बना देने से लोग तलाक पाने के लिए न्यायालयों में दौड़ने लगेंगे। इसका लाभ केवल अत्यधिक कष्टपीड़ित स्त्रियां उठायेंगी। यह ऐसी स्त्रियों के लिए वरदान सिद्ध होगा,

३२ श्री निवास—मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० ६०-६१

३३ रास—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७४

क्योंकि अब तक उन्हें कानून द्वारा अपने पति से पृथक् होने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसी स्त्रियाँ जीते हुए नारकीय जीवन का दुःख भोग रही हैं, उनके लिए तलाक की व्यवस्था जीवित मृत्यु की अपेक्षा अधिक अच्छी है। पतियों द्वारा अतीव क्षुद्र कारणों के आधार पर छोड़ी गयी पत्नियों को इससे अपने घोर कष्ट के निवारण में बड़ी सहायता मिलेगी।[३४] इसके समर्थन में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि माता-पिता द्वारा आयोजित विवाहों में अनेक विवाह दुःखमय हो सकते हैं, इनका समाधान करने की दृष्टि से यह सेफ्टी वाल्व (safety valve) का काम करता है।

तलाक की व्यवस्था का विरोध करने वाली स्त्रियों के तर्क निम्नलिखित थे—(१) यह व्यवस्था विवाह की पवित्रता को कम करने वाली है। (२) यह आवश्यक नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि अब लड़कियों का विवाह काफी बड़ी आयु में होने लगा है और इससे पहले वे अपनी सहमति दे सकती हैं। (३) इस व्यवस्था से अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलेगा, वैवाहिक जीवन में अस्थिरता बढ़ेगी, एक सच्ची हिन्दू स्त्री के लिए दूसरे पति के साथ रहने की अपेक्षा मर जाना अधिक अच्छा है।

इस विषय में पुरुषों का दृष्टिकोण स्त्रियों के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न था। पुरुषों में तलाक का समर्थन करने वालों की संख्या कम थी। ६६ पुरुषों में केवल चार ने सर्वथा प्रतिबन्ध रहित तलाक की व्यवस्था की मांग की, दस इसकी व्यवस्था कुछ कारणों के आधार पर करना चाहते थे तथा इकतालीस असाधारण परिस्थितियों की दशा में, ग्यारह के मत में यह व्यवस्था किसी भी दशा में नहीं होनी चाहिए थी। पुरुषों द्वारा तलाक के लिए बताये गये कारण स्त्रियों द्वारा प्रतिपादित कारणों से कुछ भिन्न थे। स्त्रियों ने इसके लिए कोढ़, यौनरोग, राजयक्ष्मा और असाध्य बीमारियों के कारणों को प्राथमिकता दी थी, पुरुषों ने इन्हें गौण स्थान दिया। उनकी दृष्टि में इनका दूसरा स्थान था, पहला स्थान उन्होंने पत्नी के साथ प्रतिकूलता (Incompatibility) अर्थात् उसके साथ स्वभावादि न मिलने को दिया। तीसरा कारण पागलपन तथा चौथा कारण सन्तानोत्पादन में अक्षमता थी। प्रतिकूलता की व्याख्या करते हुए कुछ पुरुषों ने यह कहा था कि स्वभाव में तथा व्यक्तित्व में अन्तर होने पर तलाक की व्यवस्था होनी चाहिए, जब व्यक्तित्व एवं रुचियों में विभिन्नता होने के कारण वैवाहिक जीवन दुःखमय हो जाय तो इसका एकमात्र समाधान विवाह-विच्छेद है। तलाक की व्यवस्था के विरोध में पुरुषों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दीं[३५]—(१) तलाक और धार्मिक संस्कार द्वारा सम्पन्न होने वाला विवाह (Sacramental marriage) दो सर्वथा परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं, इनका एकत्र रहना संभव नहीं है। (२) तलाक अमरीका में एक

[३४] रास—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २७४

[३५] रास—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २७५

तमाशा बना हुआ है, ऐसा यहाँ नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो इसका पारिवारिक जीवन पर गहरा अनिष्ट प्रभाव पड़ेगा। (३) यह हिन्दू स्त्री के सतीत्व और पवित्रता के विचार को बिलकुल नष्टभ्रष्ट कर देगा।

वर्तमान समय के शिक्षित हिन्दू युवक—युवतियों के उपर्युक्त विचार यह सूचित करते हैं कि अभी तक कानून द्वारा व्यवस्था हो जाने पर भी सामान्य रूप से तलाक के विरुद्ध काफी प्रबल भावना है। इसका उपयोग असाधारण एवं विषम परिस्थितियों में ही उपयुक्त समझा जाता है।

(६) पत्नी के आदर्श और स्थिति में परिवर्तन-अनुचरी से सहचरी बनना

पुराने हिन्दू परिवार में विवाह के बाद पत्नी का प्रधान कर्तव्य पति की सेवा और उसकी आज्ञा का पालन करना था, वह पति को देवता मानती थी और उसकी पूजा करती थी, उसका आदर्श सीता और सावित्री था।[३६] पत्नी की स्थिति परिवार में बहुत हीन थी, किन्तु इसे वह स्वेच्छापूर्वक बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किये हुए थी, इसमें उसे परम सन्तोष और सुख का अनुभव होता था। एक विदेशी महिला बैकमान (Bachmann) ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है[३७]—"हमें (पाश्चात्य लोगों को पत्नी का यह विचार) अपमानजनक प्रतीत होता है कि मैं आपके चरणों की दासी हूं, किन्तु परवर्ती हिन्दू धर्म ने पत्नी के इस आदर्श पर बहुत बल दिया है कि उसे पूरी भक्ति और निःस्वार्थ भावना से अपने पति को स्वामी और देवता समझते हुए उसकी पूजा करनी चाहिए ... उसे (हिन्दू पत्नी को पति के) चरणों की दासी बनने में कोई अपमान प्रतीत नहीं होता है ... वह प्रबल धार्मिक उत्साह से अपने धर्म का पालन करती है इस धर्म का अल्प ज्ञान उसे याज्ञिक कर्मकाण्ड, ध्यान—समाधि आदि से नहीं होता है अपितु इसका पालन वह एक दास की भाँति अपने पति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण से, उसकी आज्ञा के पालन से और उसकी सेवा से करती है। अतः हिन्दू नववधू परम आनन्द से अपने हाथों में चूड़ियां पहनती है, यद्यपि ये उसकी दासता का प्रतीक हैं"। बैकमान ने महात्मा गांधी की पत्नी कस्तूरबा के उदाहरण से यह स्पष्ट किया है कि हिन्दू स्त्रियां वस्तुतः स्वेच्छापूर्वक पति को देवता समझते हुए उसकी सेवा करती थीं, उसकेशब्दोंमें बा को जाननेवाला प्रत्येक व्यक्ति यह विश्वास करने के लिए बाधित होगा कि पति की चिता पर सती होने

३६ रास—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १०५, १५८, हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १०८-१४३।

३७ बैकमान हेडविग—आन दी सोल आफ दी इंडियन वुमैन एज रिफलैक्टेड इन दी फोक लोर आफ कोंकण २ खण्ड, १९४२, पृ० ५७, १४८, १५०

वाली स्त्रियों का आत्मसमर्पण कुछ अवस्थाओं में पूर्णरूप से स्वेच्छापूर्वक होता था।"[३८]

पत्नी की स्थिति को प्रभावित करने वाला एक अन्य तत्त्व पति-पत्नी की आयु में अत्यधिक अन्तर का होना था। पहले पत्नी पति से न केवल बहुत छोटी होती थी, अपितु उसकी शिक्षा भी कम होती थी और घर की चहारदीवारी में बन्द रहने के कारण उसका अनुभव भी बहुत कम होता था। अतः आयु, शिक्षा तथा अनुभव में पत्नी से बढ़ा-चढ़ा होने के कारण पति उससे समानता का व्यवहार नहीं कर सकता था, परिवार में उसकी स्थिति स्वाभाविक रूप से पत्नी से ऊँची रहती थी।

किन्तु उद्योगीकरण, नगरीकरण और पश्चिमीकरण की नवीन परिस्थितियां पति को देवता बनाने वाले उपर्युक्त दोनों तत्त्वों पर गहरा प्रभाव डालने लगी हैं। आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने वाली तथा पश्चिम की समानाधिकार की भावना से अनुप्राणित युवतियां पति को देवता मानने के शास्त्रीय आदर्शों को आंखमूंद कर पालन करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पति की सेविका और चरणों की दासी बनने के स्थान पर पति की सखा और मित्र (Companion and friend) बनना चाहती हैं। रास के अध्ययन में चार स्त्रियों ने अपने भावी पति की एक विशेषता उस का मित्र होना बताया।[३९] इसी प्रकार तेरह पुरुषों ने पत्नी के साथी और मित्र होने तथा सात अन्य पुरुषों ने इसके मित्र होने पर बल दिया। सात अविवाहित पुरुषों ने कहा कि वे अपनी पत्नियों पर शासन नहीं करना चाहते हैं, इसी प्रकार चार अविवाहित स्त्रियों ने यह इच्छा व्यक्त की कि वे अपने पतियों पर हावी नहीं होना चाहतीं। पुराने आदर्शों के परिवर्तन के संबंध में एक ने यह लिखा था—"पहले लड़कियों को बचपन से सीता की कहानियाँ सुनायी जाती थीं। उन्हें यह कहा जाता था कि उसमें आदर्श पत्नी के सभी गुण थे। उनके माता पिता, दादा, दादी उनको यह शिक्षा दिया करते थे कि उन्हें अपने पतियों का वशवर्ती रहना चाहिए' ' ' किन्तु अब लड़कियाँ यह कहती हैं कि सीता बेवकूफ (Gully) थी क्योंकि उसने पातिव्रत्य धर्म का पालन किया था। लड़कियाँ यह सोचने लगी हैं कि विवाह में केवल उन्हें ही अपने को दूसरे पक्ष के अनुकूल नहीं बनाना है। इससे पहले वही दूसरे पक्ष के साथ पूरा आनुकूल्य स्थापित करती थी।"[४०] इस प्रकार पातिव्रत्य के पुराने आदर्शों में आधुनिक युवक-युवतियों का विश्वास शिथिल हो रहा है और यह परिवार में पति की प्रभुता के एक प्रधान स्तम्भ की नींव खोखला कर रहा है।

इसे प्रभावित करने वाला दूसरा तत्त्व विवाह की आयु का ऊँचा उठना है।

३८ कैपमान—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५६
३९ रास—दी हिन्दू फैमिली, पृ० २५८
४० रास—दी हिन्दू फैमिली, पृ० २५६

अब विवाह के समय पत्नी की अवस्था, शिक्षा और अनुभव पहले की अपेक्षा अधिक होता है, अतः उसकी स्थिति परिवार में स्वतः महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वह पति की सेविका न रह कर उसकी साथी और सखी बनने लगती है, दोनों के संबंध स्वामी-सेवक के नहीं होते; अपितु इनके समानता के स्तर पर आधारित होने की प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है।

किन्तु रास के मतानुसार अभी तक हिन्दू समाज में पति-पत्नी के संबंध के परम्परागत उपर्युक्त दृष्टिकोण के स्थान पर समानता के नवीन आदर्श को सुप्रतिष्ठित होने में काफी समय लगेगा।[४१] रास ने यह परिणाम श्रीमती औ० वी० देसाई द्वारा गुजराती स्त्रियों के संबंध में की गयी एक गवेषणा के आधार पर निकाला है। इसके अनुसार यद्यपि कुछ हिन्दू स्त्रियाँ अपने ऊपर पतियों के पूर्ण प्रभुत्व का प्रबल विरोध करती हैं, तथापि अधिकांश स्त्रियाँ परिवार में अपनी हीन स्थिति के पुराने विचार को स्वीकार करती हैं। रास के अध्ययन से भी यही प्रकट होता है कि स्त्रियाँ परिवार में अपनी हीन स्थिति को सर्वथा स्वाभाविक समझती हैं।

किन्तु रास के अध्ययन में कुछ उदाहरण ऐसे भी थे, जो इसमें शनैः-शनैः होने वाले परिवर्तन को सूचित करते हैं।[४२] इनसे यह प्रकट होता है कि कुछ स्त्रियाँ परिवार में पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में शासन का प्रयोग करने लगी हैं, उनकी स्थिति ऊँची उठने लगी है। एक युवती ने इसे एक सुन्दर दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए लिखा था कि पहले सड़कों पर जब पति-पत्नी निकलते थे तो पति लम्बे डग भरते हुए आगे-आगे चलते थे और पत्नियाँ अपने बच्चों और थैलों को लिए हुए उनके पीछे-पीछे चलती थीं, किन्तु अब पति बच्चे और थैले लेकर चलता है और पत्नी उसके साथ चलती है।[४३] इस प्रकार पत्नी अनुचरी से सहचरी बन रही है।

(१०) दाम्पत्य अधिकारों में विषमता की समाप्ति

पुराने शास्त्रीय हिन्दू विवाहों का एक बहुत बड़ा दोष नर-नारी के दाम्पत्य अधिकारों में घोर विषमता थी। इसमें पुरुष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह (अधिवेदन) कर सकता था। किन्तु पत्नी को पुनर्विवाह का कोई अधिकार नहीं था। शास्त्रकारों ने पुरुष को पुनर्विवाह तथा अधिवेदन का अधिकार पुत्र प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा तथा धर्म पालन की चिन्ता के कारण दिया था। आपस्तम्ब (२।५।११।१२) ने कहा था कि धर्म तथा सन्तान का

४१ रास—दी हिन्दू फैमिली, पृ० १०७
४२ रास—दी हिन्दू फैमिली, पृ० १०८
४३ रास—वही, पृ० १०८

प्रयोजन पूर्ण होने पर पुरुष दूसरा विवाह न करे। किन्तु इस नियम का पालन हिन्दू समाज में बहुत कम हुआ, पुत्र प्राप्ति के कारण से दिये गये दूसरे विवाह के अधिकार का बड़ा दुरुपयोग हुआ। इससे पुरुषों को बहुविवाह (Polygamy) की पूरी छूट मिल गयी, किन्तु स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य और सतीत्व के धर्म का पालन आवश्यक समझा गया। दूसरी विषमता स्त्रियों के लिए दुःखमय विवाहों से परित्राण पाने का कोई साधन न होना था। पुरुषों को दूसरा विवाह करने का तथा भार्या त्याग का अधिकार था। किन्तु नारी के लिए विवाह अविच्छेद्य बन्धन था, एक पुरुष से विवाह होने पर नारी उसे कभी नहीं छोड़ सकती थी। वही स्त्री आदर्श सती थी, जो पति के दोषों की परवाह न करती हुई जीवन पर्यन्त उसकी आराधना करे, उस समय नर-नारी के लिए सतीत्व का दोहरा नैतिक आदर्श था।[४४] स्त्रियों से आदर्श पातिव्रत्य की अपेक्षा रखी जाती थी, किन्तु पुरुषों के लिए एकपत्नीव्रत होना आवश्यक नहीं था। इसका यह परिणाम होता था कि पुरुष अनुकूल पत्नी न होने पर दूसरा विवाह कर सकता था। यह व्यवस्था पत्नी के लिए भीषण दुःख देने वाली थी। सौत के आ जाने से न केवल पहली पत्नी का जीवन नारकीय बन जाता था, किन्तु हिन्दू विवाह उसके लिए अविच्छेद्य होने के कारण वह इस नारकीय यन्त्रणा से मुक्त भी नहीं हो सकती थी। सामान्य रूप से दुःखमय विवाहों से परित्राण पाने के लिए हिन्दू स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। १९५५ के **हिन्दू विवाह कानून** द्वारा नर-नारी दोनों के लिए एकविवाह (Monogamy) का नियम समान रूप से आवश्यक बना कर तथा पहले (पृ०२९६-३०३) बतायी गयी विशेष दशाओं में तलाक का अधिकार देकर उपर्युक्त दोनों विषमताओं की समाप्ति कर दी गयी है।

उपसंहार—हिन्दू विवाह का भविष्य

उपर्युक्त विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि शनैः शनैः हिन्दू समाज के उच्च एवं शिक्षित वर्ग में विवाह विषयक धारणाओं, प्रथाओं और संस्थाओं में अनेक मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं, ये हिन्दू विवाह के भावी स्वरूप पर गहरा प्रभाव डालेंगे, अभी तक ये परिवर्तन शहरों के शिक्षित वर्ग तक सीमित हैं, किन्तु नगरीकरण (Urbanisation) की प्रवृत्ति बढ़ने से समीर की भांति इनका प्रभाव ग्रामीण जीवन पर भी पड़ेगा। इससे भविष्य में विवाह को केवल अविच्छेद्य धार्मिक बन्धन नहीं समझा जायगा, विवाह को नर-नारी के लिए अनिवार्य एवं आवश्यक समझने की भावना में शिथिलता आ जायगी, अविवाहित रहने की तथा बड़ी आयु में विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। युवक-युवती अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतन्त्रता की अधिकाधिक मांग करेंगे, प्रणय-

[४४] हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १२२

विवाहों की प्रवृत्ति बढ़ेगी। विवाह संस्कारों की जटिलता कम होगी, किन्तु इन पर होने वाले भारी व्यय में कमी होने की सम्भावना कम प्रतीत होती है। परिवार में पति-पत्नी समान स्थिति का उपभोग करेंगे, दाम्पत्य अधिकारों में विषमता समाप्त हो जायगी, पत्नी पति की सहचरी और अर्धांगिनी बनेगी। विवाह द्वारा परिवार निर्माण एक आवश्यक कर्तव्य नहीं, किन्तु ऐच्छिक कार्य होगा और इसका प्रधान आधार दाम्पत्यप्रेम होगा। संभवतः इस स्थिति में पति-पत्नी में अनुराग का पूर्ण विकास होगा। वर्तमान समय में पत्नी आर्थिक परावलम्बन के कारण पति से प्रीति न होने पर भी उसके साथ दाम्पत्य जीवन बिताने के लिए विवश है। भविष्य में यदि हिन्दू स्त्री आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो सकी तो वह असाधारण दशाओं में दुःखमय विवाहों से मुक्ति पा सकेगी, तलाकों की संख्या में कुछ वृद्धि होगी, किन्तु ये विवाह के मूल प्रयोजन में सहायक होंगे, दुःखमय विवाहों का अन्त करके ऐसे सुखमय विवाहों और परिवारों का निर्माण करेंगे जिनका एक मात्र आधार स्नेह होगा, जो दाम्पत्य प्रेम की प्रगाढ़ता में वृद्धि करेगा और भवभूति द्वारा उत्तर रामचरित में प्रतिपादित वैवाहिक एवं दाम्पत्य प्रेम के उस रूप को मूर्त रूप प्रदान करेगा "जो सुख दुःख में एक जैसा अपरिवर्तित (अद्वैत) रहता है, निर्धनता, समृद्धि आदि जीवन की ऊँचनीच में भी निरन्तर बना रहने वाला है, जो हृदय का विश्रामस्थल है, जिसका आनन्द बुढ़ापे से भी कम नहीं होता, जो बहुत दिनों तक साथ रहने तथा हृदयों के आवरण हट जाने से परिपाक को प्राप्त हुए प्रकृष्ट प्रेम पर अवलम्बित है।"[५२]

५२ उत्तररामचरित १।३९

प्रथम परिशिष्ट

धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रधान ग्रन्थों तथा लेखकों का काल

अग्नि पुराण—८००-६०० ई० (हरप्रसाद शास्त्री)

अर्थशास्त्र—कौटिल्यकृत, चौथी श० ई० पू०

अनन्तदेव—संस्कार कौस्तुभ (१६५०-८०) का प्रणेता

अपरार्क—याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार—११२५ ई०

असहाय—नारद स्मृति का पहला भाष्यकार ७००-७५० ई०

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—६००—३०० ई० पू०

कमलाकर भट्ट—विवाद ताण्डव (१६१०-४०) का लेखक

कात्यायन स्मृति—४००-६०० ई०

कुल्लूक भट्ट—मनुस्मृति का एक टीकाकार १२५० ई० लग०

कृत्यकल्पतरु—लक्ष्मीधर मिश्र (११००-११५०) द्वारा लिखित पहला निबन्ध ग्रन्थ

कौटिलीय अर्थशास्त्र—चौथी शती ई० पू०

गृह्यसूत्र—श्रौतसूत्र देखिये ।

गोविन्दराज—मनुस्मृति का एक टीकाकार १०५०-११०० ई०

गौतम धर्मसूत्र—६००-४०० ई० पू०

चण्डेश्वर—विवाद रत्नाकर (१२६०-१३७०) ई० का लेखक

जैमिनि—पूर्व मीमांसा दर्शन का प्रणेता, ५००-२०० ई० पू० लग०

दत्तकमीमांसा—नन्द पण्डित कृत, १५९५-१६३० ई०

दायभाग—जीमूतवाहन कृत, ११००-११५० ई०

दायतत्त्व—रघुनन्दन कृत १५२०-१५७५ ई०

दीपकलिका—शूलपाणि देखिये ।

देवण्ण भट्ट—स्मृति चन्द्रिका का लेखक १२००-१२२५ ई०

धर्मसूत्र—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वशिष्ठ के धर्मसूत्रों तथा पारस्करादि कुछ गृह्य सूत्रों का काल ६००-३०० ई० पू० है ।

नन्द पण्डित—दे० दत्तक मीमांसा

नारद स्मृति—१००-४०० ई०

निरुक्त—यास्काचार्यकृत, ८००-५०० ई० पू०

निर्णयसिन्धु—कमलाकर भट्ट कृत १६१०-१६४० ई०
नीलकण्ठ—व्यवहारमयूख देखिये
पराशरमाधवीय—पराशर स्मृति पर माधवाचार्य की टीका १३००-१३८० ई०
पराशर स्मृति—१ ली से ५ वी श० ई०
पाणिनि—अष्टाध्यायी का प्रणेता ६००-३०० ई० पू०
पुराण—वायु, विष्णु, मार्कण्डेय, मत्स्य और कूर्मपुराण ३००-६०० ई० के बीच में लिखे गये हैं। इनके कुछ अंश अधिक प्राचीन हैं।
प्रतापरुद्रदेव—सरस्वतीविलास का निर्माता १५००-१५२५ ई०
बालक्रीड़ा—विश्वरूपकृत याज्ञवल्क्य स्मृति की सबसे पुरानी टीका, ८००-८५० ई०
बालंभट्टी—बालंभट्ट पायगुण्डे कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका की व्याख्या १७५०-१८२० ई०
बृहस्पति स्मृति—३००-५०० ई०
बृहत्संहिता—दे० वराहमिहिर
बौधायन धर्मसूत्र—५००-२०० ई० पू०
भोज (धारेश्वर)—१०००-१०५५ ई०
मदनपारिजात—विश्वेश्वर भट्ट कृत, १३६०-९० (काणे और बाणे), ११७५ ई० (पटना हाईकोर्ट)।
मनुस्मृति—२००-१०० ई० पू०
महाभाष्य—पतंजलिकृत, १५० ई० पू०
मिताक्षरा—विज्ञानेश्वरकृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका १०७०-११०० ई०
मित्रमिश्र—वीरमित्रोदय देखिए।
मेधातिथि—मनुस्मृति का पहला टीकाकार ९०० ई०
याज्ञवल्क्य स्मृति—१००-२०० ई०
यास्क—निरुक्त का लेखक ८००-५०० ई० पू०
रघुनन्दन—दायतत्त्व का लेखक १५२०-१५७५ ई०
लक्ष्मीधर मिश्र—कृत्यकल्पतरु का लेखक ११००-११५० ई०
वरदराज—व्यवहार निर्णय का लेखक १२००-१३०० ई०
वराहमिहिर—बृहत्संहिता का लेखक ५०५-५८७ ई०
वसिष्ठ धर्मसूत्र—३००-१०० ई० पू०
वाचस्पति मिश्र—दे० विवाद चिन्तामणि
विज्ञानेश्वर—याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक टीका का लेखक १०७०-११०० ई०

विवादचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, १५००-१५५० ई०

विवादताण्डव—कमलाकर भट्ट कृत १६१०-४० ई०

विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीड़ा टीका का लेखक ८००-८५० ई०

विश्वेश्वर भट्ट—मदनपारिजात देखिए

विष्णुस्मृति—इसका पुराना अंश ३००-१०० ई० पू० का है और नवीन अंश तीसरी से सातवीं श० ई० का है।

वीरमित्रोदय—मित्रमिश्र कृत, १६१५-४५। यह ग्रन्थ संस्कारप्रकाश, व्यवहार-प्रकाश आदि अनेक प्रकाशों में बटा है।

वैजयन्ती—नन्दपण्डित कृत विष्णुधर्मसूत्र की टीका, १५६५-१६३० ई०

वैद्यनाथ दीक्षित—स्मृतिमुक्ताफल का प्रणेता, १६०० ई०

वैदिक साहित्य—४०००-१००० ई० पू० संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा प्राचीन उप-निषदों का यह आनुमानिक काल है। इनके कुछ अंश ४००० ई० पू० से प्राचीन तथा १००० ई० पू० से अर्वाचीन हो सकते हैं।

व्यवहारनिर्णय—वरदराज कृत, १२००-१६०० ई०

व्यवहारमयूख—नीलकण्ठ भट्ट कृत, १६१५-४५ ई०, इसके अन्य ग्रन्थ नीति मयू-खादि हैं।

व्यासस्मृति—दूसरी से पांचवीं शती ई० लग०

शंखलिखित—३०० ई० पू० से १०० ई०

शबर—जैमिनि के पूर्वमीमांसा दर्शन का भाष्यकार २००-५०० ई०

शूलपाणि—याज्ञवल्क्य स्मृति पर दीपकलिका नामक टीका का लेखक, १३७५-१४६० ई०

श्रौतसूत्र—आपस्तम्ब, आश्वलायन और बौधायन श्रौतसूत्रों का तथा आपस्तम्ब और आश्वलायनादि कुछ गृह्यसूत्रों का काल ८००-४०० ई० पू० है।

सरस्वतीविलास—प्रतापरुद्रदेव कृत, १५००-१५२५ ई०

स्मृतिचन्द्रिका—देवण्णभट्ट कृत, १२००-१२२५ ई०

स्मृतिमुक्ताफल—वैद्यनाथ देखिए

हरदत्त—गौतम तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों का टीकाकार ११५०-१३०० ई०

हरिनाथ—स्मृतिसार का लेखक १३००-१३५० ई०

हारीत—धर्मसूत्रप्रणेता ४००-३०० ई०

हिरण्यकेशीधर्मसूत्र—६००-३०० ई० पू०

हेमाद्रि—चतुर्वर्गचिन्तामणि का लेखक, रचना काल १२६०-७० ई०

धर्मग्रन्थों का उपर्युक्त कालक्रम मुख्यरूप से भारतरत्न श्री पाण्डुरंग वामन काणे की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र' के प्रथम खण्ड के आधार पर दिया गया है।

सहायक ग्रन्थ सूची

१ आकर ग्रन्थ

१ इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सिज, १५ खण्ड, १३वां मुद्रण १९५९
२ इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, १२ खण्ड, १९६९
३ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, १९६८ वां संस्करण
४ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की ईयर बुक, १९३८ ई० से
५ मैक्डानल व कीथ वैदिक इन्डैक्स, २ खण्ड, लंदन १९१२ ई०

२. मूल ग्रन्थ

(क) वैदिक वाङ्मय

यहाँ ग्रन्थों के साथ उन प्रकाशन संस्थाओं का भी निर्देश किया गया है जहाँ से छपे हुए ग्रन्थों का इस पुस्तक में प्रयोग किया गया है। प्रकाशन संस्थाओं के संक्षिप्त संकेत इस प्रकार हैं—आन० पू० आनन्दाश्रम, पूना, नि० सा० निर्णय सागर, बम्बई, स्वा० म० स्वाध्याय मंडल, पार्डी, बि० इ० बिब्लिओथिका इंडिका, ग० ओ० ला० सी० मै० गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर, गा० ओ० सी० गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, चौ० सं० सी० चौखम्भा संस्कृत सीरीज, जी० वि० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, ब० सं० सी० बम्बई संस्कृत सीरीज, पा० टै० सो० पाली टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, म० सो० महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, वेंक० प्रे० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; त्रि० सं० सी० त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, संपा० संपादक, सं०. संस्करण, वि० विक्रमी संवत्, ई० ईसवी सन्।

ऋग्वेद स्वा० म० द्वितीय संस्क०
यजुर्वेद स्वा० म०
सामवेद स्वा० म०
अथर्ववेद स्वा० म०
काठक संहिता स्वा० म०
तैत्तिरीय संहिता आन० पू०
कपिष्ठल संहिता डा. रघुवीर द्वारा लाहौर से प्रकाशित
मैत्रायणी संहिता स्वा० म०

ऐतरेय ब्राह्मण : आन० पू०, १८९६ वि०
शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस
शांखायन ब्राह्मण : आन० पू०
तैत्तिरीय ब्राह्मण : आन० पू०
ताण्ड्य (पंचविंश) ब्राह्मण : एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल
जैमिनीय ब्राह्मण : सं० कैलेण्ड, एमस्टर्डम्, १९१९
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
गोपथ ब्राह्मण : जी० वि०
ऐतरेय, तैत्तिरीय और शांखा० आरण्यक : आन० पू०
बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, उपनिषद् : नि० सा०
निरुक्त : आन० पू०
एकादशोपनिषत्संग्रह : संपा० स्वामी सत्यानन्द, लाहौर
निरुक्त : श्री चन्द्रमणि तथा श्री राजवाड़े द्वारा संपादित संस्क०
बृहद्देवता : बि० इं०

(ख) गृह्य तथा धर्मसूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र, नारायण टीका सहित : नि० सा० १८९३ ई०
इसी संस्करण में कुमारिल की आश्वलायन गृह्यकारिका तथा आश्व० गृह्यपरिशिष्ट भी छपा है।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, सुदर्शनाचार्य टीका सहित : ग० ओ० ला० सी० मै०
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हरदत्त कृत टीका सहित : हालास्यनाथ शास्त्री द्वारा संपा०, कुंभकोणम्।
बौधायनधर्मसूत्र, गोविन्द स्वामी के विवरण सहित : ग० ओ० ला० सी० मै०
बौधायन गृह्यसूत्र तथा गृह्य परिभाषा सूत्र : संपा० श्यामशास्त्री, ग० ओ० ला० सी० मै०
गोभिल गृह्यसूत्र : संपा० चन्द्रकान्त तर्कालंकार, बि० ई०
पारस्कर गृह्यसूत्र : कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, विश्वनाथ प्रणीत भाष्यपंचक सहित, गुजराती प्रेस १९१७
हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र : मातृदत्त टीका सहित, संपा० किर्स्ते
वसिष्ठ धर्मसूत्र : बं० सं० सी०, संपा० फुहरर
मानव गृह्यसूत्र : अष्टावक्र टीका सहित, गा० ओ० सी०
विष्णु धर्मसूत्र : संपा० डा० जाली
लौगाक्षिगृह्यसूत्र : देवपाल की टीका सहित, काश्मीर संस्कृत सीरीज
गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित, आन० पू०

(ग) बौद्ध वाङ्मय

अंगुत्तर निकाय : पा० टै० सो०
धम्मपद, टीका सहित : पा० टै० सो०
थेरीगाथा : पा० टै० सो० तथा भरतसिंह कृत अनुवाद
विनय पिटक : हिन्दी अनुवाद, म० बो० सो०
मज्झिम निकाय : हिन्दी अनुवाद, म० बो० सो०
दीघनिकाय : हिन्दी अनुवाद, म० बो० सो०
संयुत्त निकाय : पा० टै० सो०
जातक : कावेल द्वारा संपा०, अंग्रेजी अनुवाद ६ खण्ड, न० पं० से भदन्त आनन्द कौसल्यायन का, हिंदी अनुवाद : हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित बुद्धचर्या : राहुल सांकृत्यायन, म० बो० सो० ।

(घ) रामायण तथा महाभारत

वाल्मीकि रामायण : तिलकाख्य व्याख्या समेत, नि० सा० । रामायण के प्रतीक स्थानसंकोच के कारण काण्डों के नाम से नहीं किन्तु उनकी क्रमसंख्या के अनुसार दिये गये हैं । काण्डों की क्रमसंख्या इस प्रकार है—

१. बालकाण्ड, २. अयोध्याकाण्ड, ३. अरण्यकाण्ड, ४. किष्किन्धाकाण्ड, ५. सुन्दरकाण्ड, ६. युद्धकाण्ड, ७. उत्तरकाण्ड ।

महाभारत : म० भा०, महाभा०, पूरी पुस्तक में स्वा०मं० द्वारा प्रकाशित संस्क० के प्रतीक दिये गये हैं, जहाँ कुंभघोणम् या भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना का संशोधित संस्क० व्यवहार में लाया गया है, वहाँ कु० और भांडार० के संकेत दिये गये हैं । महाभारत के संकेत भी पर्व के नाम से नहीं, किन्तु उनकी क्रमसंख्या के अनुसार दिये गये हैं । यह क्रमसंख्या इस प्रकार है—

१. आदिपर्व, २. सभापर्व, ३. वनपर्व, ४. विराटपर्व, ५. उद्योगपर्व, ६. भीष्मपर्व, ७. द्रोणपर्व, ८. कर्णपर्व, ९. शल्यपर्व, १०. सौप्तिक पर्व, ११. स्त्रीपर्व, १२. शान्तिपर्व, १३. अनुशासनपर्व, १४. अश्वमेधपर्व १५. आश्रमवासिकपर्व, १६. मौसलपर्व, १७. महाप्रास्थानिकपर्व, १८. स्वर्गारोहणपर्व ।

अग्निपुराण : आन० पू०
कूर्मपुराण : बि० इं०
भागवत पुराण : नि० सा०
मत्स्यपुराण : आन० पू०
नारदीय पुराण : वेंक० प्रे०

भविष्यपुराण : वेंक० प्रे०
मार्कण्डेयपुराण : बि० इं०
पद्मपुराण : आन० पू०
विष्णुपुराण : गोपाल नारायण कंपनी, बम्बई
वायुपुराण : आन० पू०
स्कन्दपुराण : वेंक० प्रे०
ब्रह्मपुराण : वेंक० प्रे०

(ङ) स्मृतियाँ

मनुस्मृति : कुल्लूकभट्ट की टीका सहित, नि० सा०
मनुटीकासंग्रह : संपा० डा० जाली, बि० इं०
मनुस्मृति : मेधातिथि, गोविन्दराज, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, नन्दन व एक अन्य टीका सहित, संपादक विश्वनाथ मांडलिक
याज्ञवल्क्यस्मृति : विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका, नि० सा०
याज्ञवल्क्यस्मृति : अपरार्क टीका, आन० पू०
याज्ञवल्क्यस्मृति : विश्वरूप कृत बालक्रीडा व्याख्या, त्रि० सं० सी०
नारदीय संहिता : बं० सं० सी०, नारद स्मृति : संपा० डा० जाली, बि० इं०, इसमें असहाय की टीका भी है।
पराशर स्मृति : बं० सं० सी० में माधवाचार्य कृत व्याख्या सहित तथा जीवा० का संस्करण। शेष स्मृतियों के लिए आन० पू० का २७ स्मृतियों का तथा जीवानन्द का २६ स्मृतियों का संग्रह व्यवहार में लाया गया है। जहाँ दोनों में अन्तर है वहाँ भेदक संस्क० का निर्देश कर दिया गया है। इनमें निम्न स्मृतियाँ है—अंगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, उशनस, गोभिल, दक्ष, देवल, प्रजापति, बृहद्यम, बृहस्पति, यम, लघुविष्णु, लघु शंख, लघु शातातप, लघु हारीत, लघु आश्वलायन, वसिष्ठ, वृद्ध हारीत, वेदव्यास, शंखलिखित, शंख, शातातप, बौधायन, वृद्ध गौतम, लघु व्यास, लघु अत्रि, कात्यायन-स्मृतिसारोद्धार—पाण्डुरंग वामन काणे द्वारा संगृहीत, बृहस्पति स्मृति—गा० ओ० सी०। हारीत, शंख, पैठीनसि, शौनक आदि अनेक स्मृतिकारों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु मध्यकालीन निबन्धग्रन्थों में उनके वचन उद्धृत हैं। इस प्रकार के वचनों का संकेत इस प्रकार है—हारीत, दायभाग द्वारा उद्धृत, अथवा हारीत (दा० पृ०)।

(च) स्मृतियों की टीकाएं तथा निबन्ध ग्रन्थ

दत्तकचन्द्रिका—आन० पू० तथा भरतचन्द्र शिरोमणि / यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के संस्करण
दत्तकमीमांसा—नन्द पण्डित कृत आन० पू० तथा यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के संस्करण

दायभाग—जीमूतवाहन कृत, बि० इं० तथा जीवानन्द के संस्करण
दायतत्त्व—रघुनन्दन कृत, जीवानन्द का संस्करण
दीपकलिका—शूलपाणि कृत, याज्ञ० स्मृति की टीका
धर्मकोश—व्यवहार काण्ड, खं० १–३, प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई
धर्मसिन्धु—काशीनाथकृत, नि० सा०
पराशरमाधवीय—माधवाचार्य कृत पराशरस्मृति की टीका, बं० सं० सी०
मदनपारिजात—विश्वेश्वर भट्ट कृत, बि० इं०
मिताक्षरा—विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका, नि० सा०
मेधातिथि का मनुस्मृति पर भाष्य, मांडलिक के संस्करण में
विवादचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, वेंकटेश्वर प्रेस
विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीडा टीका का लेखक, त्रि० सं० सी०
वीरमित्रोदय—याज्ञ० स्मृति की मित्रमिश्रकृत टीका, चौ० सं० सी०
व्यवहारप्रकाश—मित्रमिश्र कृत, चौ० सं० सी०
व्यवहारमयूख—नीलकण्ठ कृत, पाण्डुरंग वामन काणे का संस्करण
श्रीमूल—गणपति शास्त्री कृत कौटिलीय अर्थशास्त्र की टीका, त्रि० सं० सी०
संस्कारप्रकाश—मित्रमिश्र कृत, चौ० सं० सी०
सरस्वतीविलास—श्री प्रतापरुद्रदेव, स्वा० मंडल पूना द्वारा प्रकाशित
सायण भाष्य—ऋग्वेद का, वैदिक संशोधन मंडल पूना
सुबोधिनी—विश्वेश्वर भट्ट कृत याज्ञ० की मिताक्षरा टीका की टीका, घारपुरे द्वारा सम्पादित।
स्मृतिचन्द्रिका—देवण्णभट्ट कृत, घारपुरे का संस्करण

(छ) संस्कृत के अन्य ग्रन्थ और काव्य

कौटिलीय अर्थशास्त्र : संपा० गणपति शास्त्री, त्रि० सं० सी०
बृहत्संहिता : वराहमिहिर कृत, बि० इं०, उत्पल की टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सं० संस्क०
गाथा सप्तशती : हाल कृत, नि० सा०
पूर्वमीमांसा : शबर-भाष्य सहित, आन० पू०, गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद, गा० ओ० सी०
हर्षचरित : नि० सा०
कादम्बरी : ८—म संस्क०, नि० सा०
कामसूत्र : वात्स्यायन कृत, चौ० सं० सी०
मालतीमाधव : संपा० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, बं०सं०सी०

मृच्छकटिक : नि० सा०
रघुवंश : नि० सा०
अभिज्ञानशाकुन्तल : नि० सा०
कथासरित्सागर : सोमदेव भट्ट, नि० सा०
कुमारसंभव : नि० सा०
राजतरंगिणी : संपा० स्टाइन
विक्रमोर्वशीय : संपा० काले
उत्तररामचरित : जीवा० संस्क०
वासवदत्ता : कृष्णमाचारियर कृत टीका सहित, श्रीवाणीविलास प्रेस श्रीरंगम
रत्नावली : संपा० जोगलेकर
दशकुमारचरित : जीवा० संस्क०
नैषधीयचरित : नि० सा०
किरातार्जुनीय : नि० सा०

विवाह विषयक ग्रन्थ

(क) हिन्दू विवाह विषयक ग्रन्थ

(अ) सामान्य एवं कानूनी ग्रन्थ

अल्तेकर, आनन्द सदाशिव —दी पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन, मोतीलाल, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९५९

कापडिया, के० एम० —हिन्दू किनशिप, १९४७

कापडिया, के० एम० मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५

द्वारकानाथ मित्र —पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू लॉ

रिजली, सर हर्बर्ट —दी पीपल आफ इण्डिया, लन्दन, १९१५

सरकार, सुविमलचन्द्र —सम एस्पैक्ट्स आफ अर्लियस्ट सोशल हिस्टरी आफ इण्डिया, १९२८

टामस, पी० —वुमैन एण्ड मैरिज इन इण्डिया

टामसन, एडवर्ड —सती (१९२८)

उपाध्याय, भगवतशरण —वुमैन इन ऋग्वेद (१९४१)

वैद्य, चिन्तामणि विनायक —हिस्टरी आफ दी मिडीवल इण्डिया

एल० स्टर्नबैक —ज्यूरीडिकल स्टडीज इन एंशेण्ट इण्डियन लॉ, मोतीलाल, दिल्ली, खण्ड १, १९६५, खण्ड २, १९६७

करन्दीकर —हिन्दू एक्सोगेमी १९२९

जाली —हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, टैगोर कानून व्याख्यानमाला, कलकत्ता विश्वविद्यालय

गुरुदास बनर्जी —दी हिन्दू लॉ आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, टैगोर व्याख्यानमाला, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९१३।

जायसवाल, काशीप्रसाद —मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, टैगोर व्याख्यानमाला कलकत्ता १९३०

कीथ, ए० बी०	—मैरिज, हिन्दू, हेस्टिंग्ज् इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, खंड ८, एडिनबरा, १९१५
मैन, जे० डी०	—ए ट्रीटाइज आन हिन्दू लॉ एण्ड यूसेज, दशम संस्करण, सम्पा० के०जे० आयंगर, मद्रास, १९३८
मेयर, जे० जे०	—सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इण्डिया, २ खण्ड, लन्दन १९३०
स्टील, ए०	—दी लॉ एण्ड कस्टम आफ हिन्दू कास्ट्स, लन्दन, १९६८
बैंकनाल हेडविग	—आन दी सोशल लाइफ, रोल आफ दी इण्डियन वुमैन, ऐज रिफ्लेक्टिड इन दी फोकलोर आफ दी कोंकण, २ खण्ड, १९४२
घुरिये, जी० एस०	—कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, १९५०
शास्त्री, शकुन्तलाराव	—वुमैन इन दी सैक्रेड लाज, बम्बई, १९५३
शास्त्री, शकुन्तलाराव	—वुमैन इन दी वैदिक एज, १९५२
श्रीनिवास, एम० एन०	—मैरिज एण्ड फैमिली इन मैसूर, बम्बई, १९४२
स्टीवेन्सन, श्रीमती सिन्क्लेयर	—दी राइट्स आफ दी ट्वाइसबार्न, लन्दन, १९२०
टैगोर, रवीन्द्रनाथ	—दी इण्डियन आइडियल आफ मैरिज नामक लेख हर्मान केसरलिंग द्वारा सम्पादित 'दी बुक आफ मैरिज' में, न्यूयार्क, १९२०
एस० एन० अग्रवाल	—दी एज ऐट मैरिज, इलाहाबाद
कर्वे, इरावती	—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इण्डिया, पूना, १९५३
सर हरिसिंह गौड़	—दी हिन्दू कोड, ४ थं संस्करण, नागपुर, १९३८
सरकार, गोलापचन्द्रशास्त्री	—हिन्दू ला, कलकत्ता १९४०
मुल्ला, सर दीनशाह फरदुनजी	—प्रिन्सिपल्स् आफ हिन्दू लॉ, १२वाँ संस्करण श्री सुन्दरलाल टी० देसाई द्वारा संशोधित एम० एन० त्रिपाठी, बम्बई, १९६०
काणे, पाण्डुरंग वामन	—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, खं०, १, पूना, १९३०, खण्ड २, भाग १—२, पूना १९४१
काणे, पाण्डुरंग वामन	—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, हिन्दी समिति, लखनऊ
चटर्जी, एच०	—ए क्रिटिकल स्टडी आफ स्वयम्वर फार्म आफ मैरिज, कलकत्ता रिव्यू, खण्ड १४३, जून १९५७

चटर्जी, एच० —ए स्टडी आफ दी प्राजापत्यफार्म आफ मैरिज, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, खण्ड ३२, मार्च १९५६
ला, बी० सी० —वुमैन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, १९२७
बी० एस० कुलकर्णी —स्पेशल मैरिज ऐक्ट १९५४, पूना १९५५
सक्सेना, कालीप्रसाद —दी हिन्दू मैरिज ऐक्ट १९५५, लखनऊ १९५६
एस० एन० अग्गा —स्टेचूटरी चेंजेस इन हिन्दू ला, अलाहाबाद १९६२
यू० सी० सरकार —ईपक्स इन हिन्दू लीगल हिस्टरी, होशियारपुर १९५८

(आ) हिन्दू विवाह की आधुनिक प्रवृत्तियों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ

के० टी० मर्चेण्ट —चेंजिंग व्यूज आफ मैरिज एण्ड फैमिली (हिन्दू युथ) बी. जी. पाल, मद्रास, १९३५
हाटे, श्रीमती चन्द्रकला —हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, बम्बई
एलीन रास —दी हिन्दू फैमिली इन इट्स अर्बन सेटिंग, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९६१
देसाई, श्रीमती जे० बी० —वुमैन इन माडर्न गुजराती नाइफ, १९४५, बम्बई विश्वविद्यालय से अप्रकाशित शोध प्रबन्ध
देसाई, श्रीमती एन० ए० —दी इम्पैक्ट आफ दी ब्रिटिश रूल आन दी पोजीशन आफ इण्डियन वुमैन, बम्बई विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, १९५१
देसाई, मिस एम० के० —दी सोशियोइकनामिक पोजीशन आफ वुमैन इन इण्डिया सिन्स १८५८-१९२९, १९३० बम्बई विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध
रिपोर्ट आफ दी एज आफ कान्सेण्ट कमिटी १९२८-९
मार्गरेट कोरमैक —दी हिन्दू वुमैन, एशिया, बम्बई १९६१
नीरू देसाई —वुमैन इन माडर्न इण्डिया
नेहरू, श्यामकुमारी —आवर काज
रमाबाई सरस्वती —दी हाई कास्ट हिन्दू वुमैन (१९०१)
चिन्तामणि, सी० वाई० —इण्डियन सोशल रिफार्म्स (१९०१)
कापडिया, के० एम० —व्यूज एण्ड एटीट्यूड्ज आफ यूनिवर्सिटी ग्रेजुएट्स इन दी हिन्दू कम्युनिटी आन मैरिज एण्ड फैमिली रिलेशनशिप्स, सोशियोलोजिकल बुलेटिन ख. ३, सं० १, मार्च १९५४

कापड़िया, के० एम० —चेंजिंग पैटर्न्स आफ हिन्दू मैरिज एण्ड फैमिली, सोशियोलाजिकल बुलेटिन खण्ड ४, सं० २ सितम्बर, १९५५
कापड़िया, के० एम० —चेंजिंग पैटर्न्स आफ हिन्दू मैरिज, सोशि० बुलेटिन खं० ३, सं० २, सितम्बर १९५४
पाल चेरियन —ए रिसर्च इन मैरिटल एडजस्टमैण्ट विदिन ए सलेक्टेड ग्रुप आफ हिन्दूज, प्राबलम्ज आफ फैमिली मैलएड-जस्टमेण्ट विद रेफरेन्स टू हिन्दू सोसाइटी इन बाम्बे प्रेजिडेन्सी,—ये दोनों सर दोराबजी टाटा ग्रेजुएट स्कूल आफ सोशल वर्क बम्बई के शोध प्रबन्ध हैं।
ऐयप्पन, ए० —फ्रैटर्नल पौलिएण्ड्री इन मलाबार, मैन इन इण्डिया, खं० २, १९३५, नायर पौलिएण्ड्री मैन, खं० ३२, १९३२
विश्वास, डा० पी० सी० —पोलिएण्ड्री एमौंग दी हिल ट्राइब्ज आफ जौनसार बावर, वन्य जाति खं० १, सं० १, जनवरी १९५३
अय्यर, एल० के० —नायर पौलिएण्ड्री, मैन सं० ३२, १९३२
मजूमदार, डी० एन० —हिमालयन पोलिएण्ड्री, एशिया, बम्बई १९६२
रामनारायण सक्सेना मैरिज एण्ड डाइवोर्स इन जौनसार बावर, वन्य जाति, अक्टूबर १९५३
रामनारायण सक्सेना —सोशल इकानमी आफ ए पौलिएण्ड्स पीपल, आगरा विश्वविद्यालय, १९५८
इरावती कर्वे —हिन्दू सोसाइटी, ऐन इण्टरप्रेटेशन, पूना, १९६१
तारा अली बेग —वूमैन आफ इण्डिया, पब्लिकेशन्स डिवीजन १९५८

(ख) विवाह विषयक सामान्य ग्रंथ

एवबरी, (सर जान लब्बक लार्ड) —मैरिज, टोटेमिज्म एण्ड रिलीजन, लन्दन १९११
ब्लाख —दी सेक्सुअल लाइफ आफ आवर टाइम इन रिले-शन टू माडर्न सिविलिजेशन, लन्दन, १९०४
एलिस, हैवलाक —मैन एण्ड वूमैन, ५म संस्करण, लन्दन, १९१८
एलिस, हैवलाक —स्टडीज इन साइकोलोजी आफ सेक्स, ६ खण्ड
मैक्लीनान, जे० एफ० —दी लेवीरेट एण्ड पौलिएण्ड्री, फोर्टनाइटली रिव्यू खण्ड २१, लन्दन १८७७

मैलिनोवस्की —सेक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसायटी, लन्दन, १९२७

मैलिनोवस्की —दी फैमिली एमोंग दी आस्ट्रेलियन एबॉरिजिनीज, लन्दन १९१३

मैलिनोवस्की —दी फादर इन प्रिमिटिव सोसाइटीज, न्यूयार्क १९१७

मैलिनोवस्की —दी सैक्सुअल लाइफ आफ दी सैवेज इन नार्थ वेस्टर्न मेलिसीनिया, लन्दन १९२९

रिवर्स —किनशिप एण्ड सोशल आर्गेनिजेशन, लन्दन १९१४

रिवर्स —मैरिजिस (आरम्भिक तथा आदिम जातियों की) इसा० रिलीजन एण्ड ईथिक्स, खण्ड ८

स्पेन्सर —डिस्क्रिप्टिव सोशियोलोजी ८ खण्ड, लन्दन १८७३–८१

स्पेन्सर —दी प्रिन्सिपल्ज आफ सोशियोलोजी, ३ खण्ड, लन्दन १८८२–९६

वैस्टरमार्क ई० —दी हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, ३ खण्ड, लन्दन १९२५

—दी शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज, लन्दन

—दी फ्यूचर आफ मैरिज इन वैस्टर्न सिविलिजेशन, लन्दन १९३६

—दी ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ मारल आइडियाज, २ खण्ड, लन्दन १९१२–१७

—मैरिज सेरीमनीज इन मोरक्को, लन्दन १९१४

लतूर्नो —दी इवोल्यूशन आफ मैरिज एण्ड दी फैमिली, फ्रेंच ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन १८९१

म्यूलर, लायर —इवोल्यूशन आफ मैरिज १९३०

गुडसैल —ए हिस्टरी आफ मैरिज एण्ड फैमिली, द्वितीय सं० न्यूयार्क १९३५

हावर्ड, जार्ज इलियट —ए हिस्टरी आफ दी मैट्रीमोनियल इन्स्टीट्यूशन्स, ३ खण्ड, शिकागो १९०४

एच० आर० एच० प्रिंस पीटर आफ ग्रीस एण्ड डेन्मार्क —ए स्टडी आफ पोलिएण्ड्री, मोल्टन एण्ड कम्पनी, हेग १९६३

ब्रिफाल्ट —दी मदर्स, ३ खण्ड, १९२७
हाबहाउस, व्हीलर,
गिन्सबर्ग —दी मैटीरियल कल्चर एण्ड दी सोशल इन्सटीट्यूशन्स आफ दी सिम्पलर पीपल्स
लिण्टन —दी स्टडी आफ मैन
मैकलीनान —स्टडीज इन एंशेण्ट हिस्टरी, लन्दन १८६६
गोमराय —मैरिज, पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, १९३०
विलियम जे० फीलिंग —स्ट्रेंज कस्टम्ज आफ कोर्टशिप एण्ड मैरिज, पर्मा बुक्स, न्यूयार्क

(ग) विवाह सम्बन्धी हिन्दी पुस्तकें

क्षितिमोहन सेन—भारतवर्ष में जातिभेद, कलकत्ता, १९४०
ठाकुर केशवकुमार—नवीन दाम्पत्य जीवन में स्त्रियों के अधिकार, चांद कार्यालय इलाहाबाद, १९३३
डा० भगवानदास—पुरुषार्थ, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली १९४०
उपाध्याय गंगाप्रसाद—विधवा विवाह मीमांसा, चांद कार्यालय इलाहाबाद, २य संस्करण इलाहाबाद १९३०
शारदा, चंद्रिकरण—शारदा ऐक्ट संवत् १९९५
सन्तराम बी० ए०—अन्तर्जातीय विवाह
धर्मदेव सिद्धान्तालंकार—भारतीय समाजशास्त्र

(घ) प्रान्तीय भाषाएं

(क) गुजराती

पटेल नरसिंह भाई ईश्वरभाई—लग्नप्रपंच, प्रस्थान कार्यालय अहमदाबाद, संवत् १९९३ (विवाह के सम्बन्ध में, लेखक की दृष्टि में स्त्रियों के साथ पुरुषों ने बड़े अन्याय किये हैं, इस पुस्तक में उनका ओजस्वी वर्णन है।)
पटेल नर० ई०—लग्नप्रपंच, उपर्युक्त पुस्तक का संक्षिप्त संस्करण

(ख) मराठी

केतकर व खरे—हिन्दू धर्मशास्त्र, पूना १९३२
जोशी गो० म०—हिन्दू विवाह मीमांसा—कट्टर दृष्टिकोण से यह पुस्तक बहुत उत्तम है।
भावे लक्ष्मण केशव—वैवाहिक जीवन २ भाग
निमकर द० मा०—हिन्दू लग्न-संस्था
चित्राव, सिद्धेश्वर शास्त्री—विवाह संस्कार

अनुक्रमणिका